श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-सात्त्विकप्रमेयसाधनफलप्रकरण-सुबोधिनी

श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता

वि.सं. २०६९, श्रीवल्लभाब्द ५३६

३०० प्रति.

प्रकाशक :

श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट

वैभव को-ऑपरेटिव सोसायटी,

पूना-बेंगलोर रोड. कोल्हापुर,

महाराष्ट्र - ४१६००८.

संगणकाटंकन :

माया क्रिएशन्स - पूणे, असित शाह.

मुद्रक :

रमा आर्ट

४, चुनावाला इन्डस्ट्रीयल एस्टेट,

कोण्डीविटा रोड, अन्धेरी (पूर्व),

मुम्बई - ४०००५९.



श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रादुर्भावितायां

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्ध-

सुबोधिन्यां

दशमैकादशद्वादशानि

सात्त्विकप्रमेयसाधनफलप्रकरणानि

लेखसमेतानि



। श्रीकृष्णाय नमः ।

सम्पादकीय

पूर्वप्रकाशित मूल श्रीसुबोधिनी और टीकाओंको पुनःप्रकाशित करनेकी शृंखलामें यह सात्त्विकप्रमेय-साधन-फलप्रकरण छठी कड़ी है.

इसके अलावा इसमें यह वैशिष्ट्य है कि हमने मुद्रित संस्करणोंकी प्राप्य हस्तप्रतोंसे तुलना करके यथावसर संशोधन या पाठभेद प्रस्तुत किये हैं. हमारे किशनगढके संग्रहमेंकी हस्तप्रतको हमने 'क' संकेत दिया है. मांडवीसे गो.श्रीशरदबावाने अपने संग्रहमेंकी दो हस्तप्रतोंकी झेरोक्स कोपी हमें भेजी उन्हें हमने 'ग' और 'घ' संकेत दिया है. एक हस्तप्रत हमें गुजरातके संखेडासे प्राप्त हुई है जिसे 'सं' संकेत दिया है और अन्य एक अज्ञात स्रोतसे प्राप्त हुई है उसे 'ख' संकेत दिया है. दोनोंके हस्ताक्षर भिन्न हैं तथा 'ख'प्रतमें अनेक स्थलपे कुछ टिप्पणी भी बाजुमें लिखी मिलती हैं. 'सं'प्रतको हमें उपलब्ध करानेवालोंका यह दावा, कि यह श्रीराणाव्यासने श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणोंके लिये लिखी थी, यह तो अप्रतीतिकर है, क्योंकि इसमें श्रीगुसांईजीके प्रक्षेप भी प्राप्त होते हैं और लिपिकर्ताकी इतिश्रीमें संवत् १७०४का उल्लेख मिलता है. यह लिपिकर्ता श्रीव्रजनाथ भट्ट हैं ऐसा माण्डवीस्थ गो.श्रीशरदबावाने श्रीगोपीनाथप्रभुचरणग्रन्थावलीमें उल्लेख किया है. विशेष जानकारी उस पुस्तकमें प्राप्त हो सकती है. आद्य मुद्रित संस्करणके सम्पादक श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला भी अपने सम्पादकीयमें उन्हें सुरतके घरमें स्थित श्रीराणाव्यासलिखित हस्तप्रत श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने उपलब्ध करवाई ऐसा उल्लेख करते हैं. वह परन्तु हमें उपलब्ध नहीं है. सम्भवतः एकाधिक हस्तप्रत राणाव्यासलिखित होनेके रूपमें प्रसिद्ध हैं परन्तु इनमेंकी कोई वास्तवमें राणाव्यासलिखित नहीं ऐसा हमें लगता है. फिर भी इस हार्दिक सहयोगके लिये हम इस हस्तप्रतको उपलब्ध करानेवालोंके आभारी हैं.

इनके आद्य मुद्रित संस्करणोंके सम्पादकोंकी प्रस्तावनाएं हमने प्रथम परिशिष्टके रूपमें प्रकाशित की हैं.

लेखोपेत सात्त्विकप्रमेयप्रकरणसुबोधिनी श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला तथा

श्रीधीरजलाल सांकलियाने विक्रम संवत् १९८२में प्रकाशित की थी. सम्प्रदायमें आदर्श सम्पादनका एक जो कीर्तिमान उन्होंने स्थापित किया यह उसीका अनुसरण है. आद्य और शुद्ध मुद्रणके अतिरिक्त संबद्ध साहित्य— कारिकासूचि, श्लोकसूचि, उपन्यस्तवाक्यसूचि, योजनासे भूषित भागवतार्थनिबन्ध, त्रिविधनामावली, श्रीपुरुषोत्तमसहस्रनाम, श्रीभागवतदशमस्कन्धार्थानुक्रमणिका, श्रीसुबोधिन्यनुस्यूतवाङ्मुक्तिकावली आदि— का निवेश अपने आपमें एक सांगोपांग ग्रन्थप्रकाशनकी मिसाल है आज भी. श्रीतेलीवालाके जानेके बाद श्रीसांकलिया और अन्य सहयोगिओंने वि.सं. १९८६में सात्त्विकसाधनप्रकरण-सुबोधिनी और वि.सं. १९८७में सात्त्विकफलप्रकरणसुबोधिनी प्रकाशित की थी. इन सभीका इस संस्करणमें निवेश कर पाये तदर्थ हम उन आद्यसम्पादकोंके प्रति अपनी चिरकृतज्ञता व्यक्त करते हैं. इनमेंसे भागवतार्थनिबन्ध, त्रिविधनामावली, श्रीभागवतदशमस्कन्धानुक्रमणिका एवं श्रीपुरुषोत्तमसहस्रनाम प्रकरणार्थ / लीलार्थ के बोधक होनेके कारण हमने इन्हें वाक्यार्थ-पदार्थनिरूपिका श्रीसुबोधिनीके पूर्व ही दिये हैं. कारिका-श्लोक-उपन्यस्तवाक्य-सूचियां एवं श्रीमदाचार्यवाङ्मुक्तावली हमने द्वितीय परिशिष्टके रूपमें प्रकाशित किये हैं.

तामसप्रमाणप्रकरणकी हमारी शैलीको यथावत् निभाते हुए हमने हमारे द्वारा प्रस्तावित पाठ (!) रूपमें दिये हैं; तथा श्रीसुबोधिनीपाठके अनुसार श्रीभागवतके श्लोकोंके संशोधनका भी प्रयास किया है. हमारी पादटिप्पणियाँ '-सम्पा.'संकेतसे पहचानी जा सकती है; अन्य सब पादटिप्पणी आद्यसम्पादकोंकी हैं.

इस ग्रन्थके सम्पादनकार्यमें हमारे सहयोगी श्रीभोगीभाई, श्रीहसमुखभाई, श्रीहर्षदभाई, श्रीधर्मेन्द्रभाई, श्रीपरेशभाई, श्रीअनिलभाई, श्रीराजेशभाई, श्रीजगदीशभाई तथा सम्पूर्ण मुद्रणकार्यभारके वाहक श्रीमनीष बाराईके हम कृतज्ञ हैं.

हम सभीकी पाठकगणसे ये ही अपेक्षा है कि वे इस वाङ्मयके अध्ययनद्वारा हमें चिरकृतज्ञ बनायें.

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति॥

श्रीवल्लभाब्द ५३६ — ***गोस्वामी श्याममनोहर***
नृसिंहचतुर्दशी — ***असित शाह***

॥श्रीकृष्णाय नमः॥

॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

भूमिका

:: गुणातीतकी त्रिगुणात्मिका लीला ::

(विषयवाक्य)

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्।
सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वम् आप्नोति सर्वशः॥
इति स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा।
सप्तधा नवधा चैव पुनश्च एकादशः स्मृतः॥
शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः।
आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः॥
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः तस्मै।
मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्॥
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्।
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः॥
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावाय उपपद्यते।
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धि अनादी उभावपि॥
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥
कार्य-कारण-कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिर् उच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुर् उच्यते॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगो अस्य सदसद्योनिजन्मसु॥
उपद्रष्टा अनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मा इतिचापि उक्तो देहे अस्मिन् पुरुषः परः॥

यावत् सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्सु अविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
कार्य-कारण-कर्तृत्वे द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः।
बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः॥

(छान्दो.उप.७।२६।२. भग.गीता.१३।१७-२७.
भाग.पुरा.२।५।१९).

[उसके दर्शन पानेवालेको न तो मृत्यु दिखलायी देती है, न कोई रोग और न कोई दुःख. वह सब कुछ देखने समर्थ हो पाता है और सब कुछ पाने भी समर्थ हो जाता है. वह एक तरहका, तीन तरहका, पांच तरहका, सात तरहका, नौ तरहका, ग्यारह तरहका, एक सौ दस तरहका, एक हजार बीस तरहका भी बन जाता है. आहारशुद्धि होनेपर सत्त्व शुद्ध होता है सत्त्वके शुद्ध होनेपर ध्रुवा स्मृति प्रकट हो जाती है. ऐसी स्मृतिके लाभ होते ही सारी ग्रन्थियां अपने-आप खुल जाती हैं. अपने सारे कषायोंको इस तरह निःशेष करनेवालेको भगवान् तमस्के पार जो अवस्थित है उसका साक्षात्कार करवा देते हैं.

ज्ञान और ज्ञेय ज्ञानगम्य बन कर सभीके हृदयमें अवस्थित रहते हैं. इस तरह क्षेत्र और उसके ज्ञान का ज्ञेयके रूपमें संक्षेपमें निरूपण किया. मेरा भक्त जब इन्हें जान लेता है तो वह मेरे साथ अपना तादात्म्य अनुभव करने समर्थ हो जाता है. प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि होते है. जो भी विकार(कार्य) और गुण हैं, वे सभी प्रकृतिसे प्रकट होते हैं. कार्य

कारण और कर्ता के होनेमें (पुरुषसंयुक्त) प्रकृति हेतुभूत कही जाती है. सुख-दु:खके भोक्ता बननेमें (प्रकृतिसंयुक्त) पुरुष हेतुभूत कहा जाता है. पुरुष प्रकृतिमें अवस्थित हो कर प्रकृतिके गुणोंका भोग करता है. और इस तरह प्राकृत गुणोंके संगके कारण पुरुषको अच्छी या बुरी योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है. 'उपद्रष्टा' 'अनुमन्ता' 'भर्ता' 'भोक्ता' 'महेश्वर' और 'परमात्मा' कहा जानेवाला एक और परपुरुष भी इसी देहमें रहता है. क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के परस्पर संयोगके कारण, स्थावर और जंगम सभी तरहके सत्त्व जन्मग्रहण करते हैं. इन सभी विनाशी रूपोंके भीतर समानरूपेण अवस्थित अविनाशी परमेश्वरको जो देख पाता है, वही सच्चा देख पानेवाला होता है.

कुछ कार्य कुछ कारण और किसीके कर्ता होनेकी अनुभूति द्रव्य ज्ञान और क्रिया में आश्रित गुणोंकी उपाधिके वश होती है; और, अतएव इन्हें अनुभव करनेवाला नित्यमुक्त मायी पुरुष भी बंध सा जाता है]

(उपक्रम)

महाप्रभुके अनुसार दशम स्कन्धका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय न तो आश्रयतत्त्व है और न ही असुरसंहाररूपा निरोधलीला. महाप्रभु नवमस्कन्ध और दशमस्कन्ध की पूर्वोत्तरभावताके आधारपर दशमस्कन्धके प्रमुख प्रतिपाद्य विषयका स्वरूप निर्धारित करना चाहते हैं. भूतलपर परमात्माकी अवतारलीला और उस अवतीर्ण होनेवाले भगवान्‌के प्रति भक्तजीवात्माओंकी भक्तिकी कथा नवमस्कन्धमें निरूपित हुयी है. इस भक्तिके कारण परमात्मा और जीवात्माओं के बीच एक विलक्षण घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकट होता है. इस सम्बन्धको घनिष्ठतर बनानेको परब्रह्म

परमात्मा भगवान् स्वयं कभी त्रिगुणात्मक प्रपञ्चमें प्रकट होते हैं; और, त्रिगुणोंके अन्तर्गत किसी न किसी गुणके तरतमभाववाले भक्तोंके बीच उनके स्वभावानुरूप लीलाविहारद्वारा भगवान् पहले उन्हें स्वयंमें अनन्यासक्त बना लेते हैं, किसी साधनाचरणकी अपेक्षा रखे बिना. बादमें भगवान् अपने भक्तको शनैः-शनैः स्वयंके मौलिक निर्गुणस्वभावके अनुरूप अन्ततोगत्वा ढाल ही लेते हैं. यह दशमस्कन्धका प्रमुख प्रतिपाद्य-विषय है.

यहां 'निर्गुण' पदका तात्पर्य यह नहीं है कि परब्रह्म परमात्मा भगवान्, या उनके भूतलपर अवतीर्ण स्वरूपोंमें भी, किसी भी तरहके गुण होते ही नहीं. वैसे तो महाप्रभुने ब्रह्मके मूलभूत सहज एकत्वकी मीमांसा करते हुवे यह समझाया ही है कि मूलमें तो वह एकमात्र होता है, पश्चात् स्वयंके अनेकभावापन्न होनेके अप्रतिहत संकल्प और सामर्थ्य के कारण सृष्टिरूप भेदको वह अपने भीतर प्रकट करता है. अतएव उसके गुण गुणिरूप होते हैं और वह गुणी अनन्त गुणरूप होनेसे दोनों अखण्डैकरस होते हैं. अर्थात् गुणीसे पृथग्भूत गुण मूलतया पूर्वमें न होनेके कारण ही ब्रह्मको 'निर्गुण' कहा जाता है. गुणोंका वहां अत्यन्ताभाव नहीं होता. इस सन्दर्भमें महाप्रभुने एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी कह रखी है कि श्रुत्यादिप्रमाणमूलक ब्रह्मवादमें 'अभाव'नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ मान्य नहीं "**'सत्'शब्देन 'असत्'शब्देन च ब्रह्मैव उच्यते. 'यो अस्मात् परस्मात् परः' इति 'पर'शब्देनापि न कालादिः उच्यते. तस्मात् पूर्वम् अहमेव (ब्रह्मैव) इति सिद्धम्. अभावास्तु अस्मन् मते तिरोभावातिरिक्ताः न भवन्ति**" (सुबो.२।९।३२) अतः अत्यन्ततिरोभावके ही अर्थमें अत्यन्ताभाव स्वीकारा जाता होनेके कारण नव्यन्यायकी शैलीमें कुछ कहना हो तो कहा जा सकता है कि ब्रह्मका निर्गुणत्व भी मूलतया *'प्राकृतगुणवदवृत्तिधर्मवत्त्व'*रूप होता है. गुणोंका, अतएव, त्रैकालिक अत्यन्त तिरोभाव अभिप्रेत नहीं है. क्योंकि उपर्युद्धृत श्रुति-गीता-भागवतके विषयवाक्योंकी भलीभांति समीक्षा करनेपर

स्वयं प्राकृत गुण भी परब्रह्म परमात्मा भगवान् में प्रकट हुवे होनेके कारण ब्रह्मात्मक पारमात्मिक या भगवदात्मक ही होते हैं. ब्रह्मवादी प्रक्रियाके इस निगूढ़ रहस्यको अनावृत करते हुवे महाप्रभु यह भी कहते हैं कि जब सकल सृष्टि भगवान्‌द्वारा भगवान्‌के भीतर भगवदात्मक ही उत्पन्न मानी जाती हो तो काल कर्म स्वभाव प्रकृति या पुरुष सभी कुछ भगवदवताररूप ही होते हैं. अतः ऐसी स्थितिमें प्राकृत गुणों अथवा प्राकृत गुणोंवाले नाम-रूप-कर्मोंको भगवदवतारतया अमान्य करनेकी कोई तुक ही नहीं रह जाती. फिरभी *"न गृहं 'गृहम्' इति आहुः गृहिणी गृहम् उच्यते"* न्यायके अनुसार भगवान्‌के दिव्य सामर्थ्यके तिरोधान बिना प्रकट होनेवाले भगवान्‌के अवतार जो 'लीलावतार' माने जाते हैं, उन्हें ही विशेष माहात्म्यके द्योतनार्थ 'अवतार' कहा जाता है **"यद्यपि भगवत्सृष्टौ सर्वमेव अवताररूपम् इति मुख्यः पक्षः"** (सुबो.२।६।४५). अतः उत्पत्तिसे पूर्व जैसे सुवर्ण आभरणात्मक नहीं होता प्रत्युत सुवर्णरूप उपादानमें प्रकट होनेवाले कुण्डल आदि आभरण उपादानस्वरूप होनेकी नियतिके वश सुवर्णात्मक ही उत्पन्न होते हैं. यों कार्यावस्थापन्न हो जानेपर सुवर्ण भी अन्ततोगत्वा तो आभरणात्मक बन जाता है. वैसे ही मूलतत्त्व भी स्वयं प्राकृत गुणात्मक न हो कर प्राकृत गुण ही सच्चिदानन्द ब्रह्ममेंसे प्रकट हुवे होनेके कारण ब्रह्मात्मक होते हैं. फलतः उपादानद्रव्यसे निर्गत=व्युच्चरित (द्रष्ट.: **"स यथा ऊर्णनाभिः तन्तुना उच्चरेद्, यथा अग्नेः विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति, एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति"** बृह.उप.२।१।२०) होनेके अर्थमें ही मूलतत्त्वका निर्गुण होना अभिप्रेत है.

अतएव महाप्रभु कहते हैं :

"अपनी दुर्विभाव्य शक्तिओंके साथ प्रपञ्चमें श्रीहरिकी क्रीड़ा दशमस्कन्धप्रतिपाद्य निरोध मानी जाती है...

जिस तरहके भक्तोंका निर्देश नवमस्कन्धमें किया गया,

उन्हें मुक्त करनेको इस स्कन्धमें उनका निरोध दरसाना अभिप्रेत है. क्योंकि कृष्णमें निरुद्ध हो पानेके कारण भक्त मुक्त हो जाते हैं. भक्तिकी शुद्धिके लिये भी ऐसे जीवोंको प्रपञ्चसे मुक्त करना उचित होता है. सब व्रजवासिओंके तामसभावको दूर कर भगवान् हरि यदि अन्यत्र पधारेंगे तो निःसन्देह वे सभी व्रजवासी राजस बन जायेंगे. आगे चल कर ये तामसभाववाले व्रजवासी और जो मूलतः राजस भाववाले थे वे दोनों ही सात्त्विक भाववाले भी बन जायेंगे. उसके बाद तीनों ही निर्गुण भी. मुक्तिके प्रकरणमें ऐसे ही निरुद्धात्माओंका निरूपण मुक्तात्मा हो जानेके रूपमें अभिप्रेत है''

(त.दी.नि.३।१०।१४-१७, १२६-१२७).

अतः प्रापञ्चिक भक्तोंके स्वभावोंके अनुरूप जब भगवान् अपने स्वरूप और लीला प्रपञ्चमें प्रकट करते हैं, तो वह साधनात्मक निरोध है. इसके फलरूपेण भक्त, निजस्वरूपके नाशके बिना भी, भगवान्के स्वभाव और लीलाओं के अनुरूप निर्गुण बन जाते हैं. यही तो निरोधकथामें फलरूपेण अभिप्रेत है. उस प्रक्रियाकी उपान्त्य कड़ीके निरूपणार्थ प्रस्तुत सात्त्विक प्रकरण दशमस्कन्धमें योजित हुवा है.

(सत्त्वादि गुणत्रयीमूलक 'सात्त्विक'पदकी व्युत्पत्ति)

यहां 'सात्त्विक' पदका घटक 'सत्त्व'पदार्थ अतएव अब मीमांस्य बनता है.

'सत्त्व' पदकी व्युत्पत्ति दो तरहसे दिखलायी जा सकती है : [१]''अस्=भुवि''धातुके साथ 'शतृ' प्रत्यय जोड़कर पहले 'सत्'

तथा सत् होनेके अर्थमें 'सत्त्व' पद बनता है; अथवा, [२]"षद्लृ=विशरण-गति-अवसादनेषु" धातुके साथ औणादिक 'त्वन्'प्रत्यय जोड़ कर भी पहले 'सत्' तथा वैसा सत् होनेके अर्थमें भी 'सत्त्व'पद निष्पन्न हो सकता है. द्वितीय व्युत्पत्तिके अन्तर्गत यह दरसाया जा सकता है कि लिंग संख्या आकृति गुण धर्मभूतसत्ता आदि जिसे अपना आधारद्रव्य बना कर अन्वित होते हों वह 'सत्' कहलाता है. और वैसा सत् होना 'सत्त्व'पदके अर्थतया अभिप्रेत हो पाता है. प्रयोगान्वितिमें इसे, परन्तु, अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता हम पाते हैं. जैसे कि मेदनीकारने अनेक अर्थोंकी परिगणना की है. यथा "**'सत्त्वं' [१]गुणे [२]पिशाचादौ [३]बले [४]द्रव्य-[५]स्वभावयोः [६]आत्मत्व-[७]व्यवसाय-[८]असु-[९]चित्तेषु [१०]जन्तुषु**" (अम.को.रामा.३।३।२१३). प्रस्तुत सात्त्विक प्रकरणके अभिधानमें जो 'सत्त्व'पदाभिप्रेत अर्थ है, वह तो गुण या स्वभाव रूपोंमें ही है.

(सत्त्वादि गुणत्रयीके विविध आयाम)

यहां गुणार्थक या स्वभावार्थक 'सत्त्व'पदके सन्दर्भमें कैसे गुण या स्वभाव को 'सत्त्व'पदवाच्य मानना उसकी मीमांसा करनी हो तो [१]तत्त्वविज्ञान [२]देवविज्ञान [३]धर्मविज्ञान [४]मनोविज्ञान [५]समाजविज्ञान आदि अनेक सन्दर्भ प्रासंगिक बन जाते हैं.

इनके स्वरूपनिर्धारणार्थ आकरस्थलोंमें उपलब्ध होते वचनोंके संकलनपर दृष्टिपात कर लेना गुणोंके शास्त्राभिप्रेत स्वरूपके अवबोधार्थ उपकारी होगा :

(१.तत्त्वविज्ञानमें सत्त्वगुणका स्वरूप)

[क]आसीद् ज्ञानम् अथोहि अर्थः एकमेव अविकल्पितम्।
तद् मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितं।
वाङ्मनोगोचरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहत्॥
तयोः एकतरोहि अर्थः प्रकृतिः सा उभयात्मिका।
ज्ञानन्तु अन्यतमो भावः 'पुरुषः' सो अभिधीयते॥

तमो रजः सत्त्वम् इति प्रकृतेः अभवन् गुणाः।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च॥

(भाग.पुरा.११।२४।२-५)

[ख]द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीवएव च।
वासुदेवात् परो ब्रह्मन्! नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः॥
तस्यापि द्रष्टुः ईशस्य कूटस्थस्य अखिलात्मनः।
सृज्यं सृजामि सृष्टो अहम् ईक्षयैव अभिचोदितः॥
सत्त्वं रजः तमः इति निर्गुणस्य गुणाः त्रयः।
स्थिति-सर्ग-निरोधेषु गृहीताः मायया विभोः॥

(भाग.पुरा.२।५।१४-१८)

[ग]सत्त्वं रजः तमः इति त्रिवृद् एकम् आदौ
सूत्रं महान् अहम् इति प्रवदन्ति जीवम्।
ज्ञान-क्रिया-अर्थ-फल-रूप-तया उरुशक्ति
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत्॥

(भाग.पुरा.११।३।३७)

[घ]सएष भगवान् लिंगैः त्रिभिः एभिः अधोक्षजः।
कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया॥
आत्मनि यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुः उपाददे।
कालाद् गुणव्यतिकरः, परिणामः स्वभावतः॥
कर्मणो जन्म महतो पुरुषाधिष्ठिताद् अभूत्।
महतस्तु विकुर्वाणाद् रजस्सत्त्वोपबृंहितात्॥
तमःप्रधानस्तु अभवद् द्रव्य-ज्ञान-क्रियात्मकः॥
सो अहंकार इति प्रोक्तः विकुर्वन् समभूत् त्रिधा।
वैकारिकः तैजसश्च तामसश्च इति यद्भिदा॥
द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिः ज्ञानशक्तिः इति प्रभोः।
तामसादपि भूतादेः विकुर्वाणाद् अभूद् नभः॥
नभसो अथ विकुर्वाणाद् अभूत् स्पर्शगुणो अनिलः।

(भाग.पुरा.२।५।२०-२६)

[ख]परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानां पुरुषर्षभ।
पौर्वापर्यप्रसंख्यानं यथावक्तुः विवक्षितम्॥
एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानि इतराणि च।
पूर्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः॥
पुरुषेश्वरयोः अत्र न वैलक्षण्यम् अण्वपि।
तदन्यकल्पना अपार्था ज्ञानं च प्रकृतेः गुणः।
प्रकृतिः गुणसाम्यं वै प्रकृतेः न आत्मनो गुणाः॥
सत्त्वं रजः तमः इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः।
सत्त्वं ज्ञानं, रजः कर्म, तमो अज्ञानम् इह उच्यते॥
गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्रमेव च।
पुरुषः प्रकृतिः व्यक्तम् अहंकारो नभो अनिलः॥
ज्योतिः आपः क्षितिः इति तत्त्वानि उक्तानि मे नव।
(भाग.पुरा.११।२२।७-१४)

(२.देवविज्ञानमें सत्त्वगुणका स्वरूप)

[क]सत्त्वं रजः तमः इति प्रकृतेः गुणाः
तैः युक्तः परः पुरुषः एक इह अस्य धत्ते।
स्थित्यादये 'हरि'-'विरिञ्चि'-'हर' इति संज्ञा
भूतैः यदा पञ्चभिः आत्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः 'पुरुषा'भिधानम्
अवाप नारायण आदिदेवः॥
यत्काय एष भुवनत्रयसंनिवेशो
यस्य इन्द्रियैः तनुभृताम् उभयेन्द्रियाणि।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलम् ओज ईहा
सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता॥
आदौ अभूत् शतधृती रजसा अस्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिः द्विजधर्मसेतुः।

रुद्रोऽपि अयाय तमसा पुरुषः स आद्य
इति उद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु॥
(भाग.पुरा.१।२।२३,११।४।३-५)

[ख]सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ
शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः।
वेद-क्रिया-योग-तपः-समाधिभिः
तव अर्हणं येन जनः समीहते॥
सत्त्वं न चेद् धातः इदं निजं भवेद्
विज्ञानम् अज्ञानभिदापमार्जनम्।
गुणप्रकाशैः अनुमीयते भवान्
प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः॥
(भाग.पुरा.१०।२।३४-३५)

(३.धर्मविज्ञानमें सत्त्वगुणका स्वरूप)

[क]कार्य-कारण-कर्तृत्वे द्रव्य-ज्ञान-क्रियाश्रयाः।
बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः॥
(भाग.पुरा.२।५।१९)

[ख]कुशलाकुशलाः मिश्राः कर्मणां गतयस्तु इमाः
सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः सुरनृनारकाः॥
(भाग.पुरा.२।१०।४०)

[ग]सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते॥
धर्मो रजस्तमो हन्यात् सत्त्वं वृद्धिर् अनुत्तमः।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्मः उभये हते॥
(भाग.पुरा.११।१३।२-३)

[घ]तस्माद् एकेन मनसा भगवान् सात्त्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥
शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्याद् महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृदि अन्तस्थोहि अभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्।
नष्टप्रायेषु अभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया॥
भगवति उत्तमश्लोके भक्तिः भवति नैष्ठिकी।
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयः च ये॥
चेतः एतैः अनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति।
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः॥
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते।
भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः॥
क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि दृष्टएव आत्मनि ईश्वरे।
(भाग.पुरा.१।२।१४-२१)

[ङ]प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान् यर्हि गृहाश्रमे।
स्वधर्मे च अनुतिष्ठेत गुणानां समितिः हि सा॥
पुरुषं सत्त्वसंयुक्तम् अनुमीयात् शमादिभिः।
कामादिभिः रजोयुक्तं क्रोधाद्यैः तमसा युतम्॥
यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः।
तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात् पुरुषं स्त्रियमेव वा॥
यदा आशिष आशास्य मां भजेत स्वकर्मभिः।
तं रजःप्रकृतिं विद्याद् हिंसाम् आशास्य तामसम्॥
(भाग.पुरा.११।२५।८-११)

[च]सत्त्वं रजः तमः इति गुणाः बुद्धेः नच आत्मनः।
सत्त्वेन अन्यतमो हन्यात् सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि॥
सत्त्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः।
(भाग.पुरा.११।१३।१-२)

[छ]सतु आत्मयोनिः अतिविस्मितः आस्थितो
अब्जं कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः।
त्वाम् आत्मनि ईश भुवि गन्धमिव अतिसूक्ष्मं
भूतेन्द्रियाशयमये विततं ददर्श॥

एवं सहस्र-वदन-अंघ्रि-शिरः-कर-उरु-नासा-आस्य-
कर्ण-नयन-आभरण-आयुधाढ्यम्।
मायामयं सदुपलक्षितसंनिवेशं
दृष्ट्वा महापुरुषम् आप मुदं विरिञ्चः॥
तस्मै भवान् हयशिरः तनुवं च बिभ्रद्
वेदद्रुहौ अतिबलौ 'मधुकैटभा'ख्यौ।
हत्वा अनयत् श्रुतिगणांस्तु रजस्तमश्च
सत्त्वं तव प्रियतमां तनुम् आमनन्ति॥
(भाग.पुरा.७।९।३५-३७)

[ज]सात्त्विकी आध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामसी अधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा॥
(भाग.पुरा.११।२५।२७)

(४.मनोविज्ञानमें सत्त्वगुणका स्वरूप)

[क]गुणानाम् असमिश्राणां पुमान् येन यथा भवेत्।
शमो दमः तितिक्षा ईक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः।
तुष्टिः त्यागो अस्पृहा श्रद्धा ह्रीः दयादिः स्वनिर्वृतिः॥[१]
कामः ईहा मदः तृष्णा स्तम्भः आशीः भिदा सुखम्।
मदोत्साहो यशः प्रीतिः हास्यं वीर्यं बलोद्यमः॥[२]
क्रोधो लोभो अनृतं हिंसा याच्ञा दम्भः क्लमः कलिः।
शोकमोहौ विषादार्ती निद्राशा भीः अनुद्यमः॥[३]
[१]सत्त्वस्य [२]रजसः च एताः [३]तमसः च अनुपूर्वशः।
वृत्तयो वर्णितप्रायाः संनिपातम् अथो शृणु॥
संनिपातस्तु 'अहम्'इति 'मम'इति... या मतिः।
व्यवहारः संनिपातः मनोमात्रेन्द्रियासुभिः॥
धर्मे च अर्थे च कामे च यदा असौ परिनिष्ठितः।
(भाग.पुरा.११।२५।१-७)

[ख]सत्त्वाद् जागरणं विद्यात् रजसा स्वप्नम् आदिशेत्।

प्रस्वापं तमसा जन्तोः तुरीयं त्रिषु संततम्॥
कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्॥
सात्त्विकं सुखम् आत्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम्।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम्॥
(भाग.पुरा.११।२५।२०-२९)

(५.समाजविज्ञानमें सत्त्वगुणका स्वरूप)

[क]आगमो अपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रो अथ संस्कारो दश एते गुणहेतवः॥
तत्तत् सात्त्विकमेव एषां यद्यद् वृद्धाः प्रचक्षते।
निन्दन्ति तामसं तत्तद् राजसं तद् उपेक्षितम्॥
सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्वविवृद्धये।
ततो धर्मः ततो ज्ञानं यावत्-स्मृतिर्-अपोहनम्॥
वेणुसंघर्षजो वह्निः दग्ध्वा शाम्यति तद् वनम्।
एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः॥
(भाग.पुरा.११।१३।४-७)

[ख]उपर्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणाः जनाः।
तमसा अधोध आमुख्याद् रजसा आन्तरचारिणः॥
मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्मकृत्।
राजसं फलसंकल्पं हिंसाप्रायादि तामसम्॥
वनन्तु सात्त्विको वासः ग्रामो राजसः उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्॥
सात्त्विकः कारको असंगी रागान्धो राजसः स्मृतः।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः॥
(भाग.पुरा.११।२५।२१-२६)

ये बहोत सारे वचन भागवत एकादश स्कन्धमें से उद्धृत किये

गये हैं. यहीं एक निष्कर्षवचन भी उपलब्ध होता है "**द्रव्य देश फल काल ज्ञान कर्म और कारक श्रद्धा अवस्था आकृति निष्ठा सभी कुछ त्रिगुणात्मक है. पुरुष और अव्यक्त प्रकृति में अधिष्ठित जितने भी भाव हैं नेत्रदृष्ट कर्णश्रुत बुद्ध्यनुध्यात सभी गुणमय होते हैं... गुण-कर्मोंसे प्रयुक्त ये संसृतिरूप पुरुषके लिये सिद्ध होते हैं, जो जीव इन चित्तज गुणोंको जीत पाता है, वह भक्तियोगद्वारा भगवान्में सन्निष्ठ होकर भगवद्भावापन्न हो जाता है**" (भाग.पुरा.११।२५।३०-३३). इस बड़ी लंबी वचनावलीमें कुछ वचनांशोंके अपवादको छोड़कर प्रायः सभी वचन सृष्टिलीलाके अन्तर्गत आती सत्त्वादिगुणत्रयीका ही निरूपण करते हैं.

(प्राकृत सत्त्वादि गुणत्रयीसे पृथक् अप्राकृत सत्त्व)

हम इन्हीं वचनोंमें देख सकते हैं कि भूतलपर अपने प्रकट होनेके समय भगवान् जिस सत्त्वगुणको अपने प्रकटविग्रहके रूपमें धारण करते हैं, वह अप्राकृत शुद्ध (रजोगुण और तमोगुण से अमिश्रित) सत्त्व होता है. उसकी, अतएव, प्राकृत सत्त्वादि गुणत्रयीके अन्तर्गत परिगणना नहीं की गयी है. इस विशुद्ध सत्त्वका कोई भौतिक सृष्टिमें पर्यायसदृश कुछ उपलब्ध होता हो तो, वह केवल एकमात्र अन्तःकरणान्तर्गत महत् तत्त्वका व्यष्टिरूप चित्त जैसा कुछ सोचा जा सकता है. अतएव चित्तके बारेमें भागवतमें सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है "**विशुद्ध सत्त्व 'वसुदेव'शब्दसे वाच्य होता है, क्योंकि वहीं उस पुरुषका आवरणरहित अनुभव होता है**","**विशुद्ध सत्त्व आपका श्रीविग्रह है और आपका प्रमेयरूप शरीर प्रमाणरूप वेदादि शास्त्रोंद्वारा ही जाना जा सकता है**" (भाग.पुरा.४।३।२३, १०।८५।४२).

पूर्वोदाहृत इन वचनोंमें हमने देख लिया कि ब्रह्मप्रतिपादक वेदादि शास्त्र कैसे सत्त्वरूप प्रमाण हैं, अनवतारकालमें इसी तरह भूतलपर अवतीर्ण रूप विशुद्ध सत्त्वको अपने शरीरतया धारणकर प्रकट होते

हैं. महाप्रभु इस विशुद्ध सत्त्वका परिचय इन शब्दोंमें प्रदान करते हैं :

"जैसे मकड़ी जाला बुननेको अपने भीतरसे एक तार निकालती है उसी तरह भगवान् भी तीन तरहकी सृष्टि प्रकट करनेको अपने भीतरसे तीन गुणोंको बाहर प्रकट करते हैं. इनके सूत्ररूप होनेके कारण इन्हें 'गुण' कहा जाता है. जो सद्रूपेण निर्गत होता है उसे 'सत्त्व' कहा जाता है. केवल चिद्रूपेण जो निर्गत होता है उसमें क्रियाशक्तिके प्रधान होनेके कारण और सदानन्दांशोंके न होनेके कारण 'रज' कहा जाता है. और आनन्दांशसे तमगुण प्रकट होता है. इन्हें भगवान्ने अपने स्वरूपतया प्रकट किया होता है. ये पहले भगवत्स्वरूपमें पृथग्भूत नहीं होते. वैसे होते तो ये भगवदात्मक नहीं हो पाते, जैसे पहले जो रुई थी वह बादमें ही सूत बनती है, वैसे ही भगवान् निर्गुण हैं. इन गुणोंको भगवान् जगत्के स्थिति सर्ग और निरोध के हेतु धारण कर लेते हैं. ये ग्रहण भी अपनी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाद्वारा करते हैं. यही माया जगत्की कर्त्री बनती है. इसे व्यामोहिका नहीं मान लेना चाहिये. सर्वसमर्थ जगत्कर्ताकी शक्तिरूपा यह माया है. यह भगवान्की शक्ति सर्वरूप भगवान्से जुड़ी हुयी होनेके कारण वस्तुमात्रकी प्रतिकृतिरूपा होती है. इसे जगत्को उत्पन्न करनेमें भगवान् अपने करणके रूपमें उपयोगमें लेते हैं. अत: करणांश भगवान्का होनेके कारण सत्त्वादि गुण करणरूपेण ही निर्गत होते हैं... अत: भगवान्का अंश जो कोई जीव इस मायामें रमण करना चाहता है, अथवा इस मायाके कार्यरूप पदार्थोंमें, उन्हें ये गुण बांध लेते हैं".

(सुबो.२।५।१९)

इस प्रतिपादनमें विशेषत: अवधेय तथ्य यही है कि अखण्डानन्दात्मक ब्रह्मतत्त्वको 'भगवत्'पदवाच्य बनानेवाले ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य धर्म ब्रह्ममें सहज एवं सनातन आविर्भूत रहते हैं. ब्रह्मके धर्मिभूततया आनन्दांशके तिरोहित होनेपर चिदंश जीवके रूपमें प्रकट होता है. अत: इन दिव्य सहज गुणोंका धर्मी न रह पानेके कारण जीवमें ये धर्म उसके क्षुद्रांशमें क्षुद्रधर्मोंके रूपमें प्रकट होते हैं. इसी तरह चिदानन्दांशोंके तिरोहित होनेपर सदंश जड़के रूपमें नाम-रूप-कर्मोंके साथ प्रकट होते हैं. अन्यथा दोनों ही जड़-जीवोंमें से प्रथम जड़ केवल ज्ञान-क्रियाका वैषयिक अधिकरणमात्र रह जाता है और द्वितीय जीव केवल चैतन्यरूप रह जाता है, ज्ञानवान् नहीं.

इसका प्रतिपादन विष्णुपुराण भागवतपुराण और ब्रह्मसूत्राणुभाष्य में मिलते वचनोंके भावानुवादमें देखना हो तो :

"वह जो अव्यक्त अजर अचिन्त्य अज अव्यय, अनिर्देश्य अरूप और कर-चरण-रहित विभु सर्वगत नित्य भूतयोनि अकारण हो... उस ब्रह्म परमात्मा के शब्दगोचर न होनेपर भी उसकी केवल पूज्यता जतानेको ही उसे 'भगवत्' पदसे वाच्य माना जाता है... समग्र ऐश्वर्य धर्म यश श्री ज्ञान और वैराग्य को भी 'भग' कहा जाता है. जिस अविनाशी अखिलात्मा भूतात्मा के भीतर अशेष भूतोंका वास हो यह जतानेको उसके बारेमें 'व'कारका प्रयोग किया जाता है. इस तरह ये 'भगवान्' और 'पूज्य' शब्द परमब्रह्मके रूप वासुदेवके बारेमें तो अपने मूल अभिप्रायके अनुसार अपनी परिभाषाके साथ सार्थक हो जाते हैं, जबकि अन्यके बारेमें केवल औपचारिक प्रयोगवश ही... क्योंकि जो उत्पत्ति-प्रलय भूतोंके सृष्टिमें आवागमन और उनमें निमित्तभूत विद्या और अविद्या को जानता

हो उसे सचमुचमें 'भगवान्' कहा जाता है".

"अन्यत्र 'भग' पदसे वाच्य ऐश्वर्यादि गुण सनातन नहीं होते परन्तु भगवान्में वे स्वरूपात्मक सनातन होते हैं. क्योंकि वह भगवान् अपने ही धाममें सदा रमण करनेवाले ईश्वर हैं".

"परमात्मा सृष्टिलीलाका आनन्द जीवात्माओंके साथ लेते हों तो उन्हें दुःख-मोह-शोककी अनुभूति होनी नहीं चाहिये थी. फिरभी जो होती है उसमें निजानन्दका अनुभव विविधताके साथ करने भगवान्ने अपने आनन्दांशको तिरोहित कर रखा होता है. अतएव परमात्मा विविध जीवात्माओंके रूपमें कुछ विविधताका आनन्द लेते हैं; और, जीवात्मगण परमात्माकी विविधता(=भगवत्स्वरूपानन्द और लीलानन्द के अन्तर्गत आत्मानन्द या विषयानन्द के रूपोंमें)का आनन्द लेते हैं. अतएव ईश्वरेच्छावश भगवद्धर्म जीवोंमें तिरोहित होते हैं. भगवान्के ऐश्वर्यगुणके तिरोधानवश जीवमें पराधीनता आती है. वीर्यगुणके तिरोधानवश दुःखासहिष्णुता. यशोगुणके तिरोधानवश हीनता. श्रीगुणके तिरोधानवश अनेकविध आपदाओंमें ग्रस्तता. ज्ञानगुणके तिरोधानवश देहेन्द्रियादिमें अहंकार, अन्य भी विपरीतज्ञान. वैराग्यगुणके तिरोधानवश विषयासक्ति... ये सब धर्मिरूप आनन्दांशके तिरोहित होनेके फलस्वरूप होता है. अतएव जीव मिथ्याकामनाओंसे ग्रस्त हो जाता है. क्योंकि आनन्द तो, अन्यथा, अकामरूप ही होता है, (कामोंकी उत्पत्ति और पूर्ति में निमित्ततया निहित होनेसे)".

(विष्णु.पुरा.६।५।६६-७८, भाग.पुरा.२।९।१६, ब्र.सू.-अ.भा.३।२।५)

इसके आधारपर यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌के ऐश्वर्यादि गुण अप्राकृत होते हैं. क्योंकि स्वयं त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके भी सत्त्वादि गुण अपने मौलिक स्वरूपमें तो कारणात्मक ब्रह्मरूप विशुद्ध ही होते हैं. प्रकृति और उसके कार्यरूप विकारोंमें आनन्दांशके तिरोधानवश ऐश्वर्यादि छह गुण भी पश्चात् औपाधिक एवं नश्वर रूपोंमें प्रकट होते हैं. अतएव ब्रह्मके चिदंशरूप जीवचेतनाका ज्ञानवान् होना भी, ऊपर उद्धृत वचनोक्त, ब्रह्मकी अन्यतम शक्तिरूपा अविद्याके साथ लिप्त होनेके कारण शक्य बन पाता है. सो भी उस अविद्याके विविध पर्व अन्तःकरणाध्यास प्राणाध्यास इन्द्रियाध्यास एवं देहाध्यास की कृत्रिम उपाधियोंके वश असहजतया ही एवं देश-काल-वस्तुकी मर्यादाओंमें ही वहां ज्ञानशक्ति प्रकट होती है.

इनमें भागवतके तृतीयस्कन्धान्तर्गत कपिलगीताके अनुसार केवल अन्तःकरणको ही ले कर चलें तब भी इनमें चित्त सत्त्वगुणप्रधान होता है. अहंकारके पुनः त्रिविध प्रभेद सात्त्विक राजस और तामस निरूपित हुवे हैं. इसी तरह मनके भी. इस तरह बुद्धि तत्त्वकी पंचविध वृत्तियोंमें भी संशयात्मिका वृत्ति राजसी होती है विपर्यासात्मिका तामसी निश्चयात्मिका सात्त्विकी होती है. महाप्रभु द्वितीय स्कन्ध (२।६।१२-१३)की सुबोधिनीमें यह भी स्पष्ट करते हैं कि भगवान्‌के गुणावताररूप ब्रह्मादि देवत्रयी, मुनिगण, सुरासुरनगगण, नाग-खग-मृग-सरी-सृपगण, गन्धर्व-अप्सरागण, यक्षो-रक्षो-भूत-उरगगण, पशुगण, पितृगण, सिद्ध-विद्याधर-चारणगण, द्रुमगण, ये सभी भगवान्‌के विविध अवतार हैं. इनका समुदाय तो, फिरभी, स्वयं मूल भगवान् ही हैं. प्रत्येक ये चाहें स्वदृष्ट्या या अब्राह्मिकदृष्ट्या ब्रह्मतया अवभासित होते हों या नहीं. इनमें कुछ मुनिगणसदृश शुद्धसत्त्वजनित होते हैं, कुछ सुरगण मिश्रसत्त्वजनित, असुरगण मिश्रितरजोजनित होते हैं, नगादिगण मिश्रिततमोगुणजनित होते हैं, नागादिगण शुद्ध तमोगुणजनित होते हैं, गन्धर्वाप्सरादि मिश्रितरजोगुणजनित होते हैं, यक्षादिगण मिश्रिततमोगुणजनित

होते हैं, पशुगण मिश्रितसत्त्वगुणजनित होते हैं, अन्तरिक्षसंचारी सिद्धादिगण सत्त्वादिगुणप्रधान होते हैं; और, द्रुमगण तमोगुणप्रधान होते हैं.

(सत्त्वादिगुणतारतम्य और अवतार-विभूति-आदिके स्वरूपोंमें भगवल्लीला)

अत: सृष्टिलीलाके अन्तर्गत ऐसी सत्त्वादिगुणत्रयीका तारतम्येन वितरण और लीलावतारी भगवत्स्वरूप और लीलापरिकर में गुणोंके प्राकट्यका भी तारतम्य कुछ विस्तृत विमर्शकी अपेक्षा रखता है : देश-काल-स्वरूपत: अनादि-अनन्त, अखिलभूतयोनि और अखिलभूतात्मा ब्रह्ममें देश-काल-स्वरूपके परिच्छेदोंमें घिरे अखिलभूतोंके साथ प्रभेदकी मीमांसा करनी हो तो बृहदारण्यकोपनिषद्(१।४।१-७)में मिलता निरूपण नितान्त अवधेय है.

वहां यह कहा गया है कि परमात्मा पुरुषविध होनेपर भी मूलरूपमें सर्वथा एकाकी अव्याकृत था. उसे अपने पुरुषविध स्वरूपके व्याकरण-विस्तारकी कामना हुयी. अत: उसने अपने-आपका असंख्य नामों रूपों एवं कर्मो में आत्मविस्तार किया. और इन असंख्य नामों रूपों और कर्मों के भीतर वह, कटार जैसे म्यानके भीतर रखी जाती है वैसे, प्रविष्ट हो गया. अतएव वह पुरुषविध होनेके बजाय वस्तुत: पुरुषरूप ही बन गया. यहीं आगे चलकर एक यह बात और समझायी गयी है कि अपने भीतर प्रकट होनेवाले नाम रूप और कर्म, जिन्हें प्रकटकर ब्रह्म उनके भीतर प्रविष्ट हो जाता होनेके कारण और उन्हें धारण भी करता होनेसे, ये तीन होनेपर भी ब्रह्मात्मना एक होते हैं. इसी तरह इनका आधारोपादानभूत ब्रह्म स्वरूपेण एकमेवाद्वितीय होनेपर भी नाम-रूप-कर्मात्मना तीन बन जाता है (वहीं १।६।१-३).

इस दृष्टिसे ब्रह्मको निहारनेपर सृष्टिमें प्रकट होनेवाले निखिल नाम-रूप-कर्मोका ब्रह्म धर्मी सिद्ध होता है. इस धर्मरूपताको महर्षि बादरायणने अपने ब्रह्मसूत्र(३।२।२८)में एक सूर्य और उसकी असंख्य किरणोंकी उपमाद्वारा समझाया है.

इसे एक समुद्र और उसकी अनेकविध लहरोंकी उपमाके आधारपर भी समझा जा सकता है. क्योंकि तत्त्वत: लहरें समुद्रसे भिन्न तो नहीं होती फिरभी समुद्रमें उभरती-मिटती छोटी-बड़ी अनेकविध लहरें समुद्रकी तुलनामें देश-काल-स्वरूपेण परिच्छिन्न तो होती ही हैं. जबकि अपनी किसी भी उभरती या मिटती विकाररूप लहरोंके कारण समुद्र उत्पन्न होता या नष्ट होता अनुभूत नहीं होता. वह तो अविकारी ही रहता है. लहरोंको प्रकट करनेवाला समुद्र अपने धर्मिभूत तात्त्विक या औपादानिक स्वरूपका त्याग किये बिना ही धर्मोके रूपमें उन्हें प्रकट करता है. अत: समुद्र-तरंगोंके दृष्टिगोचर होते प्रभेदमें मौलिक या औपादानिक एकत्वका अनुसंधान शक्य है. शान्त समुद्र और उसकी लहरोंमें से चुल्लू भर जलको चखनेमात्रसे वह सुलभ हो जाता है.

इसी तरहके ब्राह्म्यैक्यके अनुसन्धानार्थ ईशावास्योपनिषद् और तैत्तिरीयोपनिषद् में भी कुछ और महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी हैं.

ईशावास्योपनिषद्(७)में यह कहा गया है कि एक आत्मतत्त्वको दृष्टिगत करनेपर सारे भूत आत्मतया ही अवभासित होने लगते हैं. भूतोंकी ऐसी अनेकताका कोई आत्मैकत्वमें अनुदर्शन कर पाता हो तो वह सारे शोक-मोहोंसे मुक्त हो जाता है.

साथ ही साथ तैत्तिरीयोपनिषद्की ब्रह्मवल्ली और भृगुवल्ली की पूर्वापरभावसंगतिपर भी थोड़ा सा लक्ष्यपात करनेपर एक मननीय तथ्य उद्घाटित होता है : ब्रह्मवल्लीमें, सर्वप्रथम, ब्रह्मको सत्य-ज्ञान-अनन्ततया परिभाषित कर, ऐसे ब्रह्मको स्वयं अपनी हृदयगुहामें जान पानेवालेके सारे मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं, ऐसा निरूपण किया गया है. बादमें भृगुवल्लीमें ऐसे ब्रह्मके अध्यापनकी प्रार्थना, महर्षि भृगुने जब अपने पिता वरुणके सामने प्रस्तुत की तब उन्होंने, सबसे पहले अन्न प्राण

चक्षु श्रोत्र मन और वाणी को ब्रह्मतया निहारनेका उपदेश दिया. एतदर्थ सर्वप्रथम ब्रह्मकी परिभाषा — जिसमेंसे निखिल भूतोंकी उत्पत्ति होती है, जिसमें स्थिति होती है और जिसमें प्रयाण और प्रलय होते हैं, उसे ब्रह्म जानना चाहिये — इस तरह दी. निखिल भूतोंके अन्नमय कोशरूप शरीर प्राणव्यापारपर आश्रित रहते हैं. प्राणमय कोश मनोव्यापारपर, मनोमय कोश विज्ञानपर और विज्ञानमय कोश आनन्दमयपर आश्रित रहते हैं. इन सभीमें यथापरिभाषित ब्रह्मके लक्षणका अनुगम भी दरसाया ही है. एतावता सिद्ध हो जाता है कि ये यदि अब्रह्मात्मक हों तब तो ब्रह्मकी परिभाषा अतिव्याप्ति दोषसे ग्रस्त सिद्ध होगी. उपासनार्थ ब्रह्मतया भावना माना जा सकता था यदि इनकी उत्पत्ति ब्रह्ममेंसे न दिखलायी गयी होती और इनके भीतर ब्रह्मको अन्तर्निगूढ़ न माना गया होता "**द्विपद चतुष्पद प्राणियोंके पुरोंको बनाकर पक्षिरूप बनकर वही एक पुरुष उन पुरोंमें प्रविष्ट हो गया**" (बृह.उप.२।५।१८). इस वचनमें हम देख सकते हैं कि इन अन्नमयादि पुरोंका निर्माता उपादान और अन्तराविष्ट नियन्ता वही है. यह निरूपण उपासनार्थ कल्पित धर्मके आरोपकी बातको अनुपपन्न कर देता है. अतः यदि औपनिषद लक्षणको निर्दोष मानना हो तो, अन्न प्राण मन विज्ञान और आनन्द सभीको ब्रह्मात्मक माने बिना कोई चारा बच नहीं जाता.

इस प्रतिपादनशैलीकी विशेषता यह है कि उपक्रमतया पहले "[१]**ब्रह्म**[२]**विद्** [३]**आप्नोति परम्. तद् एषा अभ्युक्ता :** [१]**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म,** [२]**यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्,** [३]**सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता**" (तैत्ति.उप.२।१) ऐसे उद्बोधनके बाद, इस ब्रह्मवल्लीमें एरिस्टोटॅलिअन् सिलोजिज़म्की तरह पहले मेजर प्रिमाइस्में "**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्**" (छान्दो.उप.६।८।७) जैसी प्रतिज्ञा की गयी है. अर्थात् परिदृश्यमान वस्तुमात्रकी ब्रह्मात्मकताका प्रतिपादन किया गया. इसके बाद अगली भृगुवल्लीमें "**तत् त्वम् असि**" (वहीं)

वचनकी तरह निखिल दृश्यजातके द्रष्टाकी माईनर प्रिमाइस्के जैसी ब्रह्मात्मकता प्रतिपादित की. और अन्तमें निष्कर्षतया यह कहा गया है कि जो ऊपर आकाशमें स्थित आदित्यके भीतर है वही नीचे भूतलपर आदित्योपजीवी पुरुषके भीतर भी अवस्थित है. ऐसा भलीभांति जान लेनेके बाद अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशमें, प्राणमय कोशसे मनोमय कोशमें, मनोमय कोशसे विज्ञानमय कोशमें; और, विज्ञानमय कोशसे आनन्दमय कोशमें प्रत्यावर्तन करनेवाला ज्ञानवान् जीव यह समझ पाता है कि कैसे वह कामोपभोग करनेवाला कामरूपी बन कर इन अनेक कोशोंमें आवागमन कर पाया. और तब तो हर्षातिरेकवश वह सामगान करता सा हो जाता है. क्योंकि वह स्वयं ही अन्न भी बना और अन्नभोजी भी. अत: जो काम्य अन्न उसे खा रहा था उसे ही वह भी खाता होनेकी अनुभूति होने लगती है. क्योंकि सारे ये कोशात्मक भुवन भी वह स्वयं बना है और इनमें संचरण करनेवाला और रहनेवाला भी वह स्वयं ही बना है. यह एक ऐसी सुनहरी ज्योति है जिसे कोई विरल ज्ञानवान् ही जान पाता है!

(भगवत्स्वरूप-भगवल्लीलाके आनन्दके भोक्ता और भोग्य का स्वरूप)

यद्यपि ब्रह्मसूत्र(१।२।९)में मृत्यु-प्रलयके ही सन्दर्भमें ब्रह्मका भोक्तृत्व निरूपित है फिरभी इस भोक्तृत्वको यदि उत्पत्ति और पालन लीलाओंके भी उपलक्षणतया मान कर चलें, तो यह समझना आसान हो जाता है कि कैसे आत्मरति आत्मक्रीड परमात्मा अपने निजानन्दके उपभोगार्थ ही समग्र सृष्टिका निर्माण पालन और उपसंहरण करता है. वही परमात्मा जब भूतलपर भगवान्के रूपमें अवतीर्ण होते हैं तो उनकी लीलाके माध्यमसे यह दिव्य रहस्य अनावृत हो पाता है कि उस सर्वभोक्ता भूमानन्दका उपभोक्ता जीवात्मा भी बन सकता है! अन्न और अन्नाद के परस्परात्मक ऐसे औत्सर्गिक स्वरूप हैं. जीवकृत त्रिगुणात्मक कर्मफलोंके अभोक्ता साक्षिरूप परमात्माकी निजानन्दके विस्तार करनेकी सृष्टिलीलामें पुंभाववान् या भोक्ता होना प्रकटलीला

है. जबकि भगवदवताररूपमें स्त्रीभावरूपा भोग्यरूपता गूढ़लीला भक्तादिगम्य हो कर ही प्रकट होती है, ऐसा महाप्रभुने दरसाया है. स्वाभाविकतया त्रिगुणात्मक निजकर्मफलोंके भोक्ता जीवात्माको उसके त्रिगुणात्मक फलोंके उपभोगमें बंधी हुयी बुद्धिके पाशसे वह छुड़ाता है. ऐसा अवतीर्ण भगवद्रूप स्त्रीभावात्मक अर्थात् उपभोग्यभावरूप स्वरूपानन्द और लीलानन्द की अनुभूति जीवोंको प्रदान करता है. यों वह जीवात्माओंके भीतर निगूढ़ गूढ़पुंभावात्मक उपभोक्तृभावको प्रकट होनेका अवसर प्रदान करता है. ब्रह्मात्मक भोग्य-भोक्ताके बीच रहे अक्षुण्ण तादात्म्यकी यह गवाही देता है. इसे ही यहां 'सुवर्नज्योति'रूपमें बिरदाया जा रहा है. इस विषयमें आगे चल कर भी कुछ अधिक विवेचनीय है.

अवतारलीलाके द्वारा अनावृत इस पारस्परिक भोक्तृभोग्यभावका विपर्यास पुष्टिभक्तिभावका चरमोत्कर्षरूप माना गया है. यह महाप्रभुके वचनोंके आधारपर समझना हो तो : "**पुष्टिः स्वार्था** (जीवार्था) **परार्था** (भगवदर्था) **तु भक्तिः... अतः सृष्टिस्तु निखिला कृष्णार्था... तस्मात् सिद्ध्यन्ति कार्याणि भक्त्यैव आश्रयणाद् हरेः**". "**कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिः उच्यते**"(त.दी.नि.३।६।१३-९९ , ३।५।२६) तथा "**भजनस्यैव सिद्ध्यर्थं 'तत् त्वम् असि'आदिकं तथा**" (त.दी.नि.१।४१) इन विरुद्धधर्माश्रयताके निरूपक वचनोंका निगूढ़ाशय यही है. अर्थात् वैसे तो निखिल सृष्टि कृष्णार्थ होनेसे सृष्टिमें जनमनेवाले भक्तोंकी भक्ति भी कृष्णार्थ ही होनी चाहिये, स्वयं जीवकी भोगस्पृहा या मोक्षस्पृहा को पूर्ण करनेके प्रयोजनवश नहीं. फिरभी भगवान्की पुष्टि, विशेषतः भूतलपर अवतीर्ण स्वरूपद्वारा प्रकट भगवत्कृपारूपा पुष्टि, निरुपाधिकतया जीवार्थ ही होती है. अतः ऐसी पुष्टिके वश जीवके भीतर पनपनेवाली भक्तिके वश जीव भगवान् श्रीकृष्णके आधीन रहनेके बजाय स्वयं भगवान् श्रीकृष्णको भक्ताधीन बना लेता है. अतः भोग्य-भोक्तृभावमें परिवर्तन हो जाता है. सृष्टिलीलाका भोक्ता परमात्मा सृष्टिलीलामें भोग्य जीवात्माका भोग्य बन कर उसे अपने अवतारित स्वरूप-लीलानन्दके

भोक्ताकी पदवीपर जीवोंको अभिषिक्त कर देता है.

भोक्ता परमात्मा, भोग्य जीवात्मा और पुष्टिप्रेरक भगवान्के त्रैविध्यका निरूपण हम "**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मम् एतत्**" (श्वेता.उप.१।१२) इस श्रुतिवचनमें भी पाते हैं.

अत: इन वल्लियोंमें प्रतिपाद्य ब्रह्मके स्वरूपकी संगति तथाकथित महावाक्य "**स य एषो अणिमा, ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, स आत्मा, तत् त्वम् असि**" (छान्दो.उप.६।७।७) के साथ भी सावधानतया तुलनीय है.

(ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं... तत् त्वम् असि)

केवलाद्वैती वेदान्त, यद्यपि, विभिन्न अंशोंको अवयोजित करके ही व्याख्या करना चाहता है किन्तु शुद्धाद्वैती वेदान्तकी प्रक्रिया अलग है. शांकर वेदान्तमें जड़ और ब्रह्म का ऐक्य "*'यश्चौर: स स्थाणु'*रूप *बाधितार्थसामानाधिकरण्य*"न्यायेन अभिप्रेत माना गया है. जबकि जीव और ब्रह्म का ऐक्य "*'सोऽयं'प्रत्यभिज्ञा*" न्यायेन जहदजहल्लक्षणाद्वारा अभिप्रेत माना गया है. शुद्धाद्वैत वेदान्तमें, परन्तु, ऐसी गौणी वृत्तिपर अवलम्बित व्याख्या अभिप्रेत नहीं है. क्योंकि सर्वभूतों और निजात्मा की अनेकताका ब्रह्मात्म्यैक्यमें अनुसन्धान करनेकी प्रक्रियामें प्रकारोंमें भेद होनेपर भी वे प्रभेद ऐक्यानुभूतिके बाधक नहीं बन पाते. फिरभी इतना सा प्रक्रियाभेद अवश्य है कि जड़ और ब्रह्म के तादात्म्यको, जड़के उत्पत्ति-नाशवान् होनेके कारण, उपादानोपादेयभावात्मक तादात्म्यके रूपमें निहारा गया है. जबकि चिदंशके अनादि-अविनाशी अंश होनेके कारण जीव और ब्रह्म के तादात्म्यको अंशांशिभावात्मक तादात्म्यके रूपमें.

यह तादात्म्यमूलक एकत्व या अद्वैत भावात्मक होता है : नाम-रूप-कर्मोंके त्रित्वका सहिष्णु, अप्राकृत सत्त्व-रजस्-तमोरूप त्रित्वका सहिष्णु, प्राकृत सत्त्व-रजस्-तमोरूप त्रित्वका सहिष्णु तथा इनके विविध संयोजनोंसे आरब्ध प्राकृत या पौरुष रूपी वैविध्योंका भी सहिष्णु.

अर्थात् इनके मिथ्या हुवे बिना भी यह एकत्व अक्षुण्ण रह पाता है. जबकि अभावात्मक एकत्व या अद्वैत अपने अलावा किसी दूसरेके सत्य होनेपर खण्डित हो जाता है. अर्थात् यह "स्वयंसे इतर किसीके न होनेका" एकत्व नहीं प्रत्युत "किन्हीं दो धर्मोंवाले या रूपोंवाले जैसोंमें किसी एकमात्र धर्मीके होनेका" एकत्व है. अतएव न यहां सजातीय और न विजातीय भेदवाली कोई वस्तु सम्भव है. और न धर्म-धर्मिभावमूलक स्वगत भेदकी आपत्ति भी. क्योंकि धर्म भी धर्मिरूप होता है और धर्मी भी धर्मरूप, फिरभी सूर्य और सौरप्रकाश की तरह दोनोंमें धर्मधर्मिभाव भी निभता ही है. धर्मी धर्मरूप न होता तो अपनी स्वरूपगत अखण्डैकरसताके निर्वाहके साथ प्रकट होते धर्म-धर्मिभावपर स्वगतभेदका आरोप प्रसक्त हो पाता. निषेधात्मक एकत्व या अद्वैत, जबकि, अपनेसे अन्य होनेके रूपमें किसी भी तरहके द्वैत या अनेकत्व को अपनेपर मिथ्या आरोपके रूपमें, अर्थात् केवल व्यावहारिक या प्रातिभासिक आभास होनेके अर्थमें, उस द्वैत या अनेकत्व का अपलाप किये बिना उपपन्न ही नहीं हो पाता.

(सृष्टिरूपा भगवल्लीला और सृष्टिमें भगवल्लीला)

इस तरहके भावात्मक एकत्व या अद्वैत की आधारभूमिपर सहज ही दो प्रकारोंकी लीला प्रकट हो पाती हैं. अर्थात् :

१.सच्चिदानन्द ब्रह्मके स्वरूपमें अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंके प्रादुर्भावकी एक सृष्टिलीला.

और

२.इस सृष्टिलीलाके भीतर [क] परमात्माके अन्तर्यामितया उन नाम-रूप-कर्मोंमें प्रविष्ट होकर उन्हें धारण करनेकी लीला.

[ख] भूतलपर भगवान्के विविध अवतीर्णरूपोंमें साक्षात् स्वरूपात्मना की जाती लीला.

[ग] चतुर्विध व्यूहात्मना प्रकट होनेकी लीला.

[घ] अवतीर्ण हुवे बिना भी अपनी विशेष सामर्थ्यको भगवद्गीतोक्तरीत्या विभूतिरूपेण अथवा पांचरात्रतन्त्रोक्तरीत्या विभवरूपेण प्रकट करनेकी लीला.

[ङ] अपने भक्तोंके भक्तिभावोंके आलम्बनविभाव बननेको आराध्य भगवन्मूर्तिके रूपमें प्रकट होनेकी लीला.

(उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयके बाह्याभ्यन्तर षड्विध प्रभेद)

यहां एक विशेषतः उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि भगवान् आधिभौतिक आध्यात्मिक एवं आधिदैविक अर्थात् [१] बाह्यतम [२] बाह्यतर [३] बाह्य और [४] आभ्यन्तर [५] आभ्यन्तरतर [६] आभ्यन्तरतम यों छहों रूपोंमें सृष्टिका उत्पादन पालन और संहरण करते हैं.

[१] **बाह्यतम** रूपेण आकाश-वायु-अग्नि-आप्-पृथिवी रूपी पंचमहाभूत एकमेंसे दूसरे प्रादुर्भूत होते वर्णित हुवे हैं, ब्रह्मकी कार्य-कारणभावात्मिका शक्तिके अनुस्यूत होनेके कारण ही (द्रष्ट. : तैत्ति.उप.२।२।१).

[२] इनके भीतर भरी हुयी कर्म-स्वभाव-कालरूपा शक्तियां द्रव्यान्तःश्लिष्टतया **बाह्यतर** रूपमें कारण बनती हैं, शक्तिमान् सृष्टिकर्ता भगवान्के प्रकट न होनेपर भी (द्रष्ट. : भाग.पुरा.२।५।२१-२२).

[३] **बाह्यरूपेण** जड़-चेतनका द्वैत जो अनुभूत होता है, वह तो सच्चिदानन्द ब्रह्मके चिदानन्दांशके तिरोभाववश जड़के रूपमें और आनन्दांशके तिरोभाववश जीवके रूपमें. यों ब्रह्मके प्रकट न होनेपर भी जड़द्रव्यात्मना और अद्रव्यजीवात्मना होता तो प्रकट ब्रह्म ही है (द्रष्ट. : "आनन्त्येऽपि कार्याणां गणभेदो द्विधा मतः समष्टि-व्यष्टिभेदेन केवले जडजीवता=केवलप्रकारेण विभागे क्रियमाणे जडो जीवः च भवति नतु ततो अतिरिक्तं किञ्चित्" त.दी.नि.प्र.२।११८).

[4] इन व्यष्टिरूप जड़ पदार्थोंकी समष्टिका आपेक्षिक मौलिक स्वरूप आन्तर अव्यक्त प्रकृतिरूप होता है. इसी तरह व्यष्टिरूप जीव पदार्थोंकी समष्टिका आपेक्षिक मौलिक स्वरूप पुरुष होता है. इन दोनों प्रकृति-पुरुषके स्वरूपोंका प्राकट्य एवं परस्पर अन्योन्याश्रित होना भी स्वीकारा गया है (द्रष्ट. : भाग.पुरा.११।२२।२६-३३). एतदर्थ महाप्रभु यह प्रतिपादित करते हैं कि सभी कुछ यहां त्रिगुणात्मक होनेके कारण तीन प्रभेद सिद्ध होते हैं. जिस रूपको धारण कर ब्रह्म अधिष्ठाता बनता है, उस स्वतन्त्र अधिष्ठाता देवरूपको 'आधिदैविक' कहा जाता है. जिस रूपमें ब्रह्म अभिमन्ता बनता है, उसे 'आध्यात्मिक' कहा जाता है. इन दोनोंके बीचमें जो अभिसम्भूत होता है, उसे 'आधिभौतिक' कहा जाता है. इन प्रभेदोंके रहते हुवे भी इनके मौलिक स्वरूपके अभेदका अनुसन्धान करनेको यह भी जान रखना आवश्यक है कि देह जीव और ईश के इन रूपोंको वह ब्रह्म अपने निज अखण्डैकरस सच्चिदानन्दरूपेण ही धारण करता होनेसे अभेदानुसन्धान शक्य बना देता है. क्योंकि कारणस्वरूप सत् चिद् आनन्द ब्रह्मका सत् ही अधिभूत बनता है, चित् अध्यात्म और आनन्द अधिदैव. कार्यस्वरूप ब्रह्ममें भी, अतएव, देह अधिभूत, जीव अध्यात्मा और अन्तर्यामी ईश अधिदैव बनता है (द्रष्ट. : त.दी.नि.२।११९-१२०). अतएव हम देख सकते हैं कि एकत्वानुसन्धानकी प्रस्तुत प्रक्रियामें बहुत्व/त्रित्वका मिथ्या या निरसनीय होना स्वीकारा नहीं गया. और न ऐसे त्रित्वके वास्तविक होनेके कारण एकत्वका अपवाद होना भी आवश्यक रह जाता है. **आभ्यन्तर** रूपमें यह पुन: अखण्डैकरस सच्चिदानन्द ब्रह्मके भीतर शुद्ध सत्त्व शुद्ध रजस् और शुद्ध तमस् आन्तरिक विभाजनद्वारा घटित होता है (द्रष्ट. : भाग.पुरा.२।१०।४१-४५).

[5] **आभ्यन्तरतर** रूपमें रजस्सत्त्वतमोगुणोंके अधिष्ठातृदेवरूपतया ब्रह्म-विष्णु-रुद्र आधिदैविक रूपोंके कारण सम्पन्न होता है (द्रष्ट. : भाग.पुरा.१।२।२३).

[६] **आभ्यन्तरतम** रूपमें ब्रह्में प्रकट हुयी सृष्टिके भीतर अन्तर्यामी परमात्माकी उपनिषद्वर्णित प्रवेशरूपा यह लीला है (द्रष्ट. : तैत्ति.उप.२।६).

अतएव महाप्रभुका यह विधान नितान्त अवधेय है कि सृष्टिके उत्पादनमें भगवान् अपनी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाको करण बनाते हैं (सुबो.२।१०।४३).

(सर्वभवनसामर्थ्य तथा सर्वकरणसामर्थ्य का प्रभेद)

वैसे ग्रन्थोंमें प्राय: कर्तृत्वौपयिक सर्वसामर्थ्यकी परिभाषा *कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य* के रूपमें दी जाती है. महाप्रभुके वचनोंका, किन्तु, भलीभांति अवगाहन करनेवालोंके समक्ष यह तथ्य छिप नहीं सकता कि सर्वभवनसामर्थ्यको भी महाप्रभु *भवितुम् अभवितुम् अन्यथाभवितुं सामर्थ्य* के रूपमें ही स्वीकारना चाहते हैं, अन्यथा तत्त्वार्थदीपनिबन्धके मंगलाचरणमें भगवान्की देश-कालातीत, देश-कालावच्छिन्न और अदेशवर्ति-अकालवर्ती त्रिविधलीलाके निरूपणकी अन्य कोई उपपत्ति सामने नहीं आ पाती है. अत: सर्वभवनसामर्थ्यको सर्वभावनसामर्थ्य या सर्वकर्तृत्वसामर्थ्य के साथ जोड़ना उचित नहीं. क्योंकि प्रथम सामर्थ्य ब्रह्मसूत्रके समन्वयाधिकरणका सिद्धान्त है जबकि द्वितीय सामर्थ्य तो उससे भी पूर्ववर्ती जन्माद्यधिकरणोक्त ही सिद्धान्त है :

> **“यहां शंका होती है कि ब्रह्मको जगत्कर्ताके रूपमें कारण मानना उचित हो तब भी समवायिकारण कैसे माना जा सकता है? क्योंकि ऐसा माननेपर सर्वप्रथम ब्रह्मको विकारी मानना पड़ेगा. और कार्यके तो अनर्थरूप होनेके कारण ब्रह्मको कार्यरूप मानना अयुक्त भी है ही. ऐसी आशंका करना, परन्तु, उचित नहीं है. सूत्रकार, क्योंकि, सभी उपनिषद्वचनोंके समाधानार्थ प्रवृत्त हुवे हैं. अत: सूत्रकार यदि ब्रह्मके समवायिकारण होनेका प्रतिपादन**

न करते हों तो उपनिषद्के न जाने कितने वचन निरर्थक हो जायेंगे. उदाहरणतया 'इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा'... 'स आत्मानं स्वयम् अकुरुत' आदि श्रुतिवचनोंको देखा जा सकता है. यदि इन श्रुतिवचनोंसे ही निःसन्देह सिद्ध हो जाता हो तो भी सूत्रनिर्माण किसीको निरर्थक लग सकता है. पर इस बारेमें समाधान यह है कि ब्रह्मके जगद्रूपात्मना प्रकट होनेके विधानकी तरह उपनिषद्में जगत् और उसके धर्मों से नितान्त विलक्षणताके प्रतिपादक 'अस्थूला'दि वाक्य भी कहां मिलते नहीं हैं! अतः अन्योन्यसे विरुद्ध विधान करनेवाले वचनोंमें किसी एक वचनके मुख्यार्थको बाधित मानकर ही आगे बढ़ना पड़ेगा. तब तो ब्रह्मके स्वरूपकी तुलनामें ब्रह्मके कार्यको गौण मानकर प्रपञ्चरूपके प्रतिपादक वचनोंका गौण प्रामाण्य मानना ही पड़ेगा. ऐसा कोई न करे एतदर्थ 'जन्मादि' सूत्रकी तरह 'समन्वय'सूत्र भी आवश्यक हो ही जाता है. यों अस्थूलादि गुणोंवाला अविकारी ब्रह्म ही स्वयंको स्थूलादि गुणोंवाले जगत्के रूपमें प्रकट करता है, ऐसा माननेको बाधित होना ही पड़ेगा. अविकारी विकाररूप कैसे हो सकता है? ऐसा विरोधाभास खोजना भी अनावश्यक है क्योंकि यही तो ऐसे परस्पर विरुद्ध अनेकविध धर्मोंके आश्रयरूप ब्रह्मकी आभूषणरूपा शोभा ही है''.

(ब्र.सू.अ.भा.१।१।३).

अर्थात् ब्रह्मका सर्वोपादानरूप होना स्वयं सृष्ट्यात्मना उत्पन्न होनेके कारण स्थूलदृष्टिमें सृष्टितया ही प्रकट हो जाना है, सृष्टिबाह्यतया नहीं. जबकि ब्रह्मका सर्वकर्तृरूप होना सृष्टिसे बहिर्भूततया उत्पादक होनेकी कथा है. इस और ऐसी ही विरुद्धधर्माश्रयताका ही उल्लेख ''यच्च किञ्चिद् जगति अस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा अन्तर् बहिः

च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः'' (नारा.उप.११।६) श्रुतिवचनमें भी मिलता ही है.

सृष्ट्यन्तर्गत प्रकट होकर सृष्टिका पालन भगवान् अपनी अवतारलीलाद्वारा करते हैं (सुबो.२।१०।४३). यह पालनप्रक्रिया सत्त्वमूर्ति विष्णुकी सृष्टिसे बाह्यवर्तितया सृष्टिको पालन करनेकी प्रक्रियासे भिन्न है.

इसी तरह सृष्ट्यन्तर्गत और सृष्टिबाह्यतया रहकर सृष्टिसंहरणकी प्रक्रिया भी काल और रुद्र के रूपोंमें भगवान् सम्पन्न करते हैं. अतएव महाप्रभु कहते हैं कि **''संहारे कालः करणम्''** (सुबो.२।१०।४३).

(''परं ब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्ततइति त्रयो भेदाः'')

यहां विशेषतः अवधेय महाप्रभुद्वारा प्रस्तुत परब्रह्मके तीन प्रभेद हैं, नामशः, [१] कृष्ण [२] अक्षरब्रह्म और [३] अन्तर्यामी. इन्हें बोधसौकर्यार्थ हम जगत्के कर्ता उपादान और नियन्ता के रूपमें सोच सकते हैं.

इनमें सृष्टिकर्ताके पुनः तीन प्रभेद [१/क] ब्रह्मा [१/ख] विष्णु और [१/ग] रुद्र हैं.

इसी तरह [२] जगदुपादानरूप अक्षरब्रह्मके भी [२/क] कर्म [२/ख] स्वभाव और [२/ग] काल तीन प्रभेद समझाये गये हैं.

तथा [३] अन्तर्यामीके मूलमें दो अवान्तर प्रभेद होते हैं यथा [३/क] व्यष्टि [१/ख] समष्टि. अर्थात् प्रत्येक जीवनियन्ता तथा जीवाजीव सकलसमुदायका नियन्ता.

इनमें समष्टिनियन्ता जीवसंघका बाह्यवर्तितया नियमन करता है तथा व्यष्टिनियन्ता प्रत्येक तत्तद्-जीवका आन्तरिकतया नियमन करता है. यह नियमन अनुभूति न हो पानेकी स्थितिमें प्रमेयरूप होता है

जबकि अनुभूतिकी झलक मिलते ही फलरूप लगने लगता है (द्रष्ट. : "**अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां एकः सन् बहुधा विचारः... अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा... अन्तः प्रविष्टं कर्तारम् एतं त्वष्टारं रूपाणि विकुर्वन्तं विपश्चिम. अमृतस्य प्राणं यज्ञम् एतं... देवानां बन्धु निहितं गुहासु. इन्द्रस्य आत्मा निहितः पञ्चहोता अमृतं देवानाम् आयुः प्रजानाम्". तैत्ति.आर.३।११।१-३**).

अतः परब्रह्मके अक्षर और अन्तर्यामी रूपोंका तुलनात्मक स्वरूपविमर्श आवश्यक है.

सृष्टिकी उत्पत्तिमें अक्षरब्रह्म स्वयं विश्वात्मक रूप धारण कर लेता है जबकि सृष्टिप्रलयमें वही अक्षरब्रह्म अपने विश्वातीत मूलरूपमें पुनः लयाधारतया अवस्थित हो जाता है. साथ ही साथ अक्षरब्रह्म अपनेमें अवस्थित सृष्टिका कूटस्थ आधार होनेपर भी स्वयंमेंसे उद्गत व्यष्टि-समष्टि-अन्तर्यामी रूपोंके द्वारा स्थितिनियमन भी करता है. अतएव कहा गया कि "**एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने... सूर्याचन्द्रमसौ... द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः**" (बृह.उप.३।८।९). एतावता समझा जा सकता है कि उत्पादन पालन और संहरण के इन अप्राकृत ब्राह्मिक स्तरों एवं स्वरूपों के सन्दर्भमें तो कमसे कम प्राकृत रजस्सत्त्वतमोगुणत्रयीका कोई प्रदान या उपादेयता है नहीं.

(भगवल्लीलामें सात्त्विकादि गुणत्रयी)

प्रकृतके अनुसन्धानार्थ : यों भगवान् अपनी अवतारावस्थाद्वारा चार तरहके कार्य सम्पन्न करते हैं : १.भूभारहरण २.साधुरक्षण ३.दुष्टनिराकरण और ४.भक्तिप्रवर्तन.

इस विषयमें महाप्रभुने यह स्पष्टीकरण भी दिया है कि अवतारलीलामें इन चारों कार्योंकी समप्रधानता है, नकि अंगांगिभाव. इनमें भूभारहरण भगवान्‌की राजसलीलारूप कार्य, साधुरक्षण सात्त्विकलीलारूप कार्य, दुष्टोंका

निग्रह तामसलीलारूप कार्य और भक्तिप्रवर्तन निर्गुणलीलारूप कार्य है (द्रष्ट. : सुबो.१०।४७।९-१०).

इस विधानकी, 'पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद' ग्रन्थमें महाप्रभुने एक महत्त्वपूर्ण आधारभूत संगति जिस तरह समझायी, उससे तुलना करनी चाहिये :

"अब पुष्टिमार्गमें फलके स्वरूपके निरूपणार्थ यह ज्ञातव्य है कि यहां अपने गुणों अथवा स्वरूप के प्रभेदोंको प्रकट करनेको मनचाहे रूपोंमें भगवान्, भूतलपर, जैसे भी प्रकट होते हों उन्हें फलतया माना जाता है.

कभी अपने किसी भक्तकी अन्यत्र आसक्ति या अहंकार को सुधारनेके लिये उसे भगवान् भूतलपर जन्मग्रहणार्थ शाप भी दिलवा देते हैं; अथवा भूलोकमें अपनी भक्तिके आदर्शस्वरूपके प्रवर्तनार्थ भी कभी अपने भक्तपरिकरके साथ अवतीर्ण हो जाते हैं.

ऐसे भक्तगण भूतलपर जन्मग्रहण करनेके बावजूद कभी भजनविरोधी आध्यात्मिक पाषण्डके शिकार नहीं बनते और न भजनार्थ उन्हें आधिभौतिक रोगादिके उपद्रव ही सताते हैं. ऐसे भक्तजीवोंमें भक्तिभावका परम आधिदैविक अनुभाव सदा झलकता ही रहता है. ऐसोंका शुद्ध होना शास्त्रोक्त सदाचारपे निर्भर नहीं होता, फिरभी अपनी शास्त्रोक्त शुद्धताका निर्वाह ऐसे भक्त प्राय: सहज स्वभावके रूपमें ही करते रहते हैं.

भगवान्के अवतीर्ण स्वरूपोंमें तारतम्यके अनुरूप इनमें भी कभी तारतम्य झलक सकता है. अत: इनके आचरणोंमें लौकिकता(राजसता/तामसता) **या वैदिकता**(राजसता/सात्त्विकता) **केवल लोकसंग्रहार्थ एक धार्मिक कापट्य लिये हुवे होती है.**

इस धार्मिक कापट्यको कपटार्थ धर्माचरण नहीं प्रत्युत धर्मार्थ कपटाचरणके रूपमें जानना चाहिये. क्योंकि इनके भीतर वैष्णवता निश्छल निष्कपट सहजस्वभावानुगत रहती है.''

(पु.प्र.म.१६-२०)

यह रहस्यकथा भगवल्लीलासामयिक भगवान्के अवतीर्ण रूपके परिकरकी ही नहीं प्रत्युत भगवल्लीलाके किसी भी गुणप्रभेदमूलक विवेचनमें सदा बुद्धिगत रखनी अत्यन्त आवश्यक है.

(उपपत्ति और उत्पत्ति पक्षोंके अनुसार गुणातीततत्त्वकी सगुणलीलाका उपपादन)

पूर्वोक्त ''**प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् पूर्ववद्वा प्रतिषेधात् च**'' (ब्र.सू.३।२।२८-३०) इस त्रिसूत्री अधिकरणमें भाष्यकारने ब्रह्मके अनेकानेक धर्म ब्रह्मस्वरूपात्मक होते हैं अथवा ब्रह्मके कार्यरूप? इस संशयकी घटक दोनों कोटियोंमें किसी भी एक कोटिको निरसनीय नहीं माना है. अतः सूर्य और सौररश्मि की तरह धर्मीरूप देशसे बाह्यदेशमें भी अवस्थित धर्म्यात्मिका धर्मरूपताका उपपत्तिपक्ष सर्वप्रथम प्रस्तुत किया है. साथ ही साथ इससे पूर्व ही ''**प्रकृतिश्च...**'' (ब्र.सू.१।४।२३) षट्सूत्री अधिकरणमें कहे गये '''**उस सृष्टाने अपने-आपको सृष्टिरूपेण प्रकट किया' अतः जगन्निर्माणकी क्रियाका कर्म और कर्ता दोनों वही है. इसे 'सुकृत' भी कहा गया होनेसे अलौकिक कर्तृत्व और अलौकिक कर्मत्व भी द्योतित होता है... अपने सोना होनेके स्वरूपको छोड़े बिना सोना जैसे आभूषण बन जाता है**'' (ब्र.सू.अ.भा.१।४।२६) यों सुवर्ण और सौवर्ण कुण्डल की तरह अविकृतपरिणामवादके आधारपर उत्पत्तिपक्ष भी स्वीकारा ही गया है.

ठीक इसी तरह भागवतदशमस्कन्धान्तर्गत रासपञ्चाध्यायीकी सुबोधिनी(१०।२६।१६)में महाप्रभु एवं प्रभुचरण ने भूतलपर प्रकट होनेवाली भगवल्लीलामें भी सगुणता या निर्गुणता के दो परस्पर विरोधी कल्पोंमें उपपत्तिपक्ष और उत्पत्तिपक्ष जैसे दोनों परस्परविरोधी समाधान प्रदान किये हैं. इन दोनों तरहके समाधानोंमें प्रकट होता विरोधाभास ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रयी होनेके कारण कोई समस्या खड़ी नहीं करता. क्योंकि उत्सर्गरूपेण धर्मोंका धर्मीमें ही केवल होना जैसे अनुभूतिसिद्ध तथ्य है, वैसे ही धर्मीके देशसे अधिकदेशमें भी. सूर्य और सौरप्रकाश के जैसे धर्म-धर्मी भी एक नहीं अनेक मिलते हैं. इसी तरह कार्यरूपेण प्रकट होनेपर कारणरूपका त्याग जैसे दूध-दहीके उदाहरणमें अनुभूतिसिद्ध है, वैसे ही सोना और उससे बने आभूषण के उदाहरणमें अविकृत-परिणाम भी प्रसिद्ध ही है. इन उदाहरणोंके बलपर गुणातीत परमात्माकी सगुणलीला और सगुणलीलापरिकर के अंगीकारमें भी कोई आपत्तिजनक बात नहीं है.

(गुणातीतकी सगुणलीला : उपपत्तिपक्ष)

सर्वप्रथम महाप्रभुद्वारा प्रदत्त समाधानमें यह कहा गया है कि सृष्टिमें अन्तर्निगूढ़ स्रष्टाका साक्षात् अनुभव प्राप्त करना हो तो ज्ञान और भक्ति रूपी दो प्रमाणोपाय हैं. इन दोनों प्रमाणोपायोंके औत्सर्गिक नियमको निरपवाद नहीं मान लेना चाहिये. क्योंकि भगवान् निजेच्छाके वश भूतलपर स्वयं प्रकट होना चाहते हों तो उनके प्रतिपादक शास्त्रवचन स्वयं भगवान्पर तो प्रतिबन्ध लाद नहीं सकते कि जो जीव ज्ञानी या भक्त न हों उन्हें भगवान् दिखलायी नहीं पड़ने चाहिये! अतः भगवान्के अनवतारकालके औत्सर्गिक नियमोंका अवतारकालमें अपवाद प्रकट करनेकी भगवल्लीला मूलमें भगवान्के निरंकुश सामर्थ्यकी कथा है. अतएव —

"जो ब्रह्मको असत् मानता है वह स्वयंको भी सत् नहीं मान पायेगा... ऐसे ब्रह्ममें जो अपने-आपको निहार पाता है वह पूर्णतया निर्भय हो जाता है. जो बुद्धिमान्, किन्तु, स्वयंको ब्रह्मके भीतर निहार नहीं पाता, उसे स्वयं ब्रह्म ही बड़ा भयानक लगने लगता है!"

(तैत्ति.उप.२।६-७).

ऐसे प्रमाणवचनोंके आधारपर भूतलपर भगवान्‌को रोका नहीं जा सकता कि अमुक व्यक्ति भगवान्‌को मानता ही नहीं अतः उसे भगवान् भी निर्भयपद प्रदान नहीं कर सकते! बहोत सारी अवतारकथायें भगवान्‌के प्रमाणवचनोक्त औत्सर्गिक नियमोंके अपवादकी ही हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु रावण-कुम्भकर्ण शिशुपाल-दन्तवक्त्र आदि भगवान्‌को न माननेवाले असुरोंके उद्धारकी कथा हैं. मूलमें इनका द्वारपाल होना तथा शापवश भूतलपर आसुरयोनिको प्राप्त करनेकी कथाद्वारा इनके मुक्त होनेकी कथामें मुक्तियोग्यताका निकष मूलस्वरूपको मानकर भगवान्‌को किसी शापनियतिके आधीन माने जानेपर भगवान्‌का केवल कर्तुंसामर्थ्य ही सिद्ध हो पायेगा, अकर्तुंसामर्थ्य या अन्यथाकर्तुंसामर्थ्य नहीं. ऐसी स्थितिमें शापित द्वारपालोंके भूमिपर पतनकी कथाके साथ अशापित भगवान्‌के इनके उद्धारार्थ भूमिपर अवतारलीलाको प्रकट दिखानेकी कोई व्याख्या उपपन्न नहीं हो पायेगी. अतएव अवतारलीलाके समुचित व्याख्यानार्थ भगवान्‌की निरंकुशसर्वोद्धारकता स्वीकारनी सर्वथा अपरिहार्य है. अन्यान्य धर्मोंमें धर्मप्रवर्तक और उपदिष्ट धर्मों में श्रद्धा रखनेवालोंके उद्धारकी तो नियति घोषित रहती है, इसके विपरीत वैदिक-पौराणिक धर्म तो न माननेवालोंके उद्धारकी भी निरंकुश सामर्थ्य भगवान्‌में निरूपित करना चाहता है. अतएव भगवान्‌के साथ द्वेष करना भगवत्प्राप्तिमें अनवतारकालमें दोषरूप प्रतिबन्धक होनेपर भी अवतीर्ण भगवान् जब जिसे चाहें उसे मिल सकते हैं और निर्भयता भी प्रदान कर सकते हैं. भगवान् तो हमारे मनोबुद्धि-अहंकार-चित्त ही नहीं प्रत्युत देहेन्द्रियप्राणों के भी

प्रेरक होनेके कारण स्वयं ही किसीके भीतर अपने बारेमें द्वेष जगा कर भी उसका उद्धार कर सकते हैं. यह सुबोधिनीमें महाप्रभुद्वारा प्रदत्त समाधान उपपत्तिपक्ष जैसा है.

(गुणातीतकी सगुणलीला : उत्पत्तिपक्ष)

यहीं प्रभुचरणने उत्पत्तिपक्ष जैसा भगवान्‌का लीलापरिकर मूलत: निर्गुण होनेपर भी निज निरंकुश सामर्थ्य और निजके प्रति निरुपाधिक भावकी महिमाके प्रकाशनार्थ शास्त्रीय साधनाचरणकी अपेक्षा न रखनेवाली लीलाओंद्वारा अपने गुणातीत भक्तोंमें भी प्राकृत गुणोंका आधान करनेकी लीलाके रूपमें समाधान प्रदान किया है. प्रभुचरण यह भी स्पष्टीकरण देते हैं कि प्राकृत गुणत्रयीमें बंधे जीवात्माओंके लिये शुद्धसत्त्वात्मक वेदादि शास्त्रवचनोंपर अवलम्बित साधनाओंका अधिकारी प्राकृत सात्त्विक गुणोंकी प्रधानतावाला होता है. अतएव **"सत्त्वगुणसे ज्ञान पैदा होता है"** (भग.गीता.१४।१७) वचन मिलता है. परन्तु **"यह आत्मा न प्रवचनसे न मेधासे न बहुत सारा श्रवण करनेसे मिलती है. यह जिसे चाहे उसे ही मिलती है और उसके सम्मुख अपना स्वरूप दरसाती है"** (कठोप.१।२।२३, मुण्ड.उप. ३।२।३) औपनिषद सूत्रकी व्याख्योपम भगवद्‌गीतामें दिये **"जो जिस तरह मेरे सामने प्रपन्न होता है मैं उसी तरह उसे भजता हुं", "जो भी सात्त्विक राजस या तामस भाव दिखलायी देते हैं, उन्हें मेरे कारण ही दिखलायी देते जानना चाहिये... इन तीन गुणमय नश्वर भावोंसे यह सारा जगत् मोहित है. अत: मुझे इनसे पर अनश्वर जान नहीं पाता, क्योंकि मेरी गुणमयी दैवी मायाका पार पाना मुश्किल है परन्तु जो मेरी शरणागति लेते हैं वे तैरकर पार पहुंच सकते हैं"** (भग.गीता.४।११, ७।१२-१४) अपने इन उपदेशोंको प्रकट लीलामें क्रियान्वित कर दिखानेको भगवान् जैसे स्वयं अप्राकृत होनेपर भी प्राकृत वपु धारण कर सकते

हैं, वैसे ही भक्तोंको भी, वे निर्गुण भी हों, पर सगुण बना सकते हैं. अर्थात् उनमें प्राकृत गुण उत्पन्न कर सकते हैं. यों उत्पत्तिपक्ष जैसी विचारीति यहां अपनायी गयी है. अन्यथा या तो शास्त्रोक्त मर्यादाओंके अनुसरण करनेपर ही किसीका उद्धार हो पायेगा अथवा भगवान्के अवतारकालमें ही शास्त्रमर्यादाओंकी परवाह किये बिना विरल लीलापरिकर मुख्याधिकारी जीवोंका ही भगवान् उद्धार कर पाते हैं, ऐसा फलित हो जायेगा. ऐसी स्थितिमें **"मैं सभी भूतोंके लिये समान हुं; न मुझे कोई प्रिय है और न मेरेलिये कोई द्वेष्य ही. फिरभी जो मेरा भजन भक्तिभावके साथ करते हैं मैं उनके लिये और वे मेरेलिये बन जाते हैं"** (भग.गीता.९।२९) इस अपने दिये वचनकी क्रियान्विति कभी शक्य न रह जायेगी. अत: तीसरे कल्पमें गौण अधिकारियोंके भीतर भी भक्तिभाव जगानेवाली लीलाके रूपमें ऐसी लीलाओंको निहारना चाहिये.

(गुणातीतमें तन्मय होनेपर त्रैगुण्याधीन भी गुणातीत हो जाते हैं)

सभी कुछ भगवदवताररूप हो तो प्राकृत तामस राजस या सात्त्विक गुणोंके साथ प्रकट होनेवाले रूप-नाम-कर्म, अथवा इनके कारणभूत अप्राकृत शुद्धसत्त्व शुद्धरजस् या शुद्धतमस् गुणोंके साथ प्रकट होनेवाले रूप-नाम-कर्म, अथवा तो अखण्डसच्चिदानन्दैकरस ब्रह्मके मूलस्वरूपात्मक रूप-नाम-कर्म हों; इन सभीका प्रभेद या तारतम्य अन्ततोगत्वा परब्रह्म परमात्मा भगवान् के केवल लीलासंकल्पके वश ही प्रकट होता है. अर्थात् ये प्रभेद दिव्य होनेपर भी कृत्रिम प्रभेद हैं तात्त्विक नहीं. अतएव एकमेवाद्वितीय मूलतत्त्वके स्वरूपाभिमुख हो कर जो तामस राजस अथवा सात्त्विक अनन्यभाव निभा पाते हों, उन्हें अपनी वैसी भावप्रवणताके कारण तामसी राजसी या सात्त्विकी तन्मयता ही त्रिगुणातीत भी बना पाती है. लीलया परिगृहीत अनेकतामें रमणके भी अतएव चार-पांच प्रकार प्रकट होते हैं :

१.‘‘**प्रकृतिके द्वारा प्रकट सर्वश: किये जाते गुणों और कर्मों के कारण अहंकारसे विमूढ़ बना अपने-आपको ‘मैं कर्ता हुं’ ऐसा मान लेता है...प्रकृतिके गुणोंसे प्रकट होनेवाले सम्मोहके वश वह उन्हीं गुणों और कर्मों में उलझ जाता है**’’ (भग.गीता.३।२७-२९) वचनोक्त यह एकमेवाद्वितीयकी अनेकताकी लीलामें त्रिगुणात्मिका मायासे मोहित जीवात्माओंके रमणका प्रथम प्रकार है.

२.‘‘**सर्वत्र अनभिस्नेहके कारण शुभ कुछ पा कर जो न तो अभिनन्दन करता हो और न अशुभ पा कर द्वेष ही करता हो उसमें प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है**’’,‘‘**जो तत्त्ववेत्ता होता है वह... गुणकर्मविभागमें उलझता नहीं. उसे तो यही लगता है कि गुण तो गुणोंमें उलझायेंगे पर मुझे उनमें उलझना आवश्यक नहीं**’’ (भग.गीता.२।५७, ३-।२८) वचनोक्त एकमेवाद्वितीयकी अनेकताकी लीलामें मायामोहसे रहित स्थितप्रज्ञ जीवात्माके रमणका यह दूसरा प्रकार है.

३.‘‘**सभी नश्वर भूतोंमें समानरूपेण अवस्थित अविनाशी परमेश्वरको जो देख पाता है वही सच्चा द्रष्टा है... विविध भूतोंकी पृथक्ता किसी एक तत्त्वमें अनुदृष्ट बनते ही हर वस्तुका ब्राह्मिक विस्तार प्रकट हो जाता है. यह अव्यय परमात्मा अनादि तथा निर्गुण होनेके कारण शरीरमें रहता होनेपर भी... न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है**’’,‘‘**जो द्रष्टा मूलकर्ताको गुणोंसे भिन्न भी नहीं और गुणोंसे अतीत भी देख पाता हो वह भगवद्भावको प्राप्त हो जाता है**’’ (भग.गीता.१३।२७-३२, १४।१९) वचनोक्त यह एकमेवाद्वितीयकी अनेकताकी लीलामें ब्रह्मात्म्यैक्यके अनुद्रष्टा जीवात्माकी रमणकी तीसरी रीति है.

४."प्रकाश हो या प्रवृत्ति हो या फिर मोह हो ... कुछ भी सामने आनेपर जो न द्वेष करता हो और निवृत्त हो जानेपर पुनः प्राप्तिकी कामना भी जो न करता हो, उदासीनकी तरह बैठा हुवा जो गुणोंसे विचलित न होता हो, और गुण तो उनका काम करेंगे ही ऐसा सोच कर कुछ इंगित ही न करता हो... अर्थात् किसी भी तरहकी चेष्टा स्वतः न प्रकट करता हो वह गुणातीत हो जाता है. साथ ही साथ मेरा भी अव्यभिचारी भक्तियोगसे जो सेवन करता हो वह सभी गुणोंसे ऊपर उठकर ब्रह्मभूय हो जाता है" (भग.गीता.१४।२२-२६) वचनोक्त एकमेवाद्वितीयकी अनेकताकी लीलामें गुणातीत परमात्मामें जिसे प्रमाणबलसे भक्तियोग सिद्ध हो गया हो ऐसे जीवात्माका रमणप्रकार है.

५."भगवान् तो सभी भूतोंके लिये सम प्रिय और सुहृद् होते हैं... अतः न तो उन्हें सुरगणोंसे कोई स्वार्थ सिद्ध करना होता है और न असुरोंके साथ विद्वेष ही. भगवान् गुणातीत होते हैं अतः किसीके कारण कोई उद्वेग भी उन्हें नही हो सकता... यह तो सच है कि भगवान् निर्गुण अज अव्यक्त और प्रकृतिसे पर होते हैं फिरभी वे अपनी मायाके गुणोंमें आविष्ट होकर स्वयं ही बाध्य (मरनेवाले) भी बनते हैं और स्वयं ही बाधक (मारनेवाले) भी. सत्त्व रजस् तमस् ये प्रकृतिके गुण होते हैं आत्माके नहीं. फिरभी भगवान् इन्हें तत्तत् समयपर अपनाते रहते हैं... जैसे व्यापक अग्नि अलग-अलग इंधनोंमें अलग-अलग नहीं होती फिरभी जब जलाओ तो प्रकट होती है अन्यथा नहीं. वैसे ही भगवान् भी देहादिके संघातोंमें अलग-अलग नहीं रहते सभीके भीतर एकरूपेण रहते हैं. फिरभी आत्ममन्थनद्वारा कोई तत्त्ववेत्ता उन्हें भीतर

प्रकट कर पाता है तो दूसरा नहीं. अपनी पुररूप सृष्टिको उसने जब प्रकट करना चाहा तब अपनेसे पृथक् रजोगुणका निर्माण अपनी मायासे किया. उन पुरोंके ईश्वर बनकर जब रमण करना चाहा तब सत्त्वगुणका, जब विश्राम करना चाहा तब तमोगुणका प्रवर्तन कर दिया... अतः उन अनन्त स्थानोंमें से किसी एक स्थानपर रहते होनेका अखिलात्मा भगवान्के भीतर अभिमान नहीं पनपता सर्वत्र उनके ही एकमात्र विद्यमान होनेके कारण... अतः वैर ठानकर या निर्वैरभावसे, भयसे या स्नेहसे; अथवा, कामसे भगवान्के साथ जुड़ जाना चाहिये... किसी भी उपायको अपनाकर अपना मन श्रीकृष्णमें लगा लेना चाहिये'' (भाग.पुरा.७।१।१-३१) वचनोक्त यह एकमेवाद्वितीय गुणातीत परमात्माके प्रमेयबलसे अनेक प्राकृतगुणोंवाली लीलामें त्रिगुणात्मिका सृष्टिमें प्रकट होनेवाले निजलीलापरिकर जीवोंके प्राकृत गुणकर्मोंके अनुरूप रमणका प्रकार है.

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत की यह सिद्धान्तोक्ति विश्वभरके एकेश्वरवादमें मान्य हो या नहीं पर ब्रह्माद्वैतावलम्बी धर्मोंके इतिहासमें एक अद्भुत दिव्य रहस्यका अनावरण है कि भगवान् सुरासुर पुण्यात्मा-पापात्मा ज्ञानी-अज्ञानी मुक्त-संसारी सजीवाजीव सभी तरहके पुरोंके भीतर समानात्मा होकर अवस्थित हैं!

अतएव दशमस्कन्धमें इसे पुनः यह सुस्पष्ट किया गया है :

''शिशुपालको भगवान् हृषीकेशके साथ द्वेष करनेके बावजूद मुक्ति मिल सकी तो ऐसे भगवान्को सच्चे स्नेह या कामभाव से चाहनेवाली गोपिकाओंका उद्धार होना कौन सी अनहोनी बात है! अव्यय गुणातीत गुणरूप

भगवान्‌का प्राकट्य सभीके निःश्रेयस् सिद्ध करनेको होता है. अतः काम क्रोध भय स्नेह ऐक्यभाव सौहृद् किसी भी मनोभाववश श्रीहरिके साथ अविचलित रूपेण जुड़ पानेवाला तन्मय हो जाता है'' (भाग.पुरा.१०।२६।१३-१५)

इस निरूपणमें मूलतः तीन तरहकी मनोवृत्तियां दिखलायी गयी हैं : १. रागात्मिका काम सौहृद और स्नेह रूपा राजसी मनोवृत्तियां २. द्वेषात्मिका भय क्रोध रूपा तामसी मनोवृत्तियां तथा ३. रागद्वेषरहित ऐक्यभावनावाली सात्त्विकी मनोवृत्ति. ये वृत्तियां जीवात्माको परमात्माके साथ सञ्चारिभावतया नहीं परन्तु स्थायिभावतया जोड़ पाती हों तो उद्धार शक्य माना गया है. यह तो ठीक ही है कि अनवतारकालमें द्वेषात्मिका मनोवृत्तिका स्थायिभावरूप होना अशक्य न भी हो पर दुःशक तो होता ही है. फिरभी अपवादरूपेण किसी जीवात्माके भीतर निभ पाती हों तो शास्त्रीय साधनाचरणोंके नियमका अनवतारकालमें भी अपवाद शक्य हो पाता है!

(पुष्टिलीला, पुष्टिभक्ति और पुष्टिभक्तिसम्प्रदाय)

यह तो भगवान्‌की पुष्टिलीलाके अतीव विस्तृत ऊंचे-नीचे भूभागकी कथा है! ऐसी लीलामें भगवान् भक्त और अभक्त का पार्थक्य प्रकट नहीं करते हैं. फिरभी जो जीव रागात्मिका औपाधिकी मनोवृत्तिओंके वश भगवान्‌के अवतीर्ण स्वरूपमे अनुरक्त हो जाते हैं उन्हें निजाश्रित मुक्ति प्रदान करना या निजभक्ति प्रदान करना यह भगवान्‌की कृपा या इच्छा के आधीन ही होता है. यदि ऐसे जीवकी सोपाधिका रागात्मिका मनोवृत्तिओंका भक्तिमें उदात्तीकरण हो जाता हो तो उसमें हेतु उनकी रागात्मिका मनोवृत्ति नहीं प्रत्युत पुष्टि या कृपा ही हेतु होती है. ऐसी भक्तिको 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है. ऐसे पुष्टिभक्तोंको जैसा कि प्रह्लाद और भगवान् के बीच संवादके रूपमें पुराणमें समझाया गया है— **''कुर्वतः ते प्रसन्नो अहं भक्तिम् अव्यभिचारिणीं**

यथा अभिलषितो मत्तः प्रह्लाद! व्रियतां वरः... या प्रीतिः अविवेकानां विषयेषु अनपायिनी त्वाम् अनुस्मरतां सा मे हृदयाद् मा अपसर्पतु'' (विष्णु.पुरा.१।२०।१७-१९) इस न्यायसे ऐन्द्रियक विषयोंमें अनपायिनी जो जीवात्माओंकी आसक्ति स्वभावसिद्ध होती है उसे निरुपाधिकतया भगवदभिमुख बनाना अशक्य न भी हो पर अतिशय दुःशक तो होता ही है. अतएव महाप्रभुने अपने सम्प्रदायमें अपने आधिदैविक-आध्यात्मिक सर्वेक्षणद्वारा केवल रागात्मिका उसमें लोकवेदमें अनिन्दित मनोभावोंको पुष्टिभक्तिके रूपमें मार्गायित करना चाहा है. इसमें अन्तर यही स्वीकारा गया है कि लीलावतारकालमें किसी तामस राजस या सात्त्विक अचञ्चल मनोभावको तन्मयताके द्वारा निर्गुणतामें संवारनेका स्वयं अवतीर्ण भगवत्स्वरूपका एकाधिकार है. जबकि अनवतारकालमें ऐसे मनोभावोंको प्रमुखता प्रदान नहीं की जा सकती. क्योंकि इन तामस राजस सात्त्विक गुणोंवाली लीलामें आराध्य भगवद्विग्रहका आराधकके भावोंके अनुरूप होना ध्रुव निश्चित नहीं है. अतः आराधकको अपने आराध्यके अनुरूप होनेके लिये आराध्यका तात्त्विक माहात्म्य, निखिल रूप-नाम-कर्मोंके द्वैतका आधारभूत एकमेवाद्वितीय तत्त्व होनेका बोध भक्तिभावका पूर्वांग माना गया है. साथ ही साथ सृष्टिके अन्तर्गत तामस राजस या सात्त्विक गुण-कर्मोंके तामसी राजसी या सात्त्विकी रतिओंके भी एकमेवाद्वितीय आलम्बनविभाव तथा उद्दीपनविभाव होनेका भान भक्तिके उत्तरांगतया मान्य किया गया है. एतदर्थ तृतीयस्कन्धके बत्तीसवें अध्यायकी महाप्रभुकी सुबोधिनीके कुछ वचनोंके भावार्थका मनन अपेक्षित लगता है :

> **१.''भगवान्के गुणोंपर अवलम्बित होनेवाली भक्तिके साथ सर्वभावसे भगवान्का भजन करना चाहिये... देहसे लेकर ईश्वरपर्यन्त जितने भी ऐहिक या पारलौकिक भजनसाधनभूत रूप हो सकते हैं उन सभीरूपोंके बारेमें जो भी हमारे भाव हों उन्हें भगवान्के साथ जोड़ पायें ऐसी रीतिसे भगवद्भजन करना चाहिये... अन्यथा पूर्वसिद्ध**

सांसारिक संस्कारोंके प्रबल होनेके कारण शास्त्रीय ज्ञान और प्रकृति-पुरुषके अविवेकवश पनपे हमारे कर्तृत्वको भी हम निकम्मा मानकर चलेंगे तो कदापि हमारा अहंकार शिथिल हो नहीं पाता है. अत: सभी कुछ करते-धरते भगवान् ही हैं फिरभी भजन न करनेपर कुछ भी नहीं करेंगे अत: भजन अवश्य करना चाहिये. इस तरह की जाती भगवद्भक्तिकी सच्चाईकी परख, अपने अहंकारको शिथिल बनाकर सब कुछ भगवान् ही बने हैं ऐसी मानसिकता और अन्तत: अनुभूति भी, होनेपर ज्ञान प्रकट होता है. इसे उसके सच्चे माहात्म्यज्ञानके रूपमें पनपा तभी माना जा सकता है जब यह सृष्टि भगवान्ने स्वयं अपनी क्रीड़ाके लिये निर्मित की है ऐसा लगे. मेरेलिये नहीं प्रकट की है ऐसा वैराग्य हृदयमें जागे तो भगवान्के ज्ञान-वैराग्यरूप दो गुणोंके कारण भगवान् भी हृदयमें प्रकट हो गये ऐसा लगने लगेगा. इस तथ्यकी सच्चाईकी परख भी तभी होती है जब निखिल प्रापञ्चिक पदार्थोंके बारेमें स्वयं अपनी इन्द्रियोंकी रागद्वेषात्मिका वृत्तियां नि:शेष हो जाती हैं. (सुबो.३।३२।२२-२४).

२.''बाह्य जगत्में प्रिय या द्वेष्य पदार्थोंके विद्यमान रहते आन्तर जगत्में रागद्वेषात्मिका मानसिकता वस्तुत: कैसे नि:शेष हो सकती है? अत: इस बारेमें जो वास्तविकता है वह तो यही कि मूलत: तो बाह्य सृष्टि और उसकी बाह्यता दोनों ही ज्ञानात्मिका हैं. यहां 'ज्ञान' पदका अर्थ हमारे मस्तिष्कमें प्रकट होनेवाले इन्द्रिय-मनो-बुद्धि-अहंकार-चित्तोपाधिक ज्ञान अभिप्रेत नहीं है. केवल उपनिषदेकगम्य अनन्त नाम-रूप-कर्मात्मना नित्याविर्भूत सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्मचैतन्य ही अभिप्रेत है. वह अपनी इच्छासे बाहर प्रकट होता है तो उसे 'ईश्वर' कहा जाता है. इस

ईश्वररूपके साथ अपना तादात्म्य अनुभूत होनेपर साधारण पुरुषको भी स्वयं अपने भीतर भी सारा जगत् समाहित सा लगने लगता है. तब उसे ईश्वररूपता और ब्रह्मरूपता दोनोंका भास होने लगता है. वही ज्ञान जब हमारे भीतर प्रकट होता हो तो वह ब्रह्म 'परमात्म'शब्दवाच्य निजात्मतया अवभासित होने लगता है. कभी बाह्यतर दृष्टिवशात् सर्वनियामक 'काल'शब्दवाच्य ईश्वर भी लगता है. उपास्य होनेके रूपमें उसका अवभास होनेपर वही पुरुषविध भी लगने लगता है. अतः अपने मूलरूपमें वह जब प्रकट होता है तब कुछ भी असंगत नहीं रह जाता. जैसे हमारे भीतर रही औपाधिक ज्ञानशक्ति भी आंख नाक कान आदि इन्द्रियोंके प्रभेद अनेक रूपोंमें कहां प्रकट नहीं होती! एक ही व्यक्ति किसीके भाव और सम्बन्धवाचक शब्दके प्रयोगानुसार पिता पुत्र भाई पति आदि रूपोंमें अवभासित होता है. जिसके भीतर जैसा उत्पन्न होता हो उसके प्रति वैसा रूप प्रकट भी हो ही जाता है. अतः एक ही तत्त्व अनेकधा अवभासित होता है. (सुबो.३।३२।२६).

३. प्रमाणकी दृष्टिसे ज्ञान-वैराग्यकी उपादेयता देखनेके बाद अब प्रमेयके विचारसे भी समझना हो तो— एकमेवाद्वितीय निर्गुण ब्रह्मात्मक ज्ञान ही द्वैतकामनावश बादमें प्रकट होनेवाली इन्द्रियोंके कारण शब्द आदि धर्मिओंके कारण ज्ञेयार्थतया भात होने लगता है. उसे अर्थतया भात होनेके कारण ज्ञानरूप न मानना केवल भ्रान्ति ही है. क्योंकि बोधके अन्वय-व्यतिरेकवश ज्ञेयार्थका ज्ञानरूप होना नियत ही है. समुद्रकी तरंगोंका (या तरंगोंमें उभरनेवाली फेनोंका) समुद्रतया भान न होना एक भ्रान्ति ही होती है (निखिल ज्ञेयार्थ अतः ज्ञानसमुद्रकी तरंग या फेन के जैसे

ही होते हैं). **मूलमें पदार्थके एकदेश गृहीत होनेपर अथवा तो अपने स्वभावके अनुसार गृहीत होनेपर यथार्थ रूप भी अन्यथा भासित होने लगता है. किसी भी पदार्थका उसकी सम्पूर्णतामें अनवभास अर्थात् एकदेशका ही अवभास होनेपर या थोड़ा-बहोत अन्यथाभास होनेपर तन्मूलक पदार्थके सम्पूर्ण स्वरूपकी परिकल्पना भी भ्रान्तिकी तरह ही प्रस्तुत होती है... उदाहरणतया एक महत् तत्त्व अहंकारके रूपमें प्रकट होनेपर मनो-बुद्धि-इन्द्रियोंका रूप धारण करनेपर अन्तमें रूप-रस-गन्ध आदि पांच तन्मात्रा और पांच महाभूतों के रूपोंमें भी प्रकट होने लगता है... अतः भगवान्के बारेमें होते ज्ञान और निर्गुणा भक्ति दोनों ही भग(=ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य)वान्के ज्ञेय और भजनीय दो रूप अवभासित होनेके बावजूद एक ही होते हैं. जैसे एक किसी अर्थका रूप आंखोंसे गन्ध घ्राणेन्द्रियसे स्पर्श त्वचासे गृहीत भिन्न-भिन्न होनेपर भी अर्थ तो अविभक्त ही रहता है. इसी तरह विभिन्न शास्त्र जो कहीं स्वरूप तो कहीं कोई विशेष गुणधर्मके प्रतिपादनार्थ प्रवृत्त होनेके कारण भिन्न-भिन्न तत्त्वोंके प्रतिपादक लगते होनेपर भी एक ही परमतत्त्वका प्रतिपादन करना चाहते हैं.** (सुबो.३।३२।२८-३३).

एतावता यह सुबोध हो जाता है कि त्रिगुणात्मक स्वरूप लीला तत्परिकर या भाव अथवा त्रिगुणातीत स्वरूप लीला तत्परिकर या भाव एकमेवाद्वितीय परमतत्त्वकी अनेकताका ही निरूपण कर रहे हैं. फिरभी सगुण भजन करनेपर भगवान्के भावात्मक स्वरूप और लीला भी सगुणात्मक होंगे. निर्गुण भजन करनेपर भगवान्के स्वरूप और लीला भी गुणातीततया प्रकट हो कर भजनकर्ताको अन्तमें गुणोंसे ऊपर उठानेवाली बन जायेंगी. यही बात "**अव्यभिचारी भक्तियोगके**

साथ जो मेरा भजन करता है वह गुणोंसे ऊपर उठकर ब्रह्मभूयस् बन जाता है'' (भग.गीता.१४।२६) वचनमें कही गई है.

(अव्यभिचारिणी भक्तिकी स्वरूपमीमांसा)

सर्वोपादानतया सर्वान्तर्यामितया सर्वलयाधारतया सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण अपने सत्ता चैतन्य और आनन्दके धर्मभूत ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य आदि स्वरूपगुणोंके साथ सृष्टिमें प्रकट होनेवाले आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक निखिल नाम-रूप-कर्मोंमें अनुस्यूत हैं. ऐसी स्थितिमें सर्वव्यापी ब्रह्मतादात्म्यका कहीं व्यभिचार माने बिना 'भक्ति'पदके साथ 'अव्यभिचारिणी' विशेषणकी सार्थकता प्रकट नहीं हो पाती. क्योंकि भजनीय स्वरूपका तादात्म्य कहीं-किसी नाम-रूप-कर्ममें न हो, अर्थात् तादात्म्याभाव हो तभी उस विशेष नाम-रूप-कर्मके भजन करनेपर भक्तिको व्यभिचारिणी माना जा सकता है.

इस उलझनको सुलझानेसे पहले जिन कुछ आधारभूत सिद्धान्तवचनोंपर लक्ष्यपात कर लेना अतिशय आवश्यक लगता है, वे यों हैं :

> १.**''जिसमें जो भी सात्त्विक राजस या तामस भाव हैं वे मेरे कारण प्रकट होते हैं, मेरेमें वे प्रकट होते हैं पर मैं उनमें प्रकट नहीं होता. इन तीन गुणरूप भावोंसे सारा जगत् मोहित हो जाता होनेके कारण मैं इनसे परे होता हूं यह भी समझ नहीं पाता''**(भग.गीता.७।१२-१३).
>
> २.**''(इन गुणोंके तारतम्यवश) होनेवाली स्मृति ज्ञान और ज्ञानापोहन भी, मैं सभीके हृदयमें संनिविष्ट हूं सो मेरे कारण ही होता है''**(भग.गीता.१५।१५).
>
> ३.**''मैं सभी आत्माओंके भीतर आत्मतया, सभी प्रिय**

पदार्थोंके भीतर प्रेष्ठ=प्रियतमतया अवस्थित हूं! देहआदि सभीके बारेमें पनपते प्रेमका हेतुभूत मैं ही हूं ऐसी समझके साथ मुझे प्रेम करना चाहिये"(भाग.पुरा.३।९।४२).

यहां अन्तिम भागवतवचनकी सुबोधिनीमें महाप्रभुने यह शंका-समाधान किये हैं कि सभी आत्माओंकी आत्मा यदि भगवान् हों तो ऐसा कहनेसे क्या फलित होता है? सभी अपूर्ण और किसी न किसी तरहके क्लेशसे ग्रस्त आत्माओंकी आत्मा होनेपर तो भगवान्को भी अपूर्ण और क्लेश सहनेवाला मानना पड़ेगा. ऐसा तथ्य जान लेनेके बाद भी जीवात्माओंके अपूर्ण होनेके क्लेशका कोई उपचार भी तो नहीं होता. जो स्वयं क्लेशनिवारक या वरदाता न हो उसे जान लेनेसे वह क्लेशनिवारक या वरदाता नहीं बन जाता! परन्तु यहां जो समझाना चाहते हैं वह यह है कि सभी प्राणियोंकी अपने-अपने देह आदिमें रति तो स्वत:सिद्ध ही है पर वे प्रिय इसलिये लगते हैं कि सभीको अपनी आत्मा प्रिय लगती है. वह आत्मा भी प्रिय इसलिये लगती है कि परमप्रिय परमात्मा सभी आत्माओंके भीतर अवस्थित होता है. यह जानकारी प्राप्त होनेपर प्रेम कुछ नया प्रकट नहीं होता परन्तु प्रेमका सच्चा आलम्बन क्या या कौन है उसकी पहचान मिल जाती है. अन्यथा भगवान् तो ज्ञाततया या अज्ञाततया सभीके बुद्धिप्रेरक एवं प्रिय ही होते हैं, सो जिसे जैसा जो जानना हो या चाहना हो वैसे ज्ञान और प्रेम के द्वारा सभीके अज्ञान और क्लेश का निवारण करते हैं. पर जीवात्मा उन्हें स्वयं अपने ज्ञान और प्रेम के कारण सम्पन्न होता मान कर पुन: भ्रान्त हो जाती है. अत: जो सभीके सर्वदा स्वत:प्रिय हैं ऐसे भगवान्को भलीभांति जान और मान पानेपर सभी ज्ञान और प्रेम के प्रकारों और आलम्बन के रूपमें परमात्माको स्वीकार पाना शक्य बन जाता है. एतावता सर्वत्र परब्रह्म परमात्मा भगवान् का तादात्म्य जान एवं मान पाना भक्तिको अव्यभिचारिणी भक्ति बना देता है. अन्यथा परमतत्त्वके सर्वत्र

तादात्म्याभावकी बुद्धिके आग्रहके बिना ब्रह्मेतर किसी वस्तुको अपने ज्ञान या प्रेम के विषयतया जानना या चाहना शक्य नहीं. यों भक्ति अपने भजनीय विषयसे भिन्न विषयके बारेमें व्यभिचारिणी बन जाती है.

(भक्तिके पूर्वांग माहात्म्यज्ञान और उत्तरांग सुदृढसर्वतोधिक स्नेह के बीच पूर्वांगकी स्नेहानुकूलताका स्नेहमें अन्तर्भावन सर्वात्मभाव)

भक्तिकी सर्वथा प्राथमिक कक्षामें यह ज्ञान न भी हो अथवा मध्यमकक्षाकी साधनावस्थामें ऐसा स्वीकार या समझ में आनेपर भी भान न होता हो पर उत्तमकक्षाकी फलावस्थामें भक्तिके सर्वात्मभावमें खिल उठनेपर ब्रह्मके सर्व नाम-रूप-कर्मोंके साथ रहे तादात्म्यके अनुरूप प्रकट होता सर्वात्मभाव भजनीयकी सम्पूर्णताके प्रति भक्तिरूप भक्तोंके अनुभावकी सम्पूर्णता ही होती है.

इसमें अवधेय यही है कि माहात्म्यज्ञान एवं सुदृढसर्वतोधिकस्नेह दो अंशोवाले भक्तिभावमें प्रथम अंशके वश सर्वत्र भगवद्भाव स्फुरित होता है. इसी तरह द्वितीय अंशके वश भगवत्स्वरूपमें सब कुछ स्फुरित होता हो या न होता हो परन्तु सर्वतोमुखी प्रियता स्फुरित होती है. सर्वविध स्नेहतुष्टिका एकमात्र आलम्बनविभाव भगवत्स्वरूप ही लगने लगता है. इस विषयका विस्तृत विवेचन राजसप्रमाणप्रमेयप्रकरणसुबोधिनीकी भूमिकामें देखा जा सकता है. अतः उस विस्तारमें जाना यहां आवश्यक नहीं है. इतना अवश्य उल्लेखनीय है कि इस अवस्थामें पहुंचकर भक्ति अपने दोनों १. माहात्म्यज्ञान और २. सुदृढसर्वतोधिकस्नेह अंगोंमें मौलिक निर्गुणता या गुणातीतता अभिव्यक्त करने सक्षम बन जाती है. अतएव पूर्वोक्त "**ज्ञानयोगः च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणो द्वयोरपि एकएव अर्थो 'भगवत्'शब्दलक्षणः**" (भाग.पुरा.३।३२।३२) वचनका अभिप्रेतार्थ इस तरह सुस्पष्ट हो जाता है.

यह प्रक्रिया लीलापरिकरके तामस स्नेहभावसे राजस स्नेहभाव, राजस स्नेहभावसे सात्त्विक स्नेहभाव; और सात्त्विक स्नेहभावसे भगवत्स्नेहके निर्गुण स्नेहभावमें विकासकी रूपरेखा है. सर्वविध माहात्म्यशाली स्वरूपके अपरोक्ष प्राकट्यपूर्वक स्नेहके प्रकट होनेके उदाहरणोंमें भक्तिको अपने पूर्वांग माहात्म्यज्ञानकी अपेक्षा नहीं रहती. भगवत्स्नेहके परोक्ष भगवत्स्वरूपसे पहले प्रकट होनेके उदाहरणोंमें स्नेहके भक्तिभावमें फलित होनेको नियत पूर्वांगके रूपमें माहात्म्यज्ञान अपेक्षित रहता ही है. यह प्रभेद लीलावतारकालिक लीलात्मिका भक्ति और अनवतारकालिक साधनात्मिका भक्ति का प्रभेद है.

(प्रमेयरत्नार्णव ग्रन्थमें प्रतिपादित लीलात्मक गुणत्रैविध्यका स्वरूप)

अतः *प्रमेयरत्नार्णव*कार श्रीलालूभट्टजीद्वारा प्रतिपादित लीलौपयिक गुणविवेचनाका सारात्मक भाव यहां समझ लेना प्रासंगिक बन जाता है.

लालूभट्टजीके अनुसार भगवल्लीलाकालमें सर्वप्रथम व्रजस्थ भक्तोंका तामसत्व तीन तरहका प्रतिपादित किया : १.अविहित भक्तिरसानुभवमें साधनीभूत पारिभाषिक तामसत्व. २.धर्मविशेषरूप. ३.भगवन्मायाकृत.

१. इस पारिभाषिक तामसत्वके कारण भक्तोंको अपने मनोरथके अनुकूल लोकमें प्रकट भगवान्‌की लोकसदृश लीलाओंमें ही रुचि होती है. तत्त्वतः भगवान्‌से कोई वियुक्त हो नहीं सकता परन्तु लोकप्रकट भगवत्स्वरूपका लोकमें अनुभूत होता वियोग तामस स्वभावके कारण भक्त सहना नहीं चाहते. क्योंकि लोकमें जैसे तामस सभी हठीले होते हैं वैसे ही ये तामसभक्त भी हठीले होते हैं. अपनी हठके कारण इनमें मोह प्रबल होता है, ज्ञान नहीं. ऐसा तामसत्व सभी व्रजवासिओंमें निरूपित हुवा है.

२. धर्मविशेषरूप तामसत्व जब-जब उभरता है तब-तब अपना प्रभाव भक्तोंके भाव भाषा और व्यवहार में प्रकट दिखलाता है. ऐसे ही राजसता और सात्त्विकता रूप विशेष धर्म भी तामस राजस या सात्त्विक तीनों प्रकरणोंमें बहुधा निरूपित हुवे हैं. ये तीनों ही शुद्ध और मिश्र रूपोंके प्रभेद नौ प्रकारके हो सकते हैं. ऐसे धर्मविशेषरूप तामसत्व राजस या सात्त्विक प्रकरणोंमें प्रतिपादित भक्तोंमें भी हो सकते हैं.

३. सृष्टिरूपा भगवल्लीलामें जीवात्माओंका व्यामोहन भगवान्की अविद्याशक्तिरूपा दुःखप्रदायिनी व्यामोहिकाके कारण सम्पन्न होता है. परन्तु सृष्टिमें प्रकट होनेवाले भगवत्स्वरूपकी लीलामें साक्षात् लीलात्मक व्यामोहन भगवान् आनन्ददायिका योगमायाद्वारा सम्पन्न करते हैं. यह अविद्यात्मिका न हो कर भगवदानन्दात्मिका होती है. यह लीलौपयिक दोषनिवारिका या गुणाधायिका उभयविध हो सकती है. अतएव अवतारकालिक लीलापरिकरके दोष भी आनन्दात्मक होते हैं. अनवतारकालमें हमारे लोक-वेदप्रसिद्ध गुण भी कभी लीलामें व्यवधानरूप बन सकते हैं.

(प्रतिपाद्यार्थसंक्षेप)

निरोधलीलौपयिक मायाकार्यभूत तामसत्व राजसलीलामें निवृत्त हो जाता है, राजसत्व सात्त्विकलीलामें और सात्त्विकत्व निर्गुणलीलामें :

तद्वै प्रमाणं येन स्वं प्रमापयितुमिच्छति।
प्रमेयो भक्तभावात्मा तत्स्वभावानुरोधतः॥१॥
पुष्ट्यवान्तरव्यापारो यत् तत् किमपि साधनम्॥
लीलास्वरूपानन्दे हि निरोधोऽत्र फलं मतम्॥२॥
प्रमाणादिनिरोधेन भूमौ भूम्नोऽवतीर्णता॥
निःश्रेयसे हि जीवानां दशमस्कन्धवर्णिता॥३॥
भूमावप्रकटस्यापि तस्याधोक्षजस्य हि॥

भक्तिज्ञाने शास्त्रसिद्धे स्यातां प्राकट्यसाधने ॥४॥
सामर्थ्यं तस्य कर्तुञ्चाकर्तुमेवान्यथापि वा ॥
इति शास्त्रार्थसंक्षेपो ज्ञेयो ध्येयोऽनुवर्णितः ॥५॥

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धीय भगवल्लीलाकी यह संक्षिप्त रूपरेखा लालूभट्टजीने सुविशदरूपेण उक्त ग्रन्थके पुष्टिमार्गीयफलविवेक प्रकरणमें समझायी है, जिसे अधिक जिज्ञासा होनेपर वहीं देख लेना उपकारक होगा.

(प्रस्तुत इक्कीस अध्यायोंवाले प्रकरणमें प्रतिपादित भगवान्‌की सात्त्विकी लीलाकी कथाका प्रारूप)

दशमस्कन्धकी आद्य अध्यायचतुष्टयी जन्मप्रकरण है. पांचवें अध्यायसे ले कर पेंतीसवें अध्यायोंवाला तामस प्रकरण है. इस प्रकरणमें तीन प्रक्षिप्त अध्याय हैं. बाकी सात-सात अध्यायोंके चार अवान्तर प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलप्रकरण हैं. इनमें तामस लीलापरिकरका लीलात्मिका तामसी प्रमाणादिचतुष्टयीमें निरोध वर्णित हुवा है. उसके बाद पुनः अट्ठाईस अध्यायोंवाले राजस प्रकरणमें तामस लीलापरिकरके राजसभावापन्न होने तथा राजस भाववाले लीलापरिकरका लीलात्मिका राजसी प्रमाणादिचतुष्टयीमें निरोध वर्णित हुवा. यों साठ=तिरसठवें अध्यायसे इक्कीस अध्यायोंवाला सात्त्विक प्रकरण है. इस प्रकरणमें सात्त्विक लीलापरिकरको स्वयं सत्त्वात्मक होनेके कारण स्वरूपातिरिक्त सत्त्वमूलक प्रमाण अनपेक्षित होनेके कारण लीलात्मक प्रमेय-साधन-फलमें निरोध ही पर्याप्त होनेसे सात अध्याय कम हैं.

'निरोध' एक साकांक्ष पद है. उन आकांक्षाओंका स्वरूप तथा प्रस्तुत सात्त्विक प्रकरणानुसारी आकांक्षापूर्ति इस तरह होती है :

आकांक्षा	आकांक्षापूर्ति
किसका निरोध ?	सात्त्विकभावापन्न तामस-राजस और स्वयं

सात्त्विक लीलापरिकरका

किसमें निरोध? लीलावतीर्ण भगवान्के सात्त्विक स्वरूपानुभाव और लीलानुभाव में

कैसे या किस साधनसे? अपने स्वरूपानुभावों और लीलानुभावों द्वारा

कहांसे निरोध? लीलाधिकरणरूप प्रापञ्चिक विषयों तथा भावों से

किस प्रयोजनसे? त्रिविध लीलापरिकरको गुणातीत भगवत्स्वरूपके अनुरूप गुणातीत बनानेको

साकांक्ष 'निरोध'पदकी सात्त्विक आकांक्षापूर्तिकी सात्त्विकप्रकरणानुरोधी रीतिके अवलोकनके बाद प्रमेय साधन और फल रूप तीनों अवान्तर प्रकरणोंमें जो सात-सात अध्यायोंमें प्रत्येकमें ऐश्वर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य रूपी छह गुणधर्म और सातवें धर्मी स्वयं भगवान्का प्रतिपादन कैसे अभिप्रेत है यह भी देख लेना उचित होगा :

सात्त्विक प्रमेयप्रकरण :

जो सात्त्विक हैं उनके उद्धारका निरूपण प्रमेय साधन और फल लीलाद्वारा ही अभिप्रेत है. क्योंकि ज्ञानलभ्य सात्त्विकता इन्हें स्वतोलब्ध है. सात अध्यायोंवाले प्रमेयप्रकरणमें पहले छह अध्यायोंमें ऐश्वर्य आदि छह गुणों और सातवेंमें स्वयं भगवान्का वर्णन अभिप्रेत है.

यहां प्रथमाध्याय (आदितः ६१ वें) में : भगवदाज्ञा और भगवदिच्छा जानकर ही जो कुछ कर्तव्य हो उसे निभाना चाहिये. धर्म आदिका भी अविचारित दुराग्रह नहीं रखना चाहिये. धर्मादि मार्गमें ब्राह्मणादिको क्षोभजनक हो ऐसा कुछ नहीं करना चाहिये. इन तीन बातोंको समझानेको पूर्वतन भक्त राजा नृग, जिसे भगवदभिप्राय भलीभांति अवगत नहीं

था, ऐसेको केवल दानधर्मको निभानेके दुराग्रहके कारण ब्राह्मणक्षोभकर्ता होना पड़ा और ब्राह्मणस्वके अपहाररूप पापफलको भोगना पड़ रहा था, उसे कर्मक्षय न होनेपर भी भगवान्‌ने अपने प्रमेयबलरूप ऐश्वर्यसे मुक्त किया. अत: इस अध्यायमें भगवान्‌के ऐश्वर्य गुणका निरूपण किया गया है.

द्वितीयाध्याय (आदित: ६२वें) में : अपने अग्रज श्रीबलराममें अपने गुणोंके आधान द्वारा व्रजगोपिकाओंके साथ रासलीलाके निरूपणमें वीर्यगुणका प्रतिपादन अभिप्रेत है. वैसे तो उद्धवद्वारा प्रेषित सन्देशके द्वारा "भगवान् कृतघ्न हैं" ऐसे गोपिकाओंकी भगवान्‌के बारेमें दोषबुद्धिका निवारण कर ही दिया था. फिरभी संस्काररूपेण भी कुछ शेष रह गयी हो तो श्रीबलरामके सान्त्वनाके वचनोंसे उनका निवारण किया है. अनुकल्प सर्वत्र सानुभावरूप होता है. अत: वरुणप्रेषित मधुधाराके उपभोगवश इस रासलीलामें भी देवताओंकी सम्मतिके कारण वैसी ही कान्ति और सम्मान द्योतित हुवा. जलक्रीडार्थ सूर्यदेवतनया यमुनाका आकर्षण भी भगवान्‌के वीर्यगुणकी महिमा दिखाना है.

तृतीयाध्याय (आदित: ६३वें) में : मात्सर्यवश भगवान्‌का रूपधारण कर विचरनेवाले पौण्ड्रकके अपराधोंको क्षमा कर मुक्तिप्रदानकी कथा भगवान्‌के यशोरूप गुणका प्रतिपादन है. पौण्ड्रकके वधका बदला लेनेको उसके पुत्र सुदक्षिणद्वारा यज्ञकुण्डसे प्रकट होनेवाली कृत्या, जो किसी अब्रह्मण्यपर ही प्रभावशालिनी हो सकती थी, उसे भगवान्‌के मारणहेतु छोड़े जानेपर उसके विनाशद्वारा अपनी ब्रह्मण्यता सिद्ध की यह भी भगवान्‌के यशोरूप गुणका प्रतिपादन है.

चतुर्थाध्याय (आदित: ६४वें) में : श्रीबलरामके रमणमें भगवान्‌के श्रीरूप गुणकी कथा है. इसी तरह द्विविदके वधद्वारा ऋषि आदि सभीकी आपत्तिका निवारणका सामर्थ्य भी भगवान्‌की शोभा होनेके

कारण श्रीगुणका प्रतिपादन है (चारों अध्यायोंके इस संक्षिप्त सारसे अतिरिक्त भी कुछ भागवतार्थनिबन्धानुसारि-अध्यायार्थकार श्रीगोकुलरायजीने समझाया है उनका अवलोकन वहीं कर लेना उचित होगा).

पञ्चमाध्याय (आदित: ६५ वें) में : साम्बने लक्ष्मणाका स्वयंवरमें से अपहरण किया यह कौरव-पाण्डवोंको अच्छा नहीं लगा और उन्हें यादवोंके बारेमें हीनभावना हृदयमें पनपी. इस हीनभावनाके निवारणार्थ श्रीबलरामके भीतर आविष्ट हो कर भगवान्‌ने उन सभीके भीतर अपने ज्ञानरूप गुणका जो आधान किया वह इस अध्यायका वर्ण्यविषय है.

षष्ठाध्याय (आदित: ६६ वें) में : वैष्णवोंमें प्रमुख श्रीनारदका सन्देह दूर करनेको अपने सभी गृहोंमें लोकसंग्रहार्थ गृहस्थधर्मके पालनमें परायण होनेका दर्शन प्रदान कर भगवान्‌ने निर्लिप्तता जो दरसाई उस वैराग्य गुणका इस अध्यायमें निरूपण अभिप्रेत है.

सप्तमाध्याय (आदित: ६७ वें) में : उक्त छह गुणधर्मोंवाले धर्मिरूपका निरूपण अभिप्रेत है. क्योंकि अपनी रानियोंके भगवान्‌के बारेमें जो भी अन्यथाभाव थे उन्हें कृपापूर्वक स्वयं प्रभुने दूर किये.

<u>सात्त्विक साधनप्रकरण</u> :

साधनोंकी मर्यादा यहां दरसाई गयी होनेसे इसे साधनप्रकरण माना जाता है.

इस सात्त्विक साधनप्रकरणके प्रथमाध्याय (आदित: ६८ वें) में : समर्थ और नीतिमान् युधिष्ठिरने भगवदाज्ञा और साहाय्य पानेको भगवान्‌को आमन्त्रित कर वैदिक यज्ञकर्म सम्पन्न करना चाहा और भगवान्‌के आगमनपर उनका जो पूजन-सम्मान किया वह भगवान्‌के ऐश्वर्यरूप गुणके वर्णनार्थ है.

द्वितीयाध्याय (आदितः ६९ वें) में : यज्ञानुष्ठानकी आज्ञा मिल जानेके बाद दिग्विजयार्थ भगवानूद्वारा युधिष्ठिरके अनुजोंको सामर्थ्यशाली बनानेकी कथा भगवान्के वीर्यगुणके निरूपणार्थ है.

तृतीयाध्याय (आदितः ७० वें) में : जरासन्धके कारागृहमें बन्द राजाओंको छुड़ा कर उन्हें अपना-अपना लौकिक-वैदिक धर्म निभानेकी आज्ञाप्रदान करना और उन राजाओंद्वारा की गयी भगवान्की प्रशंसा भगवान्के यशोरूप गुणके संकीर्तनार्थ है.

चतुर्थाध्याय (आदितः ७१ वें) में : भगवान्के श्रीरूप गुणका प्रतिपादन है. साधनप्रकरणान्तर्गत यज्ञरूपसाधन सिद्ध हो जानेपर वहां भगवान्के साथ द्वेषभाव रखनेवाले शिशुपाल आदिकी उपस्थिति, भगवन्निंदारूप अपराधको दूर करनेको शिशुपालका वध और उसे मुक्तिदान भगवान्के श्रीरूप गुणके प्रतिपादनपरक है.

पञ्चमाध्याय (आदितः ७२ वें)में : युधिष्ठिरकी अलौकिक यज्ञरूप धर्मसम्पदा तथा अन्तःपुरसभारूप लौकिक सम्पदा देखकर मात्सर्यग्रस्त दुर्योधनकी भ्रमणा और भीम आदिके उपहासके प्रसंगमें भावी युद्धको जाननेवाले भगवान्का मौन भगवान्के ज्ञानरूप गुणके संकीर्तनार्थ है. इसी तरह दुर्योधनके अपमानजनक उपहासके समय श्रीबलराम कहीं सभी पाण्डवोंको खतम ही न कर दें इसकी सावधानी रखनेको भगवान्का भी वहां उपस्थित रहना ज्ञानलीलाका द्योतन है.

षष्ठाध्याय (आदितः ७३ वें) में : भगवदाज्ञाका उल्लंघन अनिष्टहेतु बन जाता है इसे दरसाने यह अध्याय योजित हुवा है. श्रीबलरामके द्वारकासे इन्द्रप्रस्थकी यात्रा करने जानेपर द्वारकामें शाल्वका उपद्रव होना, अपने पुत्र प्रद्युम्नके पराजित और मूर्च्छित होनेपर भी भगवान्का द्वारकासे अन्यत्र इन्द्रप्रस्थमें विद्यमान रहना, यों भगवान्के वैराग्यगुणके ख्यापनार्थ

यह अध्याय योजित हुवा है.

सप्तमाध्याय (आदित: ७४वें) में : यह दरसाना अभिप्रेत है कि भगवदाज्ञा होनेपर लौकिक या वैदिक कर्म भी भगवत्प्राप्तिके साधन बन सकते हैं, भगवदाज्ञा न होनेपर नहीं. श्रीमहादेवसे वरदान प्राप्त करनेके बाद भी शाल्वके वधका वर्णन धर्मिरूप भगवत्सामर्थ्यके वर्णनार्थ यहां हुवा.

<u>सात्त्विक फलप्रकरण</u> :

इस फलप्रकरणमें दु:खाभावरूप फल प्रदान करनेको हस्तिनापुरसे लौट कर आ गये भगवान्ने तीनों तरहके दुष्टोंको मार कर द्वारिकापुरीमें प्रवेश किया.

इस प्रथमाध्याय (आदित: ७५वें) में : देव मानव मुनि गणोंद्वारा भगवान्का कुसुमवर्षासे स्वागत भगवान्के ऐश्वर्य गुणका बोधक है. भगवान्की शस्त्रग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञाके बावजूद यादवोंका भगवदाज्ञाकारी होना भी भगवान्के ऐश्वर्यगुणका द्योतन है. इसी तरह कलिकालदोषवशात् अवरकक्षाके वक्तासे पुराणकथाका श्रवण करनेका पाप श्रोताओंको न लगे एतदर्थ श्रीबलरामद्वारा सूतवध और मुनिजनोंके सन्तोषार्थ तथा लोकसंग्रहार्थ मुनिओंके द्वारा निर्दिष्ट कर्मका अनुष्ठान भी ऐश्वर्यगुणका ही प्रतिपादन है.

द्वितीयाध्याय (आदित: ७६वें) में : भगवान्द्वारा शस्त्रग्रहण न करनेपर भी पाण्डवोंमें अपने सामर्थ्यका आधान और सर्वविध सहाय्य भगवान्के वीर्यगुणके निरूपणार्थ है. त्रिविध दुष्टोंके संहारद्वारा गुणत्रयीकृत दोषोंकी निवृत्तिद्वारा यादवों और पाण्डवों के स्पष्टास्पष्ट सभी दु:खोंका निवारण, श्रीबलरामद्वारा किये गये सूतवधद्वारा कालदोषका निवारण, बल्वलवध और तीर्थाभिषेक द्वारा देशदोषनिवारण, यज्ञ और ज्ञान द्वारा

आत्मदोषोंका निवारण यह सभी वीर्यगुणका कार्य है.

तृतीयाध्याय (आदित: ७७वें) में : सुखके उत्कर्षका सम्पादन अपने सहपाठी सुदामाके दारिद्र्यके निवारण और श्रीनिकेतन भगवान्‌द्वारा उसका सन्मान आदि भगवान्‌के यशोरूप गुणकी गाथा है.

चतुर्थाध्याय (आदित: ७८वें) में : अपने भक्त सुदामाके मुठ्ठीभर पोहें हठात् छीनकर आरोगनेके कारण सुदामाकी भार्याको सभी तरहकी समृद्धिका दान भगवान्‌के श्रीरूप गुणका संकीर्तन है.

पञ्चमाध्याय (आदित: ७९वें) में : भगवान्‌के सभी व्रज मथुरा द्वारका आदि स्थानोंमें बसे अपने जनोंसे अभिवांछित कुरुक्षेत्रमें मिल कर अपना सांनिध्य प्रदान करना, सभीके भीतर शुद्ध सात्त्विक भावोंका सम्पादन करना, देह-गेह आदि सभी जागतिक विषयोंके आकर्षणसे उन्हें उभार कर यथाधिकार स्वरूपानन्दात्मक फल प्रदान करना, सभीका स्वयंमें निरोध कैसे करना इस उपायचातुरीके निरूपणके कारण यह भगवान्‌के ज्ञानरूप गुणकी महिमाके निरूपणार्थ है.

षष्ठाध्याय (आदित: ८०वें) में : सभी स्त्रियोंको भगवान् कितने अत्यधिक प्रियतम हैं यह निरूपण करनेको द्रौपदीकी जिज्ञासाके पूर्त्यर्थ सभी महिषियोंद्वारा लोक-वेदत: भगवान्‌के उत्कर्षका प्रतिपादन तथा साक्षाद् भगवत्सेवौपयिक देहसम्पत्त्यर्थ भगवान्‌के चरणरजकी नित्याभिलाषा तथा भगवान्‌के कामादि दोषोंसे रहित होनेका प्रतिपादन भगवान्‌के वैराग्यरूप गुणका ख्यापन है.

इस सप्तमाध्याय (आदित: ८१वें) में : सभी तरहके साधनोंसे सम्पन्न ऋषियोंका भगवद्दर्शनार्थ समागमन, उनकी स्तुतिमें पितृगण ऋषिगण और देवगणों को अभिलषिततम फलतया स्वयं भगवान् हैं, वैसे तो

सभी यादवगणोंके राजसगुणोंसे जन्य दोषोंका निवारण हो जानेपर भी केवल संस्कारात्मना ही अवशिष्ट दोषोंका उद्धवकी प्रश्ननीतिके आलम्बनवश प्रकट हुवे यादवोंके मनमें उभरे सन्देहका वारण श्रीवसुदेव और मुनिगणों के प्रश्नोत्तरद्वारा, यादवोंकी पूर्णसात्त्विकता और भगवान्‌की पूर्णगुणातीतता, भगवान् सभी यज्ञोंके फलरूप हैं अतः यज्ञानुष्ठान भी भगवदर्थ श्रेयस्कर होता है —यह सब वर्णित सभी गुणधर्मोंके धर्मी भगवान्‌के स्वरूपका ही प्रतिपादनपरक है.

इस तरह गुणातीत भगवान्‌की त्रिगुणात्मिका लीला उसके परिकर और लीलापरिकरके विविध भावोंके अनुरूप भगवत्स्वरूपकी लीलाकथा यहां निरूपित करनेके बाद अब आगामी गुणप्रकरणमें भगवान्‌के अप्राकृत दिव्य गुणोंका आख्यान अवशिष्ट रहा. अन्तमें—

निरोधेऽधिकारो न जाने मदीयः
त्वदीयोऽस्मि मन्ये यथाहं तथैव।
प्रवाहे वहन् सार्धमेवागतेन
त्वया कुत्र यास्यामि किं चिन्तयामि!॥
अहं वाल्लभोऽस्मि दृढेयं मतिर्मे
भवेयं नवा वल्लभोऽहं त्वदीयः।
सदा वल्लभो भासि सान्योऽप्यनन्यः
अनन्याश्रितोऽहं नचान्यं भजामि॥

द्वितीयापाटोत्सव
वि.सं.२०६९
मुंबई.

गोस्वामी श्याम मनोहर

.... नृगाख्यानं बलभद्रव्रजागमः ।
गोपीविलापो रामस्य रतिर्गोपीभिरेव च ॥१॥
यमुनाकर्षणं काशीपतिपौण्ड्रकघातनम् ।
काशीदाहः स्वकृत्याद्धि द्विविदस्य बलाद् वधः ॥२॥
लक्ष्मणाहरणं रामविक्रमो गजसाह्वये ।
नारदेन हरेर्लीलादर्शनं गृहमेधिनाम् ॥३॥
आह्निकं वासुदेवस्य राज्ञां विज्ञापनं हरेः ।
मन्त्रणादुद्धवस्येन्द्रप्रस्थे गमनमीशितुः ॥४॥

॥ इति सात्त्विकप्रमेयप्रकरणम् ॥

जरासन्धवधः स्तोत्रं राज्ञां सत्कृतिरेव च ।
राजसूये हरेः पूजा शिशुपालवधस्तथा ॥१॥
दुर्योधनाभिमानस्य भङ्गः प्रद्युम्नशाल्वयोः ।
युद्धं त्रिणवरात्रं च हरेरागमनं ततः ॥२॥
शाल्वस्य दन्तवक्त्रस्य तद्भ्रातुर्लीलया वधः ।

॥ इति सात्त्विकसाधनप्रकरणम् ॥

तीर्थयात्राथ रामस्य मध्ये सूतवधस्ततः ।
तत्पुत्रस्थापनं तत्र बल्वलस्य वधस्ततः ॥१॥
यात्रा समस्ततीर्थानामृषिभिर्याजनं बलेः ।
भक्तानां जन्मसाफल्यं पृथुकाख्यानमेव च ॥२॥
सूर्योपरागे निखिलैः कुरुक्षेत्रे समागमः ।
बन्धुभिर्वासुदेवस्य गोपिकापरिसान्त्वनम् ॥३॥
कृष्णभार्याविवाहानां कथनं विस्मयो नृणाम् ।
ऋषीणां गमनं तत्र कृष्णेन प्रतिपूजनम् ॥४॥
वसुदेवस्य सम्प्रश्नो नारदोक्तिरथोत्तरम् ।
याजनं तस्य ऋषिभिः प्रमोदोऽखिलदेहिनाम् ॥५॥

॥ इति सात्त्विकफलप्रकरणम् ॥

श्रीद्वारिकेशानां टीका

एकषष्टितमाध्यायार्थम् अनुक्रामन्ति —

नृगाख्यानम्

नृग इति. नृगस्य आख्यानं चतुःचत्वारिंशद्भिः. तत्र एवं विभागः —

कृकलासत्वापगमः षड्भिः प्रश्नो द्वयेन ह ।
उत्तरोद्यम एकेन नृगवाक्यानि विंशतिः ॥
पूर्वोदान्तः षोडशभिरेकेनाश्चर्यमेव हि ।
प्रार्थना त्रिभिरेवात्र एकेन गमनं हरेः ॥
शिक्षोद्यमस्तथैकेन शिक्षा द्वादशभिः कृता ।
निजागारे प्रवेशश्चतुश्चत्वारिंशदेव हि ॥

एवं चतुश्चत्वारिंशच्छ्लोकाः. इति एकषष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः.

द्विषष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति —

.... **बलभद्रव्रजागमः ।**
गोपीविलापो रामस्य रतिर्गोपीभिरेव च ॥
यमुनाकर्षणम् ....

बल इति. **बलभद्रस्य व्रजागमः** "बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ" इत्यादि अष्टभिः. तत्र एवं विभागः — प्रथमे भगवदाविष्टबलस्य गोकुले आगमनम्. द्वितीये परिष्वङ्गाभिवादनाशिषः. तृतीये नन्दयशोदयोः नेत्रजलेन बलभद्रसेचनम्. गोपवृद्धादिभिः यथायोग्यं हास्य-हस्तग्रहादिकं चतुर्थपञ्चमयोः. षष्ठे अनामयादिप्रश्नः. सप्तमे बन्धूनां कुशलप्रश्नः. अष्टमे अभिनन्दनम्. "गोप्यो हसन्त्यः" इत्यादि अष्टभिः **गोपीविलापः**. तत्र आद्ये द्वे प्रश्नोद्योगः. "कच्चिदास्त" इति सार्धैः पञ्चभिः गोपीनां श्रीकृष्णकुशलप्रश्नः. कुशलः हरिकृति-स्वकृति-हरिकृति-नागरीकृति-निषेधकृतिभेदेन. सप्तमे गोपीविलापः. अष्टमे गोपीसान्त्वनं गोपीभिः. **गोपीभिः रामस्य रतिः** "द्वौ मासौ" इत्यादिषड्भिः वास-रमण-वारुणीपतन-तद्गन्धाघ्राण-पानोपगान-रूपवर्णनभेदेन. **यं** बलभद्रम् **उ** वितर्के, श्रीकृष्णेतरं वितर्क्य **न** आयातायाः **आसमन्तात् कर्षणं** "स आजुहाव" इति दशभिः आह्वानाकर्षण-निर्भर्त्सन-पादपतन-स्तवन-प्रार्थनावगाहनोत्तीर्य-नरवसनभूषण-परिधान-शोभाखण्डमाहात्म्य-स्थापनातिदेश-

भेदेन. एवं सार्धद्वात्रिंशच्छ्लोकाः. इति द्विषष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः.

त्रिषष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति —

.... **काशीपतिपौण्ड्रकघातनम्** ।

काशीदाहः ....

काशीपति इति. **काशीपतेः पौण्ड्रकस्य** च **घातनम्**. सहार्थेन गौणतासूचनात् पूर्वं पौण्ड्रकस्य घातनं पश्चात् काशीपतेः. तत्र एवं क्रमः — षड्विंशत्या काशीपति-पौण्ड्रक-घातनम्. सप्तदशभिः काशीदाहः. षड्विंशतौ

पूर्वानुवादः प्रस्तोभो हरये दूतयापनम् ।
दूतागमनमेकैकस्मिन् द्वाभ्यां दूतकत्थनम् ॥
हासः प्रत्युत्तरं द्वाभ्यामाक्षेपाहरणं ततः ।
हरेः काश्यागमो मिथ्यावासुदेवस्य निष्क्रमः ॥
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिः काशिराजस्य निष्क्रमः ।
हरिणा पौण्ड्रको दृष्टो द्वाभ्यां तद्वेषवर्णनम् ॥
हरेर्हासो प्रहरणमरिभिः पूर्वमायुधैः ।
द्वाभ्यां युद्धं त्रिभिः क्षेपहनने पौण्ड्रकस्य हि ॥
पतत्रिभिः काशिराजशीर्ष्णः काश्यां निपातनम् ।
द्वारकागमनं चक्रपाणेः पौण्ड्रकमोचनम् ॥
संशयः काशिसंस्थानां रोदनं साम्परायिकम् ।
सुदक्षिणस्य दुर्भावो देवविश्वेश्वरार्चनम् ॥
शिवप्रीतिर्वरोयाच्ञा शिववाक्यं तथाकृतिः ।
वह्न्युत्थानं ततो द्वाभ्यां वह्निरूपस्य वर्णनम् ॥
भयं कुशस्थलस्थानां क्रीडतः प्रार्थना हरेः ।
प्रहस्याभयदानं तद्दाहार्थं चक्रमादिशत् ॥
कृत्यार्द्दनं स्वचक्रेण कृत्यया भग्नवक्त्रया ।
सुदक्षिणस्य दहनं ह्यरिणा काशिदाहनम् ॥
दग्ध्वा वाराणसीं भूयश्चक्रस्य समुपस्थितिः ।
फलमेतस्य श्रवणे चत्वारिंशत्त्रयस्तथा ॥

एवं त्रिचत्वारिंशच्छ्लोकाः. इति त्रिषष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः.

चतुःषष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति —

... **सकृत्पातः द्विविदस्य बलाद् वधः ।**

स्वकृत्याद् इतिपाठे **स्वकृत्यात्** स्वकृतापराधेन **द्विविदस्य बलाद् वधः**. **सकृत्पात** इति **सकृद्** एकवारं **पातेन** "स बाहू तालसंकाशौ" इति द्विविदकृतेन अपराधरूपेण मारणहेतुभूतेन. अथवा "यादवेन्द्रोऽपि" इति बलभद्रकृतेन सकृत्पातेन **बलाद्** बलभद्राद् **द्विविदस्य वधः**. अथवा "व्यदूषयञ्छकृन्मूत्रैः" इत्युक्तेन **शकृत्पातेन** मारणहेतुभूतेन अपराधेन. तत्र एवं क्रमः — आद्यैः सप्तभिः सह्यः अपराधः. "एवं देशान् विप्रकुर्वन्" इत्यादि सार्धाष्टभिः असह्यापराधः. "तं तस्याविनयम्" इति सार्धाष्टभिः युद्धम्. "यादवेन्द्रोऽपि" इति पद्ये द्विविदहननम्. अग्रे श्लोकत्रये द्विविदपात-पुष्पवृष्टि-प्रत्यापत्तयः. श्लोकस्तु —

प्रश्नो द्विविदचिह्नानि कपिना पुरदाहनम् ।
शैलोत्पातो जलोत्पातः शकृत्पातोऽग्निषु स्वतः ॥
योषित्पुरुषरोधसः सह्योपद्रव उच्यते ।
रैवते गमनं तत्र बलभद्रस्य दर्शनम् ॥
रामसौन्दर्यकथनं स्त्रीषु शिश्नप्रदर्शनम् ।
तरुणीनां विहासश्च कपिना गुददर्शनम् ॥
रामेण ग्रावप्रक्षेपः कपिना वस्त्रपाटनम् ।
कपेश्च विप्रकरणं क्रोधो रामस्य वानरे ॥
रामेण शालतरुक्षेपो मुशलेन कपेर्हतिः ।
पुनः शालतरुक्षेपः शतधा तस्य छेदनम् ॥
वननिर्वृक्षकरणं शिलावर्षणवर्णनम् ।
मुष्टिपातो रामवक्षस्याक्षेपः कपिजत्रुणि ॥
कपिपाताद् गिरेः कम्पो देवानां पुष्पवर्षणम् ।
अष्टविंशतमे पद्ये रामप्रत्यागतिः पुरे ॥

एवम् अष्टविंशतिः श्लोकाः. इति चतुःषष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः.

पञ्चषष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति —

लक्ष्मणाहरणं रामविक्रमो गजसाह्वये ।

लक्ष्मणा इति. **लक्ष्मणायाः** दुर्योधनसुतायाः साम्बेन **हरणं** द्वादशभिः —

तत्राद्ये लक्ष्मणाहारस्त्रिभिः कौरवभाषणम् ।
बन्धनोद्यमनं साम्बस्याभिमुख्ये व्यवस्थितिः ॥
साम्बस्याकिरणं बाणैः साम्बस्यामर्षणं ततः ।
साम्बेन वेधनं ...तैः साम्बस्याभिपूजनम् ॥
रथादिछेदः साम्बस्य बन्धनं गमनं पुरे ।
एवं द्वादशभिः पद्यैर्लक्ष्मणाहरणं मतम् ॥
द्विचत्वारिंशता पद्यैः विक्रमो रामकर्तृकः ।
तत्राद्ये नारदाच्छ्रुत्वा यदूनामुद्यमः कुरून् ॥
सान्त्वयित्वा यदून् रामगमनं हस्तिनापुरे ।
रथेन ब्राह्मणैः सार्धमुद्धवप्रेषणं पुरे ॥
रामागमस्य कथनं गतिर्मङ्गलपाणिनाम् ।
गवार्घ्यदान... नान्यनामयशिवं वचः ॥
रामस्य वाक्ययुगलं कुरूणां वाक्यपञ्चकम् ।
देहेन्द्रियप्राणमनआत्मोत्कर्षत्वबोधकम् ॥
कुरूणां गेहगमनं क्रोधो रामस्य दुर्घटः ।
दशवाक्यानि रामस्य प्रतिज्ञा नवभिः कृता ॥
दशमेऽध्यवसायो हि द्वाभ्यां नगरकर्षणम् ।
एकेनागतिरेकेन साम्बलक्ष्मणया समम् ॥
पञ्चभिर्भगवत्स्तोत्रं दैन्येन कुरुभिः कृतम् ।

सुबोधिन्याम्— "बुद्धिर्न शुद्धा नो शास्त्रं नापि ज्ञानं स्वतः क्वचित्, प्रभुः स्वामी भवांश्चापि धारकः क्षान्तिमर्हति."

एकेनाभयदानं च पारिबर्हयुगेन हि ।
अङ्गीकाराभिगमने स्वकृतस्य प्रशंसनम् ॥
अद्यापि रामकार्यस्य सूचनं हस्तिनापुरे ।
चतुःपञ्चाशतापद्यैरध्यायपरिपूरणम् ॥

एवं चतुःपञ्चाशच्छ्लोकाः. इति पञ्चषष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः.

षट्षष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति —

नारदेन हरेर्लीलादर्शनं गृहमेधिनाम् ।

नारदेन इति कृतमिति शेषः.

बहूद्वहनमेकेन श्रुत्वाऽऽद्ये दर्शनेषणा ।
नारदस्य महच्चित्रं दर्शनायागतिः पुरेः ॥
एतत्त्रयं तु सार्धाभ्यां वर्णनं सार्धकैर्हरेः ।
कुशपुर्यामुपवनजलस्थलविभेदतः ॥
आन्तरं वर्णनं षष्ठे सप्तमेऽन्तःपुरं बहिः ।
सामान्यतो वर्णयितुं प्रत्येकं गृहवर्णनम् ॥
अष्टमे त्वेकभवने प्रवेशो नारदस्य ह ।
चतुर्भिर्वर्णनं तस्य तत्र त्रिभिरमुष्य हि ॥
शोभोक्ता सर्वकालीना रात्रिशोभा तथैकतः ।
नारदातिथ्यकरणं हरिणा त्रिभिरुच्यते ॥
मनसा वपुषा वाचा नारदप्रार्थनं युगे ।
इत्यष्टादशभिः पद्यैर्गमनं प्रथमे गृहे ॥
द्वितीये भवने यानं चतुर्भिर्नारदस्य हि ।
तृतीयादिगृहे यानं चतुर्दशभिरुच्यते ॥

अत्र गृहाः अष्टाविंशतिः द्वात्रिंशद् चतुश्चत्वारिंशद् वा मतभेदेन ज्ञेयाः.

वचनोद्यम एकेन प्रार्थना युगलेन हि ।
तत एकेन हरिणा बोधितो नारदो मुनिः ॥
द्वाभ्यां स्वेनाध्यवसितं प्राह केशवसन्निधौ ।
शुकस्ततो विस्मितस्य स्मरतः केशवं हृदि ॥
सकौतुकस्य देवर्षेरेकेन गमनं पुनः ।
लीलासमाप्तिरेकेन तथैकेन फलश्रुतिः ॥
चत्वारिंशत्पञ्चपद्यान्यत्राध्याये सुसम्मताः ।

एवं पञ्चचत्वारिंशच्छ्लोकाः. इति षट्षष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः.

सप्तषष्टितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति —

आह्निकं वासुदेवस्य राज्ञां विज्ञापनं हरेः ।

आह्निकम् इति. वसुदेवगृहे अवतीर्णस्य **आह्निकम्** अहोनिर्वृत्तं दिनकृत्यं सार्धद्वाविंशत्या पद्यैः "अथोषसि" इत्यारभ्य "कथाः" इत्यन्तम्. तत्र एवम् अवान्तरविभागः — आद्ये कामपराणां भगवत्कृतधर्मासहिष्णुत्वम्. द्वितीये अन्तरङ्गबहिरङ्गानाम् अलिवयसां बोधकत्वम्. तृतीये रुक्मिण्यमर्षः. चतुर्थे भगवतः उत्थानाचमनध्यानानि. पञ्चमे ध्यानविषयनिरूपणम्. षष्ठे श्रीकृष्णस्य स्नान-वासःपरिधान-सन्ध्योपगमादिकरण-तिलकादिधारण-होम-ब्रह्मजप-मौनानि. सप्तमे सूर्योपस्थान-देवर्षिपितृतर्पण-वृद्धविप्रार्चनानि. अष्टमनवमयोः गवां दानानि. दशमे गो-विप्र-देवता-वृद्ध-गुरु-भूत-नमस्कार-मङ्गलस्पर्शनि. एवं दशभिः धर्मपरिष्कारः कृतः. अतः परं सार्धैः त्रिभिः धर्मिपरिष्कारः. तत्र एकादशे वस्त्राभरण-स्वीय-दिव्य-स्रग्गन्धानुलेपादि-स्वीकारः. द्वादशे आज्यावेक्षणादर्श-गो-वृष-द्विज-देवता-दर्शनानि अर्धे. द्वादशत्रयोदशयोः सर्वेषाम् इष्टं दापयित्वा स्रक्ताम्बूलानुलेपनानि सर्वेभ्यः विभज्य अङ्गीकृतवान्. ततः चतुर्भिः सुधर्मागमनम्. तत्र आद्ये रथमानीय सूतस्य प्रणम्यावस्थानम्. द्वितीये भगवतः रथारोहः. तृतीये सर्वेषां हरिदर्शनम्. तुर्ये हरिगमनम्. एकोनविंशे सुधर्मायाम् उपवेशः. विंशे उपमन्त्र्यादिनाम् उपस्थानम्. एकविंशे षड्विधवाद्यनृत्यगीतादि. पूर्वराजकथाकथनं द्वाविंशे. एवं चतुर्भिः सुधर्मोपवेशः. तावता वासुदेवाह्निकं समाप्तम्. एतावत्कार्यं भगवता क्रियते. अह्ना निर्वर्त्यम् **आह्निकम्**. "तत्रैकः पुरुषः" इति षड्विंशत्या **राज्ञां विज्ञापनम्**. तत्र त्रिभिः प्रस्तावना. तत्र आद्ये दूतागमनम्. द्वितीये नमस्कृतिः. तृतीये राजदुःखावेदनम्. "कृष्ण कृष्ण" इति षड्भिः ऐश्वर्यादिक्रमेण राजवचनकथनं दूतेन. अत्र '**ऋषेः**' '**हरेः**' "**रिपोः**' इति पाठत्रयं पुस्तकभेदेन दृश्यते. '**ऋषेः**' इति पाठे **विज्ञापनपदं** पूर्वापरयोः सम्बध्यते. उभयत्र कर्तरि षष्ठी. '**रिपोः**' जरासन्धस्य सम्बन्धि **विज्ञापनं** हरेः अग्रे इति अध्याहार्यम्. एकत्रिंशे दूतवचनम्. **ऋषेः** नारदस्य कृतं **विज्ञापनं** "राजदूते" इत्यारभ्य आसमाप्तिः षोडशभिः. तत्र आद्ये नारदागमनम्. द्वितीये भगवदुत्थानम्. तृतीये हरिणा नारदसभाजनम्. भगवद्वचने द्वे. तत्र आद्ये जगद्वृत्तान्तप्रश्नः. द्वितीये पाण्डववृत्तान्तप्रश्नः. अष्टवचनानि नारदस्य. तत्र त्रिभिः मायाऽभावप्रार्थनम्. "अथाप्याश्रावये" इत्यादित्रिभिः युधिष्ठिरचिकीर्षितश्रावणम्. "श्रवणात्कीर्तनाद्" इति द्वाभ्यां सर्वशुद्धिः चरणोदकमाहात्म्यं च. एकेन

भगवद्वचनोद्यमः. एकेन भगवद्वचनम्. एकेन उद्धवविचारः. एवम् अष्टचत्वारिंशच्छ्लोकाः. इति सप्तषष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः.

अष्टषष्टितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति —

मन्त्रणादुद्धवस्येन्द्रप्रस्थे गमनमीशितुः ।

मन्त्रणाद् इति. तत्र एवं क्रमः —

मन्त्रणं ह्युद्धवस्यैकादशभिर्निष्क्रमो हरेः ।
षड्भिस्त्रिभिर्देवर्षेः द्वाभ्यां दूतस्य निष्क्रमः ॥
द्वाभ्यां हरेर्मार्गगतिः द्वाभ्यां राज्ञः समुद्रगतिः ।
षड्भिः समागमः कृष्णराज्ञोरष्टभिरेतयोः ॥
राजमार्गेण नगरप्रवेशः कृष्णपूजनम् ।
अष्टभिः षट्चत्वारिंशच्छ्लोकाः समुदाहृताः ॥

तत्र आद्येषु एकादशसु प्रथमे उद्धवस्य सर्वमताज्ञानम्. सार्धेन ऋषिवाक्यप्रशंसा. सार्धेन स्वकार्यसिद्धिः. एकेन जरासन्धबलप्रशंसा. द्वाभ्यां जरासन्धवधोपायः. अष्टमे भगवतः सर्वकर्तृत्वम्. नवमे सहजयशस्वित्वम्. दशमे जरासन्धवधस्य भूर्यर्थत्वम्. एकादशे उद्धववाक्यप्रशंसा. "अथादिशद्" इति सार्धैः षड्भिः हरेः निर्गमनोत्सवनिरूपणम्. तत्र आद्यैः सार्धैः त्रिभिः हरेः निष्क्रमः. "नृवाजि" इति द्वाभ्यां प्रयाणप्रकारः. तत्र आद्ये असाधारणीनां प्रयाणप्रकारः, द्वितीये साधारणीनाम्. "बलं बृहद्" इति भगवत्कटकवर्णनम्. "अथो मुनि" इति एकेन नारदस्य अग्रे गमनम्. "राजदूतम्" इति दूतसमाधानम्. "इत्युक्त" इति दूतगमनम्. भगवतः इन्द्रप्रस्थपर्यन्तम् आगमनम् "आनर्त" इति द्वाभ्यां स्थलजलोत्तरणप्रयत्नभेदात्. ततः निकटे समागमने युधिष्ठिरस्य स्नेहपूर्वकं कृत्यं "तमुपागतम्" इति चतुर्भिः. तत्र द्वाभ्यां प्रत्युद्गमः, द्वाभ्यां भक्तिः, एकेन भीमादिकृत्यं प्रेम्णा. "अर्जुनेन" इति द्वाभ्यां लौकिककृत्यं सर्वेषाम्. "मृदङ्ग" इति षड्विधवाद्य-स्तुति-नृत्य-गीतानि. "एवं सुहृद्भिः" इत्यादि अष्टभिः पुरप्रवेशः. तत्र आद्ये दर्शनस्थानात् चलनम्. भगवत्प्रविष्टपुरवर्णनं "संसिक्त" इति द्वाभ्यां प्रजाराजगृहभेदेन. "प्राप्तं निशम्य" इति प्रजानाम् औत्सुक्यम्. "तस्मिन्" इति तत्रत्यानां भगवद्दर्शनम्. "तत्र तत्र" इति पुरुषाणां भावः. "ऊचुः स्त्रियः" इति इन्द्रप्रस्थस्थस्त्रीकृतं मुकुन्दपत्नीनां

सभाजनम्. "अन्तःपुरजनैः" इति अन्तःपुरवासिकृत्यम्. "पृथा विलोक्य" इति कुन्तीकृत्यम्. "गोविन्दं गृहम्" इति युधिष्ठिरकृत्यम्. "पितृष्वसुः" इति भगवत्कृत्यम्. "श्वश्र्वा सन्" इति भगवत्पत्नीपूजा द्वाभ्याम्. "सुखं निवासयामास" इति राज्ञः स्थिरकृत्यम्. "तर्पयित्वा" इति द्वाभ्यां भगवतः स्थिरकृत्यम्. एवं सार्धषट्चत्वारिंशत् श्लोकाः. इति अष्टषष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः.

एकोनसप्ततितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति —

जरासन्धवधः ......

जरा इति. जरासन्धस्य वधः सप्तचत्वारिंशद्भिः. तत्र एवं क्रमः —

विज्ञापनार्थप्रसङ्गो द्वाभ्यां प्रार्थनमुच्यते ।
चतुर्भिर्नर्थसिद्ध्यर्थं पञ्चभिः कृष्णवाचनम् ॥
सार्धैस्त्रिभिर्दिग्विजयः त्रिभिर्ब्राह्मण्यधारणम् ।
भगधे गमनं चापि चतुर्भिस्तस्य याचनम् ॥
भीमकृष्णार्जुनैः राज्ञः पञ्चभिर्दाननिश्चयः ।
दानप्रतिज्ञा चैकेन भगवद्वाक्ययुग्मकम् ॥
त्रिभिर्जरासन्धवाक्यैः तिरस्कारो मनीषिणाम् ।
युद्धप्रतिज्ञा भीमेन पुराद् गमनमेकतः ॥
चतुर्भिर्गदया युद्धं मुष्टियुद्धं तु युग्मतः ।
तेज आप्यायनं द्वाभ्यां त्रिभिः घातो जराजने ॥
भीमपूजनमेकेन सार्धेन ह्यभिषेचनम् ।
सहदेवस्य मोक्षश्च राज्ञां यस्मै कृतं महत् ॥
सप्तोपरिष्टाच्चत्वारिंशच्छ्लोका ह्यत्र कीर्तिताः ।

एवं सप्तचत्वारिंशत् श्लोकाः. इति एकोनसप्ततिः अध्यायसङ्ग्रहः.

सप्ततितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति —

... **स्तोत्रं राज्ञां सत्कृतिरेव च** ।

स्तोत्रम् इति. **राज्ञाम्** इति पदं देहलीदीपन्यायेन उभयत्र अन्वेति. पूर्वान्वयित्वे कर्तरि षष्ठी, उत्तरान्वयित्वे कर्मणि षष्ठी. तत्र "अयुते द्वे शतानि" इत्यारभ्य षोडशभिः **स्तोत्रम्**. "संस्तूयमान" इत्यारभ्य एकोनविंशत्या

सत्कृतिः. तत्र षोडशसु सार्धेन राज्ञां निष्क्रमणम्. त्रिभिः राज्ञां हरिदर्शनम्. सार्धेन प्रेम-प्रणामौ. एकेन स्तुत्युद्यमः. नवभिः स्तुतिः प्रार्थना मत्सराभावो गतराज्यानुमोदनं युक्तिस्तत्र दोषोक्तिः स्वराज्यस्याभिनन्दनं वैराग्यस्युपदेशस्य प्रार्थना स्वाधिकारिता. एकोनविंशे— आद्ये हरिवचनोद्यमः. षड् हरिवचनानि—

भक्तिदानं बुद्धिशंसा राज्यदोषः क्रियाकृतिः ।
ऋणत्रयं निराकृत्य तत्र चिन्ताविरागता ॥

सप्तभिः राजस्तुतिः. पञ्चभिः प्रत्यापत्तिः. एवं पञ्चत्रिंशत् श्लोकाः. इति सप्ततिः अध्यायसङ्ग्रहः.

एकसप्ततितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

राजसूये हरेः पूजा शिशुपालवधस्तथा ।

अत्र त्रिंशता पूजा. पञ्चविंशत्या शिशुपालवधः. तत्र त्रिंशति पञ्चभिः भक्तिविरोधपरिहारः. सार्धैकादशभिः यज्ञसमृद्धिः. द्वाभ्यां पूज्यविमर्शः. षट् सहदेववचनानि. पञ्चभिः कृष्णपूजा. एकेन शिशुपालरोषः. सप्तभिः परुषवचनानि. नवभिः शिशुपालवधः. एकेन यज्ञपूर्तिः. पञ्चभिः सर्वेषां प्रतियानम्. एकेन दुर्योधनमानभङ्गः. एकेन फलस्तुतिः. एवं सार्धचतुःपञ्चाशत् श्लोकाः. इति एकसप्ततिः अध्यायसङ्ग्रहः.

द्वासप्ततितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

दुर्योधनाभिमानस्य भङ्गः ...

तत्र एवं विभागः— द्वाभ्यां राजप्रश्नः. पञ्चभिः बान्धवानां कार्याधिकारः. एकेन वैदिकं कर्म. दशभिः अवभृथस्नानार्थं गमनम्. त्रिभिः अवभृथस्नानम्. त्रिभिः यजमानपुरःसराणाम् अलङ्कारः. त्रिभिः सर्वेषां प्रतियानम्. द्वाभ्यां सुहृदां निवासनम्. एकेन युधिष्ठिरमनोरथपूर्तिः. त्रिभिः दुर्योधनपरितापः. द्वाभ्यां युधिष्ठिरसमृद्धिः. द्वाभ्यां दुर्योधनस्य जलस्थलभ्रमः. सार्धैस्त्रिभिः दुर्योधनमानभङ्गः. सार्धचत्वारिंशत् श्लोकाः. एवं सार्धचत्वारिंशत् श्लोकाः. इति द्वासप्ततिः अध्यायसङ्ग्रहः.

ननु अत्र "अर्हति ह्यच्युतश्रैष्ठ्यम्" इत्यादिवाक्यानां वक्ता सहदेवः

मागधो पाण्डवो वा इति बहूनां संशयः. तत्र मागधः इति केचित्, पाण्डवः इत्येके. तत्र आद्यपक्षिणां स्वकीयेन कृता प्रशंसा न उत्कर्षाय भवतीति मागध एव. ननु तस्य पिता भगवता इदानीमेव छलेन मारितः ; स कथं साम्प्रतम् अपृष्टः भगवदुत्कर्षं वदेत्? सत्यम्, प्रह्लादावतारत्वाद् भगवदुत्कर्षं वदेदपि. प्रह्लादावतारत्वं च अस्य नृसिंहावतारलीलायाः कृतत्वात्. गर्भस्तुतौ देवैः "मत्स्याश्वकच्छप" इति श्लोके दशावतारलीलानुकरणस्य यथा एतेषु कृतावतारः नः पासि तथा अधुना इति प्रार्थितत्वात्. न च अस्य पिता भीमेन हतः न भगवता, सहदेवाभिषेकः भगवता कृतः न ब्रह्मणा कृतः इति कथं नृसिंहलीलानुकरणम्, कर्तुः भिन्नत्वात्? सत्यम्, "नकुलो द्रव्यसाधने" इति "नकुलमाप्यायत् स्वेन तेजसा" इतिवाक्येन "यास्यन्त्यदर्शनमलं बलपार्थभीम व्याजाह्वयेन हरिणा" इतिवाक्येन च सर्वस्यापि सर्वत्र भगवतैव कृतत्वेन वैलक्षण्याभावात् सहदेवः मागध एवेति प्राप्ते वयं ब्रूमः— सहदेवः पाण्डवः एव, "सहदेवस्तु पूजायाम्" इति पूजाधिकृतस्यैव अस्य सहदेवस्य अग्रे पूज्यनिर्णयस्य कर्तुम् उचितत्वात्. न च पूजाधिकारोऽपि मागधस्यैव अस्तु इति वाच्यम्, "बान्धवाः परिचर्यायां तस्यासन्" इति वचनेन च पाण्डवत्वस्यैव निश्चयात्, मागधस्य बान्धवत्वाभावात्. किञ्च सहदेवस्य मागधत्वे "तत्र सहदेवः साक्षात् पूर्णपरब्रह्मत्वं सर्वदोषरहितत्वं हेतुं मन्यमानः कृष्णे भगवति तत्साधयितुम् अब्रवीत्. स हि ज्ञानकलावतारः सर्वज्ञः द्वादशवार्षिक्यमेवं जानाति तथापि अपृष्टः न वदति. अत्र तु जिज्ञासायां सर्वे पृष्टा भवन्तीति भगवत्प्रेरणया अब्रवीद्" इति सहदेववचनारम्भे सुबोधिनी, वचनान्ते च "एवं युधिष्ठिरम् उक्त्वा स्वयम् उद्यमम् अकृत्वा तूष्णीम्भूतः, अन्यथा पूजार्थं स्वयम् उद्यम्य बलादेव सामग्रीं सम्पादयेत्. तत्र हेतुः कृष्णानुभावविद्" इति सुबोधिनी न सङ्गच्छते. तस्मात् पाण्डवः एव सहदेवः पूजाधिकारी. स एव वक्ता च.

अपरञ्च. मागधत्वे शिशुपालोऽपि स्वपक्षपाति-जरासन्धपुत्रवाक्यं श्रुत्वा "वृद्धानामपि यद् बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते" "मा मन्ध्वं बालभाषितम्" इति न निन्देत्. किञ्च देशदोषेण दुष्टो मागधो भगवन्माहात्म्यज्ञो न भवितुम् अर्हति. तथाच श्रीमदाचार्यचरणाः— "ननु भगवन्तं दृष्ट्वा भक्तिः

कथं न उत्पन्ना वस्तुसामर्थ्यात्, कथम् अवहेला इति आशङ्कायाम् आह मागधः इति. देशदोषात् न सद्‌बुद्धिः" इति सहदेवेऽपि स दोषः तदवस्थः. ननु पूर्वम् उक्तं नृसिंहलीलानुकरणत्वात् प्रह्लादत्वम् एतस्य, तेन भगवन्माहात्म्यज्ञोऽपि इति चेत्, तत्रापि उच्यते— अत्र वामन-नृसिंहावतारलीलाद्वयानुकरणं हि. अत्र ब्रह्मवेषेण याचनं वामनावतार-लीला. तथाच जरासन्धे बलित्वमपि सम्भाव्येत. तच्च न सर्वथा, भगवदादीनां "मन्दाः" इति सम्बोधनेन "न त्वया भीरुणा" इति भगवन्निन्दनवाक्याच्च. तन्न्यायेन न अस्य पुत्रस्यापि प्रह्लादत्वम्. तेन लीलानुकरणे लीलाप्रदर्शनमेव, न तदुपयोगिनां तत्त्वम्. अतएव "पूतनायन्ती शकटायन्ती" इत्यादीनां गोपीनां न दैत्यत्वं ; भक्तत्वमेव निर्बाधम्. तेन न कोऽपि शङ्कालेश इति दिक्.

नच वक्तव्यं "बान्धवा परिचर्यायाम्" इति वाक्येन बान्धवाग्रहात् न सहदेवो मागधः. तत्र उच्यते— अत्र न बान्धवाग्रहः, "परिवेषणे द्रुपदजा (कर्णो दाने महामनाः) युयुधानो विकर्णश्च हार्दिक्यो विदुरादयः बाह्लीकपुत्रा भूर्याद्या ये च सन्तर्दनादयः" एतस्मिन् वाक्ये भिन्नानामपि कर्माधिकारकथनात्. न हि द्रुपदजा पत्नी पितृव्यो विदुरः युयुधानो यादवः हार्दिक्यश्च सन्तर्दनादयो अन्ये युधिष्ठिरबान्धवाः भवितुम् अर्हन्ति. तर्हि वाक्यं कथं योजनीयम्? बान्धवाः तस्य प्रेमबन्धनाः आसन् अन्ये तु प्रेमरहिताः आसन् —एवं योजनीयम्. तस्मात् पूजाधिकारी वक्ता च मागध एव सहदेवः इति चेत्, न. अत्र पूजाधिकारो बान्धवानामेव. द्रौपद्याः पञ्चबन्धुपत्नीत्वेन बन्ध्वर्धाङ्गतया बन्धुत्वमेव. कर्णस्य मातृपुत्रत्वात् बन्धुत्वम्. सुबोधिन्याम् अत्र "युयुधानः सात्यकिः यादवोऽपि अर्जुनशिष्यः. विकर्णादयोऽपि बान्धवाः. बाह्लीकः शन्तनोः भ्राता. तस्य पुत्राः भूरिश्रवादयः सन्तर्द्दनादयश्च गोत्रजाः" इति. अत्र श्रीमदाचार्यैः बन्धुत्वमेव सर्वेषां प्रतिपादितम्. यादवानां पाण्डवानां च बन्धुत्वव्यवहारो भगवत्कृतः कृपया स्फुटः एव. पितृव्य-पितामहादीनां भ्रातृबन्धुव्यवहारो लोकसिद्धः एव. तेन पाण्डव एव सहदेवः पूजाधिकारी वक्ता च, न मागधः सर्वथैवेति अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या. भारतेऽपि भीष्मो युधिष्ठिरेण पृष्टः श्रीकृष्णमेव आदौ पूजनीयम् आह "तदा तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान् उपाजह्नेव विधिवत्

वार्ष्णेयायार्घ्यमुत्तमम्, प्रतिजग्राह तं कृष्णः शास्त्रद्रष्टेन कर्मणा''. एतेनापि सहदेवः पाण्डव एव निश्चितः.

त्रिसप्ततितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति —

... प्रद्युम्नशाल्वयोः ।
युद्धं त्रिनवरात्रं च ...

प्रद्युम्न इति. शाल्वस्य अल्पाच्त्वेऽपि प्रद्युम्नस्य पूर्वनिपातः अभ्यर्हितत्वाद् जयसूचकः. तत्र एवं विभागः — आद्यपद्ये शुकेन राज्ञः प्रोत्साहः. द्वितीयतृतीययोः शाल्वस्य पूर्ववृत्तान्तः. तुरीये शिवाराधन-धूलिभक्षणे. पञ्चमे रुद्रसन्तोषः. षष्ठे यानवरणम्. सप्तमे सौभमयस्मयरूपयानदानम्. अष्टमे शाल्वस्य द्वारवतीगमनम्. नवमे पुर्युद्यानभञ्जनम्. दशमे सर्वत्र शस्त्रवृष्टिः. एकादशे शिलादिसप्तकवृष्टिः. द्वादशे नगरीसन्तापः. त्रयोदश-चतुर्दश-पञ्चदशसु प्रजां सान्त्वयित्वा प्रद्युम्नादीनां युद्धाय गमनम्. षोडशे युद्धप्रवृत्तिः. सप्तदशे मायानाशः. अष्टादशे पञ्चविंशत्या शरैः शाल्वसैन्यपालताडनम्. एकोनविंशे ससैन्य-शाल्वताडनम्. विंशे शत्रुमित्रैः प्रद्युम्नप्रशंसा. एकविंशद्वाविंशयोः सौभवर्णनम्. त्रयोविंशे सात्वतयूथपैः सौभे शरमोकः. चतुर्विंशे शाल्वस्य मोहः. पञ्चविंशे यादवानां युधि स्थैर्यम्. षड्विंशे द्युमता प्रद्युम्नपीडनम्. सप्तविंशे सूतेन प्रद्युम्नापोवाहनम्. चतुर्भिः प्रद्युम्नेन सूतोपालम्भः. द्वात्रिंशत्त्रयस्त्रिंशता सूतप्रतिवचनम्. एवं त्रयस्त्रिंशत् श्लोकाः. इति त्रिसप्ततिः अध्यायसङ्ग्रहः.

चतुःसप्ततितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति —

... हरेरागमनं ततः ।
शाल्वस्य ...

लीलया वधः इत्यपकृष्यते. **हरेः** इति. **ततः** इन्द्रप्रस्थाद् **हरेः** द्वारकायाम् **आगमनम्** उद्धवमन्त्रणाद् इन्द्रप्रस्थं गतस्य. श्लोकपञ्चकस्तु पूर्वाध्यायशेषः. तत्र आद्ये देशितस्य प्रद्युम्नस्य सूतं प्रति द्युमत्समीपनयनाज्ञापनम्. द्वितीये शरैः द्युमद्वेधः. तृतीये अष्टभिः शरैः द्युमद्वाहादिवेधपूर्वकः मस्तकच्छेदः. चतुर्थे गदादिभिः सौभपतेः बलघातः. पञ्चमे त्रिनवरात्रं युद्धपरिसमाप्तिः.

षड्भिः भगवदागमनम्. द्वाभ्याम् इन्द्रप्रस्थाद् निष्क्रमः. एकं भगवद्वाक्ये. नवमे क्रन्दनवीक्षण-पुररक्षे. दशमे सूताज्ञापनम्. एकादशे गरुडप्रवेशदर्शनम्. द्वादशे श्रीकृष्णसूतोपरि शक्तिक्षेपः. त्रयोदशे तस्याः शतधा छेदः. चतुर्दशे षोडशशरैः शाल्ववेधः. पञ्चदशे शाङ्र्गधनुःपातः. षोडशे भक्तानां खेदः. सप्तदशे शाल्वदुर्वाक्ये. अष्टादशैकोनविंशतितमयोः भगवद्वाक्यम्. विंशे गदया शाल्वजत्रुछेदः. एकविंशे शाल्वान्तर्धानम्. द्वाविंशतिसार्धेन मायापुरुषवाक्यम्. त्रयोविंशे हरेः मानुषीप्रकृतिगमनम्. चतुर्विंशे भगवतः विस्मयवाक्यम्. पञ्चविंशे शाल्वेन मायिकं वसुदेवानयनम्. षड्विंशे शाल्वदुर्वचनम्. सप्तविंशे मायिकवसुदेवापराधः. अष्टविंशे भगवदुद्बोधः. नवविंशे शाल्वहननोद्यमः. त्रिंशे परमतकथनम्. द्वाभ्यां भगवति मोहासम्भवः. त्रयस्त्रिंशति शाल्वस्य वर्म-धनुः-शिरोमणिछेदः. चतुस्त्रिंशति सौभस्य तोये पातः. पञ्चत्रिंशति शाल्वस्य बाहुछेदः. षट्त्रिंशति शाल्वशिरच्छेदः. सप्तत्रिंशति देवानां हर्षः. अष्टत्रिंशति दन्तवक्त्रागमनम्. अष्टत्रिंशच्छ्लोकाः. एवम् अष्टात्रिंशत् श्लोकाः. इति चतुःसप्ततिः अध्यायसङ्ग्रहः.

पञ्चसप्ततितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति —

... **दन्तवक्त्रस्य तद्भ्रातुर्लीलया वधः ।**
तीर्थयात्राथ रामस्य मध्ये सूतवधस्ततः ॥
तत्पुत्रस्थापनं तत्र ...

दन्तवक्त्र इति. "शिशुपालस्य" इति द्वाभ्यां दन्तवक्त्रगमनम्. तृतीये श्रीकृष्णप्रतिगमनम्. त्रीणि दन्तवक्त्रस्य दुर्वचनानि. सप्तमे श्रीकृष्णे गदाक्षेपः. अष्टमे दन्तवक्त्रस्तनान्तरे गदया हननम्. नवमे दन्तवक्त्रस्य व्यसोः पातः. दशमे दन्तवक्त्रज्योतिषः श्रीकृष्णे आवेशः. एकादशद्वादशयोः विदूरथवधः. त्रिभिः द्वारवतीप्रवेशः श्रीकृष्णस्य देव-मनुष्यस्तुतस्य. षोडशे उपसंहारः कथायाः. **अथ**शब्दः स्वरूपपरावृत्तिबोधकः. **रामस्य तीर्थयात्रा** "श्रुत्वा युद्धोद्यमम्" इति चतुर्विंशत्या. तन्मध्ये "रोमहर्षणम्" इति सप्तभिः **सूतवधः**. सार्धसप्तभिः **तत्पुत्रस्य** उग्रश्रवसः **स्थापनम्**. द्वाभ्यां बल्वलवधप्रार्थनम्. एकेन तीर्थयात्राप्रार्थनम्. सप्तदशे यात्रारम्भः. अष्टादशे प्रभासयात्रा. एकोनविंशे तीर्थाष्टकम्. विंशे नैमिषगमनम्. एकविंशे शौनकादिकृते प्रणामार्चने. द्वाविंशे

सूतेक्षणम्. त्रयोविंशे सूतोपरि कोपः. चत्वारि कोपवाक्यानि. अष्टाविंशे कुशाग्रेण सूतवधः. एकोनत्रिंशे ऋषीणां खेदः. त्रिभिः ऋषिकृतप्रार्थनम्. त्रयस्त्रिंशच्चतुस्त्रिंशत्योः रामस्य ऋषिप्रार्थितकरणप्रतिज्ञा. पञ्चत्रिंशति विधेयप्रार्थना. षट्त्रिंशे सूतसुतस्थापनम्. सप्तविंशे रामेण पुनः ऋषयः प्रार्थिताः. त्रिभिः बल्वलवधप्रार्थनम्. एवं चत्वारिंशत् श्लोकाः. इति पञ्चसप्ततिः अध्यायसङ्ग्रहः.

षट्सप्ततितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति —

... **बल्वलस्य वधस्ततः ।**
यात्रा समस्ततीर्थानां ऋषिभिर्याजनं बलेः ॥

बलेः बलभद्रस्य ; बल् प्राणने, सम्वर्धातुभ्यः इन् छन्दानुरोधात्. **बल्वलस्य** इति.

अष्टाभिर्बल्वलवधं चतुर्दशभिरेव तु ।
तीर्थयात्रा बलकृता कुरुक्षेत्रे तु सप्तभिः ॥
गतिर्निवारणं युद्धाद्यजनं सार्धपञ्चभिः ।

तत्र एवं विभागः. आद्ये बल्वलागमनम्. द्वितीये यज्ञशालायाम् अमेध्यवृष्टिः. तृतीये बलेन बल्वलः दृष्टः. तुर्ये हलमुशलस्मरणम्. पञ्चमे बलेन हलेन बल्वलमाकृष्य तन्मूर्ध्नि मुशलेन हननम्. षष्ठे मृतबल्वलस्य पातः. सप्तमे ऋषिभिः बलभद्रस्य स्तुत्याशीरभिषेकाः कृताः. अष्टमे ऋषिभिः बलदेवाय वैजयन्ती-दिव्यवासाभरणादिदानम्. नवमादि-सार्धत्रयोदशश्लोकैः समस्ततीर्थयात्रा. चतुश्चत्वारिंशत् तीर्थानि— कौशिकी-मानसरोवर-सरयु-प्रयाग-पुल्हाश्रम-गोमती-गण्डकी-विपाशा-शोण-गया-गङ्गासागर-महेन्द्राचल- सप्त-गोदावरी-वेणा-पम्पा-भीमरथी-स्कन्द-श्रीशैल-वेंकटाद्रि-कामकोष्ण्यः. काञ्ची-कावेरी-श्रीरङ्ग-ऋषभाद्रि-दक्षिणमथुरा-समुद्रसेतु-कृतमाला-ताम्रपर्णी- मलय-दक्षिणार्णव-कन्यादेवी-फाल्गुन-पञ्चाप्सरस-केरल-त्रिगर्तक-गोकर्ण- आर्या-द्वैपायनी-शूर्पारक-तापी-पयोष्णी-निर्विन्ध्या-दण्डक-रेवा-महिष्मतिपुरी- मनुतीर्थ -प्रभासाः. सप्तभिः कुरुक्षेत्रगमनम्. तत्र आद्ये भूभारहरणमननम्. द्वितीये कुरुक्षेत्रगमनम्. तृतीये युधिष्ठिरादीनां रामदर्शनाद् भयम्. चतुर्थे रामेण गदायुद्धं दृष्टम्. पञ्चमषष्ठयोः द्वे निवारणवाक्ये. सप्तमे रामवाक्याग्रहणम्. एकोनत्रिंशे

रामस्य द्वारवतीगमनम्. **याजनं बलेः** सार्धपञ्चभिः. त्रिंशे नैमिषे ऋषिभिः बलस्य याजनम्. एकत्रिंशे ज्ञानदक्षिणा. द्वात्रिंशे ज्ञातिबन्धुसुहृद्भिः स्वपत्न्या अवभृथस्नानम्. त्रयस्त्रिंशे रामचरित्रानन्त्यम्. चतुस्त्रिंशे विष्णुदयितत्वं फलम्. एवं सार्धचतुःत्रिंशत् श्लोकाः. इति षट्सप्ततिः अध्यायसङ्ग्रहः.

सप्तसप्ततितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति —

भक्तानां जन्मसाफल्यम् ...

भक्तानाम् इति. पञ्चचत्वारिंशता **भक्तानां** सुदाम्नः परिकराणां **जन्मनः साफल्यं** भगवत्कृपया. तत्र विभागः एवम् — चतुर्भिः राजप्रश्नः. एकं सूतवाक्यम्. द्वाभ्यां सुदाम्नः पूर्ववृत्तान्तः. एकेन पतिव्रतायाः पतिसमीपगमनम्. सार्धत्रिभिः स्त्रीवचनानि. सार्धेन द्वारिकागमननिश्चयः. सार्धेन उपायनसम्पादनम्. सार्धत्रिभिः सुदाम्नः हरिमन्दिरप्रवेशः. पञ्चभिः सुदाम्नः पूजा. एकेन हरिपत्न्या चामरव्यजनकरणम्. एकेन अन्तःपुरजनविस्मयः. द्वे तेषां वचने. एकेन भगवत्सुदाम्नः वार्ताकरणोद्यमः. सप्तभिः साधारणवार्ता. पञ्चभिः इन्धनानयनप्रसङ्गः. त्रीणि गुरुवाक्यानि. एकम् अतिदेशवाक्यम्. द्वाभ्यां सुदाम्नः प्रार्थना. एवं पञ्चचत्वारिंशत् श्लोकाः. इति सप्तसप्ततिः अध्यायसङ्ग्रहः.

अष्टसप्ततितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति —

... **पृथुकाख्यानमेव च ।**

पृथुक इति.

वाक्योद्यमो हरेर्वाक्यमदानं चिन्तनं हरेः ।
स्वयं च हरणं तृप्तिवाक्यं श्रीप्रतिषेधनम् ॥
सुखं स्वगेहगमनं स्वयं कृष्णान्न याचनम् ।
मार्गे विचारो मनसि निजमन्दिरदर्शनम् ॥
मीमांसा प्रत्युद्गमनं स्वपत्नीदर्शनं गतिः ।
पदार्थवर्णनं गेहे समृद्धेरवलोकनम् ॥
तर्को विषयभोगाश्च प्रशंसा चक्रपाणिनः ।
विप्रस्य मोक्षः श्रवणे फलं बन्धविमोचनम् ॥

द्वाभ्यां वाक्यं च सार्धाभ्यामेकेन द्व्यैक्यमेकतः ।
द्वाभ्यामेकत्रिकात् षड्भिः सार्धाभ्यामेकमेकतः ॥
त्रिभिरेकेन पञ्चभ्यश्चतुर्भ्यः परिपूरणम् ।

एवम् एकचत्वारिंशत् श्लोकाः. इति अष्टसप्ततिः अध्यायसङ्ग्रहः.

एकोनाशीतितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति —

सूर्योपरागे निखिलैः कुरुक्षेत्रे समागमः ।
बन्धुभिर्वासुदेवस्य गोपिका परिसान्त्वनम् ॥

सूर्य इति. सूर्यस्य समीपे **रा** राहोः **आगे** आगमने निर्मिते सति **कुरुक्षेत्रसमीपे** सन्निहितसरसि **वासुदेवस्य** मोक्षदातुः **निखिलैः बन्धुभिः** सह **सम्यगागमनं** द्वारवत्याः, मिलापो वा. **वासुदेवस्य** इति दैहलीदीपकन्यायेन गोपिकाभिरपि सम्बध्यते, कर्तरि षष्ठी च. पूर्वान्वये सम्बन्धे षष्ठी.

तत्र एवं स्थूलविभागः — एकत्रिंशता सर्वसमागमः, ''त्रिंशल्लक्षणवान् राज्ञ... सर्वात्मा'' इतिवाक्यात्. अष्टादशविधाभिः (/धैः !) **गोपिकापरिसान्त्वनम्.**

मध्यमविभागस्तु — सार्धैकादशभिः कुरुक्षेत्रागमन-स्नान-दान-भोजन-उपवेशनानि. सार्धैः षड्भिः सर्वबन्धुदर्शनं परिष्वङ्गाभिवादनाशीर्वाद-कुशलप्रश्नादीनि. त्रयोदशभिः परस्परसम्भाषणोपालम्भ-दुःखनिवेदनार्चन-नामप्रशंसादयः. अष्टाभिः नन्दयशोदादि-वसुदेव-देवकी-रोहिण्यादि-समागमाश्लेष-भाषण-प्रशंसादयः. दशभिः गोपिकाश्लेषानामयप्रश्न-रहस्यवार्ता-ज्ञानदानप्रार्थनादयः.

सूक्ष्मविभागस्तु — आद्ये सूर्योपरागसम्भवः माघे अमावास्यायाम्. द्वितीये तं ज्ञात्वा मनुजानां समन्तपञ्चकयानम्. तृतीये परशुरामेण तत्र महारुद्रकरणम्. तुरीये परशुरामयागः. पञ्चमषष्ठयोः भारतीप्रजायाः सवृष्ण्याद्यायानम्. सप्तमे अनिरुद्धादीनां रक्षाद्यधिकारः. अष्टमे गजादीनां रोचिः. नवमे तत्र स्नानादिकम्. दशमे दान-मोक्ष-स्नानादि. एकादशद्वादशयोः स्वर्णदानानुज्ञा-भोजनोपवेशन-दर्शनानि. त्रयोदशचतुर्दशयोः मत्स्यादि-नन्दगोप्यादीनां दर्शनम्. पञ्चदशे पुरुषाणां परस्परमाश्लेषः, षोडशे स्त्रीणाम्. सप्तदशे अभिवादनादयः. अष्टादशे पृथायाः सुहृद्दर्शनम्. एकोनविंशविंशयोः वसुदेवोपालम्भः. एकविंशद्वाविंशयोः वसुदेवस्य

दैन्यम्. त्रयोविंशे वसुदेवोग्रसेनाद्यैः नृपार्चनम्. त्रिषु भीष्मादीनां नामानि. सप्तविंशे राज्ञां श्रीकृष्णदर्शनं कृष्णप्रशंसोद्यमः. त्रिषु कृष्णपरिग्रहप्रशंसा. तत्र आद्ये हरिदर्शनदौर्लभ्यम्. त्रिंशे हरियशःआदीनां माहात्म्यम्. एकत्रिंशे यादवानां कृतकृत्यता. द्वात्रिंशे नन्दस्य सपरिकरस्य वसुदेवावमोचने आगमनम्. त्रयोत्रिंशे वृष्णीनां नन्दपरिष्वङ्गः. चतुस्त्रिंशे वसुदेवनन्दपरिष्वङ्गः. पञ्चत्रिंशे श्रीकृष्णरामयोः नन्दयशोदापरिष्वङ्गः. षट्त्रिंशे यशोदया श्रीकृष्णरामयोः उत्सङ्गारोपण-परिरम्भौ. सप्तत्रिंशे रोहिणीदेवक्योः यशोदापरिष्वङ्गः. अष्टात्रिंशदेकोनचत्वारिंशत्योः रोहिणीदेवकीभ्यां यशोदाप्रार्थना. चत्वारिंशे घोषसीमन्तिनीनां श्रीकृष्णदर्शनेन भगवद्भावः. एकचत्वारिंशे श्रीकृष्णेन एकान्ते आश्लेषानामयप्रश्न-प्रहासवचनानि. द्विचत्वारिंशे स्मृतिप्रश्नः. त्रिचत्वारिंशे असूयाप्रश्नः. चतुःचत्वारिंशे पारतन्त्र्यम्. पञ्चचत्वारिंशे भक्तिमाहात्म्यम्. षट्चत्वारिंशे स्वमाहात्म्यम्. सप्तचत्वारिंशे अध्यात्मशिक्षा. अष्टचत्वारिंशे गोपीनां श्रीकृष्णाधिगमनम्. एकोनपञ्चाशत्यां चरणारविन्दस्य मनस्युदयप्रार्थना. पूर्तिः अध्यायस्य. एवम् एकोनपञ्चाशत् श्लोकाः. इति एकोनाशीतिः अध्यायसङ्ग्रहः.

अशीतितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति —

कृष्णभार्याविवाहानां कथनं ...

कृष्णभार्या इति. कृष्णस्य भार्या गोपिका महिष्यश्च भर्तुं योग्या युधिष्ठिरादयश्च. भार्याणां विवाहानां च कथनम्. यद् वा कृष्णभार्याभिः विवाहानां कथनम्. विवाहो वरणं, परमानुग्रहः इति यावत्. तदुक्तं "तथानुगृह्य भगवान्" इत्यादि त्रिचत्वारिंशता. आद्ये अनुग्रहः गोपिकासु, कुशलप्रश्नः युधिष्ठिरादिषु. द्वितीये सर्वेषां हर्षः. तृतीयचतुर्थयोः राज्ञां प्रार्थना. पञ्चमे विवाहकथाप्रसङ्गः. द्वाभ्यां द्रौपद्याः प्रश्नः. अष्टमे रुक्मिणीविवाहवार्ता. "ममार्चनाय" इत्युक्तत्वाद् इयम् अर्चनभक्तिरूपा. नवमे सत्यभामायाः. श्रवणरूपं ... "कर्णे कर्णे जपन्". दशमे जाम्बुवत्याः. स्मरणरूपा, सीतापतिं स्मृत्वा दत्तत्वात्. एकादशे कालिन्द्याः पादसेवनरूपायाः, "स्वपादस्पर्शकाम्यया" इत्युक्तत्वात्. द्वादशे मित्रविन्दायाः कीर्तनरूपायाः,

कीर्त्यमाने स्वयंवरे उपेत्य नीतत्वात्. द्वयोः सत्यायाः दास्यरूपायाः, "तद्दास्यमस्तु मे" इत्युक्तत्वात्. द्वयोः भद्रायाः वन्दनरूपायाः, "अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेद्" इति वन्दने मस्तके पादसंस्पर्शस्य जातत्वात्. चतुर्दशभिः लक्ष्मणायाः सख्यरूपायाः, सख्यस्य साप्तपदीनस्य जीवद्वयसाध्यत्वात्. तत्र आद्ये लक्ष्मणायाः मुकुन्दे चित्तस्थितिः. अष्टादशे बृहत्सेनेन उपायः कृतः. एकोनविंशे द्रौपदीस्वयंवरस्मारणम्. विंशे सर्वभूपागमनम्. एकविंशे सर्वेषाम् अर्चनम्. द्वाविंशे धनुर्हतानां राज्ञां पातः. त्रयोविंशे मागधादिबलिष्ठानां मत्स्यावस्थित्यज्ञानम्. चतुर्विंशे अर्जुनशरेण मत्स्यस्पर्शः. द्वयोः भगवता मत्स्यच्छेदः. सप्तविंशे देवानां हर्षः. अष्टाविंशे लक्ष्मणायाः रङ्गप्रवेशः. एकोनत्रिंशे मुरारेः अंसे मालानिधानम्. त्रिंशे पञ्चशब्दवाद्यवादनम्. एकत्रिंशे नृपाणाम् असहनम्. द्वात्रिंशे चतुर्भुजस्य भार्यया सह रथे स्थितिः. त्रयस्त्रिंशे दारुकेण रथप्रेरणम्. चतुस्त्रिंशे मार्गे राजपुत्रैः संरोधः. पञ्चत्रिंशे भगवता तेषां निपातः. षट्त्रिंशे भगवतः कुशस्थलीसमावेशः. सप्तत्रिंशे बृहत्सेनेन सुहृत्सम्बन्धिनां पूजनम्. अष्टात्रिंशे बृहत्सेनेन भगवते आयुधादिदानम्. एकोनचत्वारिंशे लक्ष्मणया भगवत्प्रार्थना. चतुर्भिः षोडशसहस्रमहिषीप्रार्थना. तत्र आद्ये सर्वासां विवाहवार्ता. एकचत्वारिंशे साम्राज्याद्यकामना. द्विचत्वारिंशे चरणरजःकामना. त्रिचत्वारिंशे व्रजस्त्रीणां प्रशंसा. अध्यायपूर्तिः. एवं त्रिचत्वारिंशत् श्लोकाः. इति अशीतिः अध्यायसङ्ग्रहः.

एकाशीतितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति —

... **विस्मयो नृणाम् ।**
ऋषीणां गमनं तत्र कृष्णेन प्रतिपूजनम् ॥
वसुदेवस्य सम्प्रश्नो नारदोक्तिरथोत्तरम् ।
याजनं तस्य ऋषिभिः प्रमोदोऽखिलदेहिनाम् ॥

विस्मय इति. प्रथमे पृथादि ऋष्यादि गोपिकान्तानां नृणां विस्मयः. चतुर्भिः **तत्र** विनशने **ऋषीणां गमनम्**. तत्र आद्ये ऋषीणां गमनम्. त्रिभिः ऋषीणां नामानि षड्विंशतिः. षष्ठादित्रयोदशान्तैः अष्टभिः **श्रीकृष्णेन ऋषीणां प्रतिपूजनम्**. तत्र आद्ये उत्थान-प्रणामौ. सप्तमे सप्तोपचारैः

ऋषीणाम् अर्चनम्. अष्टमे वाचनिकोद्यमः. पञ्च भगवद्वचनानि. तत्र आद्ये स्वप्राकट्यसाफल्यम्. दशमे अस्य फलत्वे तर्कः. एकादशे तीर्थदेवापेक्षया साधुप्रशंसा. द्वादशे अग्न्याद्यपेक्षया साधुप्रशंसा. त्रयोदशे साध्वपेक्षया सर्वेषां निन्दा. चतुर्दशे मुनीनां धीभ्रमः. पञ्चदशे विचार्य वचनोद्यमः. एकादशभिः मुनीनां प्रतिवचनम्. तत्र आद्ये भगवन्मायया विश्वसृजामपि मोहः. सप्तदशे भगवच्चरित्रस्य परस्परविरोधः. अष्टादशे स्वजनगुप्तये सत्वधारणम्. एकोनविंशे ब्राह्मणोत्कर्षः. विंशे भगवतः ब्रह्मरक्षकत्वम्. एकविंशे स्वकृतकृत्यता. द्वाविंशे पञ्चरूपाय भगवते नमनम्. त्रयोविंशे भगवदज्ञानं भूप-वृष्णीनाम्. द्वयोः दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकौ. षड्विंशे कृष्णप्रार्थनम्. सप्तविंशे मुनीनां जिगमिषा. **वसुदेवस्य सम्प्रश्नः** द्वाभ्याम्. आद्ये वसुदेवस्य मुनीनां समीपे गमनम्. द्वितीये प्रश्नः. **नारदोक्तिः** चतुर्भिः. तत्र आद्ये वसुदेवस्य कृष्णे अर्भकभावः. एकत्रिंशे सन्निकर्षस्य अनादरकारणता. युगलेन कृष्णमाहात्म्य-वसुदेवदोषौ. चतुःत्रिंशे वचनोद्यमः. **अथ** भिन्नप्रक्रमेण ऋषिदत्तः वसुदेव**प्रश्नोत्तरः** सप्तभिः. तत्र आद्ये विष्णुयागेन कर्मनिर्हारः. षट्त्रिंशे यागस्य धर्मत्वम्. सप्तत्रिंशे यागस्य सुमार्गत्वम्. अष्टात्रिंशे दूषणत्रयपरित्यागः. एकोनचत्वारिंशे ऋणत्रयापाकरणस्य आवश्यकत्वम्. चत्वारिंशे ऋणत्रयापाकरणोपायः. एकचत्वारिंशे देवार्चनाज्ञा तत्र कुरुक्षेत्रे. **तस्य** वसुदेवस्य **ऋषिभिः याजनं** चतुर्दशभिः विद्यारूपैः. तत्र आद्ये वसुदेवस्य ऋत्विग्वरणम्. द्वितीये याजनम्. तृतीये राजवृष्णीनाम् अलङ्कारः. षट्चत्वारिंशे महिषीणाम् अलङ्कारः. सप्तचत्वारिंशे वाद्यनृत्यानि. अष्टचत्वारिंशे गानाभिषेकौ. नवचत्वारिंशे वसुदेवशृङ्गारः. पञ्चाशति ऋत्विक्शृङ्गारः. एकपञ्चाशति श्रीरामकृष्णयोः सपरिवारयोः शृङ्गारः. द्विपञ्चशति प्राकृतविकृतयागैः यजनम्. त्रिपञ्चाशति ऋत्विग्भ्यः दक्षिणादानम्. चतुःपञ्चाशति अवभृथस्नानम्. पञ्चपञ्चाशति बन्दिभ्यः वस्त्रादिदानम्. **अखिलदेहिनां प्रमोदः** सप्तदशभिः प्रजापतिरूपैः. सार्धेन बन्धुपूजनम्. अर्धे प्रशंसतां बन्धूनां गमनम्. द्वयोः धृतराष्ट्रादीनां गमनम्. एकादशभिः नन्दवृत्तान्तः. तत्र आद्ये वसुदेवेन नन्दसम्प्रश्नः. षष्ट्यां वसुदेवेन नन्दकरग्रहणम्. एकषष्टितः चत्वारि वसुदेववाक्यानि. तत्र आद्ये स्नेहपाशस्य दुस्त्यजत्वम्. द्वितीये नन्दमैत्र्याविफलत्वम्. त्रिषष्ट्यां स्वस्य

प्रत्युपकारकरणे असामर्थ्यम्. चतुर्थे श्रीमदनिन्दनम्. षट्षष्टितमे वसुदेवरुदनम्. सप्तषष्टितमे नन्दस्य मासत्रयं वासः. अष्टषष्टि-नवषष्ट्योः नन्दस्य गृहीतपारिबर्हस्य गोकुले गमनम्. सप्ततौ गोपगोपीनां गमनम्. एकसप्ततौ वृष्णीनां द्वारवतीप्रवेशः. द्वासप्ततौ द्वारकास्थेभ्यः कथनम्. अध्यायपूर्तिः. एवं द्वासप्ततिः श्लोकाः. इति एकाशीतिः अध्यायसङ्ग्रहः.

॥ इति श्रीमद्गोस्वामि-मथुरानाथात्मज-गोस्वामिश्रीद्वारिकेश्वरविरचिता दशमोत्तरार्धानुक्रमणिकायां सात्त्विकप्रमेय-साधन-फलप्रकरणव्याख्या ॥

॥ पुरुषोत्तमनामसहस्रे सात्त्विकप्रमेयप्रकरणगतानि नामानि ॥
(९५६-९७८)

नृगापापप्रभेत्ता च ब्रह्मस्वगुणदोषदृक्।
विष्णुभक्तिविरोधैकब्रह्मस्वविनिवारकः ॥१॥
बलभद्राहितगुणो गोकुलप्रीतिदायकः।
गोपीस्नेहैकनिलयो गोपीप्राणस्थितिप्रदः ॥२॥
वाक्यातिगामियमुना-हलाकर्षणवैभवः।
पौण्ड्रकत्याजितस्पर्धः काशीराजविभेदनः ॥३॥
काशीनिदाहकरणः शिवभस्मप्रदायकः।
द्विविदप्राणघाती च कौरवाखर्वगर्वनुत् ॥४॥
लाङ्गलाकृष्टनगरी-संविग्नाखिलनागरः।
प्रपन्नाभयदः साम्बप्राप्तसन्मानभाजनम् ॥५॥
नारदान्विष्टचरणो भक्तविक्षेपनाशकः।
सदाचारैकनिलयः सुधर्माध्यासितासनः ॥६॥
जरासन्धावरुद्धेन विज्ञापितनिजक्लमः।
मन्त्र्युद्धवादिवाक्योक्तप्रकारैकपरायणः ॥७॥

॥ पुरुषोत्तमनामसहस्रे सात्त्विकसाधनप्रकरणगतानि नामानि ॥
(९७९-९८७)

राजसूयादिमखकृत् सम्प्रार्थितसहायकृत्।
इन्द्रप्रस्थप्रयाणार्थ-महत्सम्भारसम्भृतिः ॥१॥
जरासन्धवधव्याजमोचिताशेषभूमिपः।
सन्मार्गबोधको यज्ञक्षितिवारणतत्परः ॥२॥
शिशुपालहतिव्याज-जयशापविमोचकः।
दुर्योधनाभिमानाब्धि-शोषबाणवृकोदरः ॥३॥
महादेववरप्राप्त-पुरशाल्वविनाशकः।

॥ पुरुषोत्तमनामसहस्रे सात्त्विकफलप्रकरणगतानि नामानि ॥
(९८८-१००२)

दन्तवक्त्रवधव्याज-विजयाघौघनाशकः ।
विदूरथप्राणहर्ता न्यस्तशस्त्रास्त्रविग्रहः ॥१॥
उपधर्मविलिप्ताङ्गः सूतघाती वरप्रदः ।
बल्वलप्राणहरण-पालितर्षिश्रुतिक्रियः ॥२॥
सर्वतीर्थाघनाशार्थ-तीर्थयात्राविशारदः ।
ज्ञानक्रियाविभेदेष्ट-फलसाधनतत्परः ॥३॥
सारथ्यादिक्रियाकर्ता भक्तवश्यत्वबोधकः ।
सुदामरङ्कभार्यार्थ-भूम्यानीतेन्द्रवैभवः ॥४॥
रविग्रहनिमित्ताप्तकुरुक्षेत्रैकपावनः ।
नृपगोपीसमस्तस्त्री-पावनार्थाखिलक्रियः ॥५॥
ऋषिमार्गप्रतिष्ठाता वसुदेवमखक्रियः ।

॥ त्रिविधनामावल्यां सात्त्विकप्रमेयप्रकरणगतानि नामानि ॥

दानादिधर्मबोधकाय नमः[१] नृगमोक्षहेतवे नमः[२] ब्रह्मण्याय नमः[३] पुष्टिमार्गप्रवर्तकाय नमः[४] यमुनाकर्षणहेतवे नमः[५] स्पर्धादिदुष्टविमोचकाय नमः[६] पौण्ड्रक-काशीराजहन्त्रे नमः[७] देवतान्तरवरदृप्तगर्वनाशकाय नमः[८] काशीदाहकाय नमः[९] दुष्टनिवासदोषनाशकाय नमः[१०] मुक्तिहेतवे नमः[११] दुःसङ्गदृप्तद्विविदादिवधहेतवे नमः[१२] राज्यादिदृप्तकौरवगर्वनाशकाय नमः[१३] मर्यादाभक्तिदृप्तभक्तमोहनाशकाय नमः[१४] जीवाधिकारशास्त्रगर्वनाशकाय नमः[१५] सुधर्मालङ्कृतचरणाय नमः[१६] भक्तापेक्षावभासहेतवे नमः[१७] उद्धवादिबुद्ध्यनुसारिणे नमः[१८].

।। त्रिविधनामावल्यां सात्त्विकसाधनप्रकरणगतानि नामानि ।।

जीवधर्मावबोधकाय नमः[१] हीनधर्मावलम्बनजीवकार्यकर्त्रे नमः[२] भक्तज्ञानहेतवे नमः[३] पुष्टिनिमित्तज्ञापकाय नमः[४] राजसूयादिप्रवर्तकाय नमः[५] शिशुपालादिभक्तवैकुण्ठप्राप्तिहेतवे नमः[६] युधिष्ठिरादिभक्तगर्वनाशकाय नमः[७] प्रद्युम्नादियादवगर्वप्रहारकाय नमः[८] तपस्यादिदृप्तशाल्वादिघातकाय नमः[९] पुण्यादिहीनधर्मज्ञापनहेतवे नमः[१०] मुख्यसिद्धान्तप्रवर्तकाय नमः.[११]

।। त्रिविधनामावल्यां सात्त्विकफलप्रकरणगतानि नामानि ।।

दन्तवक्त्र-विदूरथादिमुक्तिहेतवे नमः[१] क्षत्रियधर्मनाट्योपसंहारकाय नमः[२] न्यस्तशस्त्राय नमः[३] बलदेवतीर्थयात्राप्रवर्तकाय नमः[४] सूतघातकाय नमः[५] पार्थसारथये नमः[६] अव्यक्तगीतामृतमहोदधिप्रवर्तकाय नमः[७] कौरवबलान्तकर्त्रे नमः[८] इतरपक्षपातनाशकाय नमः[९] सुदामरङ्कभार्यार्थिभूम्यानीतेन्द्रवैभवाय नमः[१०] हेतुस्थापकाय नमः[११] देशकालादिधर्महेत्वनुसारिणे नमः[१२] वाचोत्सवप्रवर्तकाय नमः[१३] अखिलनयनामृताब्धिपूरकाय नमः[१४] गोपिकादिसाक्षात्कारहेतवे नमः[१५] रुक्मिण्यादिभक्तिस्थापकाय नमः[१६] सन्मार्गस्थापकाय नमः[१७] वसिष्ठादिसेवितचरणाय नमः[१८] वसुदेवयज्ञमहोत्सवकर्त्रे नमः.[१९]



॥ दशमोत्तरार्ध-सात्त्विकप्रकरणनिबन्धः ॥

अतः परं सात्त्विकानां प्रक्रिया विनिरूप्यते ।
नृगमोक्षादियज्ञान्ता वसुदेवस्य धीमतः ॥१॥
प्रमाणानां बलं त्वत्र सात्त्विकानां न मृग्यते ।
प्रक्रियात्रितयं त्वत्र प्रमेयादि निरूप्यते ॥२॥
स्नेहस्तेषां पूर्वसिद्ध आसक्तिश्चापि वै दृढा ।
व्यसनेनाऽभवन् शुद्धा राजसाः किन्तु दोषतः ॥३॥
संस्कारमात्रात् पुष्ट्या च सम्पत्त्या चोद्धृताः सदा ।
अतो दोषनिवृत्तिर्हि सर्वेषामत्र वर्ण्यते ॥४॥
नृगः पूर्वतनो भक्तः सात्त्विको धार्मिकस्तथा ।
अतिदानेन दुःखं स प्राप्य कृष्णेन मोचितः ॥५॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

अतोऽग्रे त्रयोदशाधिकशतेन सात्त्विकप्रकरणं सप्ताध्यायैः त्रिभिरवान्तरप्रकरणैः निरूपयन्ति **अतः परमित्यादिभिः**. कुत एतस्य प्रकरणस्य न्यूनतेत्याकाङ्क्षायामाहुः **प्रमाणानामित्यादि**. सत्त्वं हि प्रमाणं, ज्ञानरूपत्वाद् ज्ञानजनकत्वाच्च. अत्रोच्यमानास्तु तदुद्रिक्ता इति तेषां प्रमाणज्ञानस्य स्वाभाविकत्वेन तज्जनक**प्रमाणानां बलं** तत्प्रक्रियायां **न मृग्यते**. ते हि भगवन्तं नन्दकुमारं वसुदेवपुत्रमीश्वरं जानन्तीत्यतस्तथेत्यर्थः ॥१-२॥

ननु भवत्वेवं, तथाप्यस्मिन् प्रकरणे राजसास्तामसाश्च कुतो निरूप्यन्ते सङ्कीर्णत्वापादका इत्यत आहुः **स्नेह** इत्यादि. **व्यसनेन** इति व्यसनार्थम्. **दोषत** इत्यस्य विशेषणं **संस्कारमात्रादिति**. दोषस्तु रजःकृतो विक्षेपोऽत्र बोध्यः. तथाच तेषां निरूपणस्य दोषनिवारणार्थत्वेन प्रासङ्गिकत्वान्न तेन रूपेण तेषां प्रकरणित्वं किन्तु निवृत्ते दोषे सात्त्विकत्वेनेति तथैव तामसानामपीति न साङ्कर्यप्रयोजकतेत्यर्थः. तर्हि नृगात् कुतः प्रकरणारम्भ इत्यत आहुः **नृग** इत्यादि. **प्राप्येति** स्थित इति शेषः. **प्राप्त** इति वा पाठः. **मोचित** इति प्रमेयबलेन मोचितः. अनेन प्रमेयबलकरणकस्य दोषनिवारणस्यात्र निरूपणादस्य 'प्रमेयप्रकरणे'ति समाख्या सेत्स्यतीति बोद्धव्यम् ॥३-५॥

नन्वेतादृशस्य धार्मिकस्य कुतो दोषोत्पत्तिर्येन मन्वन्तरप्रथमयुगोत्पन्नस्य

आज्ञेच्छाऽभावतो दोषमभिमानात्तु केचन ।
अत्यन्तमाग्रहो धर्मे विचारादेरभावतः ॥६॥
दुःखभोगाय भवति कृष्णादन्यत्र सर्वथा ।
भक्तियोगे तु भगवांस्तादृशं चापि मोचयेत् ॥७॥
तथा यथा न कुरुते तदर्थं तादृशं हरिः ।
कृकलासं सर्ववध्यं सर्वक्षोभाच्चकार ह ॥८॥
यथैको ब्राह्मणः क्रुद्धस्तथैवैकत्र कर्मणि ।
यावन्तो योगमापन्नास्तावतां क्लेशदं तु तत् ॥९॥
अतोऽन्यत्र व्यसनिनो धर्मादिषु यथायथम् ।
दुःखभाजो भवन्त्येव तस्मात् कृष्णे तदाचरेत् ॥१०॥
असङ्ख्यातत्वकथने दृष्टान्तत्रयमीरितम् ।
तामसादिविभेदेन गुणाश्चापि त्रिधा मताः ॥११॥
अतस्तामसधर्मेषु भ्रमस्तस्य फलिष्यति ।
अतोऽत्र धर्मनिर्धारे दोषाभावो गुणः स्मृतः ॥१२॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

अष्टाविंशद्वापरान्तं दुःखमित्याकाङ्क्षायामाहुः **आज्ञेत्यादि.** आज्ञा चेच्छा चाज्ञेच्छे, तयोरभावतः **दोषमिति** प्राहुरिति शेषः. एतत्कथोपनिबन्धनप्रयोजनमाहुः **अत्यन्तेत्यादिसार्धैः** पञ्चभिः. **न कुरुत** इति, भगवदतिरिक्ते आग्रहं न कुरुते. **सर्ववध्यं सर्वक्षोभादिति.** तदुक्तं बृहदारण्यके सप्तान्नब्राह्मणे "प्राणभृतः प्राणं न छिन्द्यादपि कृकलासस्ये"ति. अर्थस्तु— अमावास्याया रात्रौ कस्यापि प्राणिनः प्राणविच्छेदं न कुर्यात्. किं बहुना, कृकलासस्यापि प्राणं न विछिन्द्यात्. स हि पापात्मा दृष्टोऽप्यमङ्गल इति कृत्वा स्वभावेनैव सर्वैः प्राणिभिर्हिंस्यते इति तद्व्याख्यानात् ॥६-८॥

ननु तर्हि अत्र सर्वक्षोभाभावात् कथं कृकलासत्वमित्यत आहुः **यथैक** इत्यादि. ननु यदि तस्य नाभिमानस्तदा "यावत्य सिकता भूमेरि"त्यादिदृष्टान्तं कुत उक्तवानित्यत आहुः **असङ्ख्यातेत्यादि. त्रिधा मता** इति, "ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्ये"त्यनेनोक्ताः. **अत** इति त्रैविध्यकथनात्. यदि तस्य तेषु भ्रमो न स्याद् दास्यरूपमेकमेव गुणं वदेत् न तु त्रयम्. तेन सिद्धमाहुः **अतोऽत्रेत्यादिद्वाभ्याम्. दोषाभाव**

गुणस्तु दोष एव स्यादिति दानं तथोदितम् ।
धर्ममार्गे ब्राह्मणानां क्षोभं नैव समाचरेत् ॥१३॥
मुख्ये तु सर्वभूतानां न किञ्चित् तस्य नश्यति ।
तथाऽर्थे बान्धवानां च कामे स्वात्मनि तत्तथा ॥१४॥
मोक्षे त्वीशस्य सततं चतुर्भिस्तन्निरूप्यते ।
यथा नृगस्य धर्मो न यमुनायास्तथा निजः ॥१५॥
स्वार्थः सिद्धस्तथा कामः पौण्ड्रकस्य तथा गतिः ।
द्विविदस्यापि नो सिद्धस्तत्तन्मूलविरोधतः ॥१६॥
अनिरुद्धे द्वयोः कार्यं तेन कृष्णो बलस्तथा ।
अन्तरान्तरभावेन भिन्नार्थविनिवारकौ ॥१७॥
यमुनाकर्षणं कार्यं पश्चाज्जाताश्च गोपिकाः ।
श्रुतपूर्वा बलं दृष्ट्वा रेमिरे लौकिकास्तु ताः ॥१८॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

इति आग्रहाभावः. **तथोदितमिति** दोषजनकत्वेनोदितम्. अत्रैश्वर्यकार्यत्वं स्फुटम्. एवं प्रथमाध्यायो विचारितः ॥९-१२ १/२॥

द्वितीयाध्यायं विचारयन्तः चतुरध्यायीसिद्धं निषेध्यमर्थमाहुः **धर्मे**त्यादि. **मुख्य** इति भगवद्धर्ममार्गे. उदाहरणं स्फुटीकुर्वन्ति **यथे**त्यादिसार्धेन. ब्राह्मणक्षोभेन नृगस्य धर्मासिद्धिः. **बान्धवो** यमस्तस्य क्षोभः श्रौते यमयमीसंवादे. तेन **यमुनाया निजः स्वार्थो** भगवत्प्राप्तिरूपो **न सिद्धः**. **तथा स्वात्मनि** मात्सर्यरूपात् क्षोभात् **पौण्ड्रकस्य कामो** लोकप्रतिष्ठारूपो **न सिद्धः**. **ईशस्य** श्रीबलदेवस्य क्षोभान्मोक्षो **गतिर्द्विविदस्य न** सिद्धा. तथाच एतच्चतुष्टयनिवारणार्थम् एतदध्यायचतुष्टयमित्यर्थः ॥१३-१६॥

नन्वत्र भगवल्लीलामध्ये बलदेवचरित्रं किमित्युच्यते? तत्राहुः **अनिरुद्ध** इत्यादि. अनिरुद्धव्यूहे **द्वयोः** सङ्कर्षणानिरुद्धयोः **कार्यम्**. न हि धर्मरक्षारूपं कार्यं प्रतिपक्षिनिग्रहं विना सिद्ध्यति. **तेन कृष्णो बलस्तथा** बलभद्रश्च **अन्तरान्तरे**त्यादिना प्रकारेणोक्तावित्यर्थः. तथाशब्दश्चकारार्थः. तथाच अत्र व्यूहद्वयकार्यं सङ्कीर्णत्वबोधनायैवं कथनमित्यर्थः. अध्यायार्थमाहुः **यमुने**त्यादि. **कार्यमिति** वीर्यकार्यम्. **लौकिका** इति. लौकिक्यः ब्रह्मशप्तवाक्रूपास्तत्तुल्या वा इति प्रतिभाति ॥१७-१८॥

सात्त्विकास्तु परं सङ्गाद् दोषस्तासां च नाश्यते ।
गोपीनां कृष्णदेवस्य शिष्टानां सात्त्विकत्वतः ॥१९॥
सत्सङ्गात् सुखमुत्पन्नं नित्यं कृष्णकथा यतः ।
देवादीनां तु सम्मत्यै दैत्यानां देवरूपिणाम् ॥२०॥
मधुधारादिकं प्रोक्तं वस्त्रदानादिकं तथा ।
कामो लोके हि सन्मानं कृष्णत्वे तद् भवेद् ध्रुवम् ॥२१॥
पौण्ड्रकस्तु ततो जातो मात्सर्यात् कृष्णरूपधृक् ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

प्राथमिकीनां किमत्र सिद्धमित्याकाङ्क्षायामाहुः **सात्त्विका** इत्यादि. श्रीबलदेवसङ्गात् तद्वाक्यैः भगवत्प्रमितिशालिन्यः सत्यः सात्त्विक्यो जातास्**तासां गोपीनां दोषः कृष्णदेवस्य** कृतघ्नत्वाद्यापादनरूपः सोऽपि **नाश्यत** इति सिद्धमित्यर्थः. श्रीनन्दादीनां यत्सिद्धं तदाहुः **शिष्टानामित्यादि.** इयं गोपिकाभिः सह लीला न केवलस्य बलस्य किन्तु भगवदाविष्टस्येति ज्ञापनायाहुः **देवादीनामित्यादि. देवादीनामित्यस्य वस्त्रदानादिकमित्यनेन** सम्बन्धः. एवं

निबन्धकठिनांशविवेचनम्

उत्तरार्धे सप्तदशाध्याये, आरम्भतस्त्रिषष्ठितमेऽध्याये वा. **पौण्ड्रको हि** वासुदेवत्वेन लोके प्रतिष्ठाकामः **कृष्णरूपधृग् जातः.** तदनन्तरं **मात्सर्यात्** स्ववेषमूले कृष्णे **विरोधं कृत्वा लोके नष्टः.** अलौकिके तु तस्य फलं जातं प्रमेयबलेन, यतः अवतारसमये कामादीनामसाधनानामपि साधनत्वं, "तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेदि"ति सिद्धान्तात्. परन्तु भगवद्विरोधिनामनुगमनं ये कुर्वन्ति तेषु व्यवस्थास्ति यद् भगवद्वचनेन भगवदविरोधेन वा कर्तव्यम्. यथामृतमन्थनप्रसङ्गे देवैर्दैत्यानुगमनं वचनेन. यथा दुर्योधनादीनामनुगमनं भगवदविरोधेनैव विदुरेण कृतम्. तथा सति न कोऽपि विनाशस्तेषाम्, अन्यथा तु विनाशः स्यादेव. यथा काशिराजस्य लौकिकाकारेण अनुगमनं कुर्वतः, अलौकिकप्रकारेणानुगमनं कुर्वतां काश्यादीनां चेति. एवं सति मूलश्लोकयोजना त्वेवं कर्तव्या— **तीर्थदेवक्षेत्रैः** स्वभक्तभक्त्या **तुष्टैरपि कुत्रापि** कार्ये भगवद्विरोधिनां स्वभक्तानामनुगमनं **वाक्येनाविरोधेन वा कर्तव्यं न त्वन्यथा.** अतो वचनाविरोधाभावेऽपि कृष्णविरोधि-सुदक्षिणानुगमनकरणात् तीर्थरूपा **काश्यपि निर्दग्धा. महादेवोऽपि** वैदिकरूपवानग्न्यात्मको **वारितः. अन्यान्यपि** शिव**रूपाणि** भूत-प्रमथादीनि वारितानीत्यर्थः. फलितं सिद्धान्तमाहुः **प्रकटेत्यादि. प्रकटे मुरवैरिणि दोषोत्पत्ति**मात्रेणैव तीर्थदेवादिभिरपि स्वभक्ता अपि **दुष्टास्त्याज्या** एव, नतु दोषजकार्यकरणप्रतीक्षा कर्तव्या, भगवतः कृष्णस्य देवदेवत्वादिति भावः. **तेन** काश्यादीनां कृष्णविरोध्यनुगतत्वेन देवदेवेन कृष्णेन काशीदाहकरणं शिवप्रतिघातश्चात्र श्रीभागवत **उक्तः** भक्तिसिद्धान्ते **दूषणं** नेत्यर्थः ॥२२-२५॥

मूले कृत्वा विरोधं हि लोके नष्टस्तथाऽनुगः ॥२२॥
प्रमेयबलमासाद्य मुक्तः पूर्वो न चापरः ।
वाक्येनैव तु कर्तव्यमविरोधेन वा क्वचित् ॥२३॥
न त्वन्यथा तीर्थदेवक्षेत्रैर्भक्त्यापि कुत्रचित् ।
अतः काश्यपि निर्दग्धा महादेवोऽपि वारितः ॥२४॥
तथान्यान्यपि रूपाणि प्रकटे मुरवैरिणि ।
दोषोत्पत्त्यैव ते त्याज्यास्तेन नात्रोक्तदूषणम् ॥२५॥
पाण्डवादिसमस्तानां दोषोऽप्यत्र निवार्यते ।
तथा वैष्णवमुख्यस्य नारदस्य विरक्तये ॥२६॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

द्वितीयाध्यायो विचारितः ॥१९-२० १/२॥

तृतीयं विचारयन्ति **काम** इत्यादि. **तत** इति बालप्रस्तोभनात्. **अनुगः** काशिराजः, **पूर्वः** पौण्ड्रकः. काशीदाहकथासूचितमर्थमाहुः **वाक्येनेत्यादि.** देवादिभिर्यत् साहाय्यं कर्तव्यं तद् **भगवद्वाक्येनाविरोधेन वा कर्तव्यं न त्वन्यथा. अन्यथेत्यस्यैव** विवरणं **तीर्थदेवेत्यादि. अत** इति सार्वविभक्तिकस्तसिः ; एतद्बोधनार्थमित्यर्थः. एतद् यशःकार्यं फलकथनादवसीयते. एवं तृतीयाध्यायो विचारितः ॥२१-२४ १/२॥

चतुर्थाध्याये द्विविदवधमात्रदर्शनात् तस्यैव दोषनिवृत्तिः प्रमेयबलेन. श्रीकार्यं तु बलदेवक्रीडा स्फुटैवेति विशेषाभावान्न स विचारितः.

पञ्चमाध्यायं विचारयन्ति **दोषेत्यादि. त** इति कुरवः. **अत्रेति,** गतदोषेषु प्रसादे **उक्तदूषणं** तत्सङ्ग्रहरूपं दूषणं **नेत्यर्थः.** नन्वनिरोध्यानां कुरूणां दोषनिवर्तनमनावश्यकं– न च द्विविदस्यापि तथेति वाच्यं, तस्य जगद्व्यतिकरावहत्वेन तद्दोषनिवृत्तेरावश्यकत्वादत्र च तदभावाद्– इत्याकाङ्क्षायामाहुः **पाण्डवादीत्यादि.** "कथमिन्द्रोऽपि कुरुभिः भीष्मद्रोणार्जुनादिभिरि"तिकथनात् पाण्डवा अपि तस्मिन् मिश्रा इति तद्दोषोऽप्यत्र **निवार्यत** इति न अनावश्यकत्वमित्यर्थः. इदं ज्ञानकार्यं, ज्ञानजननात् ॥२५ १/२॥

षष्ठसप्तमयोरर्थमाहुः **तथेत्यादि. दोषोऽप्यत्र निवार्यत** इत्ययं चरणो देहलीदीपवदत्रापि सम्बध्यते. **विरक्तय** इति स्ववैराग्यस्य नारदे बोधनार्थम्. तच्च "ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताहमि"त्यत्र स्फुटीभवति. दोषश्चैतदज्ञानमेव ॥२६॥

धर्मस्य कारणात् स्त्रीणां नीत्वा यादवभूभुजाम् ।
एवं प्रमेयरूपो हि हरिर्दोषं न्यवारयत् ॥२७॥
साधनप्रक्रियां वक्तुं साधनान्तरमुक्तये ।
राज्याद् भ्रंशस्तथा दुःखं राज्ञामत्र निरूप्यते ॥२८॥
साधने नारदो मुख्यस्तस्यापि प्रार्थनोच्यते ।
सामर्थ्ये विद्यमानेऽपि स्वयं ज्ञात्वापि सर्वथा ॥२९॥
कृष्णाज्ञां वा सहायं वा लब्ध्वैवेष्टपरो भवेत् ।
तदा तु हरिरागत्य हितं वक्ति करोति च ॥३०॥
साधने सर्वथा नीतिः कर्तव्येति प्रबोधयन् ।
उद्धवं मुग्धभावेन पृच्छति स्म करोति च ॥३१॥
यावत्कर्तुं हि जीवानां शक्यं तावद् वदत्ययम् ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

स्त्रीणां यादवीनां **दोषो** धर्मप्रत्यूहकारित्वम्. सच कुक्कुटशापाद् गम्यते. **यादवभूभुजां दोषो** राजसूयसाहाय्यमुपेक्ष्य जरासुतविजिगीषादिरूपः. सोऽपि "तत्र तेष्वि"त्यत्रोक्तः. **भूभुक्पदं** क्षत्रियपरम्. एवं सर्वं निरूप्य प्रकरणसमाख्याबीजमाहुः **एवमित्यादि**. तथाच एतादृशभगवन्निरूपणादस्य प्रमेयप्रकरणत्वम्. अत्र **दोषं न्यवारयदिति** सप्ताध्यायीफलकथनेन. सुबोधिन्याम् अर्थ-धर्म-काम-मोक्षप्रतिपादनार्थः चतुःप्रकरणीपक्षो य उक्तः "चतुर्धा रूप्यते षड्भिः षड्भिः षड्भिस्त्रिभिस्तथे"त्यादिना स न त्रिप्रकरणीपक्षे विरुद्ध्यते, प्रकारप्रयोजनयोर्भेदादिति बोधितम्. ननु दोषाभावप्रसङ्गे राजदुःखं कुतो निरूपितमित्याकाङ्क्षायामाहुः **साधनप्रक्रियामित्यादि**. तथाच उपोद्घातत्वान्निरूपितं परं तत्र राज्यभ्रंशरूपदोषाभावस्यापि निरूपणात् न तावन्मात्रतेति न प्रकरणबहिर्भावापत्तिरित्यर्थः. एवं नारदप्रार्थनाप्युपोद्घात इत्याहुः **साधनेत्यादि**. एवं सार्धाष्टाविंशतिभिः प्रमेयप्रकरणं विचारितम् ॥२७-२८ १/२॥

अतः परं चतुस्त्रिंशद्भिः साधनप्रकरणं विचारयन्तः समाख्याहेतुं सार्धेनाहुः **सामर्थ्येत्यादि**. तथाच भगवदुक्तसाधनबोधकत्वाद् एवं साधनमर्यादाबोधकत्वाच्च 'साधनप्रकरणे'ति समाख्येत्यर्थः ॥२९-३०॥

ननु सर्वज्ञस्य भगवत उद्धवं प्रति कुतः प्रश्नः? समर्थस्य कुतश्च सर्वसम्भृत्या तत्र यानमुच्यत इत्यत आहुः **साधने सर्वथेत्यादिसार्धद्वयम्**.

साहाय्यं वात्र कुरुते तावद्येन भवेत् क्रिया ॥३२॥
इति बोधयितुं कृष्णः सम्भृत्या सर्वया गतः ।
सर्वभावेन पूजार्थं श्रद्धादीनां च वृद्धये ॥३३॥
शत्रूणां दृष्टिदोषाय भक्तमाहात्म्यसिद्धये ।
क्वचिदेकोऽपि वेषेण दृष्टादृष्टप्रकारतः ॥३४॥
यथा भीमस्य सामर्थ्यं दत्वा मृत्युश्च बोधितः ।
प्रथमे तु मनःप्रीतिर्द्वितीये शत्रुमारणम् ॥३५॥
तेनैव यज्ञदेहानां बन्धनं विनिवारितम् ।
ततो बोधनमेकेषां लौकिकं चापि कारयन् ॥३६॥
साधनं कारयामास तथाऽन्यत्रागतस्तथा ।
ततस्तु यज्ञसंसिद्धिस्तत्र दैत्यस्य सन्निधौ ॥३७॥
न निःशङ्कं देवचर्यास्तत्रोपायो हरेर्भजिः ।
तदैव प्रकटा दैत्याः स्वात्मानं दर्शयन्ति हि ॥३८॥
अतः कृष्णस्य पूजायां शिशुपालो हतोऽसुरः ।
मानभङ्गस्तथाऽन्येषां दुर्योधनहितैषिणाम् ॥३९॥
पूर्वं तु बलभद्रोऽत्र न यागार्थं समागतः ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

तथाच साधनोपोद्घातत्वेनेदमुच्यते, तेनास्य साधनप्रकरणीयत्वमित्यर्थः. **सर्वया गत** इत्यत्र सर्वयेति पदच्छेदः. इति प्रथमस्य उपोद्घातप्रकार उक्तः. इयमैश्वर्यलीला, अग्रे द्वाभ्यां वीर्य-यशसोर्लीले उच्येते. ते अपि प्रकरणे उपोद्घाततयैव प्रविशत इत्याशयेनाहुः **सर्वभावेनेत्यादि**. **दृष्टादृष्टप्रकारत** इति बहुधा भवतीति शेषः. अदृष्टप्रकारो न स्फुट इति तमुदाहृत्य स्फुटीकुर्वन्ति **यथेत्यादि**. क्रमेणाध्यायार्थमाहुः **प्रथम** इत्यादि. **तेनैव यज्ञदेहानामिति**. **यज्ञः** प्रमथनाथमखो जरासन्धचिन्तितस्तदर्थं **देहो येषां** राज्ञां तद्**बन्धनं शत्रुमारणेनैव** द्वितीयेऽध्याये **विनिवारितमित्यर्थः**. तृतीयाध्यायार्थमाहुः **तत** इत्यादि. **एकेषामिति** राज्ञाम्. **साधनमिति** "यथान्वशासदि"त्यादिनोक्तम्. चतुर्थार्थमाहुः **ततस्त्वादिद्वाभ्याम्**. तत्र दैत्येत्यादिनोक्तं प्रमेयं प्रासङ्गिकं शिक्षार्थमित्याशयोऽत्र बोधितः. पञ्चमार्थमाहुः **मानभङ्गस्तथेत्यादि**. तथाच अभक्तसङ्गत्यागबोधनायेयं लीलेत्यर्थः ॥३१-३९॥

प्रद्युम्नप्रमुखास्तत्र समायाता महारथाः ॥४०॥
मुख्ये यागे निवृत्ते तु तान् प्रस्थाप्य कुशस्थलीम् ।
पाण्डवानां प्रार्थनया कियत्कालं तथाऽवसत् ॥४१॥
दुर्योधनादिमानस्य भङ्गे तत्र समागतः ।
मिलितः कृष्णदेवेन रामो नोवाच किञ्चन ॥४२॥
अन्यथा पाण्डवान् सर्वान् हन्यादेवाऽविचारयन् ।
एतदर्थं स्थितः कृष्णः प्रार्थनां जनयन् हृदि ॥४३॥
महादेवाधिदैवस्तु शाल्वस्तत्र सहायवान् ।
द्वारकायां यथा पूर्वं ददौ क्लेशं सुदुःसहम् ॥४४॥
यावत् तत्त्वानि पुरुषव्यतिरिक्तान्यहानि हि ।
अत आज्ञां विना किञ्चिन्न कर्तव्यं कथञ्चन ॥४५॥
यतो रामे समायाते द्वारकात्यन्तपीडिता ।
कालादेरनुरोधेन भगवांश्चापि मन्यते ॥४६॥
आत्मानमन्यथाऽन्यत्र का शङ्का कार्यसाधने ।
एवं सप्तभिरुद्दिष्टं साधनं यद्धरिर्वदेत् ॥४७॥
अन्यथा सेवनं तस्य कर्तव्यमिति निश्चयः ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

यज्ञानन्तरं भगवत इन्द्रप्रस्थस्थितेः प्रयोजनमाहुः **दुर्योधनादी**त्यादिद्वाभ्याम्. एवं चात्र श्रीकार्यं यज्ञसंसिद्धिः. ज्ञानकार्यं मानभङ्गः, भूभारजिहीर्षया प्रयुक्तत्वात्. **प्रार्थना**मित्यादि, पाण्डवहृदि बलदेवप्रार्थनामुत्पादयन्नित्यर्थः. एवं पञ्चभिरध्यायैर्भगवदाज्ञप्तं सपरिकरमेकं साधनं निर्दिष्टम् ॥४२-४३॥

द्वाभ्यामध्यायाभ्याम् अन्यत् साधनं वक्तव्यं ; तन्न स्फुटमित्यतस्तदुपपाद्याहुः **महादेवे**त्यादिसार्धैस्त्रिभिः. **तत्र सहायवा**निति, तस्मिन् सौभे तिष्ठति तेन शाल्वस्तत्सहायवानित्यर्थः. **अहानी**ति अत्यन्तसंयोगे द्वितीया. अत्र यत् साधनसिद्धं तदाहुः **अत** इत्यादि. **समायात** इति इन्द्रप्रस्थाद् द्वारकामायाते. तत्स्थितिश्च "कथं राममसम्भ्रान्तमि"ति भगवद्वाक्याद् ज्ञायते. **मन्यत** इत्यस्य **आत्मानमन्यथे**त्यनेन सम्बन्धः. तेन भगवदाज्ञापालनमेव कर्तव्यमिति साधनमस्मिन्नपि सन्दर्भे सिद्धमित्यर्थः. प्रकरणसिद्धमाहुः **एव**मित्यादि. तथाच आज्ञायां तत्करणम् अनाज्ञायां भगवत्सेवनमिति द्वयम् अवान्तरप्रकरणादत्र

अतः परं सात्त्विकानां फलं सप्तभिरुच्यते ॥४८॥
उभयोरैक्यसिद्ध्यर्थं कथाश्लेषो विधीयते ।
प्रद्युम्नस्य जयस्मृत्या भगवत्स्मरणादपि ॥४९॥
शाल्वे प्रविष्टो रुद्रो हि तेन प्रद्युम्नमारणम् ।
कामजेता यतः प्रोक्तस्तेनाऽत्राप्यभवज्जयः ॥५०॥
द्युमत्यभूत् तदावेशः प्रद्युम्नस्यापकर्षणे ।
अनेन तस्मिन् समये सर्वेषामेव रुद्रतः ॥५१॥
पाण्डवानां यादवानां सर्वेषामेव कालतः ।
फलं तदैव भगवान् प्रयच्छति यदाऽखिलाः ॥५२॥
अत्यन्तं तापमायन्ति नो चेत् स्वादु फलं न हि ।
इति केचिद् विचार्यात्र कृष्णेऽपि परमात्मनि ॥५३॥
साक्षादुद्भूतरूपेऽपि प्राकृतत्वप्रतीतितः ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

सिद्धमित्यर्थः. प्रकरणसमाप्तिबोधनायाहुः अतः **परमित्यादि** ॥४४-४८॥

नन्वत्र पूर्वाध्यायसमाप्तावुक्तस्य दन्तवक्त्रागमनस्य प्रकार आरम्भे दृश्यते तेन तच्छेषत्वात् कथमितः प्रकरणान्तरारम्भ इत्याकाङ्क्षायामाहुः **उभयोरित्यादि**. दोषाभाव-फलयोः सङ्कीर्णत्वज्ञापनार्थम्. तथाच एतावता न प्रकरणान्तरारम्भ-विघटनमित्यर्थः. ननु शाल्ववधप्रकरणस्य तात्पर्यम् **अन्यथा सेवनमित्यर्धेनोक्तं**, तत्र किं गमकमित्यत आहुः **प्रद्युम्नस्येत्यादि**. ननु प्रद्युम्नस्य भगवत्पुत्रज्येष्ठस्य देवरूपस्य शम्बरजेतुः कथं पराजय इत्यत आहुः **शाल्वे** इत्यादि. **सुद्युम्न** इत्यत्र **द्युमतीति** पाठः प्रतिभाति. **रुद्रत** इति पराजय इति शेषः. एवं षष्ठे वैराग्यकार्यमुक्तम्, द्वारकामुपेक्ष्य भगवत इन्द्रप्रस्थे स्थानबोधनात् ॥४९-५१॥

सप्तमार्थमाहुः **पाण्डवानामित्यादि**. अत्र धर्मिलीला स्फुटैव. तत्र रुद्रात् पराजयसम्भावनाभावेन कथं तदानीं हस्तात् शाङ्र्गपातादीत्याशङ्कायामाहुः **पाण्डवानामित्यादिसार्धम्**. तथाच फलस्य स्वादीयस्त्वसम्पादनाय तथाकरणम्, अन्यथा माहात्म्यज्ञानांशभूयस्त्वे स्नेहन्यूनत्वेन तथा रसालता न स्यादिति. ननु यद्येवं तदा ऋषय अलौकिकार्थद्रष्टारो मोहलीलां कुतोऽङ्गीकुर्वन्ति? कुतश्च शुकस्तन्मतं दूषयतीत्यत आहुः **इतीत्यादि**. **इतीति** इदं रसालतासम्पादनार्थत्वं **विचार्य**. **उद्भूतरूपे** इति "स्वशान्तरूपेष्वि"तिन्यायेन

अवतारान्तरे यद्वत् तथा वक्तुं विचारणाम् ॥५४॥
कुर्वन्ति लोकमोहाय तदर्थं तन्मतं क्वचित् ।
फलात् पूर्वं पूर्वपक्षरीत्योक्त्वा दूषयत्यतः ॥५५॥
शुकः परमतत्त्वज्ञः केचित् प्रक्षेपमूचिरे ।
पूर्वपक्षकथायां तु मोहलीलेति निश्चयः ॥५६॥
महादेवस्य तोषार्थं क्वचित्कल्पे तथाऽभवत् ।
तत्स्मृतिर्योगधर्मेण तत आहुर्मुनीश्वराः ॥५७॥
तच्चापि न शुको मेने भक्तियुक्ताच्च योगतः ।
हृदिस्थदुष्टभावेन सहितं स्मरणं तथा ॥५८॥
न तु शुद्धेन योगेन तथा दृष्टमतो न हि ।
एतस्य कथनादेवं ज्ञापितं सर्वथा यदा ॥५९॥
कार्यावेशं वितनुते तदा मोहो भवेदिति ।
तेन केनापि लीलापि न कर्तव्या कथञ्चन ॥६०॥
तदाऽधिकारिणो देवा मन्यन्ते दुष्टभावनाम् ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

स्वेच्छया प्रकटे. **यद्वदिति**, यथा सत्त्वांशे शुद्धसत्त्वे वा अवतरणम्. **तदर्थमिति** तस्य पक्षस्य निवृत्तये. **अत** इति ल्यब्लोपे पञ्चमी. इदं साक्षात्प्राकट्यमनुसन्धाय. एवं तत्त्वार्थं न जानन्ति ये माध्वाद्याः तन्मतमनुवदन्ति **केचित्प्रक्षेपमूचिर** इति. सिद्धान्तमाहुः **पूर्वेत्यादि**. **क्वचिदिति** यस्मिन् कल्पे पूर्णस्य नावतरणम्. ननु यद्येवं कल्पान्तरेऽभूत् तदा शुकेन कुत इदं नाङ्गीकृतमित्याकाङ्क्षायामाहुः **तच्चापीत्यादिसार्धम्**. तथाच "विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनामि"ति वाक्यात् न सर्वे योगिनो भगवल्लीलादिकं ज्ञातुं शक्नुवते किन्तु "भक्त्या मामभिजानाति" इतिवाक्याद् भक्ता एव शक्नुवते. शुकस्तु तादृश इति परमं तत्त्वं विचार्य तन्मतं दूषितवानिति तथेत्यर्थः ॥५४-५८ १/२॥

नन्वेतत्कथोपनिबन्धस्य किं प्रयोजनमत आहुः **एतस्येत्यादिचतुष्टयम्**. किं ज्ञापितमित्यपेक्षायां तदाहुः **सर्वथेत्यादि**. **कार्यावेशं वितनुते** इति भगवान् जीवस्येति शेषः. **इतीति**, इदं ज्ञापितमित्यर्थः. **तेनेति** हेतुना. तथाच एतल्लीलानुकरणेऽप्यनिष्टं भवतीति तदपि न कार्यमिति ज्ञापितमित्यर्थः.

सत्त्वावतारपक्षे हि भवेदेतन्न चान्यथा ॥६१॥
निर्गुणस्तु हरिः कृष्णः स्वयमाविर्बभूव ह ।
सन्देहे तस्य भक्तैस्तु निर्णयो ज्ञायतां यथा ॥६२॥
तं शस्त्रपूगैरित्यादि शुद्धं नान्यत् ततोऽधिकम् ।
आदौ त्रिविधदुष्टानां वधोऽत्र विनिरूप्यते ॥६३॥
शाल्वस्य हरभक्तस्य दन्तवक्त्रस्य चात्मनः ।
तद्भ्रातुश्च द्वितीयस्य राजसस्य वधः स्मृतः ॥६४॥
एवं दोषप्रणाशो हि फले पूर्वमुदीरितः ।
तेनैव यादवानां हि सर्वव्यसननाशतः ॥६५॥
कृष्णात्मकं फलं सिद्धं यत एवं करोति हि ।
ततः सर्वसुखार्थाय बलदेवविनिर्गमः ॥६६॥
तीर्थे स्वधर्मनाशाय दोषे याते सुखं स्वतः ।
स्वयं तु पाण्डवानां हि दुःखनाशं चकार ह ॥६७॥
एवं त्रिभिरिहाध्यायैर्दुःखनाशो निरूप्यते ।
स्पष्टास्पष्टविभेदेन त्रिविधानां विशेषतः ॥६८॥
कालदोषात्तु ऋषयो वक्तारं मेनिरेऽधमम् ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

नन्वनुकरणे देवानां हृदि कुतो दोषदृष्टिरित्यत आहुः **सत्त्वेत्यादि.** **यथेति** यथावत्. एवं चतुस्त्रिंशद्भिः साधनप्रकरणं विचारितम् ॥५९-६२ १/२॥

अतः परं सार्धपञ्चाशद्भिः फलप्रकरणं विचारयन्ति **आदावित्यादिभिः.** "अतः परं सात्त्विकानामि"ति कारिका (४८) इतः पूर्वस्थेति प्रतिभाति. कथाश्लेषं स्फुटीकुर्वन्ति **आदावित्यादिभिः** पादोनैस्त्रिभिः. **अत्रेति** कथाश्लेषे. **आत्मन** इति भक्तस्येति शेषः. **राजसस्येति** तद्भ्रातुर्विशेषणम्. श्रीबलदेवतीर्थयात्राकथा-प्रयोजनसङ्गती आहुः **यत** इत्यादि. तेन सुखप्रकारमाहुः **तीर्थ** इत्यादि. **स्वधर्मनाशाय दोष** इति, वर्णाश्रमधर्मनाशाय विद्यमाने दोषे **याते** निवारिते. **दुःखनाशमिति** दुःखानुत्पत्तिम्. **त्रिभिरिति** साधनप्रकरणीयान्तिमाध्यायसहितैस्त्रिभिः. अस्पष्टदुःखमन्येषां पाण्डवानां च ज्ञेयम् ॥६३-६८॥

ननु सूतवधः कुतः प्रकरणविरुद्ध उच्यत इत्यत आहुः **कालेत्यादि.**

अतो ज्ञात्वैव रामेण सूतो धर्मार्थमाहतः ॥६९॥
सन्तोषार्थमृषीणां च स्वावतारं विधाय हि ।
तत्र तं स्थापयामास कार्यं भागवते स्थितम् ॥७०॥
शुकोक्तमन्यथा वाक्यं हृदयं न विशेत् क्वचित् ।
बल्वलस्य वधो मुख्यो दोषस्तेषां च नाशितः ॥७१॥
बल्वलो दोषसूतौ च त्रयोऽत्र विनिवारिताः ।
ज्ञानोपदेशो लीलार्थो यथा तीर्थाटनं तथा ॥७२॥
शुद्धिस्तीर्थैस्तथा यज्ञैर्ज्ञानेनापि भवेद् ध्रुवम् ।
ऋषीणां त्रितयं सिद्धमग्रे मोहनिवृत्तये ॥७३॥
ज्ञानोपदेशोऽनन्यार्थो दोषा एवं विनाशिताः ।
द्वाभ्यां पञ्चभिरग्रे तु गुणैर्दोषनिवारणम् ॥७४॥
दारिद्र्यनाशः सम्पत्त्या द्वाभ्यां तत्र निरूप्यते ।
त्रिभिश्च त्रिविधानां च पूर्वोक्तानां च सर्वशः ॥७५॥
सुदामा ब्राह्मणः कश्चिदर्धं च ऋषिसम्मतः ।
भार्या तु ब्राह्मणी तस्य नर्षी दारिद्र्यदर्शनात् ॥७६॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

तर्हि पुत्रः कुतः स्थापित इत्यत आहुः **सन्तोषे**त्यादि. **विधाये**त्यत्र 'विचार्ये'ति पाठः प्रतिभाति. **तमि**ति पुत्ररूपिणम्. कथं स्थितमित्यपेक्षायामाहुः **शुके**त्यादि. **अन्यथेति**, तदासने उग्रश्रवसः अनिवेशे परीक्षित्सभायां तस्य श्रोतृत्वेनाप्रवेशात्. एवं साधारणदोषनाश उक्तः. मुख्यदोषनाशमाहुः **बल्वलस्ये**ति. ज्ञानोपदेशप्रयोजनमाहुः **ज्ञाने**त्यादि. **द्वाभ्यामि**ति. एतेन प्रथमे धर्मिलीला द्वितीये ज्ञानलीलेति ज्ञापितम्. यथाक्रमं वा. अग्रिमेषु दोषनाश-फलयोः भवनप्रकारं बोधयन्ति **पञ्चभिरि**त्यादि. तत्रावान्तरप्रकरणविभागमाहुः **दारिद्र्ये**त्यादि. त्रिभिरध्यायैश्च पूर्वोक्तानां त्रिविधानां तामसादिप्रकरणत्रयोक्त-भक्तानामेव सर्वप्रकारेण दोषनाशपूर्वकं फलमुच्यते. तथा चैवमत्र द्विप्रकरणी ; तेन सप्ताध्याय्यां पूर्वाभ्यां सह त्रिप्रकरणीत्यर्थः ॥६९-७५॥

प्रकरणानि विभज्य पञ्चसु आद्ययोरर्थमाहुः **सुदामे**त्यादि. नाम पुराणान्तरे प्रसिद्धम्. **अर्धमि**ति ग्रामवासादिति प्रतिभाति. ननु मूले तथाविधत्वेन कथनात् कथं नर्षीत्यत आहुः **दारिद्र्यदर्शनादि**ति. **कालादि**त्यादि. मूले

विरुद्धमुभयं कालात् तत्रैकस्य निवारणम् ।
तत्र कृष्णः पुष्टिमार्गे स्त्रीणां चैव हिते रतः ॥७७॥
अतोऽर्धजरतीयं तं भक्तं चक्रे स्वसङ्गिनम् ।
यथा हि भगवानत्र पूर्णकामोऽपि तिष्ठति ॥७८॥
तत्सङ्गिभिस्तथैवाऽत्र स्थेयमित्येव निश्चितम् ।
नाशो न कोऽपि भविता ऋषीणां चापि मोचकः ॥७९॥
अलौकिकं च प्रददौ न दूषणमिहाण्वपि ।
स्वतुल्यत्वाय तु कथा पूर्वजाता निरूपिता ॥८०॥
समक्षं भगवाँस्तन्तु ऋषिमेवाऽकरोत् स्वतः ।
अतो न किञ्चित् प्रददौ भार्यायै तत्र दत्तवान् ॥८१॥
अनभिप्रेतपक्षे हि दानाभावो विशिष्यते ।
अतो दाने तस्य तोषो गच्छतो वर्ण्यते पथि ॥८२॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

भगवन्निकटगमनप्रार्थनाया बहुश उक्तत्वात्. भगवत्सखित्वादि-यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानत्वान्तधर्मवतस्तत्र गमनाभावस्य कालकृतत्वेन एकस्यर्षित्वस्य कालान्निवारणं प्रतिबन्ध इत्यर्थः. तत्रेति कालिके प्रतिबन्धे. अत इति पुष्टौ तस्याङ्गीकृतत्वात् स्वस्य स्त्रीहितत्वाच्च. **अर्धजरतीयमिति** ऋषित्वानृषित्वोभयधर्मवन्तम्. **निश्चितमिति** अनेन कथोपनिबन्धनेन निर्णीतम्. ननु भगवान् मोचको बन्धहेतुभूतां सम्पत्तिमेतादृशाय कुतो दत्तवानित्यत आहुः **नाशो नेत्यादि. नाशः** परलोकहानिः. इयमेव लीला बृहदारण्यके ''अन्नादो वसुदान'' इत्यनेन श्राविता. ननु यद्येवं न दोषलेशस्तदा ''प्रायो गृहेष्वि''त्याद्यनिष्टानुवादस्य किं प्रयोजनमत आहुः **स्वतुल्यत्वेत्यादि.** तर्हि समक्षं कुतो नादादित्यत आहुः **समक्षमित्यादि.** ननु धनार्थमागताय समक्षमृषित्वेऽपि धनादाने वैमनस्यं स्यादित्यत आहुः **अत** इत्यादि. ल्यब्लोपे पञ्चमी ; तस्येमं स्वभावं विचार्य. तथाच पूर्वमर्धर्षित्वेन धनलिप्साभावाद् भार्यया धनार्थिन्याः बहुशः प्रार्थनेऽपि कृष्णदर्शनमेव लाभत्वेन मन्यमानस्यागमनात् तस्य च सम्पन्नत्वेन पूर्णमनोरथत्वात् समक्षं पूर्णर्षित्वकरणेन धनलिप्सायाः सुतरामपगमाद् धनादानमित्यर्थः. धनादानेन तस्य स्वस्य चाभिप्रायं प्रकटीकृतवानित्युभयार्थं समक्षादानमित्याहुः **अनभीत्यादि. तस्येति** धनस्य ॥७६-८४॥

सांसर्गिकस्य दोषस्य निवृत्त्यै भगवत्परः ।
भक्तिमार्गानुसारेण विषयान् बुभुजे वशः ॥८३॥
एवं ऋषित्वं भक्तत्वं धनं दारिद्रमेव च ।
विरुद्धं स्थापयामास स्वकीयत्वप्रसिद्धये ॥८४॥
त्रिभिरग्रे तु भगवान् पूर्णं फलमुदीर्यते ।
द्वाभ्यां द्वाभ्यां त्रिभिश्चैव फलत्रयमुदीरितम् ॥८५॥
दुःखाभावसुखोत्कर्षौ कृष्णश्च त्रिविधस्तथा ।
सर्वेषां वाञ्छिताकारः स्त्रीणामत्यन्तवल्लभः ॥८६॥
ऋषि-देव-पितॄणां च लौकिकालौकिकत्वतः ।
फलदाता सर्वभावैः सर्वतो (/ सत्त्वतो) ऽत्र निरूप्यते ॥८७॥
तत्कालस्थाः सर्व एव वर्णा एते च मानुषाः ।
सर्वतस्ते समागत्य कृष्णसान्निध्यदर्शनैः ॥८८॥
शुद्धसात्त्विकभावं ते प्राप्ता रोधनमागताः ।
देहादिकं जगत्सर्वं विस्मृत्य भगवत्पराः ॥८९॥
जाता इति फलं तेषां हरिरेव न संशयः ।
अन्ते च गोपिकाः प्रोक्ताः शुद्धसत्त्वप्रसिद्धये ॥९०॥
निरोधश्चापि तासां हि सर्वभावेन रूपितः ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

एवं नवभिर्द्वयोरर्थ उक्तः. अग्रिमत्रयाणां वक्तुं तत्सिद्धस्य फलस्य स्वरूपमाहुः **त्रिभिरित्यादि**. त्रिप्रकरणसिद्धं फलं बोधसौकर्यायानुवदन्ति **द्वाभ्यामित्येकेन**. एतदध्यायत्रयोक्तं भगवत्स्वरूपत्रैविध्यं स्फुटीकुर्वन्ति **सर्वेषामित्यादिसार्धेन**. **सत्त्वत** इति सात्त्विकान् विधाय. प्रथमाध्यायसिद्धं सर्ववाञ्छिताकारत्वं स्फुटीकुर्वन्ति **तत्कालस्था** इत्यादिभिर्नवभिः. अत्र सार्धाभ्यां साधारणानां वाञ्छिताकारत्वरूपं फलं बोधितम्. तच्च "आसन्नच्युतसन्दर्श परमानन्दनिर्वृता" इत्यनेनोक्तम्, वाञ्छिताकारत्वं विना तद्दर्शने आनन्दाभावादिति. तामसानां राजसभावस्य पूर्वमुक्तत्वाद् इदानीं सात्त्विकत्वं तेषां वक्तुमन्ते व्रजस्थानां कथेत्याहुः **अन्ते चेत्यादि**. **शुद्धसत्त्वप्रसिद्धये** इति, सत्त्वस्य प्रमितिजनकत्वेन तस्य शुद्धौ भगवत्स्वरूपयाथात्म्यावगतिरिति तदर्थमित्यर्थः. ननु तस्याः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः **निरोध** इत्यादि. ननु

तदन्ताः सर्व एवैते तत्फला इति निश्चितम् ॥९१॥
संसारो भगवांश्चैव विरुद्धं द्वितयं फलम् ।
उभयैर्यत्सुखं तद्धि तासां पुष्ट्याऽभवत् तदा ॥९२॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

स्वरूपसम्बन्धात्मक-फलावधिनिरोध एतासां सर्वभावेन प्रागेव सिद्ध इति पुनः किं तत्कथयेत्यत आहुः **तदन्ता** इत्यादि. **एते सर्व** एवादित आरभ्य ज्ञानोपदेशान्ता उपायाः **तत्फला** ज्ञानसहित-सर्वभावपूर्वक-निरोधफलाः. तथाच पूर्वं सर्वभावे सत्यपि तदुत्तरं परोक्षोपदेशेन परोक्षज्ञाने जातेऽपि यावत् तत् प्रत्यक्षं न भवति तावत् सर्वभावदार्ढ्याभावात् न सम्यङ्निरोधसिद्धिः, सर्वभावानुभवाभावात्. एतत्कथयेदं निश्चितमित्यर्थः ॥८५-९१॥

तदेतद् विविच्य दर्शयन्ति **संसार** इत्यादिभिः सार्धैश्चतुर्भिः.

निबन्धकठिनांशविवेचनम्

अग्रे त्रयस्त्रिंशेऽध्याये एकोनाशीतितमे वा **अन्ते च गोपिकाः प्रोक्ताः शुद्धसत्त्वप्रसिद्धये** इत्येतस्यार्थस्तु आवरणभङ्गे स्फुटतयोक्त इति ततोऽवधेयः. अतः परमनेनाध्यायेन सिद्धं फलितार्थमाहुः **तदन्ताः सर्व एवैते तत्फला इति निश्चितमि**त्यनेन. **सर्वे** भक्ता गोपिकाऽवधयः, सर्वं फलं गोपिकाफलावधीत्यस्मिन् सन्दर्भे निश्चितं, "विद्या भागवतावधिरि"त्यादिवदित्यर्थः. एतद् विविच्य दर्शयन्ति **संसार** इत्यादि **तद्विधमि**त्यन्तेन. फलस्यावधित्वं ह्यन्यत्र तदभावे अत्र तत्सद्भावे, दुःखासम्भिन्नत्वे पूर्णत्वे नतु न्यूनत्वे, परमोत्कृष्टत्वे नतु निकृष्टत्वे च सति भवेत्. एवं भक्तानामप्यन्यत्र तादृशत्वाभावे अत्र तादृशत्वसद्भावे अन्यभावराहित्ये भगवद्भावस्य पूर्णत्वे परमोत्कृष्टभाववत्त्वे अवधित्वं स्यादिति फलावधित्वेनैव भक्तावधित्वमर्थात् सिद्ध्यति अतः फलावधिमाहुः **संसार** इत्यादिना. अन्यत्र विरोधादेव तदभावः, भगवता परमानुग्रहरूप**पुष्ट्या** गोपिकासु दानात् तत्सद्भावः. "आहुश्च ते नलिननाभे"ति गोपिकानां प्रार्थना तज्ज्ञापिकेत्याहुः **तथैव प्रार्थितं ताभिरि**ति. अस्मिन् प्रार्थनाश्लोके भगवतो नलिननाभत्वेन जगत्कर्तृत्वात् पदस्य चारविन्दत्वेन सुखकरत्वात् तापहारकत्वाच्च भक्तानां सुखकरं दुःखनाशकं तदेव "तद्गृहेषु सृजती"त्युक्तम्. तेन फलस्य दुःखासम्भिन्नत्वमुक्तम्. "अगाधबोधैः" पूर्णज्ञानैर्वशीकृतयोगै"र्योगेश्वरैरपि हृदि चिन्त्यमे"व नतु प्राप्तमित्यनेन फलस्य परमोत्कृष्टत्वमुक्तम्. "गेहं जुषामि"त्यनेन गेहस्य प्रीत्या सेवनमुक्तम् , तच्च न अहन्ताममतां विनेति संसारो निरूपितः. संसारस्यावश्यं दुःखहेतुत्वेन कूपपात उक्तः. चरणस्य उक्तचरणावलम्बनत्वेन अहम्ममाभिमानजन्य-दुःखसम्भावनायामपि तेनैव तन्निवृत्तिः. अनेनापि फलस्य दुःखासम्भिन्नत्वमुक्तम्. दैहिक ऐन्द्रियश्च सम्बन्धो न सदा तिष्ठति अतः "मनस्युदियादि"त्यनेन योगिवत् सार्वदिकः सम्बन्ध उक्तः. अनेन फलस्य पूर्णत्वमुक्तम्. "न" इत्यनेन स्वस्मिन् तत्प्रार्थनोक्ता. ननु ताभिः प्रार्थनेऽपि भगवता अदाने कथं तत्सिद्धिः स्यात्? तत्राहुः **सम्मतं चापि**

वै हरेरिति. यद्यपि मनसि पदोदयमात्रप्रार्थनं, न हरेः, तथा सति पदस्यैकदेशत्वात् न पूर्णं फलं स्यात्, तथापि पूर्वं भगवतोपदेशवाक्येषु "दिष्ट्या यदासीन् मत्स्नेहो भवतीनां मदापन" इतिकथनादेतासां स्नेहः सम्पूर्णभगवत्प्रापक एव न त्वेकदेशप्रापक इति अत्र पदोदयप्रार्थनं तु तद्दैन्यज्ञापकव्याजेन सम्पूर्णोदयार्थमिति ज्ञेयम्. एतेन यत्रैव परमं दैन्यं तत्रैव भगवान् शीघ्रं हरित्वज्ञापनाय प्रकटो भवति गजेन्द्र इवेति ज्ञापनाय **हरेरि**त्युक्तम्. ननु भगवतः सम्मतौ किं ज्ञापकमित्याशङ्क्य भगवद्वाक्यमेवेत्याशयेन श्रीभागवत-गीतास्थानि वाक्यान्येवाहुः **न ज्ञानमित्यादि उक्तवानि**त्यन्तेन. एकादशे विंशाध्याये भक्तिप्रकरण इदं वाक्यं— "तस्मान् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह". अत्र स्नेहात्मकभक्तियोगादेव योगित्वं न त्वष्टाङ्गयोगेन. "मदात्मन" इत्यत्र मय्यात्मान्तःकरणं यस्य, अहं चान्तःकरणे यस्येत्यर्थद्वयमप्यभिप्रेतम्. तादृशे भक्ते ज्ञानवैराग्ययोरभावेऽपि फलविलम्बः फलाभावश्च नेति तयोरसाधनत्वमुक्तम्. तथा सति ज्ञानाभावादहन्ता वैराग्याभावात् ममता चोक्तेति पूर्वश्लोकोक्तसंसारो ज्ञापितः. इतः पूर्वेष्वेकादशस्कन्धवाक्येषु "मयि हृदि स्थित" इत्युक्तत्वात् फलरूपो भगवान् प्राप्त एवेत्युक्तम्. भगवत्प्राप्तावपि भगवत अनन्तानि रूपाणि सन्ति, तत्र कस्य रूपस्य प्राप्तिरिति सन्देहवारणार्थम् अक्षरपर्यन्तस्य निरासं वक्तुं **अव्यक्ता हि गतिर्दुःखमि**ति गीतावाक्यमुपन्यस्तम्. अक्षरप्राप्तौ साधनकाले भूयान् क्लेशः फलकाले च भगवत औदासीन्यरूपं भक्तानां महद्दुःखम्. अतो अक्षरप्राप्तिर्भक्तानां नाभीप्सिता नापि पूर्णपुष्टिमार्गे भगवता दीयते. अनेन फले दुःखासम्भिन्नत्वमुक्तम्. यत्राक्षरप्राप्तिरूपमपि दुःखं न तत्रान्यदुःखस्य का वार्ता! अतः परं फलस्य परमोत्कृष्टत्वं पूर्णत्वं च ज्ञापयितुमेतदग्रिमाणि गीतावाक्यान्युपन्यस्यन्ति **ये तु सर्वाणि चे**ति. अत्र प्रतीकमात्रेण अत्रत्यं श्लोकद्वयं ज्ञेयम्. तुशब्देन पूर्णपुष्टिस्थभक्तेतरभक्तनिरासः. येषां मदर्थे लौकिकवैदिककर्मपरित्यागपूर्वकं मत्परत्वं = भगवत एव फलत्वेन ध्यानपूर्वकमनन्यतया भगवदुपासनं तदा मृत्युसंसारसागराद् उद्धारकत्वस्वभावोऽहम् अक्षरात् परस्तेषां भवामीति तद्वश्यो भवामीत्यर्थः. अत्राक्षरात् परत्वेन फलस्य सर्वोत्कृष्टत्वं वश्यत्वेन पूर्णत्वं च ज्ञापितम्. तथा सत्येतादृशभगवद्वचनैः गोपिकाप्रार्थितं भगवतः सम्मतमिति सिद्धम्, अन्यथा एतादृशभक्तेभ्योऽपि एतादृशफलादाने भगवतोऽनृतवादित्वं स्यादिति. अतः परं ज्ञानवैराग्याभाव-सूचिताहम्ममत्वेन जीवतामेव भक्तानामीदृशं फलं सूचितमिति तद्विवेचनायाहुः **जीवत** इत्यादि. अहम्ममाभिमानेन जीवतां स्थित्यर्थं गृहं जीवनार्थं वृत्त्यादिकं च सर्वथापेक्षितम्. तत्रेह लोके मनुष्याणां परलोके इन्द्रादीनां च स्वस्वगेहेषु स्थितानां स्वस्ववृत्त्या जीवतामेव परमं सुखं, नान्यत्र. अतः **स्वाभाविकं** गृहवित्तादिकं **न दुःखाय**. अतो भगवानपि परतन्त्रत्वदुःखं निवारयितुं स्वतन्त्रसुखं च सम्पादयितुं गोपिकानामेव गेहेषु गोपरूपेणैव स्थित्वा मनोरथान्तमानन्दं ताभ्यः प्रयच्छति, नतु ताः स्वगेहेषु स्थापयित्वा स्ववृत्त्या च जीवयन्निति. तथा सति रूक्मिण्यादिमहिषीतुल्यतया भक्तावधित्वं फलावधित्वं च न स्यात्. भगवतो व्यापिवैकुण्ठेऽपि गोपरूपत्वं तत्रत्यभक्तानां गोपीत्वं च बृहद्वामनीयकथासन्दर्भे स्फुटमिति तद्गृहं स्वाभाविकमिति न परतन्त्रतादुःखं किन्तु परमसुखमेवेति तादृशं गोपिकाभिर्याचितमित्यर्थः ॥९१-९५॥

तथैव प्रार्थितं ताभिः सम्मतं चापि वै हरेः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं यतः प्राह हरिः स्वयम् ।।९३।।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं ये तु सर्वाणि चोक्तवान् ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

अभवदिति सर्वात्मकेन भगवता अभवत्. अत्र गमकमाहुः **तथैवेत्यादिभिः**. "आहुश्च ते नलिननाभे"तिप्रार्थनावाक्ये तथा सिद्धेरित्यर्थः. ननु भगवत्सम्मत्यभावे प्रार्थनामात्रं न गमकमित्यपेक्षायामाहुः **सम्मतमित्यादि**. यतो हेतोर्भगवानेकादशे "जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु, वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः, ततो भजेत मां भक्त्या श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः, जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्, प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मनेः, कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते, भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः, क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि, तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे"ति सन्दर्भेण स्वस्मिन् जातश्रद्धस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मक-वैदिकसर्वकर्मसु जातारुचेः ऐहिककामस्वरूपज्ञानेऽपि तत्त्यागाशक्तस्य स्वस्मिन् श्रद्धोत्कर्षपूर्वकं ममेदमेव कर्तव्यं नान्यदिति निश्चयदार्ढ्यपूर्वकं कामगर्हापूर्वक-तद्भोगपूर्वकं भक्त्या श्रवणादिनवकावृत्तिं विधाय असकृत्तद्विचारे तथाभजने च क्रियमाणे तादृशस्य हृदये स्वस्य स्थितिं, तया हार्दसर्वकामनाशं, ततः स्वदर्शनं, तेन हृदयग्रन्थिभेदं सर्वसंशयच्छेदं चोक्तवान्. ततोऽखिलात्मक-भगवत्साक्षात्काररूपफलस्य जातत्वे साधनभूत-ज्ञानवैराग्यप्रयोजनाभावात् तयोरश्रेयस्त्वमुक्तवान्. तेन सर्वात्मभावपूर्वकभजनस्य सर्वात्मक-भगवत्साक्षात्कारान्तता भजनानुवृत्तिश्च सिद्ध्यति. तदत्र "मयि भक्तिर्ही"त्यारभ्य "पश्यताभातमक्षर" इत्यन्तेन वरप्राप्तिवत् सिद्धम्. तदेव शुकेन जीवकोशात्मक-तत्प्रतिबन्धक-ध्वंसपूर्वकमनूदितम्. न चात्र ज्ञानान्ततामात्रं भगवदभिप्रेतम्, गीतायां "अव्यक्ता हि गतिरि"त्यनेन तत्फलापकर्षोक्तिपूर्वकं "ये त्वि"ति सन्दर्भेण स्वस्यैवोत्कर्षस्य फलत्वस्य च कथनात्. अत एवं ज्ञायते यदुक्तं प्रनाडीसिद्धैवंप्रकारक-स्वदर्शनोत्तरभावि-तादृशानुसन्धानपूर्वक-निरोध एवात्र फलत्वेनाभिप्रेत इति. तदेतदुक्तं **न ज्ञानमित्यारभ्य उक्तवानित्यन्तेन**. ननु कोशध्वंसस्योक्तत्वाद् विदेहकैवल्यमेव फलत्वेनाभिप्रेत

जीवतश्च स्थितिर्मृग्या तथा वृत्त्यादि सर्वथा ॥९४॥
स्वाभाविकं न दुःखाय परत्रेह च निश्चितम् ।
लोकद्वयेष्टदं तुल्यं हरेर्नान्यत् परं सुखम् ॥९५॥
विरोध्यन्योन्यमन्यत्र याचितं तेन तद्विधम् ।
अतिदेशार्थमन्येषां निकटे कथनं मतम् ॥९६॥
स्त्रीणां स्वस्वपतौ स्नेहः सहजस्तन्निवृत्तये ।
कृष्णस्त्रीणां विवाहानां कथा त्वत्र निरूप्यते ॥९७॥
लोकाद् भयं गोपिकाभिः पूर्वमेव निवारितम् ।
पुरुषोत्तमभावेन वैदिकं च निवारितम् ॥९८॥
उत्कर्षे तु श्रुते स्त्रीणां पूर्वभावो विनश्यति ।
पश्चात्तापश्च जायेत विवाहख्यापनं ततः ॥९९॥
कृष्णे कामाद्यभावाय दास्यं सर्वत्र वर्ण्यते ।
सर्वभावेन सर्वासां विवाहकरणे क्षमः ॥१००॥
सुतरां भक्तियुक्तानां लक्ष्मणायाः कथा तता ।
द्रौपदी पुष्टिमार्गस्था ततः पृच्छति यत्नतः ॥१०१॥
तदुत्कण्ठापराः सर्वा रुक्मिण्यादिवदेव ताः ।
जाता इति पुरा प्रोक्तात् फलादेतद् विशिष्यते ॥१०२॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

न निरोध इति शङ्कायामाहुः **जीवत** इत्यादि. "आहुश्च त" इत्यारभ्य "ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबान्धव" इत्यन्तग्रन्थेन तेषां देहस्थितेरवगमान्न तथा किन्तु निरोध एव विवक्षितरूपः फलमित्यर्थः. ननु यद्येवं तदेदानीम् एतादृशनिरोधस्य सिद्धत्वात् प्रार्थनायाः किं प्रयोजनमित्यत आहुः **स्वाभाविकेत्यादि**. **स्वाभाविकमिति**, आत्मा तद्धर्मश्च तुल्यमिति स्वाभाविकभिन्नत्वाद् दुःखजनकम्. **अन्यत्रेति** एवंप्रकारकनिरोधरहितस्थले. एवं सार्धाष्टभिस्त्रिषु प्रथमो विचारितः ॥९२-९६॥

द्वितीयं विचारयन्ति **अतिदेशार्थमित्यादि**. अध्यायारम्भे "तथे"ति पदाद् गोपिकावद् युधिष्ठिरादीनां स्त्रीणां च यथाधिकारं निरोधबोधनार्थम् अनुवादपूर्वकं कथनमित्यर्थः. स्वस्वपतिस्नेहनिवृत्तौ प्राप्तस्य लोकवेदविरोधदोषस्य परिहारायाहुः **लोकादित्यादि**. **विशिष्यत** इति, "तद्भावमापुरपि नित्ययुजां

विस्मयाविष्टचित्तानां भविष्यति तथा हरिः ।
पूर्वोक्तानामपि तथा क्रमवृद्ध्या क्षणे क्षणे ॥१०३॥
महिषीणां यथा भावस्तथा साधु भविष्यति ।
लौकिकानखिलानेवं समुद्धृत्य मनीषया ॥१०४॥
वैदिकानृषिदेवांश्च पूर्वभावस्य सिद्धये ।
ततः प्रभृति पूज्यन्त इति न्यायेन वै हरिः ॥१०५॥
स्तोत्रं तेषां चकाराऽऽद्ये निरोधार्थं तु ते पुनः ।
विपरीतं सर्वमाहुः शास्त्रार्थोऽयं हि पुष्टितः ॥१०६॥
सान्निध्यादेव सर्वेषां हृद्येवं समुपागतम् ।
अनेनैवोपदेशोऽभूत् फलं चापि समं मतम् ॥१०७॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

दुरापमि''ति पूर्वाध्यायवाक्याद् अन्यत्रापि तददतिदेशस्य समानन्यायप्राप्तत्वात् तथेत्यर्थः. साधनाभावे अन्यासां कथमेवं भाव इत्यत आहुः **विस्मयेत्यादि**. तदुक्तमग्रिमारम्भश्लोके "श्रुत्वा पृथे"त्यादिना. शेषग्रन्थ उत्तानार्थः. एवमष्टाभिः द्वितीयो विचारितः ॥९७-१०३ १/२॥

तृतीयं विचारयन्ति **लौकिकानित्यादि. मनीषयेत्यस्य स्तोत्रं चकारेत्यनेनान्वयः. पूर्वभावस्येति** पूज्यत्वस्य[१]. न्यायस्तु भारते पाद्मादिषु च प्रसिद्धः. तुः पूर्वपक्षनिरासे. अयमेवात्राभिप्राय इत्यत्र गमकमाहुः **ते पुनरित्यादि**. हिर्हेतौ. तेनान्यदपि कार्यं भगवता साधितमित्याहुः **अनेनेत्यादि. उपदेश** इति सभासत्प्रभृतीनाम्. **फलं चापि स्वसम्मतमिति** यथाधिकारो निरोधः ॥१०४-१०७॥

निबन्धकठिनांशविवेचनम्

अग्रे पञ्चत्रिंशाध्याये एकाशीतितमे वा **सान्निध्यादेव सर्वेषां हृद्येवं समुपागतमिति**. कृष्णसान्निध्याद् मुनिसान्निध्याच्चैव सर्वेषां कुरूक्षेत्रे समागतानां हृदये एवं समागतम्. कृष्णवचनैर्ब्राह्मणानां साधनेषु प्राथम्येन गुरुत्वेन सर्वलोकपूज्यत्वं ब्राह्मणवचनैश्च कृष्णस्यैव पुरुषोत्तमत्वात् सब्राह्मणसर्वलोकपूज्यत्वं परमफलत्वं चेति एवं सर्वेषां हृदि समागतमित्यर्थः. अत्रैवाग्रे **अनेनैवोपदेशोऽभूदिति** पादत्रयम्. अनेन कृष्णस्य मुनीनां च वचन-प्रतिवचनेन सर्वेषां भगवन्मार्गोपदेशोऽभूत्. यथा नामकरणप्रस्तावे गर्गवचनैर्नन्दस्य नन्दवचनैश्चान्येषां

---

१. भगवद्भक्त्या भगवदावेशे जाते भगवता तस्य सन्मानने कृते स जीवस्तत आरभ्य सर्वलोकानां पूज्यो भवति.

प्रमेयबलमासाद्य यादवानां फलं पुनः ।
कृतं सन्देहजननात् प्रमाणेनोच्यते पुनः ॥१०८॥
वसुदेवस्य सम्प्रश्नस्ततो यागार्थमुच्यते ।
ईशलीलां सुदुर्बोधां मत्वा ते संशयं गताः ॥१०९॥
नारदः पूर्ववत् प्राह सर्वसन्देहवारकः ।
सात्त्विकप्रक्रियायां हि प्रमाणं न हि दर्शितम् ॥११०॥
ततः कृष्णकृतं सर्वं लौकिकं मेनिरेऽखिलाः ।
अतो यागोत्सवो जातो लौकिकं वैदिकं तथा ॥१११॥
एकीभूयाऽभवद् भक्तौ तेन सर्वेऽभवन् समाः ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

नन्वेवं सर्वेषां पूर्णे फले कथिते पुनः किमवशिष्टं येन वसुदेवयज्ञकथावतारिता इत्याकाङ्क्षायां तत्प्रयोजनं वक्तुं प्रथमतः प्रश्नप्रयोजनमाहुः **प्रमेयेत्यादि**. एतत्प्रकरणीयप्रमेयप्रकरणे **प्रमेयबलमासाद्य यादवानां** दोषाभावरूपं **फलं** नीत्यालम्बनेन **सन्देहजननात् पुनः** सदोषं **कृतम्**. तत् **पुनःप्रमाणेनोच्यते ततो** हेतोः **सम्प्रश्न** इत्यर्थः. **कृतमित्यत्र** गतमित्यर्थः प्रतिभाति. **ते** इति सात्त्विकाः यादवाः. ननु तावन्मात्रेण कथमेवं संशय इत्यत आहुः **सात्त्विकेत्यादि**. **खला (/ अखिला ?)** इति यादवो नितरामपीतिवत्. संशयनिवृत्तिप्रकारमाहुः **अत** इत्यादि. **अत** इति एतस्य संशयस्य निवृत्त्यर्थम्. **अभवद् भक्ताविति**, भक्त्यर्थमभवत्. फलितमाहुः **तेन सर्वेऽभवन्समा** इति, सर्वस्य लौकिकवैदिकस्य भक्त्यर्थत्वभवनेन सर्वे राजसा यादवा निवृत्तचित्तवैषम्याः तुल्यरूपाः सात्त्विका अभवन्. तथा

निबन्धकठिनांशविवेचनम्

गोपानामितिवद् इत्यर्थः. अथ **प्रमेयबलमासाद्य** सर्वेषां **समं मतं फलं चापि ह्यभूदित्यर्थः**. **प्रमेयबलमासाद्य यादवानां कृतं** यद् राजसप्रकरणे **फलं** तदुद्धवप्रश्नरूपया नीत्या **पुनः सन्देहजननात् पुनः प्रमाणेनोच्यत** इति पदयोजना ॥१०७-१०८॥

अग्रे **ईशलीलां सुदुर्बोधामित्यादि**. वसुदेवे कर्मनिर्हारार्थं पृच्छति सति ते मुनयः को वेद ईश्वरो लीलार्थं वसुदेवे बाधकं कर्मापि स्थापितवानिति संशयं गताः. तदा नारदः सन्देहवारकः **पूर्ववद्** यथा चैद्यमुक्तौ युधिष्ठिरस्य, मायावत्याः प्रद्युम्नविषयः प्रद्युम्ने द्वारकां नीते वसुदेवादीनां प्रद्युम्नविषयकः सन्देहो निवारितः तद्वत् मुनीनामपि ॥१०९-११०॥

सर्वेषां सर्वभावो हि फलादपि हरिः फलम् ॥११२॥
सात्त्विकप्रक्रियायां हि सर्व एव निरूपिताः ।
निर्गुणत्वं समापन्ना निरोधोऽत्रैव रूपितः ॥११३॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

चैवं राजसादीनामैकरूप्यभवनस्य अवशिष्टत्वात् तदर्थमेतत्कथावतारणमित्यर्थः ॥१०८-१११ १/२॥

एवं सर्वमाफलं निरूप्योपसंहरन्तो निगमयन्ति **सर्वेषामित्यादि**. तथाच छान्दोग्योक्तरीतिकाहङ्कारादेशात्मादेशाभ्यां यदुक्तं तदत्र निष्पन्नं यदा तदात्र निरोधः स्कन्धप्रतिपाद्यः पूर्णः सिद्ध इत्यर्थः. एवं त्रयोदशाधिकेन शतेन सात्त्विकप्रकरणं विचारितम् ॥११२-११३॥

॥ इति सात्त्विकप्रकरणं समाप्तम् ॥



श्रीगोष्ठीशालोपनाम-रामचन्द्रभट्टात्मज-घनश्यामभट्टकृता सूचिका ।

अतः परं सात्त्विकभक्तानां निरोधार्थं सात्त्विकप्रकरणम्. सात्त्विकानां प्रमेय-साधन-फलद्वारा निरोधः सिद्धः ; प्रमाणज्ञानं तु स्वाभाविकमेव सात्त्विकानाम्, "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानमि"तिवाक्यात्. प्रमेयनिरूपणं सप्तभिरध्यायैः क्रियते. अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः. तत्र प्रथमे नृगमोक्षादिकमैश्वर्यकार्यं स्पष्टमेव. द्वितीये वीर्यं यमुनाकर्षणादिना आवेशितत्वात् स्पष्टमेव. तृतीये यशःकार्यं, पौण्ड्रकस्य स्ववेशधारकस्यापि मुक्तिदानात् फलकथनात्. चतुर्थे बलदेवक्रीडा श्रीकार्यम्, रमणेन भक्तानां द्विविदवधेन ऋषीणां चापन्निवारकत्वात्. पञ्चमे कुरूणां स्वरूपज्ञानसम्पादनद्वारा ज्ञानकार्यम्. अग्रे स्पष्टम्. षष्ठे नारदस्य निर्लिप्ततया लोकशिक्षार्थं गृहस्थधर्माचरणप्रदर्शनं वैराग्यम्. सप्तमे प्रातरुत्थानादि-स्नानादि-दानादि-सभाप्रवेश-राजकार्यकरणादिकं धर्मिकार्यं स्फुटमेव.

अधुना साधनप्रकरणम्. अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः. साधनमर्यादाबोधकत्वात् साधनत्वमस्य प्रकरणस्य. प्रथमे सर्वसैन्यसाहित्येन हस्तिनापुरगमनं तत्र गतस्य युधिष्ठिरादिभिः पूजादिकरणम् ऐश्वर्यम्. द्वितीये युधिष्ठिरस्य दिग्विजयादिकं भीमद्वारा जरासन्धवधादिकं वीर्यम्. तृतीये जरासन्धरुद्धराज्ञां मोचनं तत्कृतस्तुत्या च यशःकार्यम्. चतुर्थे शिशुपालवधेन तस्य शापरूपापन्निवारकत्वात् मुक्तिदानात् श्रीकार्यम्. पञ्चमे दुर्योधनस्य जलस्थलभ्रमे भीमादिहास्यं दृष्ट्वा भूभारहरणं भविष्यतीति ज्ञात्वा भगवतस्तूष्णीम्भावो ज्ञानकार्यम्. षष्ठे शाल्वयुद्धे प्रद्युम्नस्य सारथिनापसर्पणे कृते युद्धे मरणमधिकं मन्यमानस्य युद्धापसर्पणस्य शरीररक्षाहेतुत्वात् तन्निन्दनेन शरीरादौ विचिकित्सा एव वैराग्यकार्यम्. सप्तमे शाल्ववधादिना धर्मिकार्यं स्फुटमेव.

अतः परं सात्त्विकानां फलप्रकरणं सप्तभिरध्यायैर्निरूप्यते. अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः. प्रथमे दन्तवक्त्रवधादिचरित्रमैश्वर्यम्. बलदेवेन सूतवधादि पुनस्तस्य स्थापनं च ब्रह्मशापान्मोचनम् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यम्. द्वितीये बल्वलवधादिकं वीर्यम्, आवेशकार्यत्वात्. तृतीये सुदाम्नो दरिद्रस्य लक्ष्मीसहितेन सत्कारकरणं यश एव. चतुर्थे एकमुष्टितन्दुलदानमात्रेण सर्वसम्पद्दानं मुक्तिदानं च श्रीकार्यम्. पञ्चमे कुरुक्षेत्रयात्रायां भक्तान् प्रति रहसि भगवतो

ज्ञानोपदेशवाक्यानि ज्ञानकार्यम्. षष्ठे भगवन्महिषीवाक्ये भगवद्दास्यप्रार्थनायां संसारे वैराग्यबोधनं भगवत एव वैराग्यकार्यम्. सप्तमे भगवद्दर्शनार्थं द्वैपायनादीनामृषीणामागमनं तान् प्रति भगवद्ध्यानादिकं धर्मिकार्यम्.

उत्तरार्धसूचनिका

६१।४२ **मदीयानां मत्कृतं कर्तव्यं, किं लोकेन वेदेन वेत्युपदेशः.**

६२।२ **गोपानां गोपीनां च एक एव परिचयलक्षणो भावः.**

६२।१० **अनुसेवा अपेक्षिता इच्छानुसारिणी सेवा.**

६२।१३ **लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे** इति श्लोकः.

६२।१४ **भक्तिमार्गे प्रतिबन्धान् दूरीकृत्य स्नेहेन भगवद्भजनं कृतं स्यात्, निरोधे क्षणमपि भगवददर्शने देहेन्द्रियादिकं त्यक्तं स्यात्, मुक्तौ वै प्राणग्रहणं न स्यादि**ति.

६३। वैदिकादपि निरोधः काशीदाहे.

६३।४० काशीदाहश्रुत्या साधितोऽपि रथाङ्गपाणेरिति तस्य **लौकिकवैदिकसामर्थ्यनाशकत्वम्.**

६३।४२ समाप्तौ **न हि भगवान् क्लिष्टं करोती**ति.

६५।१५ नीतिमार्गगैः **बृहस्पतिप्रभृतिभिः.**

६५।२६ **चामरव्यजन-शङ्खातपत्र-किरीटासनशय्या** महाराजचिह्नानि. **भोगः प्राणधर्मः, आज्ञापनादिरन्तःकरणधर्मः.**

६५।४७ **लोके द्वेधा कोपो भवति— द्विष्टे वा महत्युत्कर्षासहनाद् वा.** भगवतो हि कोपः शिक्षार्थः.

६५।५२ अपराधेऽपि **तथाविधस्यानङ्गीकारे भक्तिमार्ग** एवोच्छिद्यते.

६६।१ **तासु भोगो भगवत्कृतः शास्त्रविरोधान्न मन्तव्य इति प्रामाण्यार्थं नारददृष्टिः.**

६६।२ वपुषो **ब्रह्मधर्मत्वम्.**

६६।७ **विशेषतो भगवद्गृहं वर्णयती**ति.

६६।१८ **दृष्टमित्यनेन ज्ञानपक्षो निराकृतः.**

६६।३८ **प्रमेयभक्तिमार्गो न साधीयानित्यादि. आत्मत्वेन स्फुरितो भगवानेव पादभजने** हेतुरित्यादि. एतन्मतपरित्यागेन

कीर्तनमार्गेणैव स्थास्यामीति.

६६।४५ य एतां लीलां गायति स्वत एवानन्देन कीर्तयत इत्यादि.

६७। आह्निकं निरूप्याह्निकनिरूपणम्.

६७।२८ अथ मतं प्रायिकमेतत् पुष्टिमार्गीयाणामेव.

६७।४१ देवतातः फलमिति पक्ष इत्यादि.

६७।४३ प्राकृतबुद्ध्या श्रवणादौ न फलमित्यादि.

६७।४७ उद्धवो हि न युद्धादावुपदिश्यते, ज्ञानांशत्वादिति.

६८।१ धर्मब्राह्मणावेव पुष्टिमार्गे बाधकौ.

६८।७-८ सोपवीतं वस्त्रद्वयसहितं ब्रह्मवेषः. अरूपिणः ब्रह्मशिवौ खड्गादिवन्निमित्तम्.

६८।९ भगवद्यशो न नूतनमुत्पादनीयं ; सिद्धमेव यशः.

६८।१० भक्तिमार्गश्च सर्वेभ्योऽतिरिच्यते.

६८।३३ गृहमूर्ध्निस्थितहेमकलशैः.

६८।३८ अन्तःकरणशरीराणि तेषां भगवत्पराणि.

६८।४१ एवं प्रेम्णा विकलेषु सत्सु.

६८।४५ सर्वभावेन सेवा.

६८।४५ देवेष्वग्निः प्रधानभूतः.

६९।३ इन्द्र एव यष्टव्य इति मर्यादा. तथापि परिच्छेदः समायातीति भगवदंशानामेव यागं निरूपयति.

६९।४ त्वां प्रपन्ना नैतादृशं वाञ्छन्ति. तथापि यदि वाञ्छन्ति तदा प्राप्नुवन्तीति सिद्धान्तः. परिचरन्तीति कायिको व्यापारः, ध्यायन्तीति मानसः. चित्तमस्थिरं योगव्यतिरेकेण ; कथं ध्यानम् ? एतत्प्रवर्तित एव सर्वोऽपि संसार इति एतत्परिचर्यायां न प्रमाणाभ्यनुज्ञापेक्षेति. प्रथमप्रवृत्तस्यैव धनादिहरणमन्यथा सर्वसेव्यता न स्यात्. अग्रेऽपि किञ्चित्.

६९।९ भगवद्रूपं हृदयात् प्रतिमायामिव.

६९।१० यज्ञावेशस्तु मन्त्रादिना न भवति. भगवान् हृषीकाणामत्यन्तजये

जितो भवति.

६९।११ अहमेव परः स्वामी यस्य तं न कोऽप्यभिभवितुं शक्तः.

६९।१७ अतिथिवेला वैश्वदेवः.

७०।५ इन्द्रियाणां सर्वभावप्रवृत्तिः अन्यदपि किञ्चित्.

७०।६ अक्षरे भगवच्चरणारविन्दे.

७०।७ एवं सर्वभावेन सिद्धसमस्तपुरुषार्थाः.

७०।१५ संसरणं त्वभीष्टं, भगवदीयमार्गोपयोगित्वात्.

७०।१८ अत्यन्तस्नेह एव नित्यस्मरणम्. अन्तर्बहिरावश्यकसेव्यः.

७०।२१ देहादौ वैराग्यम्.

७०।२२ सर्वत्रैव पुरुषार्थसिद्धिरिति नाश्रमान्तरमुपदिशति "प्रजातन्तून् वितन्वतः". दुःखादिसहने साधनं मच्चित्तता.

७०।२३ एवं निरभिमानस्थितिः प्रेमभक्तिर्निरन्तरस्मरणमन्ते मोक्षः.

७०।२५ पूजायां प्रकारमाह स्नान-कञ्चुकोष्णीष-स्रक्चन्दनादि-वरान्नानि. पुनः सायं स्नानालङ्कार-ताम्बूलपुरःसरं नृत्यगीतादि.

७१।१८ आधिदैविकपूजार्थम् अयमेव मुख्यो यागः.

७१।१९ स्थानापेक्षया स्वरूपमुत्तममिति "यावतीर्वै देवताः" इति वाक्यानुरोधं परित्यज्य सर्वदेवतामयं भगवन्तमेव पूजयन्त्वित्यर्थः.

७१।२० ब्रह्म तर्हि अग्निरिति अग्निपदं ब्रह्मपरम्. वेदार्थरूपत्वमप्याह योग्यत्वायाहुतीनां ब्रह्मत्वमाह. वेदादिपञ्चशास्त्राणां षष्ठस्य कृष्ण एव तात्पर्यं स्कन्दपुराणे.

७१।२८ भक्त्या पूजनं नाङ्गविकलं भवतीति.

७२।१४ तैल-गोरस-गन्धोद-हरिद्रा-सान्द्रकुङ्कुमैः लिम्पन्त्यः.

७२।२३ तस्य भगवत्पूजायामेव तात्पर्यम्. तेन तदात्मकाः सर्व इति सर्वपूजनम्.

७२।२७ राजर्षेः स्वधर्मनिरतस्य हरिदासस्य च प्रमाणप्रमेयबलपुष्टस्य.

७३।१ इदं रहस्यं भगवदीयैः सर्वदैवानुसन्धेयम्.

७३।१३ सर्वथा भग्नोपाय एव भगवत्परो भवतीति.

७३।३३ अतो धर्म-कीर्तिविरोधे धर्मो रक्षणीय इति सिद्धान्तः.

७४।२३ (?) मद्भक्तपूजाभ्यधिकेति.

७५।२५ इतिहासश्रवणेन नीतिज्ञानं भवति.

७५।२६ अविनीतस्य विद्या निर्वीर्येति दोषकपञ्चकसद्भावान्नास्मिन् विद्याफलम्.

७५।३० स्वल्पायुर्ज्ञात्वायुर्दत्तमित्यादि.

७६।१४ प्रभृति श्रीरङ्गमुख्यतीर्थानि.

७७।३-४ इन्द्रियवत्त्वं भगवच्चरित्रादेव. कर्म लौकिकं परिचर्यात्मकं भगवत्त्वेन ज्ञात्वा यज्ञकृतौ तदपि भवति. शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेत्. विष्णोः शालिग्रामादौ इत्यादि.

७७।६ भगवानेव भगवतः सखेत्यादि.

७७।११ यः स्मरति तस्मै बहु प्रयच्छतीत्यादि.

७७।२२ पूजायामारात्रिकैः.

७७।२४ अन्यद्वारा मलापकर्षणं कृत्वा पश्चात्पूजापक्षो निवारितः.

७७।३० ईन्धानास्त्वाशतमित्यादिना कर्मविचारः स्वभावविजयार्थं कर्मकरणम्.

७७।३१ आदित्यवर्णं तमसः परस्ताद् इति.

७७।३२ गुरोर्भक्तेरनुभवपर्यवसायित्वात् स्वतुल्यता.

७७।३३ ये गुरुमेव भजन्ते ते अर्थकोविदाः. वर्णधर्मा आश्रमधर्माश्च न साधकाः.

७७।३४ स्नेहसेवया गुरोरानन्दः. यद्यपि अङ्गभावेन सेवायाः तथापि मत्प्रीतिहेतुरित्यादि.

७७।३५ सेवाविशेषस्मारणं नवभिः.

७७।४१ यद् विशुद्धभावेन सर्वस्यार्थस्यात्मनश्च समर्पणमित्यादि.

७७।४२ छन्दसाम् अयातयामत्वलक्षणम्.

७७।४५ शब्दब्रह्मशरीरत्वं कृष्णस्य.

७८।३ अण्वप्युपाहृतं भूरि, अभक्तोपहृतं, पत्रं पुष्पं फलं, प्रेम

तु साधारमेव मत्समीपे समायाति इत्यादि.

७८।१७ बालव्यजनहस्तयेति महाराजोपचारः.

७८।१८ पादसंवाहनमादिर्येषां ते च चतुःषष्ठ्युपचाराः.

७८।३६ सख्यं प्राणस्य दास्यं देहस्य.

७८।३९ यज्ञभोक्तुर्नियन्तुः.

७८।४० तस्य ध्यानवेगेनैवोद्ग्रथिता आत्मनः सर्व एव अविद्यादिबन्धा यस्येत्यादि.

७९।१७ एतदेव परमवैष्णवलक्षणं येन्योऽन्यतो भागवताः.

७९।३० शास्त्रं वचो गीता भागवतम् , श्रवणादिधर्मस्तुतिः.

७९।३६ यशोदानन्दौ बालभावेनैव भावनां कुरुत इत्यादि.

७९।४० भगवन्तं दृग्भिरेव हृदीकृत्येत्यादि.

७९।४४ मयि भक्तिर्हि भक्तिः शास्त्रीया आन्तरप्रेमसहितसेवादिः.

७९।४८ अध्यात्मशिक्षात्वं पूर्वोक्तस्य.

८०।१ मुख्यसाधनं कीर्तनम्. गोपिका उत्तमाः परं पुष्टिस्थाः, मर्यादायां श्रेष्ठो युधिष्ठिरः.

८०।३ अत्र भक्तिमार्गस्यायं सिद्धान्तः इत्यादि भक्तिरसः.

८०।४ एवं पुरुषाणां सर्वभावप्रपत्तिः.

८०।१६ अर्चनात्मा रुक्मिणी स्यादित्यादिना सप्तभक्तयः, सख्यरूपा त्वष्टमीयम्. स एव सख्यं प्राप्नोति यस्य जन्मप्रभृतीत्यादि. अच्युतत्वं भजनीयत्वे मुख्यो हेतुः.

८०।४३ भगवदीयशरीरं तेनैव भवति. भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः.

८१।१ दृष्टादृष्टलीला दृष्टा भगवत्कृतिः अदृष्टं चरणरजः, उभयोः सम्पत्तौ भगवदीयत्वम्.

८१।१०-१३ "किं स्वल्पतपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम्. न ह्यम्मयानि नाग्निर्न सूर्यो". लोकप्रवृत्त्यारुच्या द्वितीयः प्रत्यक्षदेवपूजानिराकरणाय तृतीयः. न हि निन्दान्यायेनोक्तं भेदकृतः सगुणभक्तिमार्गीयस्य निषिद्धम्. विपश्चितो विहितं खट्वाङ्गवद् इति ध्येयम्. भौमे स्वदेहादावित्यादिना भेदकृत्-

सगुणविपश्चिन्निर्गुणातिरिक्तान् एकीकृत्य निन्दा.

८१।१४ दुरन्वयं वचः.

८१।१५ स्वयं चैवं ब्रूयाद् अन्योऽप्येवं वदेदिति.

८१।१७ लोके ईहासहितो घटादिकं सृजति, भगवांस्तु निरीहः सृजति इत्यादि.

८१।१८ तेन सत्त्वेन वर्णाश्रमात्मा भूत्वा पुरातनं वेदपथं पालयसि बिभर्षि वा.

८१।१९ हृदयेऽक्षरब्रह्म पुरुषोत्तमाविर्भावादि.

८१।२१ विद्याः सर्वास्तासां फलं सर्वज्ञता, तपसः फलं साक्षात्कारः.

८१।२६ उत्सिक्तभक्तिः मर्यादामप्युल्लङ्घ्याधिका जाता. अनया समर्पिता आशयजीवकोशा अन्तःकरणात्मसङ्घाताः.

८१।३५ कर्मणा कर्मनिर्हारः यो यज्ञवराहरूपो विष्णुरिति श्रुतेः यज्ञेन यज्ञमयजन्त.

८१।३६ ननु परिचर्यादिरपि पञ्चरात्राद्यागमे उत्सवाश्च वैष्णवमार्गो योगादिरूपः इत्यादि. अन्ये तु सर्वे मार्गा गार्हस्थ्यभञ्जकाः.

८१।३८ अतएव वेदे स्वर्गार्थमेव यज्ञाः निरुक्ताः, अन्यथा मानसा एव यज्ञाः, अन्यथा श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात्.

८१।४८ कल्पोक्तेन प्रकारेण.

८१।४९-५० तस्यर्त्विजः एवम् इन्द्रवरुणादिसाधारणोऽस्य यज्ञः.

८१।५१ अग्निहोत्रादि द्रव्यमाधिभौतिकं, ज्ञानमाधिदैविकं, क्रिया आध्यात्मिकी — एतत् त्रितयेन भगवान् पूज्यते.

८१।६९ नन्दो गोप्यश्च एका कोटिर्गोपाश्चापरा.



॥ श्रीगोकुलरायकृतो अध्यायार्थः ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे भक्तेन भगवदाज्ञया भगवदिच्छां च ज्ञात्वैव सर्वं कर्तव्यम्, अविचार्य धर्मादिष्वत्यन्तमाग्रहो न कर्तव्यः, धर्मादिमार्गेषु ब्राह्मणादीनां क्षोभोऽपि न कर्तव्य इति त्रयज्ञापनार्थं पूर्वतनभक्तस्य भगवदिच्छाज्ञानाभावेन अविचारेण दानाग्रहवतो ब्राह्मणक्षोभात् प्राप्तदुर्जरब्रह्म-स्वापहारदोषफलं भुञ्जतो नृगस्य कर्मक्षयाभावेऽपि निजैश्वर्येण प्रमेयबलेन दोषनिवारणपूर्वकमोचनाद् ऐश्वर्यनिरूपणम् एकषष्टितमेऽध्याये.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे बलभद्रे स्वगुणानाधाय तद्द्वारा पश्चाज्जातानां गोपीनां रमणेन निरोधनस्य वीर्यबोधकत्वाद्, देवसान्त्वनेन निवृत्तेः प्रमेयरूपभगवद्वीर्यबोधकत्वात्, सर्वत्रानुकल्पस्य सानुभावत्वबोधनार्थं वरुणप्रेषितमधुधारया देवसम्मतरमणकान्तिसन्माननाभ्यां बोधितभगवदावेशेन बलदेवेन बान्धवक्षोभेण भगवत्प्राप्तिरूपार्थरहिताया यमुनाया जलक्रीडार्थमाकर्ष-णेन भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धक-दोषनिवारणस्यापि प्रमेयरूपभगवद्वीर्यबोधकत्वाद् वीर्यनिरूपणं द्विषष्टितमेऽध्याये.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे मात्सर्येण निजरूपधारकस्यापि पौण्ड्र-कस्य तद्दोषनिवारणेन मुक्तिदानस्य यशोनिरूपकत्वात्, सुदक्षिणप्रहिताभिचारप्र-तिघातहेतु-ब्रह्मण्यत्वस्यापि यशोरूपत्वाद् यशोनिरूपणं त्रिषष्टितमेऽध्याये.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे बलदेवरमणस्य श्रीप्रयुक्तत्वाद् , द्विविदमुक्तिप्रतिबन्धकदोषनिवारणेन तदापत्तिनिवारणस्य तद्वधेन ऋष्यादिसर्व-लोकापत्तिनिवारणस्य च श्रीकार्यत्वात् श्रीनिरूपणं चतुःषष्टितमेऽध्याये.

अत्राध्यायचतुष्टये किञ्चिदधिकं लिख्यते.

नृगस्य सूर्यवंशोद्भवत्वेन भक्तत्वं सात्त्विकत्वं च. परं धर्मव्यसनित्वाद् ब्राह्मणक्षोभात् प्राप्तब्रह्मस्वापहारदोषेण धर्मो न सिद्धः अधर्मश्च सिद्धः. अत एव धर्मफलाभावोऽधर्मफलभोगश्च. परं भक्तत्वाद् द्वारकापतितत्वाद् भगवतैव प्रमेयबलेन दोषनिवारणे धर्मः सिद्धः. ततो देवगतिर्मुक्तिश्च.

यमुनाया अपि सूर्यपुत्रीत्वेन भक्तत्वं सात्त्विकत्वं च. इयं यमुना न लीलामध्यपातिनी, तस्यां दोषसम्भावनाऽभावात् , किन्तु कालिन्दीरूपा. तस्याश्च पतित्वेन भगवत्प्राप्तिरूपार्थव्यसनित्वाद् बान्धवयमक्षोभेण, बान्धवैर्वि-ष्णवेऽदानाद्, भगवत्प्राप्तिरूपोऽर्थो न सिद्धः. अत एव तपश्चरणं, ''मत्त

इत्यपगामि''त्यनेन बलदेवाविष्टभगवदज्ञानं, बलदेवेनाकर्षणं भर्त्सनं च. परं भक्तत्वात् तत्र जलक्रीडायां बलदेवाविष्टभगवता प्रमेयबलेन तद्दोषनिवारणे पश्चाद् इन्द्रप्रस्थं गतस्यार्जुनस्य सख्युर्भगवतः पतित्वेन प्राप्तिः. अत्र दशमस्कन्धे कृष्णकृतानां लीलानां न क्रमेण निरूपणं किन्तु निरोधस्यैवोत्तरोत्तरमुत्कृष्टस्य क्रमेण निरूपणम्. तत्र क्रमेण निरोधे निरूप्यमाणे यासां लीलानां यत्रोपयोगः तासां तत्र निरूपणमित्यदोषः.

पौण्ड्रकस्यापि करूषाधिपतित्वेन षष्ठमनुपुत्रस्य करूषस्य वंशे उत्पन्नस्य सूर्यवंशीयत्वेन भक्तत्वं सात्त्विकत्वं च. तस्यापि वासुदेवत्वेन लोकप्रतिष्ठारूप-कामव्यसनित्वात् काशीराजादि-दुष्टसङ्गेन वासुदेवस्वरूपे कृष्णे मात्सर्यदोषेण वासुदेवात्मककृष्णक्षोभात् लोकप्रतिष्ठारूपः कामो न सिद्धः. परं भक्तत्वात् निरन्तरं भगवत्स्मरणाच्च भगवतैव प्रमेयबलेन हननेन तद्दोषनिवारणे जाते वासुदेवस्वरूपत्वे वैकुण्ठे प्रतिष्ठारूपः कामः सिद्धः. काशिराजस्य न किञ्चित् सिद्धम्, अभक्तत्वात्.

द्विविदस्यापि रामावतारे सुग्रीवसचिवत्वेन भक्तत्वं देवांशत्वेन सात्त्विकत्वं च. तस्य मोक्षव्यसनित्वेऽपि विषयसुखात्मक-नरकासुरसख्येन ईश्वरस्य वेदस्य क्षोभाद् जगद्व्यतिकरावहत्वदोषान्न रामावतारे मोक्षः सिद्धः. बलदेवाविष्टभगवतैव प्रमेयबलेन तद्दोषनिवारणे पश्चान्मोक्षः सिद्धः.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे लक्ष्मणाहरणप्रसङ्गे पाण्डवानां कौरवाणां सकृष्णेषु यादवेषु हीनत्वभावनारूपं दोषं निवार्य बलदेवाविष्टभगवता प्रमेयबलेन ज्ञानजननाद् ज्ञाननिरूपणं पञ्चषष्टितमेऽध्याये.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे वैष्णवमुख्यस्य नारदस्य सर्वगेहेष्वेकरूपेण वर्तमानत्वप्रदर्शनेन प्रमेयबलेन अज्ञानदोषं निवार्य निर्लिप्ततया लोकशिक्षार्थं गृहस्थधर्माचरणकथनाद् वैराग्यनिरूपणं षट्षष्टितमेऽध्याये.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे ''अथोषस्युपवृत्तायामि''त्यादिना निरूपितस्य प्रत्यूहकारित्वस्य स्त्रीणां दोषस्य स्वयं धर्माचरणेन निवारणात् स्त्रीषु कृपावत्त्वस्य स्वरूपधर्मत्वेन धर्मिबोधकत्वाद्, अग्रे राजसभाप्रवेशे उद्धवे प्रश्ननिरूपणात् यादवानां भगवदिच्छाविरुद्धस्य जरासन्धजिगीषुत्वस्य दोषस्य निवारणाद् भक्तयुधिष्ठिरपक्षपातस्य स्वरूपधर्मत्वाद् धर्मिनिरूपणं सप्तषष्टितमेऽध्याये.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे– नीतिपूर्वं जानता समर्थेनापि भगवदाज्ञां साहाय्यं वा लब्धव्यं जनोद्योगे –भगवता आगत्य हिते उपदिष्टे कृते च तदनुसारेणैव कृतस्य वैदिककर्मणो यज्ञादेः साधनत्वं ज्ञापयितुं युधिष्ठिरप्रार्थनया तन्मनःप्रीणनार्थं सर्वसैन्यसाहित्येनेन्द्रप्रस्थं गतस्य भगवतो युधिष्ठिरादिकृतपूजादेः ऐश्वर्यबोधकत्वाद् ऐश्वर्यनिरूपणमष्टषष्टितमेऽध्याये.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे युधिष्ठिरेण यज्ञार्थं स्वमनोविचारितनिवेदने भगवता च यज्ञायाज्ञप्ते तद्भ्रातृभ्यः स्वसामर्थ्यं दत्वा तैर्दिग्विजयस्य पुनर्ध्यायति युधिष्ठिरे उद्धवोक्तप्रकारमुक्त्वा भीमे स्वसामर्थ्यं दत्वा तेन जरासन्धवधस्य च वीर्यकार्यत्वाद् वीर्यनिरूपणमेकोनसप्ततितमेऽध्याये.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे जरासन्धरुद्धराज्ञां मोचनस्य तत्कृतसत्कृतेस्तेषां स्वाज्ञप्तलौकिकवैदिक-साधनकरणस्य च यशोरूपत्वाद् यशोनिरूपणं सप्ततितमेऽध्याये.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे साधनरूपयज्ञसंसिद्धेः श्रीकार्यत्वात्, यज्ञे शिशुपालादिदैत्यसन्निधौ देवानां निःशङ्कमागमन-हविर्ग्रहणाद्यसम्भवाद् देवशङ्कानिवृत्त्युपाये भगवत्पूजने कृते दैत्यानां मतिक्षोभात् कृष्णगुणवर्णनजातमन्युना शिशुपालेन स्वपीठादुत्थाय प्रकटतया दैत्यस्वरूपे दर्शिते भगवन्निन्दने च कृते भगवता शिशुपालवधेन तच्छापरूपापत्तिनिवारणस्य च श्रीकार्यत्वात् श्रीनिरूपणमेकसप्ततितमेऽध्याये.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे अभक्तसङ्गत्यागरूपं साधनं वक्तुं युधिष्ठिरस्य अलौकिकीं यज्ञसम्पत्तिं लौकिकीमन्तःपुरसभासम्पत्तिं च दृष्ट्वा तप्ते दुर्योधने पुनर्जलस्थलदृशिभ्रमे भीमादिभिः कृतेन हास्येन भग्नमाने भृशं सन्तप्ते पाण्डवेषु वैरं निश्चित्य हस्तिनापुरं गते भगवतस्तूष्णीम्भावस्य भूभारहरणोपायज्ञानमूलत्वाद् , दुर्योधनमानभङ्गे समागतो रामोऽविचार्य पाण्डवान् हनिष्यतीति ज्ञात्वा तद्रक्षार्थं भगवतस्तत्र स्थितेरपि ज्ञानमूलत्वाद् ज्ञाननिरूपणं द्विसप्ततितमेऽध्याये. षट्चत्वारिंशाध्यायेऽक्रूरोपदिष्टेन धृतराष्ट्रेण पुत्रादिमरणं भूभारहरणं जानतैव ज्ञानं विरुद्धकरणाद् धर्मिलीलात्वम्. अत्र तु दुर्योधन-भीमादीनां तज्ज्ञानाभावाद् भगवज्ज्ञानानुसारेणैव सर्वकरणमिति ज्ञानलीलात्वमिति विभेदः.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे भगवदाज्ञोल्लङ्घनस्य अनिष्टहेतुत्वे-

नासाधनत्वं ज्ञापयितुम् आज्ञामुल्लङ्घ्य द्वारकात इन्द्रप्रस्थं गते रामे द्वारकायां शाल्वकृतात्यन्तपीडानिरूपणे स्वपुत्रस्य प्रद्युम्नस्य पराजये मूर्छायां च द्वारकामुपेक्ष्य भगवत इन्द्रप्रस्थे स्थितिबोधनात् वैराग्यनिरूपणं त्रिसप्ततितमेऽध्याये.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे भगवदाज्ञायां सत्यां लौकिकं वैदिकं च कर्मापि भगवत्प्राप्तिसाधनम्, आज्ञाभावे तु भगवत्सेवनमेव परमं भगवत्प्राप्तिसाधनमिति ज्ञापयितुं महादेववरप्राप्त-पुरशाल्ववधप्रसङ्गे पूर्वपक्षत्वेन मतान्तरसिद्ध-मोहलीलोक्त्यनन्तरं सिद्धान्तकथने भगवत्पादसेवकानाम् ऊर्जितात्मविद्यया अविद्यानिवृत्तिपूर्वकम् आत्मीयानन्तैश्वर्यलाभकथनात् कैमुत्येन शोकमोहादिरहित-निर्गुणकृष्णस्वरूपबोधनाद् धर्मिनिरूपणं चतुःसप्ततितमेऽध्याये.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे स्पष्टदुःखाभावरूपफलदानार्थं कृष्णेन त्रिविधदुष्टहननानन्तरं पुरप्रवेशे सुर-मानव-मुन्यादिभिः कुसुमवर्षिभिः उपगीयमानविजयत्वस्य ऐश्वर्यबोधकत्वाद् , भगवति न्यस्तशस्त्रे यादवानामाज्ञाकारित्वस्याप्यैश्वर्यबोधकत्वात्, रामेणापि अधमे वक्तरि सति श्रोतॄणां पापसम्भवज्ञानानुदयरूपस्य स्पष्टस्य दोषस्य सर्वसाधारणस्य निवारणार्थं ऋषिभिः कलिकालदोषेण अधमस्य वक्तृत्वेन स्थापितस्य सूतस्य वधानन्तरमृषीणां सन्तोषार्थं सर्वसामर्थ्यवन्तं श्रीभागवतश्रवणकथनाधिकारिणं स्वावतारं विधाय तत्पुत्रस्थापनस्य ऐश्वर्यबोधकत्वाद् , वधनिर्वेशेन लोकसङ्ग्रहस्य मुनीनां वरेण छन्दनस्य चैश्वर्यबोधकत्वाद् ऐश्वर्यनिरूपणं पञ्चसप्ततितमेऽध्याये.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे अस्पष्टदुःखाभावरूपफलदानार्थमगृहीतशस्त्रेणैव कृष्णेन पाण्डवेषु स्वसामर्थ्यं स्थापयित्वा सर्वसाहाय्यकरणस्य वीर्यबोधकत्वात् , रामेणापि ऋषीणामसाधारणदोषस्य बल्वलस्य हननानन्तरं तीर्थाभिषेकेण तीर्थेषु विद्यमानानां दैत्यसम्बन्धेन वर्णाश्रमधर्मनाशकानां दोषाणां निवारणस्य वीर्यकार्यत्वाद् , ऋषीणां ज्ञानोपदेशेन श्रीभागवतश्रवणेऽनन्यत्वरूपाधिकारसम्पादनस्य च वीर्यकार्यत्वात् वीर्यनिरूपणं षट्सप्ततितमेऽध्याये.

भगवता त्रिविधदुष्टहननेन त्रिगुणकृतदोषनिवृत्त्या दुःखाभावः यादवानां पाण्डवानां च स्पष्टास्पष्टदुःखनिवारणम्. रामेणापि सूतवधेन कालदोषनिवृत्त्या, बल्वलवधेन तीर्थाभिषेकेण च देशदोषनिवृत्त्या, यज्ञैर्ज्ञानेन चात्मदोषनिवृत्त्या दुःखाभावः. सूतवधेन ऋषीणां स्पष्टदुःखहेतुनिवारणं, यज्ञदूषकबल्वलवधाद्

यज्ञसम्पादनेन ज्ञानोपदेशेन च ऋषीणामस्पष्टदुःखहेतुनिवारणं, तीर्थाभिषेकेण दैत्यसम्बन्धनिवारणात् सर्वलोकानामस्पष्टदुःखहेतुनिवारणम् — इत्यध्यायद्वयविभेदः.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सुखोत्कर्षरूपफलदानार्थं सुदाम्नो ब्राह्मणस्य अर्धमृषेः दरिद्रस्य पूर्णऋषित्वभक्तत्वरूपालौकिकसम्पत्तिसम्पादनाय श्रीनिकेतेन भ्रातृवत्सम्मानन-सम्भाषणादेः यशोरूपत्वात् यशोनिरूपणं सप्तसप्ततितमेऽध्याये.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सुखोत्कर्षरूपफलदानार्थं तण्डुलैकमुष्टिं जग्ध्वा परोक्षं ब्राह्मणभार्यायै लौकिकसर्वसमृद्धिदानात् श्रीनिरूपणमष्टसप्ततितमेऽध्याये.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सर्वेषां वाञ्छिताकारेण कृष्णेन कुरुक्षेत्रे आगतानां सर्वजनानां सान्निध्यदर्शनादिभिः शुद्धसात्त्विकभावं सम्पाद्य देहादिकं जगत्सर्वं विस्मार्य निजपरत्वमपि सम्पाद्य यथाधिकारं स्वरूपात्मकं फलं दातुं सर्वलोकप्रसिद्धं तादृशं कालं निमित्तीकृत्य कुरुक्षेत्रे सर्वजनानयनस्य स्वगमनस्य च सर्वजननिरोधोपायज्ञानमूलत्वाद् , गोपीनां सर्वभावेन निरोधार्थमन्ते साक्षाज्ज्ञानोपदेशाच्च ज्ञाननिरूपणमेकोनशीतितमेऽध्याये.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे स्त्रीणामत्यन्तवल्लभस्य कृष्णस्यैव फलत्वं ज्ञापयितुं सर्वस्त्रीणां स्वस्वपतौ विद्यमानस्य सहजस्नेहस्य निवृत्तये पूर्वकृतौ पश्चात्तापपूर्वकं कृष्णे स्नेहवृद्धये च द्रौपदीपृष्टाभिः कृष्णमहिषीभिः लोकतो वेदतश्च भगवदुत्कर्षज्ञापक-स्वस्वविवाहप्रकारकथनानन्तरं साक्षाद्भगवत्सेवोपयोगिदेहसम्पादक-दास्यप्रार्थनया चरणरजःप्रार्थनया च कृष्णे कामाद्यभावज्ञापनाद् वैराग्यनिरूपणमशीतितमेऽध्याये.

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सर्वसाधनवतामृषीणां भगवद्दर्शनार्थमागमनकथनेन तत्कर्तृकभगवत्स्तुत्या स्तुतौ चात्मसमर्पणकथनेन च ऋषि-देव-पितॄणां चात्यन्तवल्लभस्य कृष्णस्वरूपस्यैव फलत्वकथनात् , यादवानां सात्त्विकत्वभगवदीयत्वभवनार्थं संस्कारमात्रेण स्थितस्य राजसत्वदोषस्य प्रमेयबलेन भगवता निवारणे कृतेऽपि उद्धवप्रश्नरूपनीत्यालम्बनात् पुनर्यादवानां सन्देहोत्पत्त्या कृष्णे लौकिकबुद्ध्युदये भगवदीयत्वपूर्वकसर्वभावेन पूर्णनिर्गुणतासम्पादकनिरोधभावात् पुनः प्रमाणबलेन दोषनिवारणार्थं तदनन्तरं च

सात्त्विकत्वभगवदीयत्वपूर्वकं सर्वभावेन पूर्णनिर्गुणतासम्पादकनिरोधार्थं च वसुदेवपृष्टैर्मुनिभिः प्रमाणभूतैः नारदेन निवृत्तसन्देहैः वसुदेवे कर्मनिर्हारेषणापरित्याग-ऋणापाकरणरूपयज्ञफलासम्भवात् कृष्णस्यैव यज्ञफलरूपत्वे बोधिते तदर्थमेव यज्ञेषु कारितेषु च लौकिकवैदिकसाधनानां सफलसिद्धावेकीभावान्निवृत्तदोषाणां यादवानां सात्त्विकत्वे भगवदीयत्वे च सम्पन्ने, सर्वभावपूर्वकं पूर्णनिरोधेन निर्गुणत्वे च सम्पन्ने, सात्त्विकप्रकरणे निरूपितानां सर्वेषामप्यवभृथस्नानेन पूर्वोक्ते सम्पन्ने स्वरूपेणैव परमोत्सवलक्षणफलदानाद् धर्मिनिरूपणमेकाशीतितमेऽध्याये.



श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धान्तर्गत–सात्त्विकप्रकरण–विषयानुक्रमणिका



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धसुबोधिन्यामुत्तरार्धे चतुर्थे सात्त्विकप्रकरणे अवान्तरप्रमेयप्रकरणे

॥ प्रथमः स्कन्धादितो एकषष्टितमोऽध्यायः ॥

* * *

राजसप्रक्रिया पूर्णा तत्त्वैरिन्द्रियशोधिका।
निरूपिता नातियत्ना सात्त्विकी त्वधुनोच्यते॥(१)॥
अध्यायैरेकविंशत्या वसुदेवमखावधि।
चतुर्धा रूप्यते षड्भिः षड्भिः षड्भिस्त्रिभिस्तथा[१]॥(२)॥
अर्थो धर्मस्तथा कामः मोक्षश्च त्रिविधोऽन्ततः।
प्रकीर्णकाख्यानवती प्रक्रियेयमिहोच्यते॥(३)॥

श्रीविठ्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

पञ्चदशेऽध्याये कारिकासु **तत्त्वैरिति** अष्टाविंशतिभिरध्यायैरित्यर्थः. **इन्द्रियशोधिकेति**. तामसप्रकरणीयलीलाश्रवणे तामसाहङ्कारकार्यभूतात्मकत्वाद् देहस्य शुद्धिर्भवति, एवं राजसलीलाश्रवणे राजसाहङ्कारकार्येन्द्रियशुद्धिर्भवति, तथा सात्त्विकलीलाश्रवणे सात्त्विकाहङ्कारकार्यस्य मनसः शुद्धिर्भवतीत्याशयेनेदमुक्तं, **नातियत्नेति**, तामसानामाग्रहस्य दृढत्वात् तन्निरोधे भूयान् यत्नः; राजसे न तथेत्यर्थः. **चतुर्धेति**, अत्र **षड्भिः षड्भिरिति** वीप्सया वारत्रयमिदं ज्ञेयम्. तथाच प्रमेयं साधनं फलं च **षड्भिः षड्भिरध्यायैर्निरूप्यते**, **अन्ते त्रिभिरध्यायैर्धर्मिणो** निरूप्यन्ते —एवं चतुर्धेत्यर्थः (१-२).

षण्णामध्यायानामर्थमाहुः **अर्थ** इति. एवं षडध्याया इति. अनेन प्रकरणविभागोऽप्युक्तः— प्रमेय-साधन-फलैः अर्थ-धर्म-कामाः धर्मिप्रकरणेन त्रिविधो मोक्षश्चोक्त इति. **प्रकीर्णकेति**, प्रकीर्णकानि यान्याख्यानानि तद्वती प्रक्रियेत्यर्थः. अध्यायविभागपक्षमाहुः **नात्रेति**. अत्र पूर्वोक्तकारिकाया

---

१. षड्भिरन्ते त्रिभिस्तथेति लेखपाठः.

नात्र क्रमविवक्षा हि नृगः पूर्वं निरूप्यते।
गोप्यः पश्चात् ततो मिथ्यावासुदेवः प्रकीर्तितः ॥(४)॥
धर्मकामार्थयुक्ता हि प्रमाणेनैव पोषिताः।
द्विविदो लक्ष्मणा चैव नारदश्च त्रयः स्मृताः ॥(५)॥
एतेषामर्थसिद्धिर्हि षड्विधा प्रोच्यते स्फुटैः।
[१]ततः साधारणो धर्मो विशिष्टः पञ्चभिस्ततः ॥(६)॥
यथा कामकथा षड्भिस्त्रिभिर्मोक्षस्तथोच्यते।
अर्थोऽनर्थः सर्वथैव धर्मार्थमपि योजितः ॥(७)॥
तस्यापि भगवानर्थः स निरुद्धः फले परम्।

लेखः

अध्यायविभाजकत्वपक्षे कारिकोक्तः क्रमो न विवक्षितः किन्तु धर्मयुक्तो नृगः पूर्वं निरूपितः, ततः कामयुक्ता गोप्यः, ततोऽर्थयुक्तो मिथ्यावासुदेवः, ततो मोक्षत्रयमित्यर्थः (३-४).

प्रमाणेनैवेति. नृगः प्रमाणे श्रद्धाधिक्यात् तत्पोषितः. गोप्यो वेदात्मकबलदेवरमणात् प्रमाणपोषिताः. पौण्ड्रकोऽपि वेदात्मकमहादेववरपुष्टत्वात् प्रमाणपोषितः. त्रिविधमोक्षाधिकारिण आहुः **द्विविद** इति. द्विविदो "ये च प्रलम्बे" (भाग.पुरा. २।७।३४) ति श्लोके गणित एव. लक्ष्मणाया आवेशद्वारापि हस्तिनापुरविकर्षणेन भगवन्माहात्म्यज्ञानं मोक्षः. नारदस्य बहुनायिकारमणसंशयनिवृत्तिपूर्वकं भगवद्धर्मज्ञानं मोक्ष इति ज्ञेयम् (५).

प्रकरणविभागपक्षमाहुः **एतेषामि**ति. अत्र कारिकोक्तः क्रम एव ज्ञेयः — षड्भिरध्यायैरर्थः, ततः षड्भिर्धर्मः एकेन साधारणः पञ्चभिर्विशिष्टः, ततः षड्भिः कामः, ततस्त्रिभिर्मोक्ष इत्यर्थः. **अर्थोऽनर्थ** इति, नृगेन दानार्थं योजितोऽप्यर्थोऽनर्थरूप एव जात इत्यर्थः. **तस्यापी**ति, अनर्थत्वं प्राप्तस्याप्यर्थो भगवानेव. "चक्षुषश्चक्षुरि" (केन उप. १।२) तिवदर्थस्याप्यर्थरूपो **भगवान्**, परन्तु **फले** कामिते सति **स** भगवान् **निरुद्धो** भवति. फलकामनायां सत्यां पुरुषार्थत्वेन स्वयं न प्रकटो भवति किन्तु अनर्थरूपं पशुपुत्रादिकं

---

१. ततोऽसाधारण इति पाठः.

अर्थो ब्राह्मणसम्बन्धरहितश्चेत् परः स्मृतः ॥(८)॥
दृष्टान्ततो निरूप्यादौ भगवानाह तत् स्फुटम्।
उत्तरार्धे पञ्चदशे नृगमोक्षो निरूप्यते॥(९)॥
शिक्षा च सात्त्विके भावे राजसा यादवा यतः॥

अतः परं स्कन्धसमाप्तिपर्यन्तं प्रकीर्णकाः कथा निरोधोपयोगाय निरूप्यन्ते. तत्र प्रथमं नृगमोक्षो निरूप्यते. नृगो नाम कश्चिद् राजा अर्थवान् दानधर्मपरः ब्राह्मणार्थसंसर्गादनर्थं प्राप्तः. तस्यापि भगवान् उद्धारकः अधमभावादुद्धृत्य स्वर्गं प्रापयिष्यति. ततः स सर्वतो निरुद्धः भगवन्माहात्म्यं दृष्ट्वा विस्मृतप्रपञ्चः भगवदेकपरो भविष्यति. तदत्र भगवाननिरुद्धरूपः तमुद्धृत्य धर्मं ग्राहयामास. कथाक्रमे तु देवान्तरभक्तः यथानर्थं प्राप्तवान् एवं धर्मपरोऽपि नृग इति वदन् अर्थविषये धर्मतत्त्वमुच्यते. तत्र प्रथमं नृगस्य कृकलासशरीरादपगमो निरूप्यते **एकदोपवनमिति** षड्भिः.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एकदोपवनं राजन् जग्मुर्यदुकुमारकाः।
विहर्तुं साम्बप्रद्युम्नचारुभानुगदादयः ॥१॥

स्त्रियो हि भगवन्माहात्म्यं दृष्टवत्यः; बालकास्तु न जानन्तीति तेभ्य एवानर्थ उत्पत्स्यत इति ब्राह्मणातिक्रमो न कर्तव्य इति तान् बोधयितुं तद्द्वारैव नृगमोक्षो निरूप्यते. **एकदा** सर्व एव बालकाः क्रीडार्थं द्वारकाया **उपवनं जग्मुः**. दुर्गादुत्तीर्य पुराणद्वारका उपवनत्वेन स्थिता. क्रीडायां, गुप्तस्थानमिति रक्षकैर्निरुद्धमप्युपवनं, **यदुकुमारकाः** रक्षकैरनिरोध्याः **जग्मुः**. तत्र भगवत्पुत्राणां विशेषतो नामान्याह **साम्बप्रद्युम्नेति**. **विहर्तुमेव** गताः.

लेखः

ददातीत्यर्थः. यादवानां शिक्षाकरणे हेतुमाहुः **राजसा** इति. सात्त्विकधर्मेषु न निपुणाः अतः शिक्ष्यन्ते इत्यर्थः (६-९१/२).

भगवाननिरुद्धरूप इति. राजसप्रकरणे प्रद्युम्नरूपः सात्त्विकेऽनिरुद्धरूप इति पूर्वं निरूपितम्. **एकदोपवनमित्यत्र तेभ्य एवानर्थ** इति, मौसलरूपोऽनर्थ इत्यर्थः ॥१॥

साम्बोऽग्रेऽनर्थहेतुरिति स एव मुख्य उपदेष्टव्य इति प्रथमं निर्देशः. **प्रद्युम्नः** सर्वमान्यो महासमर्थः तथापि नृगोद्धारे न समर्थ इति वक्तुं निरूपितः. **चारु**स्तेषामेव दशमः. **भानु**र्नाग्निजित्याः प्रथमः. **गदादयो** भ्रातरः ॥१॥

क्रीडां प्रस्तावनार्थमुक्त्वा प्रासङ्गिकमाह **क्रीडित्वेति**.

क्रीडित्वा सुचिरं तत्र विचिन्वन्तः पिपासिताः ।
जलं निरुदके कूपे ददृशुः सत्त्वमद्भुतम् ॥२॥

समुद्रतीरस्थाने मिष्टं जलं दुर्लभमिति जलान्वेषणार्थं प्रवृत्ताः, कूपास्तत्र सम्भवन्तीति. ते हि बालका अनभिज्ञाः अभिज्ञाश्च प्रवेशं न लभन्त इति **जलं विचिन्वन्तः कूपे अद्भुतं** विचित्रं **सत्त्वं ददृशुः**. सर्वलोकविलक्षणत्वाददद्भुतं तं वर्णयति. अनेन भगवदीयानां क्रीडास्थाने पूर्वकृतो धर्मः साधनतामापन्न इति निरूपितम्, सर्वस्यापि[1] धर्मस्यैतावन्मात्रे उपक्षयात् ॥२॥

कृकलासं गिरिनिभं वीक्ष्य विस्मितमानसाः ।
तस्य चोद्धरणे यत्नं चक्रुस्ते कृपयान्विताः ॥३॥

कृकलासमिति जातिविशेषः. स भवति प्रायेण सूक्ष्मः; **गिरिनिभत्वं** तस्याश्चर्यकरम्. ततस्तान् दृष्ट्वा समारोढुमियेष, न तु शक्तः, अर्धस्थाने समागत्य पुनः पुनः पतति. ततस्तददृष्टवशाद् हन्तव्येऽपि शरीरे दयोत्पन्नेति तेषामुद्धारार्थं प्रयत्नमाह **तस्य चोद्धरणे यत्नं चक्रुरिति. चो**ऽपीत्यर्थे. वस्तुतस्तु हन्तव्य एव, "अपि कृकलासमि" (बृह.उप. १।५।१४) त्यत्र श्रुतौ तथा निरूपणात्. ततो हस्तात् पतितं तं[2] बहव एव [3]वाधस्तादुत्तीर्य कृपया पीडिताः ॥३॥

चर्मजैस्तान्तवैः पाशैर्बद्ध्वा पतितमर्भकाः ।
नाशक्नुवन् समुद्धर्तुं कृष्णायाचख्युरुत्सुकाः ॥४॥

चर्मभिः चर्मोपरि तं पातयित्वा परितस्**तान्तवपाशान् बद्ध्वा** सर्वतः स्थिताः तदुद्धारे यत्नं कृतवन्तः. तथापि **समुद्धर्तुं नाशक्नुवन्**, अलौकिकत्वात्. अलौकिके भगवानेव साधनमिति मत्वा **कृष्णायाचख्युः**. यद्यपि

---

१. सर्वस्याधर्मस्येति पाठः. २. तमिति नास्ति. ३. वेति नास्ति.

विशेषसाधनैरुद्धर्तव्यो भवति तथापि **उत्सुकाः** सन्तः कृष्णायैवाचख्युः. औत्सुक्यं चित्तोल्लासो विवेकासहिष्णुः ॥४॥

तदा भगवान् योनित एव तदुद्धारं कृतवानित्याह **तत्र गत्वेति**.

तत्र गत्वारविन्दाक्षो भगवान् विश्वभावनः ।
वीक्ष्योज्जहार वामेन तं करेण स लीलया ॥५॥

(अरविन्दाक्षः!) दृष्ट्यैव सर्वतापहारकः **भगवान्** सर्वसमर्थः **विश्वमेवानुभावयतीति** उद्धारकरूपमवलम्ब्यागत इति तदुद्धारोऽपि तस्य युक्त एव. उद्धारमाह **वीक्ष्योज्जहारेति**, ज्ञात्वास्य कर्मभोगक्षयो जात इति. **वामेन करेणेति** लीलां सामर्थ्यातिशयं च ज्ञापयितुम्. वामो हस्तः दैत्यहितकारी दक्षिणो देवानामिति देवपक्षपातिना तदुद्धाराभावः सूचितः. **लीलयेति**, स्वस्य कारणाभावादपि यथा अन्या लीला कदाचिद्धर्ममपि बाधते ॥५॥

ततो यज्जातं तदाह **स उत्तमश्लोकेति**.

स उत्तमश्लोककराभिमृष्टो विहाय सद्यः कृकलासरूपम् ।
सन्तप्तचामीकरचारुवर्णः स्वर्ग्यद्भुतालङ्करणाम्बरस्रक् ॥६॥

करेणाभिमृष्टः भगवत्स्पर्शेन कारणदोषे निवृत्ते उपष्टम्भकाभावात् (तत्)[१] शरीरे पतिते स्वर्गोपभोगयोग्यं शरीरं प्राप्तवानिति तद् वर्णयति **सन्तप्तेति**. आवर्त्यमानसुवर्णवर्णः[२]. **स्वर्गि** स्वर्गसम्बन्धि, स्वर्गोऽस्यास्तीति. **स्वर्गिणामपि** वा **अद्भुतानि अलङ्करणान्यम्बराणि स्रजश्च** यस्मिन्. तादृशो जात

लेखः

तत्र गत्वेत्यत्र वामो हस्त इति, कृकलासस्य आसुरत्वाद् वामेनैव तदुद्धारणमिति भावः. **स्वस्येति**, यद्यपि **स्वस्य कारणं** प्रयोजनं नास्ति तथापि **यथान्या लीला कदाचिद्धर्मं बाधते** तथेयमपि धर्मबाधिका लीला कृतेति शेषः ॥५॥

स उत्तमश्लोक इत्यत्र. **तादृश** इति, एतादृशरूपवान् जात इति फलितार्थकथनम्. **बभूवेतीति**, तादृशरीरप्राप्तो बभूवेत्यन्वय इत्यर्थः ॥६॥

---

१. तदिति नास्ति. २. 'सुवर्णवर्णमि'ति पाठं स्वीकृत्य श्रीपुरुषोत्तमैः "शरीरं प्राप्त इति शेष" इति टिप्पणं कृतम्.

इत्यर्थाद् बभूवेति, अस्तिभवत्योः सर्वत्र प्रयोगात् ॥६॥

ततो निर्धार्य स्वरूपं ज्ञापयित्वा प्रेषणीय इति स्वतःकथने विश्वासो न जायेतेति तद्द्वारैव वक्तुं तद्वृत्तान्तं पप्रच्छ.

पप्रच्छ विद्वानपि तन्निदानं जनेषु विख्यापयितुं मुकुन्दः ।
कस्त्वं महाभाग वरेण्यरूपो देवोत्तमं त्वां गणयामि नूनम् ॥७॥

ज्ञात्वा प्रश्नो न कर्तव्य इति सर्वेषां सामान्यनिरोधं कर्तुम् अयुक्तमपि करोतीति **विद्वानपी**त्युक्तवान्. विधिरत्र प्रमेये न नियामक इति, न भगवतो विहितं निषिद्धं वा किञ्चिदस्ति. वचनस्यापि प्रयोजनमाह **जनेषु विख्यापयितु**मिति, तस्य दानं लोके विख्यापनीयम्. अन्यथा "धर्मः क्षरति कीर्तनादि" (. । ।)ति तस्य धर्मक्षयो भवेद्, भगवता पृष्टेन तु वक्तव्यमेव. नन्वेतदपि किमर्थमिति चेत्, तत्राह **मुकुन्द** इति. अग्रे मोक्षो देयः, स च कीर्तिमत एव भवतीति कीर्तिख्यापनार्थं, निरोधार्थं वा, अतिकीर्तिमानन्यत्र न प्रवर्तत इति निरोधानन्तरमेव मुक्तिलीलेति. प्रश्नमाह **कस्त्वं महाभागे**ति. भाग्यं धर्मस्योत्तमं तेजः, तदुपकरोति सर्वत्र. महद्भाग्यं यस्येति **महाभागे**ति सम्बोधनमकस्मादेवम्भावे तव सुकृतमस्तीति ज्ञापितम्[१]. **वरेण्यरूप** इति. सहजमेतन्न रूपम्, अत एवं ज्ञायते किञ्चिदुत्कृष्टं कर्मास्तीति, अन्यथा अपृष्टं स्वधर्मं कथं वदेत्? कथिते स्वर्गो न भविष्यतीति तच्छङ्कां निवारयितुमाह **देवोत्तमं त्वां गणयामि नूनमिति. देवेषु** स्वर्गः प्रतिष्ठितः, तत्राप्युत्तमेषु, तत्राप्यहं **गणयामि,** नहि मद्गणितं कश्चिदन्यथा कुर्यात् ॥७॥

दोषोऽपि वक्तव्य इत्याह **दशामिमां वे**ति.

दशामिमां वा कतमेन कर्मणा सम्प्रापितो ह्यतदर्हः सुभद्र ।
आत्मानमाख्याहि विवित्सतां नो यन्मन्यसे चेत् क्षममत्र वक्तुम् ॥८॥

लेखः

कस्त्वमित्यत्र. अन्यथेति, 'वरेण्यरूप'पदस्योत्कृष्टकर्मप्रश्नाभिप्रायकत्वाभावे इत्यर्थः ॥७॥

---

१. ज्ञापकमिति पाठः सूचितः.

उत्तमस्य अपकृष्टं कर्म न सम्भवति येन कृकलासरूपं भवेत्. अत उत्कृष्टमेव कर्म प्रकारविशेषापन्नं सत्कर्मैव किञ्चिद् भविष्यतीति तं प्रकारं श्रोतुं प्रश्नः **कतमेनेति**. **सम्यक् प्रापणं** बहुकालस्थानं तत्र सूचयति. ननु जायन्ते निकृष्टेष्वप्युत्कृष्टसुखजनकानि कर्माणि, उत्कृष्टेष्वपि निकृष्टभावजनकानि, तस्मात् प्रश्नो व्यर्थ इत्याशङ्क्याह **अतदर्ह** इति. दैवगत्योत्कृष्टत्वमिति चेत्, तत्राह **सुभद्रेति**. सुभद्रस्य भद्रं स्वाभाविकम्, अभद्रमेव वैशेषिकमिति. किञ्च **आत्मानं पूर्वसिद्धमाख्याहि**. **विवित्सतामिति** त्वन्मुखतो वेदितुमिच्छास्माकम्, नतु स्वतः. लौकिकन्यायेन माहात्म्यज्ञानाभावे सङ्कोचान्न वदिष्यतीत्याह **यन्मन्यसे नः क्षममत्र वक्तुमिति**. नोऽस्माकं श्रोतुं **क्षमं मन्यसे**, क्षमत्वेऽपि अत्र **वक्तुं चेन्मन्यसे** पञ्चानामग्रे तदा वक्तव्यमिति भावः ॥८॥

ज्ञात्वा भगत्स्वरूपं पुण्यवशेन, लोकभाषापि बुद्धेति, भगवदाज्ञां कर्तुं स्ववृत्तान्तमुक्तवानित्याह **इतीति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इति स्म राजा सम्पृष्टः कृष्णेनानन्तमूर्तिना ।
माधवं प्रणिपत्याह किरीटेनार्कवर्चसा ॥९॥

स्मेति प्रसिद्धे; प्रश्नः क्लिष्टं कर्म भवतीति स्वदोषनिवृत्त्यर्थं प्रसिद्धिः प्रमाणत्वेनोक्ता. परीक्षितोऽपि शङ्कां व्यावर्तयितुं **राजेति**. **कृष्णेन** सदानन्देन,

---

लेखः

यन्मन्यसे इत्यस्याभासे **लौकिकेति**. भगवतो **माहात्म्यज्ञानाभावे** "नव गोप्यानि सर्वथे" (. । ।)ति **लौकिकन्यायेन सङ्कोचाद्** हेतोस्तादृशं कर्म **न वदिष्यति**. माहात्म्यज्ञाने तु भगवति दासस्य को वा सङ्कोच इति ज्ञात्वा वदेदिति भावः.

इति स्मेत्यस्याभासे लोकभाषापीति. भगवतो लोकवद्भाषणं प्रश्नकरणमन्येभ्योऽपि मद्वृत्तान्तं बोधयितुमित्यपि बुध्यते इत्यर्थः. व्याख्याने **प्रश्नः क्लिष्टं कर्मेति**, मर्मोद्घाटकत्वादिति भावः. तथाच क्लिष्टं कर्म समाधौ नानुभूयते अतोऽप्रामाणिककथनं शुकस्य दोषः स्यात् तन्निवृत्त्यर्थं शुकेन प्रसिद्धिः प्रमाणत्वेनोक्तेत्यर्थः. **परीक्षितोऽपीति**, एतादृशो दानी कथमेवं

सम्भाषणेनापि सुखं भवतीति. भक्तिहितेन[१] वा. **अनन्तमूर्तिनेति** अनन्ता मूर्तयो यस्येति तस्य न सर्वात्मना स्वरूपं प्रकाशितम्. तस्य तावन्मात्रेणैवाभिव्यक्तः. अथवा पूर्वप्रकरणयोरन्या मूर्तिः अस्मिन्प्रकरणे चान्या मूर्तिरिति ज्ञापयितुमनन्तमूर्तित्वम्. ततो भगवन्तं दृष्ट्वा, श्रीनिकेतत्वात् भगवानेवेति विज्ञाय **माधवं प्रणिपत्य अर्कवर्चसा किरीटेनोपलक्षितः** भगवतोऽपि चरणारविन्दं प्रबोधयन्. भक्तांश्चोद्दीपयन्, महानप्येवं जायत इति ब्राह्मणातिक्रमाभावाय ॥९॥

स्ववृत्तान्तमाह **नृगो नामेति** षोडशभिः.

॥ नृग उवाच ॥

नृगो नाम नरेन्द्रोऽहमिक्ष्वाकुतनयः प्रभो ।
दानिष्वाख्यायमानेषु यदि ते कर्णमस्पृशम् ॥१०॥

नृगः पूर्वमपि प्रसिद्धः **इक्ष्वाकोस्तनयः**. शतमध्ये विकुक्षि-निमिदण्डकानन्तरम् अयमेव प्रसिद्धः. **प्रभो** इति सम्बोधनं प्रभुस्थाने मिथ्याभाषणाभावं ज्ञापयति. ननु का प्रसिद्धिः येन त्वं ज्ञायस इत्याशङ्क्याह **दानिष्वाख्यायमानेष्विति**. **दानिनो** दानकर्तारः, नतु दातारः उदाराः; दानी विध्यपेक्षः दाता तु निरपेक्ष इति. **यदि ते कर्णमस्पृशं** तदाहं प्रसिद्धः. राजेति नृग इति दानीति च, नॄन् कीर्तिद्वारा गच्छतीति ॥१०॥

श्रवणानन्तरं ज्ञानं प्रसिद्धिहेतुत्वेन साधारणं निरूप्य असाधारणप्रकारेण ज्ञानमाह **किं नु तेऽविदितं नाथेति**.

किं नु तेऽविदितं नाथ सर्वभूतात्मसाक्षिणः ।

लेखः

जात इति परीक्षितः शङ्का स्यात् तद्व्यावृत्त्यर्थं **राजपदम्**. यथा त्वं राज्यमदाद् ब्राह्मणातिक्रमकर्ता जातः तथा राज्यमदात् सोऽपि तथा जात इति भावः. स्वदोषः प्रसिद्धिकथनेन निवर्तितः राज्ञोऽपि शङ्का निवर्तितेत्य**पि**शब्दः. **अथवेति**. तामस-राजसप्रकरणयोः वासुदेव-प्रद्युम्नमूर्तिः, अत्र प्रकरणेऽनिरुद्धमूर्तिरित्यर्थः. माधवपदस्यार्थमाहुः **श्रीनिकेतत्वादिति** ॥९॥

---

१. भक्तहितेनेति पाठः.

कालेनाव्याहतदृशो वक्ष्येऽथापि तवाज्ञया ॥११॥

हे **नाथ** — अनेनोद्धारः तवावश्यक एवेत्युक्तम्. **नु** इति वितर्के — किं वा ते अविदितम् किन्तु सर्वमेव विदितमिति. तत्र हेतुः — **सर्वभूतानां अन्तःकरणसाक्षिणः**. ननु कालव्यवधाने जीवोऽपि स्वानुभूतं विस्मरति तथा भगवतोऽपीति कथं तद् ज्ञानमिति चेत्, तत्राह **कालेनाव्याहतदृश** इति. तस्माद् ज्ञानार्थं प्रतिज्ञापनप्रयोजनाभावात् न वक्तव्यं, **तथापि तवाज्ञया वक्ष्ये,** अन्यथा आज्ञोल्लङ्घनं स्यादिति ॥११॥

आदौ स्वस्य दानित्वमाह **यावत्यः सिकता भूमेरिति.**

यावत्यः सिकता भूमेर्यावत्यो दिवि तारकाः ।
यावत्यो वर्षधाराश्च तावतीरददं स्म गाः ॥१२॥

रेणवस्तामसाः तारकाः सात्त्विकाः वर्षधारा राजसाः दृष्टान्तीकृताः — असङ्ख्यातास्तिस्रोऽपि, त्रिविधा अपि गावः असङ्ख्याता दत्ता इति. **अहमददम्. स्मेति** प्रमाणम्. तुल्यसङ्ख्यात्वे विवक्षिते तामेव सङ्ख्यां वदेत्. परार्धातिरिक्ता सङ्ख्यापि नास्ति. तस्मादसङ्ख्यातदाने त्रिविधदाने च दृष्टान्ताः. त्रिविधदाने प्रयोजनं चोक्तं — भूमिसिकता उपादानभूताः तारकाः प्रकाशकाः वर्षधाराः पोषिका इति. 'असङ्ख्यात'पदे प्रयुज्यमाने अल्पप्रतीतिः स्यात्, तत एवमुक्तम् ॥१२॥

गवां गुणानाह.

पयस्विनीस्तरुणीः शीलरूपगुणोपपन्नाः कपिला हेमशृङ्गीः ।
न्यायार्जिता रूप्यखुराः सवत्सा दुकूलमालाभरणा ददावहम् ॥१३॥

पयस्विनीरिति दुग्धाधिक्ययुक्ताः. **तरुण्यः** प्रथमप्रसूताः. **शीलम**मारणादि-शान्तस्वभावः. **रूपं** सौन्दर्यम्. **एतैर्गुणैरुपपन्नाः**. अथवा **गुणाः** सत्पुत्राः. दुग्धे घृताधिक्यमारोग्यजनकत्वं च गुणाः. प्रायेण बह्व्यः **कपिलाः,**

लेखः

यावत्य इत्यस्याभासे **आदाविति**, दोषकथनात् पूर्वमित्यर्थः. व्याख्याने **प्रयोजनं चोक्तमिति** निबन्धे इति शेषः. तत्र हि "गुणस्तु दोष एव स्यादि" (. . । ।)त्यनेन सत्त्वादिगुणविशिष्टदानस्य दोषवत्त्वं गुणरहितस्य च निर्दोषत्वं निरूपितम् ॥१२॥

दाने कपिला विशिष्टेति. **हेमशृङ्गीः** सुवर्णशृङ्गयुक्ताः. **न्यायार्जिताः** नत्वतिक्रमेण प्राप्ताः. **रूप्यखुराः सवत्सा** इति विधिप्राशस्त्यार्थमुक्तम्. तेन विहिता एव दत्ताः, नत्वविहिताः नाप्यविहितप्रकारेण. **दुकूलानां माला** यासु, **दुकूले मालाः आभरणानि** च वा. एवं त्रयोदशगुणाः कथिताः ॥१३॥

पात्राभावे सर्वं व्यर्थमिति पात्रधर्मानाह.

स्वलङ्कृतेभ्यो गुणशीलवद्भ्यः सीदत्कुटुम्बेभ्य ऋतव्रतेभ्यः ।
तपःश्रुतब्रह्मवदान्यसद्भ्यः प्रादां युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्यः ॥१४॥

स्वलङ्कृतेभ्य इति विधिप्रकारोऽलङ्करणादि, **गुणाः** विद्याः, **शीलमाचारः** सुस्वभावश्च. **सीदत्कुटुम्बेभ्य** इति गृहीतस्य शीघ्रं सद्विनियोगः. **ऋतं व्रतं येषामिति** ब्राह्मणस्य सहजो धर्मो निरूपितः. **तप** इन्द्रियनिग्रहः. **श्रुतं** यथाविधि. **ब्रह्म** वेदो वेदार्थश्च. **वदान्यत्वम्** अलुब्धता. **सत्त्वं** परोपकारत्वं च. तपः श्रुतं ब्रह्म च येषां ते **तपःश्रुतब्रह्माणः**, ते च ते **वदान्याश्च सन्तश्च. युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्य** इति द्वादशगुणा ब्राह्मणानामुक्ताः ॥१४॥

दानान्तराण्यप्याह **गोभूहिरण्येति.**

गोभूहिरण्यायतनाश्वहस्तिनः कन्याः सदासीस्तिलरूप्यशय्याः ।
वासांसि रत्नानि परिच्छदान् रथानिष्टं च यज्ञैश्चरितं च पूर्तैः ॥१५॥

एकदा असङ्ख्यातगोदानं बहुभ्यः. ततः पृथगपि **गावो** दत्ताः. **भूमिर्वृत्तिकरी. हिरण्यदानं** स्वतन्त्रम्. **आयतनदानं** गृहदानम्. **अश्वदानं हस्तिदानं** च. **कन्यादानं** ब्राह्मणाय, पोषितानां कन्यानाम्. औरस्याः क्षत्रियायां विवाहितायां जातायाः राजकन्यायाः स्वयंवर एव. **सदासीरिति** पारिबर्हसहिताः. दासीदानं वा कन्यादानेन सहोच्यते. **तिलाः** तिलपर्वताः. **रूप्यं** रूप्यपर्वतः. **शय्याः** सुखशय्यादानम्. **वासांसि** नानाविधानि. तथैव नव **रत्नानि.**

लेखः

पयस्विनीरित्यत्र दुकूलेत्यस्य द्वितीयव्याख्याने अर्शआद्यजन्तम् ॥१३॥

परिच्छदान् कञ्चुक-वितानादीन्. **रथाश्च** गजरथाश्वरथादिभेदाः. एवं पञ्चदशदानानि सर्वदा क्रियन्ते. ततः **यज्ञैरिष्टमग्निष्टोमादयश्च** कृताः. **पूर्तैश्च चरितं** कूपारामादयश्च धर्मार्थं कृताः ॥१५॥

एवं धर्मपरायणे मयि कर्मवशादधर्मः कश्चनोत्पन्न इत्याह **कस्यचिद् द्विजमुख्यस्येति**.

कस्यचिद् द्विजमुख्यस्य भ्रष्टा गौर्मम गोधने ।
सम्पृक्ताऽविदुषा सा च मया दत्ता द्विजातये ॥१६॥

अयं राजा दानाभिनिविष्टचित्तः स्वसेवकेभ्यः यथाकथञ्चिद् देयान् गृह्णाति, न तु जिज्ञासते. एवं बहुधा प्रमादे कदाचिद् भगवान् तत्पापं प्रकटितवान्. कश्चिद् ब्राह्मणः राजप्रतिग्रहरहितः स्वधर्मनिष्ठ आसीत्. तस्य गौः स्वस्थानादपगता राजगोषु प्रविष्टा. ततस्तामनवद्यलक्षणां तदधिकारिणो ज्ञात्वा दानार्थं नीतवन्तः ॥१६॥

तां नीयमानां तत्स्वामी दृष्टोवाच ममेति तम् ।
ममेति प्रतिसंगृह्य नृगो मे दत्तवानिति ॥१७॥

ततः प्रतिग्रहीतारि[१] तां प्रतिगृह्य गच्छति सति तत्स्वामी मिलितो मध्ये **ममेयं** गौः कथं नीयत इति चाह. ततः प्रतिग्राही "**नृगो मे दत्तवानिति ममे**"त्याह. **प्रतिसंगृह्य** प्रतिग्रहं कृत्वा, प्रतिग्रहकथामप्युक्त्वा, "नृगो दत्तवानिति ममे"त्याह ॥१७॥

विप्रौ विवदमानौ मामूचतुः स्वार्थसाधकौ ।
भवान् दातापहर्तेति तच्छ्रुत्वा मेऽभवद् भ्रमः ॥१८॥

एवमुभौ **विप्रौ विवदमानौ स्वार्थसाधकौ**. प्रतिग्रहे सिद्धे ब्राह्मणस्य गौर्भवति, राज्ञश्च ब्राह्मणगवापहारदोषो भवति. दानप्रतिग्रहयोरभावे ब्राह्मणस्यैव गौः, नापहारदोषः. लोकदृष्ट्या धर्मे सिद्धे, प्रतिग्रहस्य सिद्धत्वाद् दानस्य च, प्रतिग्रहीतुरेव गौः. अपहारदोषप्रायश्चित्तं परं कर्तव्यम्. अलौकिकश्चेद् धर्मः देवाद्यधिष्ठितः तदा अधर्मसिद्धं द्रव्यं धर्मविषयो न भवतीति न

---

१. प्रतिग्रहीतेति पाठः.

दानं सिद्ध्यति, सुतरां प्रतिग्रहः[१]. अतो विवादः. राजा चेदत्र दानमङ्गीकरिष्यति तदा प्रतिग्रहः सेत्स्यति अपहारश्च. अपहारदोषस्याधिक्यात् नाङ्गीकुर्यात् चेत् तदा स्वामी गां नेष्यतीति **स्वार्थसाधकौ विप्रौ** अन्योन्यं **विवदमानौ मां राजानमूचतुः**. एकस्य वचनं "**भवान् दाते**"ति. तस्मिन्नङ्गीकृते द्वितीय आह **अपहर्तेति**. हेतुपूर्वकं वृत्तान्तवचनं अर्थाद् ज्ञायते. पश्चादपहारवचनं **श्रुत्वा मे भ्रमः अभवत्** यदेको[२] न प्रार्थितः. एकस्मिन् दोषे अङ्गीकृतं तत्प्रायश्चित्तं स्वेच्छया कृतं स्यात् ॥१८॥

अनुनीतावुभौ विप्रौ धर्मकृच्छ्रं गतेन मे ।
गवां लक्षं प्रकृष्टानां दास्याम्येषा प्रदीयताम् ॥१९॥

भ्रमादेकमकृत्वा स्वतस्तत्त्वापरिज्ञानाद् अन्यस्यापृष्टत्वाद् द्वयमपि सन्देहे स्थापयित्वा **उभावनुनीतौ** गौः त्यक्तव्येत्यस्मिन्नर्थे, यथा द्वितीयोऽप्यपहारः सिध्यति. ननूभयोरनुनये को हेतुः? तत्राह **धर्मकृच्छ्रं गतेन मे** इति. तस्य हृदये **धर्मे** निश्चयाभावात् **कृच्छ्रं** सङ्कटमेव प्राप्तवान्. अनुनयमाह **गवां लक्षं** एतन्निष्कृतित्वेन **दास्यामि, एषा प्रदीयता**मिति ॥१९॥

भवन्तावनुगृह्णीतां किङ्करस्याविजानतः ।
समुद्धरत मां कृच्छ्रात् पतन्तं निरयेऽशुचौ ॥२०॥

ननु निष्कृतिग्रहणे दोषः स्यात्, कथं ग्राह्य इति चेत्, तत्राह **भवन्तावनुगृह्णीता**मिति. मदुपर्यनुग्रहेण निषिद्धमपि कर्तव्यमिति भावः. अनुग्रहे हेतुमाह **किङ्करस्ये**ति. तथापि सापराधो दण्ड्य एवेति चेत्, तत्राह **अविजानत** इति, विशेषेणायमर्थो न ज्ञात इति. अज्ञाते त्वल्पमेव प्रायश्चित्तमित्यनुग्रहेणापि सिद्ध्यति. तस्य भाव्यर्थः स्वत एव स्फुरितः तन्निराकरणार्थं प्रार्थयति **समुद्धरते**ति. **कृच्छ्रात्** सङ्कटात् निर्णयज्ञानाभावाद्

---

१. प्रतिग्रहे सिद्धे ब्राह्मणस्य गौर्भवति, राज्ञश्च ब्राह्मणगवापहारदोषो भवति. लोकदृष्ट्या धर्मे सिद्धे प्रतिग्रहस्य सिद्धत्वाद् दानस्य च प्रतिग्रहीतुरेव गौः. अपहारदोषप्रायश्चित्तं परं कर्तव्यम्. दानप्रतिग्रहयोरभावे ब्राह्मणस्यैव गौः, नापहारदोषः. अलौकिकश्चेद् धर्मः देवाद्यधिष्ठितः. तदा अधर्मसिद्धं द्रव्यं धर्मविषयो न भवतीति न दानं सिद्ध्यति. सुतरां प्रतिग्रह —इति श्रीपुरुषोत्तमैः एतासां फक्किकानां पाठः दर्शितः. २. यदैक इति पाठः.

अशुचौ निरये पतन्तमिति. हीनभाव: निरयो भवति. ततश्च गोत्वमश्वत्वं वा चेद् भवेत् तदा निरयत्वेऽपि नाशुचित्वम्, श्वयोनौ शूकरयोनौ वा पाते तथात्वमिति. तामिस्रादौ तु न पातः, नरकभोग एव परम्. योनिसम्बन्धे तु अभिमान उत्पद्यत इति पातः. **अशुचाविति** लोकप्रसिद्ध-मलादिप्रदर्शनेन दया वा उत्पाद्यते ॥२०॥

नाहं प्रतीच्छे वै राजन्नित्युक्त्वा स्वाम्यपाक्रमत् ।
नान्यद् गवामप्ययुतमिच्छामीत्यपरो ययौ ॥२१॥

तत्र मुख्यः स्वामी गोविक्रयस्य निषिद्धत्वाद् **अन्यद्** लक्षायुतादिसङ्ख्या-परिमितं गोसमूहम् **अहं न प्रतीच्छ इत्युक्त्वा** राजप्रार्थनां त्यागांशे अङ्गीकृत्य **स्वाम्यपाक्रमत्.** प्रतिग्रहस्य राज्ञा स्थापितत्वात् पूर्वप्रतिग्रहस्यैव सिद्धत्वात् विक्रयपक्षे प्रतिग्रहपक्षे वा दोषश्रवणाद्, “एका गौर्न प्रतिग्राह्या द्वितीया न कदाचन, सा चेद् विक्रयमापन्ना रौरवं नरकं व्रजेदि” (.   । ।) ति वाक्याद्, **गवामयुतमपि** एतन्निष्कृतित्वेन **नाहं प्रतीच्छ** इति द्वितीयोऽपि **ययौ. राजन्निति** सम्बोधनाद् अनिष्कृतित्वेऽपि प्रतिग्रहोऽपि निषिद्ध इति सूचितम्. राजा सर्वेषामनुरोध्यः, अतिक्रमोऽपि सोढव्य इति सूचितम्. लक्षं गावः राज्ञा दातुं शक्याः, न तु ब्राह्मणेन, अयुतमेव परमा काष्ठा ब्राह्मणस्य. “कोऽर्हति सहस्रं पशून् प्राप्तुमि” (.   । ।) ति सहस्रस्यैव महत्त्वात्. दशपुत्रविभागे सहस्रशो दानेऽपि अयुतस्यैव पर्याप्तत्वात्. प्राप्तमयुतं निषेधति **गवामप्ययुतमिति.** यद्यपि तावता पूर्णः कामो भवेत् तथाप्यव्यवस्थितत्वाद् एकस्यामपि गवि यत्रायं सन्देहः तत्र किमन्यद् वक्तव्यमिति भावः ॥२१॥

एवं ब्राह्मणद्वयक्षोभे दण्डार्थं यमः प्रवृत्तः, गोश्चापहारे आयुः क्षीणमिति तदैव यमदूतैः[१] समागतमित्याह.

एतस्मिन्नन्तरे याम्यैर्दूतैर्नीतो यमक्षयम् ।
यमेन पृष्टस्तत्राहं देवदेव जगत्पते ॥२२॥
पूर्वं त्वमशुभं भुङ्क्षे उताहो नृपते शुभम् ।

---

१. यमदूतौ समागताविति पाठः.

एतस्मिन्नन्तर इति, यावदयं प्रतिविधानं कुर्यात् तन्मध्य एव **याम्यैर्यमक्षयं नीतः**. अनेन बलान्नयनं निरूपितं, बलाद् गौर्हृतेति. तेनापि ब्राह्मणाः सम्बोधिता इति स्वेच्छयैव तैस्त्यक्त इत्यस्यापि स्वेच्छयैव नरकभोगो निरूप्यते. अत एव इच्छार्थं **यमेन पृष्टः**. अस्मिन्नर्थे सत्यतां निरूपयितुं **देवदेवेति** सम्बोधनं **जगत्पत** इति च. धर्मकर्तुः कथं यमदण्ड इति शङ्कां वा दूरीकर्तुम्, प्रमेयबले वेदापेक्षया भगवदाज्ञा कर्तव्येति निरूपयन्. देवस्यापि त्वं देव इति त्वदाज्ञा यमेन कर्तव्या, जगत्पतित्वात् मयापि. अतस्त्वदिच्छयैवं जातमिति नात्र किञ्चित् प्रतिकर्तव्यमस्तीति सूचितम्. हे **नृपते, पूर्वं त्वमशुभं भुङ्क्षे**. लण्मध्यमपुरुषैकवचनम्, प्रश्नार्थे लट्. अशुभस्याल्पत्वात् नान्तरीयकमिवाशुभं गमिष्यतीति प्रथममशुभभोगप्रश्नः. अथवा दुःखान्तता निषिद्धेति. अथवा को वा दुःखानुभवं मन्येत अतः प्रथममेव हे **नृपते अशुभं भुङ्क्षे** ॥२२॥

तदा स्वस्यालोचनामाह **नान्तं दानस्य धर्मस्येति**.

नान्तं दानस्य धर्मस्य यशो लोकश्च भास्वरः ॥२३॥
पूर्वं देवाशुभं भुञ्ज इति प्राह पतेति सः ।
तावदद्राक्षमात्मानं कृकलासं पतन् प्रभो ॥२४॥

दानस्यान्यस्यापि धर्मस्य अन्तो न विद्यते.

गोदानप्रस्तावे कश्चिद् वञ्चको धूर्त आसन्नमरणां गां वञ्चयित्वा ब्राह्मणाय दत्वा मुक्तिं गत इति श्रूयते. स हि नगरमध्यवासे मृतायाः गौर्निर्हरणासमर्थः व्याजेन कञ्चिद् ब्राह्मणमाकार्य तस्मै दानं दत्तवान्. ततो मुहूर्तत्रयानन्तरं गौर्मृता. ततो ब्राह्मणः प्रतिग्रहीता स्ववस्त्रं चाण्डालेभ्यो दत्वा तां गां बहिः निःसारितवान्. एवं ब्राह्मणं वञ्चयित्वा पश्चान्मृतः. यमेन पृष्टः चित्रगुप्तेन तस्य वृत्तान्ते कथिते "पूर्वं शुभफलभोगं करिष्यामी"त्युक्त्वा तत्रापि कौटिल्यं कृतवान्. तादृशगोदानस्य हि फलं— यावद् गौर्जीवति तावत् परलोके कामधेनुस्तद्वशे तिष्ठतीति. तथा यमेनोक्तः

लेखः

नान्तं दानस्येत्यत्र. न अन्तो यस्य तत् नान्तम्. 'न'शब्देन समासः, अनन्तं यश इत्यर्थः ॥२३॥

"मुहूर्तत्रयं कामधेनुस्त्वदधीना स्थास्यती"ति. कामधेनुं प्रत्याह "व्याघ्रो भूत्वा यमं भक्षये"ति. ततो व्याघ्रेणोपसृतः यमः भीतो विष्णुं शरणं ययौ. यत्रास्ते भगवान् ब्रह्मादिभिर्वृतः तत्र पश्चादयमपि गतः कामधेन्वा नीतो; विष्णुसाक्षात्कारे मुक्त इति.

यत्र तादृशगोदानस्याप्यनन्तफलत्वं तदा विधानपूर्वकं दत्तायाः किं वक्तव्यमिति! अन्यस्याप्येवं धर्मस्यानन्तफलत्वम्. फलं हि द्विविधम्— इहलोके यशः परलोके स्वर्ग इति. तदुभयमाह **यशो लोकश्च भास्वर** इति. अनन्तं यशः, अनन्तो लोक इति. तामसधर्मेऽपि तथेति तत्पातालोपभोग्यमिति तद्व्यावृत्त्यर्थं **भास्वर** इति. दानस्य फलरूपं यशः अनन्तं, लोकश्चानन्त इति. **लोकस्य भास्वत** इति पाठे अनन्तं यशः शुभं चेति पूर्वोक्तं सङ्ग्राह्यम्. **भुङ्क्ष** इति **भुञ्ज** इति वा क्रिया. **भास्वतो लोकस्योत्तम**देहस्य वा. **पूर्वं** सम्बन्धि **अशुभं भुञ्ज इति. देवेति** सम्बोधनं परिज्ञानार्थम्. उक्तवानित्यर्थादिति. एवं सति **पतेति स** यमः **प्राह,** यतः स ब्राह्मणातिक्रमं दृष्ट्वा क्रोधवान्. **पतेति** तस्माल्लोकाद् भूलोके, नीचयोनिभूतो नरकः भूमावेव नान्यत्रेति. ततो यज्जातं तदाह **तावदद्राक्षमिति. पतन्नात्मानं कृकलासमद्राक्षं** कर्मणा देहसम्बन्धेन. ग्रहणपरित्यागयोः परिज्ञानं योग-ज्ञान-भक्तिष्वेव. तद्देहाद्वैतादात्मपदम्. बहिर्मुखत्वादस्य कर्मदोषो जात एव. **प्रभो** इति त्वमेव समर्थस्तादृशकर्मभ्यो मोचयितुमिति सूचितम्. जीवस्य ग्रहणपरित्यागज्ञानमेव नास्ति, कुतो मोचनपरिज्ञानम्! एतादृशेऽर्थे भगवानेव शरणमिति ॥२३-२४॥

नन्वेतादृशस्य तव कथं पूर्ववृत्तान्तपरिज्ञानमिति चेत्, तत्राह **ब्रह्मण्यस्येति.**

ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव ।
स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्संदर्शनार्थिनः ॥२५॥

लेखः

तावदद्राक्षमित्यत्र कर्मणेति योगादिरहितेनेति शेषः. अयं देहसम्बन्धो भोगार्थमेवेति भावः. **योगेति,** अतएव तृतीयस्कन्धे परिज्ञातुर्गर्भस्थजीवस्य स्तुतौ शरणगमनमेव निरूपितम्. नन्वेतावद्धर्मकर्तुः कथं दोषसम्बन्ध इत्यत आहुः **बहिर्मुखत्वादिति** ॥२४॥

अज्ञानं हि स्मृतिनाशकम्; तन्न ज्ञानसमानाधिकरणम्. ब्राह्मणाः स्वभावतो ज्ञाननिष्ठाः, "ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यमि" (भ.गीता १८।४२) ति वाक्यात्. अतो **ब्रह्मण्यस्य**[१] ब्राह्मणभक्तस्य ब्रह्मधर्मा हितं कुर्वन्तीति न स्मृतिभ्रंशः. राजन्योऽपि "सर्वदेवमय" (भाग.पुरा. ४।१४।२७) इति ब्रह्मक्षत्रयोस्तुल्यत्वात् "क्षतात् त्रायत" (. । ।) इति धर्माच्च तत्र "दानमीश्वरभावश्चे" (भ.गीता १८।४३) ति वाक्यात् **(वदान्यस्य!)**[२] "वदान्ये क्षत्रं प्रतिष्ठितमि" (. । ।) ति "अन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षत" (भाग.पुरा. ३।२२।४) इतिवाक्याद् ज्ञानं क्षत्रियमपि पालयति. **(तव दासस्य!)**[३] भगवान् सर्वेश्वर इति ज्ञानादयस्तदधीनाः भगवद्भक्ते स्वोपकारं कुर्वन्तीति [१-३]प्रकारत्रयेणापि **स्मृतिर्न विध्वस्ता**. अस्त्येको ज्ञाननाशप्रकारः चतुर्थे निरूपितः "इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मन" (भाग.पुरा. ४।२२।३०) इत्यादिना. स इतः पूर्वं न जात इत्याह **अद्यापि न विध्वस्तेति**. **केशवेतिपदम्** उत्पत्तिप्रलयकर्त्रोरपि मोक्षं प्रयच्छतीति भक्तज्ञानदाने कः प्रयासः स्यादिति सूचितम्. किञ्च स्मृतिनाशका यावन्तो मायादयः ते सर्वे मत्तो बिभ्यतीत्याह **भवत्संदर्शनार्थिन** इति. यो भगवद्धर्मान् प्रतीक्षते तस्य नान्ये धर्माः बाधका भवन्ति ॥२५॥

एवं स्ववृत्तान्तमुक्त्वा भगवद्दर्शनं दुर्लभं सर्वप्राणिनां कथं ममाकस्माज्जातमिति स्वभाग्यमभिनन्दयन्नाह.

स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा
योगेश्वरैः श्रुतिदृशामलदृक्विभाव्यः ।
साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः
स्यान्मेऽनुदृश्य इह यस्य भवापवर्गः ॥२६॥

स त्वं कथमिति, तादृशस्त्वं **ममाक्षपथः कथं** वा जात इत्याश्चर्यम्. **परात्मेति**, आत्मनोऽपि परोऽन्तरः कथं देहादपि बहिर्दृश्येतेत्येकानुपपत्तिः.

लेखः

ब्रह्मण्यस्येत्यत्र. **अज्ञानमिति** वस्तुतत्त्वाज्ञानमित्यर्थः. स्वमते अज्ञानं पदार्थान्तरं, न त्वभावरूपम्, अत एवमुक्तम् ॥२५॥

किञ्च **योगेश्वरैरपि** योगानुसारेण, तत्रापि **श्रुतिदृशा** वेदबोधितज्ञानेनैव, नतु वैदिकप्रकारेण, तत्रापि **अमला दृष्टिर्यस्य** तादृशेन **विभाव्यः**—साधन-प्रमाणा-ऽधिकाराः उत्तमा निरूपिताः. तैरप्येवं प्रत्यक्षो न भवति किन्तु **विशेषेण भाव्यः** तर्क्य एव; **स मम साक्षात् कथं** जात इत्याश्चर्यम्. अनेन प्रमाणविचारेण दर्शनायोग्यता निरूपिता. प्रमेयविचारेणापि दर्शनायोग्यतामाह **अधोक्षजेति**, अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मादिति. किञ्च स्वस्यानधिकारोऽपि, **उरुव्यसनान्धबुद्धेः** अनेकव्यसनैः अन्धा बुद्धिर्यस्येति. नन्वकारणककार्योत्पत्तिर्न सम्भवतीति अवश्यं कारणं भगवद्दर्शने वक्तव्यमिति चेत्, तत्राह **स्यान्मेऽनुदृश्य** इति. **मे अनुदृश्यः स्याद् यस्य मम भवापवर्गः**. प्रायेण मम मोक्षः सम्भाव्यते केनचित्कारणेन, तद् भगवद्दर्शनव्यतिरेकेण मोक्षो न भवतीति मोक्षसाधनानि फलोन्मुखानि सन्ति भगवद्दर्शनं कारयामासुः. तत्रापि मोक्ष **इहैव** अस्मिन्नेव जन्मनि, अन्तिमजन्मन्येव भगवत्साक्षात्कारात् ॥२६॥

एवं दुर्लभदर्शनमुपपाद्य स्वर्गगमनार्थं भगवन्तं प्रार्थयितुं नवधा भगवन्तं सम्बोधयति.

देवदेव जगन्नाथ गोविन्द पुरुषोत्तम ।
नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकाच्युताव्यय ॥२७॥

देवदेवेति. लोके गमनेऽपि[१] देवानामपि यो देवः तदाज्ञयैव गमनं भवति, स चेत् स्वस्मिन् क्रीडति तदा देवत्वं भवतीति. **जगन्नाथ**त्वादवश्यमाज्ञा प्रार्थनीया. **गोविन्देति** सतामिन्द्रः. एवं राजस-तामस-सात्त्विकभावेन प्रभुत्वेन सम्बोधितो भगवान्. आज्ञां प्रार्थयितुं प्रेरकत्वेन त्रिविधं पुरुषमाह— **पुरुषोत्तमः** पूर्णः पुरुषः **नारायणः** पुरुषो द्वितीयः **हृषीकेशो**ऽन्तर्यामी तृतीयः पुरुषः, "विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुरि"ति (सात्त्वतसंहिता ।)

लेखः

स त्वमित्यत्र तादृशेनेति. अयं बहुव्रीहिः; तादृशेन पुरुषेण श्रुतिफलितार्थाभिप्रायेण. विग्रहे तु अमलया दृशा विभाव्य इति ॥२६॥

---

१. गमने इति मुद्रितपाठः. पादटिप्पण्यस्थपाठो गृहीतः - सम्पा.

वाक्यात्. अनेन भगवत्प्रेरणया भोगार्थं गच्छामीति स्वापराधाभावो निरूपितः. तत्र गतस्य भगवत्स्मरणाद्यभावान्न निस्तार इत्याशङ्क्य, भगवद्गुणाः सर्वत्र[1] सन्तीति निरूपयन् विशेषणत्रयमाह **पुण्यश्लोकाच्युताव्ययेति**. पुण्या श्लोका कीर्तिर्यस्येति विषयसम्बन्धकृत-दोषपरिहारः कीर्तिस्वाभाव्यादेव भवतीति सूचितम्. श्लोका विषयेष्वपि भवतीति न विषयैर्विरुध्यते, तेन सेवनसम्भवः. भगवतः सर्वतोऽच्युतत्वात् नित्या कीर्तिर्भवति पूर्णा च, ततः सम्पादनसाधनानपेक्षता. (**अव्ययः** !) न विद्यते व्ययो यस्मादिति तेनान्यस्यापि नाशाभाव उक्तः. श्रोतुरप्यच्युतत्वं सम्पादयतीति षष्ठीबहुव्रीहिपक्षेऽपि न दोषः ॥२७॥

एवं स्वर्गगमने सर्वामुपपत्तिमुक्त्वा प्रार्थयति **अनुजानीहीति**.

अनुजानीहि मां कृष्ण यान्तं देवगतिं विभो ।
यत्र क्वापि सतश्चेतो भूयान् मे त्वत्पदास्पदम् ॥२८॥

मामिति आवश्यकं पुण्यफलभोगयुक्तम्. **कृष्णेति** सर्वथा सर्वप्रकारेण मोचनसमर्थः. न हि तस्य विषयसम्बन्धे मोचनसामर्थ्याभावः, अन्यथा विशेषावतरणं न कुर्यात्. **यान्तं देवगतिमिति** गमनमावश्यकमुक्तम्. अनभिप्रेतत्वाद् अभ्यनुज्ञाभावमाशङ्क्याह **विभो** इति. तथापि विषयसम्बन्धे नाशमावश्यकमाशङ्क्य[2] प्रार्थयति **यत्र क्वापि सतश्चेत** इति. त्रिविधानि स्थानानि सुखदुःखोभयरहितानि. दुःखे असामर्थ्यं सुखे अन्यासक्तिः उभयाभावे मोहादिरिति सर्वत्रैव स्मरणाभावस्तुल्यः. तथापि कृपयैव स्मरणमिति स्थानविशेषस्याप्रयोजकत्वात् **यत्र क्वापि सतो मे चेतः त्वत्पदे एव आस्पदं** स्थानं यस्य. तथा सति सर्वत्र गच्छदपि चेतः त्वत्पदयोरेव स्थिरीभविष्यतीति न कापि चिन्ता ॥२८॥

ततो गच्छन् नमस्यति.

नमस्ते सर्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
कृष्णाय वासुदेवाय योगानां पतये नमः ॥२९॥

नमस्ते सर्वभावायेति, भगवान् षड्गुणयुक्त इति धर्मिणं निर्दिश्य

---

१. सर्वत्रेति नास्ति. २. नाशमाशङ्क्येति पाठः.

षड्विशेषणान्याह. भक्तस्य गमनमनुचितमाशङ्क्य **सर्वभावस्त्वमे**वेति न त्वत्परित्यागः. अनेन कार्यरूपता निरूपिता. कारणरूपतामाह **ब्रह्मण** इति. **अनन्तशक्तय** इति कारणत्वोपपादकं प्रकारमुक्तवान्. एवं साधनत्वेन त्रिरूपत्वमुक्त्वा फलेऽपि त्रिरूपतामाह. **कृष्णाय** सदानन्दायेति शुद्धफलरूपत्वम्. **वासुदेवाय** मोक्षफलदात्रे. **योगानां पतय** इति तस्य मोक्षफलदाने साधनत्वम्. आद्यन्तयोर्नमस्कारः सर्वत्रानुषङ्गार्थः ॥२९॥

अङ्गीकारेणैवाभ्यनुज्ञातः स्वर्गतिं गत इत्याह **इत्युक्त्वे**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्युक्त्वा तं परिक्रम्य पादौ स्पृष्ट्वा स्वमौलिना ।
अनुज्ञातो विमानाग्र्यमारुहत् पश्यतां नृणाम् ॥३०॥

प्रदक्षिणा-नमस्कारौ सर्वकार्यसाधकौ. स्वमौलिना पादस्पर्शः भगवद्धर्माणां नित्यत्वात् तच्चरणछायायामेव सर्वभोगसूचकः. तदैव देवसमानीतं विमानमारुह्य भगवन्माहात्म्यं लोके प्रख्यापयन् **नृणां पश्यतामेव** सतां ययावित्यर्थः ॥३०॥

एवं नृगस्य ब्राह्मणातिक्रमेण दुर्गतिं भगवदीयत्वेन सुगतिं च प्रदर्श्य निरोधनिरूपणार्थं ब्रह्मस्वसम्बन्धाभावमुपदिशति **कृष्णः परिजनं प्राहे**ति यावदध्यायपरिसमाप्ति, सात्त्विकाः प्रथमं धर्मे उपदेष्टव्या इति.

कृष्णः परिजनं प्राह भगवान् देवकीसुतः ।
ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मा राजन्याननुशिक्षयन् ॥३१॥

परिजनः पुत्रपौत्रादयः. **भगवा**निति भाव्यर्थाभिज्ञः, ब्राह्मणातिक्रमादेव

लेखः

इत्युक्त्वेत्यस्याभासे **स्वर्गतिं गत** इति. अस्य क्रममोक्षः अतः स्वर्गादिभोगानन्तरं मोक्ष इति भावः. विमानारोहस्य स्वर्गमनार्थकत्वात् स्वर्गमनमेव तात्पर्यार्थः. अत एव **ययावित्यर्थ** इत्यनेन गमनमेव तात्पर्यार्थं उपसंहृतः, विमानारोहो वाच्यार्थ इति भावः ॥३०॥

कृष्णः परिजनमित्यत्र सात्त्विकाः प्रथममिति. राजन्येभ्यो राजसेभ्यः प्रथमं परिजनाः सात्त्विका उपदेष्टव्याः, प्रकरणित्वात्. अतः प्रथमं परिजनाः

तेषामनिष्टं भविष्यतीति. **देवकीसुत** इति भक्तकृपालुत्वात् तथाभावो न सम्मतः. किञ्च (**ब्रह्मण्यदेवः !**) ब्राह्मणानामपि हितप्रेप्सुः, एवमुपदेशे ब्राह्मणातिक्रमं न कुर्युरिति. किञ्च **धर्मात्मा** धर्मः स्थापनीय इति, एकेनापि ब्रह्मस्वेन मिलितेन सर्व एव कृतो धर्मो नष्टो भवतीति. किञ्च राजवंशे स्वयमपि प्रादुर्भावलीलां कृतवान् अतो **राजन्यान् शिक्षयन्**, धर्मार्थं च धर्मः कर्तव्यः कारणीयश्चेति ॥३१॥

उपदेशमाह द्वादशभिः **दुर्जरं बत ब्रह्मस्वमिति**. आदौ सात्त्विकान् प्रति उपदिशन् धर्मान्तरेण ब्रह्मस्वं गृहीतं परिहर्तव्यमिति पक्षं निराकरोति.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं भुक्तमग्नेर्मनागपि ।
तेजीयसोऽपि किमुत राज्ञामीश्वरमानिनाम् ॥३२॥

बतेति खेदे; यथा बालकाः सर्पसमीपं चेद् गच्छेयुः तदा यथा पित्रादयः खेदमाविष्कुर्वन्ति तथा भगवानाहेति लक्ष्यते. स्वतः उपायान्तरेण वा न जीर्णं भवतीति **दुर्जरम्**. यतो **ब्रह्मै**वाक्षयं, तस्यापि **स्वमिति** अत्यन्तरङ्गम् उप**भुक्तं** चेद् **दुर्जरमिति** अजीर्णद्रव्यमिव मृत्युसाधकमुक्तम्. यत्र ब्राह्मणस्य ब्रह्मभूतस्य स्वमित्यभिमानः तत्र दृष्टप्रकारेणैव दुर्जरं भवति नृग इव, अन्यथात्वे शास्त्रद्वारेति दृष्टादृष्टाभ्यां दुर्जरम्. यः[१] सर्वमेवोपभुक्तं भस्मसात्करोति तेनाप्य**ग्निना** उप**भुक्तं दुर्जर**मेव भवति नतु भस्मसाद्भवतीति

लेखः

पश्चाद् राजन्या उक्ता इत्यर्थः. **देवकीसुत**पदतात्पर्यमाहुः **भक्तेति** ॥३२॥

दुर्जरमित्यत्र. धर्मान्तरेणेति, ब्रह्मस्वग्रहणदोषो धर्मान्तरेण परिहर्तव्य इत्यर्थः. **अन्यथात्वे** इति, वस्तुतः स्वत्वेऽपि ब्राह्मणस्य तथाभिमानाभावे इत्यर्थः. **यत** इति, अग्नेर्हेतोः पुरुषः सर्वं भुक्तं भस्मसात्करोति; तादृशेनाप्यग्निना करणेन ब्रह्मस्वमुपभुक्तं चेद् दुर्जरमेव भवतीत्यर्थः. **अग्नेर्हेतोरपि मनागपि ब्रह्मस्वं भुक्तं** चेद् **दुर्जरं** भवतीति मूलेऽर्थः ॥३२॥ इति पञ्चदशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

---

१. यत इति लेखकृतां पाठः –सम्पा.

ऐहिकदुर्जरत्वमेव निरूपितम्. ननु "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथे" (भ.गीता ४।३७) तिवाक्याद् ज्ञानेन ब्रह्मस्वजरणमिति चेत्, तत्राह **तेजीयसोऽपीति**. ज्ञानं फलोन्मुखं तेजः करोति, तद्वान् तेजस्वी. तस्यापि दुर्जरम्, उपजीव्यविरोधात्. न हि ज्ञानं स्वोपजीव्यमपि खण्डयति. यत्र[१] ब्राह्मणस्यापि ब्रह्मस्वं दुर्जरं तत्र **राज्ञां ब्रह्मस्वं** कथं न **दुर्जरं** स्यात्, स्वतो ब्रह्मत्वाभावात् ब्राह्मणोपजीवकत्वाच्च ! किञ्च तत्रापि ये **ईश्वरमानिनः** स्वस्य क्षात्रं धर्मं परित्यज्य भगवद्धर्ममैश्वर्यमभिमन्यन्ते. तेन परधर्मनिष्ठत्वात् सुतरामेव ब्रह्मस्वं दुर्जरं भवति ॥३२॥

एवं मरणपर्यवसायित्वमुक्त्वा तादृशान्यन्यान्यपि सन्तीति अनुपमार्थमितरं निषेधति **नाहं हालाहलं मन्य** इति.

नाहं हालाहलं मन्ये विषं यस्य प्रतिक्रिया ।
ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं नास्य प्रतिविधिर्भुवि ॥३३॥

समुद्रोद्भूतं महादेवेन पीतं **विषं हालाहलं** न विषमात्रम्. तस्यापि महादेवभक्षितस्य प्रतीकारो दृष्ट इति तस्य विषत्वमेव नास्ति. यद्यपि वाक्यान्तरे "न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते, विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं पुत्रपौत्रकमि" (बृहस्पतिस्मृति ४६) ति प्रकारान्तरेण क्रूरता निरूपिता तथापि तस्याप्यनङ्गीकारार्थमप्रतिक्रिया[२]मेवाह. यतो ब्रह्मस्वस्य प्रतिक्रियाभावः, अन्यथा नृगप्रार्थनया सर्वमित्रयोर्ब्राह्मणयोर्दया स्यात्, तदा प्रतिक्रियां कुर्वीताम्. ननु तस्यापि प्रतीकारो दृष्टः— कृकलासशरीरं प्राप्य मुक्त इति, तत्राह भुवीति. यथास्थितस्य न प्रतीकार इत्यर्थः ॥३३॥

तमपि विशेषमाह **हिनस्ति विषमत्तारमिति**.

हिनस्ति विषमत्तारं वह्निरद्भिः प्रशाम्यति ।
कुलं समूलं दहति ब्रह्मस्वारणिपावकः ॥३४॥

अप्रतीकारेऽपि **विषमत्तारमेव हिनस्ति**. विषादग्निः क्रूर इति तत्तुल्यो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **अद्भिरग्निः प्रशाम्यतीति**. दृष्टत्वात् न लौकिके

---

१. यच्चेति पाठः. २. प्रतिक्रियाभावमिति पाठः.

हेतुर्वक्तव्यः. अलौकिकेऽपि "आपो वा अग्नेर्भ्रातृव्या" (तैत्ति.संहि. ५।६।२।१) इतिश्रुतेः अद्भिः प्रशाम्यत्येव. ब्रह्मस्वस्य अशान्तौ हेतुमाह **कुलं समूलं दहतीति. ब्रह्मस्वमेव अरणी** याभ्यां मथने अग्निर्भवति. स हि यजमानं यदर्थे आधीयते तमपि दग्ध्वा शाम्यति, यावज्जीवाधिकारादग्निहोत्रस्य. ब्रह्मस्वलक्षणा त्वरणिः कुलार्थमेव प्रविष्टेति कुलमेव दग्ध्वा शाम्यति. नहि कश्चिद् धर्मार्थं परलोकार्थं वा ब्रह्मस्वं गृह्णाति. शरीरमपि कुलोद्भवमिति वंशजनकमिति च कुलमेव पोषयति. निषिद्धार्थं ब्रह्मस्वग्रहणे उभाभ्यां सर्वनाशः. **कुलमित्युपलक्षणं** वा; यत्रैव क्वचिद्[१] ब्रह्मस्वं सम्बध्यते तमेव दहतीति सर्वमविवादम्. **समूलमिति** कुलरक्षकधर्ममपि उपजीवकत्वाद् दहति ॥३४॥

सामान्यतः कुलनाशकत्वं ब्रह्मस्वस्योपपाद्य विशेषतो व्यवस्थामाह.

ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातं भुक्तं हन्ति त्रिपूरुषम् ।
प्रसह्य तु बलाद् भुक्तं दश पूर्वान् दशापरान् ॥३५॥

ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातमिति दुष्टतया अनुज्ञातं = मनसि अदत्त्वैव वाङ्मात्रेणानुज्ञातं, यथा बलाद् गृहीत्वा अनुज्ञां प्रार्थयति ततो बलिष्ठं ज्ञात्वा मारणादिशङ्कया अनुगृह्णाति. तद् **दुरनुज्ञातं** तच्चेद् **भुक्तं** तदा **त्रिपूरुषं हन्ति.** भोक्ता, तत्पुत्रः, पौत्रश्चेति त्रयः पुरुषाः. चौर्यभुक्तं तु निषिद्धत्वात् महापातके पर्यवस्यति. **प्रसह्य** धृत्वा अतिक्रमं कृत्वा शास्त्रतः **बलाद्** लोकतश्च **भुक्तमे**कविंशतिपुरुषान् दहति. तत्र **दशपूर्वाः** पितृ-पितामहादयः, परे पुत्र-पौत्रादयः, स्वयमेकविंशः[२]. प्रसहन-बलयोः आन्तर-बाह्यभेदेन व्यवस्था, वैदिक-लौकिकभेदेन वा. कश्चिद् बलाद् गृह्यमाणं प्रयच्छति स्वयं बलमकृत्वा, कश्चित्तु स्वयमपि बलं करोतीति न पौनरुक्त्यम् ॥३५॥

---

१. तद्ब्रह्मस्वमिति पाठः. २. एव विंश इति पाठः.

नन्वेवं धर्मशास्त्रे प्रसिद्धे कथं ब्रह्मस्वापहारो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **राजान** इति.

राजानो राजलक्ष्म्या च नात्मपातं विदन्ति ते ।
निरयं येऽभिमन्यन्ते ब्रह्मस्वं साधु बालिशाः ॥३६॥

प्रथमतो **राजत्वादेव**, तत्रापि **राजलक्ष्म्या**. चकारादभिजनादिमदैः **आत्मनः पातं न विदन्ति,** यतस्ते शास्त्रोक्ता **राजानः**, अन्यथा "राज्यान्ते नरकं ध्रुवमि" (भाग.पुरा. ९।२।१३) ति न स्यात्. अन्यत् क्षत्रियस्य व्याप्यमेव, ब्राह्मण एव परं व्यापकः. ते चेद्[1] ब्रह्मस्वं जानीयुः नरकसाधनत्वेन तदा न गृह्णीयुः. न हि कश्चिन्नरके पतति. अत एव **निरयरूपं ब्रह्मस्वं साधु मन्यन्ते.** यतो **बालिशाः** ॥३६॥

सामान्यतो नरकमुक्त्वा विशेषत आह **गृह्णन्तीति** द्वाभ्याम्.

गृह्णन्ति यावतः पांसून् रुदतामश्रुबिन्दवः ।
विप्राणां हृतवृत्तीनां वदान्यानां कुटुम्बिनाम् ॥३७॥
राजानो राजकुल्याश्च तावतोऽब्दान्निरङ्कुशाः ।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते ब्रह्मदायापहारिणः ॥३८॥

हृतवृत्तीनां रुदतामश्रुबिन्दवो यावतः पांसून् गृह्णन्ति. अन्तःशोके हि रोदनम्, तस्य च परिमितिरश्रुभिर्भवति, अश्रूणां च परिमाणं कार्यवशाद्, अतो रेणूनां सङ्ख्ययैव शोकसङ्ख्या. निमित्तान्तरं निराकर्तुं **हृतवृत्तीनामिति. वदान्यानामिति** लोभादिदोषनिषेधः. **कुटुम्बिनामिति** ह्रियमाणपदार्थावश्यकत्वम्. तदा ब्रह्मस्वता सम्पद्यते, अत्यावश्यकत्वात्. निषिद्धायाः क्रियायाः ब्राह्मणविषयायाः पांसुद्वारैवानिष्टनिर्णयो वेदे निरूपितः "यावतः प्रस्कन्द्य पांसून् संगृह्णात् तावतः संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजानादि" (. । ।) - तिश्रुतेः. एकेन निमित्तमुक्त्वा अपरेण फलमाह **राजानो राजकुल्याश्चेति. राजकुल्याः** राजकुलोत्पन्नाः चकारात् तत्सम्बन्धिनोऽन्ये च, य एव हरणे

---

१. केचिदब्रह्मस्वमिति पाठः.

समर्थाः. **तावतः अब्दान्** वर्षानभिव्याप्य **कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते.** प्रासङ्गिकदोषपरिहारार्थमाह **ब्रह्मदायापहारिण** इति. **निरङ्कुशा** इति तेषां नियामकश्चेन्न स्याद्, अन्यथा तस्यैव दोषो भवेत् ॥३७-३८॥

ब्रह्मस्वविशेषस्यापहारे दोषविशेषमाह.

स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च यः ।
षष्टिर्वर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥३९॥

स्वदत्तामिति, पूर्वं स्वेनैव दत्ता पश्चाद् ब्राह्मणास्वारस्ये हृता. **परेण** राज्ञा **दत्ता** परराज्यहरणेन हृता. पित्रादिदत्तां स्वदत्तामेवाहुः, स्वयमेव पितेति. नात्र धनं विषयः किन्तु वृत्तिर्भूम्यादिः यत्र निरन्तरं जीवनसाधनमुत्पद्यते. **ब्रह्मवृत्तिर्ब्राह्मणानामेव** जीवनसाधनोत्पत्तिस्थानम्. तादृशः **षष्टिर्वर्षसहस्राणि** नरकरूपायां **विष्ठायां कृमिर्भूत्वा** तिष्ठति. षष्टिसञ्ज्ञकः संवत्सरः, प्रभवादयः तस्य सञ्ज्ञाः; ते सहस्रधा आवृत्ता इति तावद्वर्षाणि. सर्वतो बीभत्सिता सेति उत्पत्तिरेव तत्रेति न क्वचिदपि तस्मिन् शरीरे सुखसम्बन्ध इत्युक्तम् ॥३९॥

एवं ब्रह्मस्वदोषानुक्त्वा स्वकीयेषु तदभावं प्रतिजानीते **न मे ब्रह्मधनं भूयादिति.**

न मे ब्रह्मधनं भूयाद् यद् गृद्ध्वाल्पायुषो नृपाः ।
पराजिताश्च्युता राज्याद् भवन्त्युद्वेजिनोऽहयः ॥४०॥

स्वतो दैववशाद् वा ब्रह्मस्वं सङ्क्रान्तं भवतीति **मे न भूयादिति** देवप्रार्थनेव[१] वचनम्. प्रमादादागते को दोष इति चेत्, तत्राह **यद् गृद्ध्वाल्पायुष** इति. **यद् गृद्ध्वाः** यदभिकाङ्क्षिणश्च ते **अल्पायुषश्च**. ग्रहणमात्र एवायुःक्षयो भवतीत्युक्तम्. आपद्गतानां तथा दोषो न भवतीति **नृपा** इत्युक्तम्. दैवगत्या मरणाभावेऽपि शत्रुभिः **पराजिता** भवन्ति. **राज्यात् च्युताः** ततो मृताः स्थानभ्रष्टा जनोद्वेजनकर्तारः सर्पा **भवन्ति.** अत ऐहिकामुष्मिकदोषस्य विद्यमानत्वात् तत्सङ्क्रमो मा भवत्विति ॥४०॥

---

१. देवप्रार्थनेति पाठः.

ननु ब्राह्मणः स्वयं चेदपराधं कुर्यादसह्यं तदा किं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह **विप्रं कृतागसमपीति.**

विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः ।
घ्नन्तं बहु शपन्तं च नमस्कुरुत नित्यशः ॥४१॥

मामका इत्यनेन ब्रह्मण्यदेवत्वात् स्वस्य[1] देवता. देवता सुतरां मान्या भवतीति अद्रोहे हेतुरुक्तः; नियमेन द्रोहं मा कुरुत. प्रमादापराधविषयमेतद् इत्याशङ्क्याह **घ्नन्तं बहु शपन्तं चेति.** मानसापराधे किं वक्तव्यं, कायिक-वाचिकापराधेऽपि द्रोहं मा कुरुत. **बह्वित्युभयत्र** सम्बध्यते. हननमत्र ताडनं नतु शिरश्छेदः, "जिघांसन्तं जिघांसीयादि" (वसिष्ठस्मृति ३, महाभा. २।५।३४) तिवाक्यात्. शापोऽवगूरणम्. मदीयानां शापो न भवतीति भयाभावात् न[2] केवलं तूष्णीं स्थातव्यम्, तथा सति ब्राह्मणस्य भयोत्पत्तिसम्भवात् पुनरपकारः स्यात्, किन्तु **नित्यं नमस्कुरुत** शङ्काभावार्थम् ॥४१॥

ननु सर्वात्मकत्वाद् भगवतः व्यवहारस्यापि न तथाभावाद् वेदलोकविरुद्धं कथं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह.

यथाहं प्रणमे विप्राननुकालं समाहितः ।
तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक् ॥४२॥

यथाहमिति, मदीयानां हि मत्कृतं कर्तव्यम्, किं लोकेन वेदेन वा? अहं तु त्रिकालं सावधानो भूत्वा भृगुमिव **विप्रत्वेनैव** विप्रमात्रं **प्रणमे, तथा यूयमपि नमत.** न हि मत्तो यूयमधिकाः. चकाराद् भगवदीयाश्च. अनङ्गीकारे बाधकमाह **योऽन्यथा** सावधानतया ब्राह्मणं न नमस्करोति **स मे दण्डभाक्** मम दण्डयुक्तो भविष्यति ॥४२॥

ननु किमेवं निर्बन्ध इति चेत्, तत्राह **ब्राह्मणार्थ** इति.

---

१. स्वस्या इति पाठः. २. नेति नास्ति.

ब्राह्मणार्थो ह्यपहृतो हर्तारं पातयत्यधः ।
अजानन्तमपि ह्येनं नृगं ब्राह्मणगौरिव ॥४३॥

मदीया ऊर्ध्वगतिमेव यास्यन्ति. **ब्राह्मणार्थस्त्वपहृतः** स **हर्तारं पातयति.** अपहारे कृतेऽ**धः पातयत्येव अजानन्तमपि;** अज्ञाने फले न किञ्चिद् वैगुण्यम्. **एनं नृगं ब्राह्मणगौरिवेति** स्पष्टो दृष्टान्तः ॥४३॥

एवमुपदेशं कृत्वा प्रसङ्गात् पूर्वद्वारकायामागतः तत्रैव तिष्ठेदित्याशङ्क्य ततो गतस्य मुख्यद्वारकास्थगृह एव स्थितिमाह.

॥ श्रीशुक उवाच ॥
एवं विश्राव्य भगवान् मुकुन्दो द्वारकौकसः ।
पावनः सर्वलोकानां विवेश निजमन्दिरम् ॥४४॥
॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥

एवं विश्राव्येति, सर्वान् विशेषेण श्रावयित्वा **भगवां**स्तावतैव कार्यं मत्वा सर्वेषां (**मुकुन्दः** !) मोक्षदाता, ब्राह्मणातिक्रमाभावे मोक्षो भविष्यतीति. **द्वारकौकस** इति, निरुद्धास्त एवेति मोक्षदात्रा संरक्षिताः भगवत्स्थान एव स्थिताः भगवतैव पूताः. तानुद्धृत्य संसारा**न्निजमन्दिरं** स्वगृहं **विवेश.** अनेन सामान्यतः सात्त्विकानां निरोध उक्तः ॥४४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥

॥ इति एकषष्टितमोऽध्यायः ॥

॥ द्वितीयः स्कन्धादितः द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥

विशेषे सात्त्विके रोधे तामसादिविभागतः ।
पूर्वं राजसमापन्नाः सत्त्वभावं तथानयत् ॥(१)॥
तेषां सात्त्विकरूपाणां सकामत्वाद् बलेन हि ।
निरोधं कारयामास षोडशे तन्निरूप्यते ॥(२)॥
ततः स्वरूपभावानां दुष्टानां दोषनुद्धरिः ।
प्रसङ्गादिदमत्रोक्तं वाराणस्यास्तु दाहनम् ॥(३)॥
बलस्तामसभावानां राजसानां तथैव च ।

लेखः

षोडशेऽध्याये. पूर्वाध्यायान्ते सामान्यनिरोध उपसंहृतः, अतः परं विशेषनिरोधः पञ्चाध्याय्या अर्थ इत्याशयेनाहुः **विशेषे** इति. एतादृश**रोधे** वक्तव्ये सति **तन्निरूप्यत** इत्यग्रिमेणान्वयः. तामसप्रकरणे तामसत्वं निवर्त्य राजसत्वं सम्पादितवान्, ततो राजसप्रकरणे तदपि निवर्त्य सात्त्विकत्वं सम्पादितवान्, ततः सात्त्विकप्रकरणे निर्गुणत्वं, ततो मुक्तिस्कन्धे मुक्तिमिति विभागो निबन्धे निरूपित इति तादृशविभागाद्धेतोः **पूर्वं** तामसप्रकरणे **राजसं भावमापन्नाः** ततः **सत्त्वभावं तथा** राजसभावनिवर्तनप्रकारेणानय**दि**ति पूर्वानुवादोऽग्रिमनिरूपणार्थमुक्तः. **तेषामिति**, सात्त्विकत्वं प्राप्तानां **तेषां सकामत्वा**द्धेतो**र्बलेन निरोधं कारयामास**. कामस्य तामसत्वात् सङ्कर्षणस्य च तथात्वात् तद्द्वारैव तादृशानां निरोध इति भावः. एतेन निष्कामत्वे सिद्धे कुरुक्षेत्रप्रसङ्गे स्वयं निर्गुणत्वं सम्पादयिष्यतीति प्रकरणसङ्गतिः (१-२).

विशेषनिरोधप्रकरणे प्रथमाध्यायार्थमुक्त्वा द्वितीयाध्यायार्थमाहुः **तत** इति. स्वरूपमात्रे भावो येषां तादृशाः पौण्ड्रकादयः, परन्तु **दुष्टा** इति तेषां **दोषनु**ज्जात इति शेषः. दोषमात्रं निवर्तनीयम्, सारूप्यं तु स्वरूपभावत्वात् सिद्धमेवेति भावः (३).

बल इति, यमुनाया द्विविदादीनां भीष्मादीनां च **मानखण्डक** इत्यर्थः.

सात्त्विकानां तथा मानखण्डकः सुनिरूप्यते ॥(४)॥
ततः स्त्रीणां तु भगवान् एकेनैव करिष्यति ।
सप्तमास्त्रय एकत्र धर्मिणः पृथगीरिताः ॥(५)॥
एवं प्रमेयबलतो निरोधः पञ्चधा भवेत् ॥

पूर्वाध्याये सात्त्विका निषिद्धाद् व्यावर्तिताः. षोडशे त्वध्याये लौकिकात् सात्त्विकभावमापादिताः गोपिका निरुध्यन्ते. ततो वैदिकादपि काशीदाहे निरोधं वक्ष्यति, ततः अशास्त्रभक्तेः द्विविदादीनां, ततो भीष्मादीनां शास्त्रभक्तेश्च, ततः शास्त्रप्रवर्तकस्य नारदस्यापि मुख्यभावात्. स्वशक्तिर्द्विधा स्थापितेति साधनशक्तिरूपो बलभद्रः गोपिकानां निरोधं कृतवानिति निरूपणार्थं गोकुले बलभद्रगमनादिकमुच्यते.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथमास्थितः ।
सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥१॥

बलभद्रः कुरुश्रेष्ठेति विश्वासार्थं सम्बोधनम्. **भगवानिति,**

लेखः

पञ्चमाध्यायार्थमाहुः **तत** इति. नारदबोधनार्थं पत्नीनां विशेषतो निरोधं रमणं करिष्यतीत्यर्थः. पूर्ववद् धर्मिनिरूपणमत्राप्याशङ्क्याहुः **सप्तमा** इति. धर्मधर्मिप्रकारेण निरूपणे सप्तमा इत्यर्थः. उपसंहरन्ति **एवमिति**. विशेषप्रकारेण निरूपणे पञ्चधा, पूर्वाध्यायोक्तं सामान्यनिरोधमप्यादाय तु षोढेति भावः (४-५ १/२).

वैदिकादपीति, सात्त्विकभावमापादितानामिति शेषः. **अशास्त्रभक्तेः** **शास्त्रभक्तेरित्यपि** पञ्चमी; ततः सात्त्विकभावमापादितानां **द्विविदादीनां** **भीष्मादीनां** चेत्यर्थः. **शास्त्रप्रवर्तकस्येति**, स्वत एव सत्त्वभावयुक्तस्येत्यर्थः. **मुख्यभावादिति**. भगवत एव साधन-फलरूपत्वं मुख्यो भावः; तस्माद् द्वैविध्यं स्यमन्तकप्रसङ्गे स्थापितम्. पूर्वं स्वस्यैव साधनरूपत्वात् स्वयमेव निरोधं कृतवान्, अधुना तु साधनशक्तेर्विभागाद् बलद्वारा कारयामास. ततः सकामत्वे निवृत्ते फलरूपः स्वयं कुरुक्षेत्रप्रसङ्गे निरोधं करिष्यतीतिभावः.

बलभद्र इत्यत्र. **पूर्ववदिति** भ्रमरगीतप्रसङ्गवदित्यर्थः. **पूर्वभावमिति**

निरोधोऽन्यकर्तव्यो न भवतीति साधनरूपो[१] भगवांस्तत्राविष्ट इति[२] भगवान्. **रथमास्थित:** नतु पूर्ववद् गुप्त:. **सुहृद्दिदृक्षु:** नन्दादिदर्शनेच्छया पूर्वभावमापन्नान् तदर्थपरमोत्कण्ठायुक्त: **नन्दगोकुलं प्रययौ**. तेषां निरोधस्तत्र कर्तुं शक्य इति तत्र [३]गत: ॥१॥

पूर्वं तदासक्तिद्वारा पश्चाद् भगवदासक्ति: सुलभेति प्रथमं लौकिकप्रकारेणैव तदासक्तिमाह.

परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैर्गोपैर्गोपीभिरेव च ।
रामोऽभिवाद्य पितरावाशीर्भिरभिनन्दित: ॥२॥

परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैरिति, गोपानां गोपीनाम् एक एव परिचयलक्षणो भाव इति सह निरूपणम्. **गोपीभिरेवेति**, द्वयोरपि गोपैरालिङ्गितं परं वस्तुतो गोपीभिरेवालिङ्गित:. **चकारात्** नन्दयशोदाभ्याम्. तत्कृत्यमुक्त्वा बलभद्रकृत्यमाह **रामोऽभिवाद्य पितराविति**. पितृत्वमेव स्थापितमिति नान्य: शब्दो निरूपित:. तौ वैश्यावपि **आशीर्भिरेवाभिनन्दित:** [४]ताभ्याम् ॥२॥

पूर्वनिरोधस्य गमने उत्तरत्र क्रियमाणो व्यर्थ: स्यादिति पूर्वसम्बन्धस्तथैव स्थित इति निरूप्यते.

चिरं न पाहि दाशार्ह सानुजो जगदीश्वर: ।
इत्यारोप्याङ्कमालिङ्ग्य नेत्रै: सिषिचतुर्बलम् ॥३॥

चिरं न: पाहि दाशार्हेति, अस्मान् चिरं परिपालय यतस्त्वं दाशार्ह:.

लेख:

सात्त्विकत्वमित्यर्थ:. **उत्तरभावमिति** नैर्गुण्यमित्यर्थ:. **तत्र गतस्येति**, रामस्य तत्र गतस्य सत: पूर्वं रामासक्तिद्वारा पश्चाद् भगवदासक्ति: सुलभा भवति, रामस्याधुना तदाविष्टत्वादिति भाव: ॥१॥

परिष्वक्त इत्यत्र **गोपैरिति**. एतैरप्यालिङ्गनं तु कृतं परन्तु वस्तुतो गोपीभिरेव परिष्वक्त:. आलिङ्गनं सम्पन्नं तासामेव, तथाधिकारादित्येवकारार्थ उक्त:. **द्वयोरपि** आविष्टावेशिनोरपीत्यर्थ: ॥२॥

---

१. साधननिरूप इति पाठ:. २. इति. भगवान् रथमिति पठ्यते क्वचित्. ३. लेखकृतां पाठे 'तत्र गत' इत्यत्र 'तत्र गतस्ये'त्यग्रिमश्लोकोत्थानिकायां पठ्यते. ४. ताभ्यामित्यग्रिमे पठ्यते.

उभयोरेव पुत्रभाव इति **सानुज** इत्युक्तम्; कृष्णसहितः. **जगदीश्वर** इति पूर्वं माहात्म्यज्ञानं वृत्तमनूद्यते. लौकिकोऽपि स्नेहः पूर्वसिद्ध एव प्रकटीकृत इत्याह **इत्यारोप्येति. अङ्कमारोप्य** **प्रौढमपि बालकमेव मत्वा** **आलिङ्ग्य नेत्रजैः सिषिचतुः. बल**मिति सर्वाङ्गम्, अन्यथा शिखा अनुक्ता एव समागच्छेयुः ॥३॥

आवश्यकानां प्रणिधानमुक्त्वा अनावश्यकानामाह **गोपवृद्धांश्च विधिवदिति.**

गोपवृद्धांश्च विधिवद् यविष्ठैश्चाभिवादितः ।
यथावयो यथासख्यं यथासम्बन्धमात्मनः ॥४॥

विधिर्गोत्रोच्चारणपूर्वकमभिवादनम्. रामापेक्षया **यविष्ठैश्चाभिवादितः.** ज्ञातेऽपि माहात्म्ये लौकिकभावस्थापनं निरोधान्तरङ्गम्. **यथावयो यथासख्यं यथासम्बन्धमिति** कालान्तःकरण-देहधर्माणामनतिक्रम उक्तः. **आत्मन** इति, यद्यपि ते सर्व एव माहात्म्यज्ञानाद् भगवद्भावमेव मन्यन्ते तथापि स्वयं यथा तान् मन्यते तथा कृतवानित्यर्थः ॥४॥

समुपेत्याथ गोपालान् हास्यहस्तग्रहादिभिः ।
विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुः पर्युपागताः ॥५॥

समुपेत्य सम्यक् मिलित्वा **अभिवादित** इति पूर्वेण सम्बन्धः. **अथ गोपालान् हास्यहस्तग्रहादिभिः** [१]यथायोग्यम् अभिवादितवानिति अर्थवशाद् विपर्ययेण योजनीयम्— हीनेषु हस्तग्रहः, समेषु हास्यम्, उत्तमेष्वभिवादनमिति. एवं कायिकमुपसंहरन् वाचनिकमाह **विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुरिति.** ज्येष्ठा अपि सन्तीति **आसीनमित्युक्तम्. परितः** सर्वत **उपागताः,** नतु कश्चिदपि तत्रोपेक्षां कृतवानित्यर्थः ॥५॥

लेखः

विश्रान्तमित्यत्र ज्येष्ठा अपीति, ज्येष्ठानामपि तत्र विद्यमानत्वात् स्थितिरेव नतु शयनमित्यर्थः ॥५॥

प्रथममिति, गोपीप्रश्नात् प्रथमम् अन्यप्रश्नमित्यर्थः.

---

१. यथायोगमिति पाठः.

प्रथमं लौकिकमाह **पृष्ट्वाथानामयं तेष्विति.**

पृष्ट्वाथानामयं तेषु प्रेमगद्गदया गिरा ।
कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः ॥६॥

पर्युपागताः प्रथमतः **अनामयं पृष्ट्वा अथ** भिन्नप्रक्रमेण **प्रेमगद्गदया गिरा पप्रच्छुरिति** सम्बन्धः. अयं विशेषो यद्यपि सर्वेषां तथापि विशेषमाह तेषु ये **कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः** सर्वा एव सिद्धयो लौकिका वैदिकाश्च भगवत्येव स्थापिताः. तत्र हेतु **कमलपत्राक्ष** इति, दृष्ट्यैव सर्वतापनाशं मोहं च सम्पादयतीति ॥६॥

नन्दादीनां वाक्यान्याह.

कच्चिन्नो बान्धवा राम सर्वे कुशलमासते ।
कच्चित् स्मरथ नो राम यूयं दारसुतान्विताः ॥७॥

कच्चिन्नो बान्धवा रामेति, सर्वे वसुदेवादयः **कुशलमासत** इति प्रसङ्गात् लौकिकमेतदुक्तम्. स्नेहं च पृच्छन्ति **कच्चित् स्मरथेति.** नोऽस्मान्. **रामेति** स्नेहेन सम्बोधनम्. **यूयं** सर्व एव **दारसुतान्विता** इति विस्मरणे हेतुः. अतः प्रश्नः सोपालम्भ इव ॥७॥

तेषां जातमभ्युदयादिकं स्वस्यात्यन्तमिष्टमिति ज्ञापयन्तोऽनुवदन्ति.

दिष्ट्या कंसो हतः पापो दिष्ट्या मुक्ताः सुहृज्जनाः ।
निहत्य निर्जित्य रिपून् दिष्ट्या दुर्गं समाश्रिताः ॥८॥

दिष्ट्या कंसो हतः पाप इति, भाग्येन वै **सुहृज्जनाः** कंसात् **मुक्ताः**. स्वरूपगुणयोः तस्य असामीचीन्यं प्रतिपादयन्तः तस्य वधो न दोषायेत्यपि सूचयन्तो जरासन्धकृतोपद्रवनिवृत्तिमाहुः **निहत्य निर्जित्य रिपूनिति.** निहत्य कालयवनं, बलं च निर्जित्य बहुधा जरासन्धादीन्. दुर्गाश्रये जयस्याहेतुत्वात्, जयसन्देह एव दुर्गाश्रय इति, क्त्वाप्रत्ययेन पूर्वकाल एवोच्यते. एतत्सूचयति **दिष्ट्येति.** द्वारका**सम्यगाश्रयणं** सम्बन्धिभिः सह स्थितिः ॥८॥

एवं सर्वेषां प्रश्नमुक्त्वा गोपीनां विशेषमाह **गोप्यो हसन्त्य** इति.

लेखः

निहत्येत्यत्र पूर्वकाल एवेति. नतु हननस्य जयस्य वा तत्र हेतुत्वमित्येवकारः ॥८॥

गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छू रामसन्दर्शनादृताः ।

राजसप्रकरणे ताः शोकरहिताः कृता इति भगवत्स्मरणेऽपि तासां हर्ष एव जात इति हासयुक्ताः. ननु पूर्णानां पुनः किं प्रश्नेनेत्याशङ्क्याह **रामसन्दर्शनादृता** इति. **रामस्य सम्यक् दर्शनेन** स्नेहकृपापूर्वकेण **आदृताः** आदरयुक्ताः. ततो याः यथाभूताः तथानुवृत्तिः कर्तव्येति अप्रश्ने औदासीन्यं च भवतीति **पप्रच्छुः** ॥८१/२॥

प्रश्नमाह **कच्चिदास्त** इति सार्धैः पञ्चभिः, अर्धं भावो न्यून इति.

कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजनवल्लभः ॥९॥

पूर्वं बहुविधा निरूपिता अपि, प्रकृते तस्याः कथायाः अनुपयोगात् पुराणान्तरस्थां तामाश्रित्य, नन्दगोपकुमारिकाः भगवता द्वारकायां नीता एव. याः पुनरन्यपूर्वाः ता अपि विमर्शे क्रियमाणे तासामेव वाक्यानुसारेण, उपालम्भवाक्यैः अग्रे च भगवद्वाक्यैः, भिन्ना एवेति प्रतिभाति. साधारण्य एव वा अत्र निरूप्यन्ते. सन्ति च ताः शङ्खचूडवधे निरूपिताः, अत

लेखः

गोप्य इत्यत्र **यथाभूता** इति. रामसन्दर्शनप्रकारेणैवम्भूता भगवदादृता जाताः नतु साक्षाद्, अतः परोक्षप्रकारेणैवानुवृत्तिः कर्तव्येत्यर्थः ॥८१/२॥

कच्चिदास्ते इत्यत्र. सङ्ख्यातात्पर्यमाहुः **अर्धं भाव** इति. षड्गुणो भगवान् पूर्णः; तथा सति षड्भिः श्लोकैः प्रश्नः स्यात्. अत्र वक्तरि भावस्य सावरणत्वेनार्धन्यूनत्वात् सार्धपञ्चभिः प्रश्न इत्यर्थः. ननु प्रश्नकर्तृभावसङ्ख्यया श्लोकसङ्ख्या वक्तव्या भवतीत्याशङ्क्याहुः **पूर्वमिति**. यद्यपि पूर्वं तामसादिप्रकारेण बहुविधा निरूपिताः, तत्र तद्भावसङ्ख्ययैव श्लोकसङ्ख्या निरूपिता, तथाप्यधुना आन्तररमणमेव स्थिरीकृतम्, तच्चैकविधमिति सर्वासामेकविध एव भावः. अतः प्रकृते बहुविधत्वकथाया अनुपयोगान्न तद्भावसङ्ख्यया श्लोकसङ्ख्येत्यर्थः. विभागमाहुः **पुराणान्तरेति**. एतास्तु **नीता एव;** "नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुर्वि" (भाग.पुरा. १०।१९।४) ति प्रार्थनाद् एतासामावेशरमणं न भवतीत्येवकारः. **याः पुनरन्यपूर्वाः** श्रुतिरूपास्ता **अपि भिन्नाः** अतः **साधारण्य एव निरूप्यन्ते**

एव सान्त्वनमासां पृथक् क्रियते. शब्दबलविवेके त्वाश्रीयमाणे अन्यपूर्वाः सर्वा एकरूपा एवेति प्रतिभाति. [1]बलभद्रोऽपि भगवानेवेति, साम्प्रतं भगवच्छक्तिरत्र प्रविष्टेति. अतः पूर्वभावेन सान्त्वनं भगवद्भावेन रमणमित्युभयं न विरुध्यते. अत एव सान्त्वनेनात्र विशेष उक्तः. स हि स्वात्मानं भगवद्रूपं प्रदर्श्य तासां लौकिकभावेऽपि पश्चात् कामनां पूरितवान्. उक्ततया अहमेकरूपेण समागतः, अत एव "आयास्य" (भाग.पुरा. १०।३६।३५) इत्यपि वचनं यथाश्रुतम्. **कृष्णः** साक्षादक्लिष्टकर्मेति आत्मानमेव रमयतीति यथाकथञ्चित् तत्परतामेव सम्पादयतीति न बहिर्धर्मान् कामं च[2] गणयति. भक्तिमार्गविरोधस्तु निरोधे नाशङ्कनीयः. [3]लौकिकसहित-भक्तिमार्ग एव विरोधश्च. अतो गोपिकानां भेदे अभेदे वा विशेषो नास्तीति न पृथङ्निरूपणम्. तथापि भेदेनैव व्याख्येयमिति सम्प्रदायः. लौकिकदृष्ट्या पृच्छन्ति, रामेण लौकिकन्यायेन आदृता इति. **कृष्णः** स्त्रीणां हितकारी तासां सुखदुःखैः तथा भवतीति. वयं क्लिष्टा इति अन्याश्च सुखिता इति समानदेशस्थानामेव आनन्ददातृत्वे सुखित्वं साधारण्ये त्वर्धसुखित्वमिति प्रायेणानुक्तेऽप्यङ्गीकृते वा आहुः. सत्यं **सुखी** यतः **पुरस्त्रीजनवल्लभ** इति, अस्मद्वल्लभत्वे कदाचिदन्यथापि स्यादिति भावः ॥९॥

लेखः

इत्यर्थः. **शब्दबलविवेके** **त्विति**. एताः श्रुतिरूपाः बलोऽपि वेदात्मकः अतः **शब्दरूपयोरुभयोर्बलं** सामर्थ्यं तस्य **विवेके** विवेचने इत्यर्थः. **सर्वा** इति रासस्था अन्यपूर्वाः शङ्खचूडप्रसङ्गस्थाश्चेत्यर्थः. ननु तादृशीनां बलभद्रेण रमणं कथं सम्भवतीत्याशङ्क्याहुः **स हि स्वात्मानमिति**. **लौकिकेति**, विवेचने तु न बाधकमित्युक्तमेव. लौकिकभावपक्षेऽपि न बाधकमि**त्यपि**शब्दः. **उक्ततयेति**, भगवतोक्तत्वाद् भगवता **सहैकरूपेण समागतोऽह**मित्यर्थः. **साक्षादित्यस्य आत्मानमित्यनेनान्वयः**. **आत्मानं** बलाविष्टमित्यर्थः. ननु तत्र तद्देहमपि व्यापारयतीत्येवकारः. तत्र हेतु**रक्लिष्टे**ति. देहादिरमणे क्लेशः स्यादित्यर्थः. **बहिर्धर्मानिति**, देहस्थानीयस्य बलस्य धर्मानित्यर्थः ॥९॥

---

१. बलभद्रेऽपीति पाठः. २. कामं च न गणयतीति पाठः. ३. लौकिककामेति शोधः.

कदाचिद् अस्मत्स्मरणेनाप्यन्यथा भवतीति सम्भावनया आहुः **कच्चित् स्मरति वा बन्धूनिति.**

कच्चित् स्मरति वा बन्धून् पितरं मातरं च सः ।
अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवां महाभुजः ॥१०॥

बन्धून् गोपान् गोपीश्च. आवश्यकस्मरणं पृच्छन्ति **पितरं मातरं चेति.** यद्यपि त्वं स्मरसि तथापि **स** कृष्णः **स्मरति** न वेति सन्देहः. एवं प्रसङ्गमुक्त्वा स्वस्मरणं सम्भावयन्ति **अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवामिति.** अपेक्षिता सेवा इच्छानुसारिणी अनुसेवा भवति. **महाभुज** इति क्रियाशक्तिः सर्वापेक्षया महती निरूपिता. अनेन नयने आगमने वा न तस्य काचिच्छङ्का ॥१०॥

यद्यपि भगवत्यसूया त्यक्ता तथापि कालविलम्बाद् भवत्येव बुद्धिरन्यथेति पुनस्तासां दोषनिराकरणार्थं निरूपयति **मातरं पितरमिति.**

मातरं पितरं भ्रातॄन् ज्ञातीन् पुत्रान् स्वसॄरपि ।
यदर्थे जहिम दाशार्ह दुस्त्यजान् स्वजनान् प्रभो ॥११॥

पञ्चावश्यकाः. स्त्रीणां मुख्या माता. "भर्तारं परित्यज्ये"ति वक्तव्ये **ज्ञातीनिति** साधारण्येनैव तन्निराकरणमपि कृतम्, भर्तृत्वस्य भगवत्येव स्थापितत्वात्. **पतीन् पुत्रानिति** पाठे न कोऽपि सन्देहः. आद्यन्तयोः स्त्रीग्रहणं, तासां तदनुरोधो महानिति. सर्वैर्निराक्रियमाणाः तदनुरोधं परित्यज्य भगवानेव गृहीत इति **यदर्थे जहिमेत्युक्तम्.** **दाशार्हेति** सम्बोधनात् पश्चात्तापेन कथनं वारयति. त्यागो महानिति वक्तुं तान् विशेषयन्ति **दुस्त्यजान् स्वजनानिति.** अन्तःकरण-देहसम्बन्धौ दृढौ निरूपितौ. **प्रभो** इति सम्बोधनं; सामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् परित्यागे उपालम्भो युक्त बोधितम् ॥११॥

यदर्थमेतन्निरूपणं तमुपालम्भमाहुः **ता नः सद्यः परित्यज्येति.**

ता नः सद्यः परित्यज्य गतः संच्छिन्नसौहृदः ।
कथं नु तादृशं स्त्रीभिर्न श्रद्धीयेत भाषितम् ॥१२॥

अन्तःकरणेऽपि परित्यागार्थमाहुः **संच्छिन्नसौहृद** इति. सम्यक् छेदः मरणसमानबाधानामप्युपेक्षणात्. ननु ज्ञायत एव वसुदेवपुत्रो यथाकथञ्चिदत्रागत्य स्थितः, तत् किमिति सर्वपरित्यागेन सेवित इति चेत्, तत्राह **कथं**

नु तादृशं स्त्रीभिरिति. युक्त्या यद्यपि त्यक्ष्यतीति निश्चितं तथापि हृदयाद्यालम्भनेन यथा विश्वास उत्पद्यते तथा **भाषितं कथं न श्रद्धीयेत.** स्त्रियो हि शुद्धभावा न कापट्यं जानन्तीति स्वश्लाघा. अतो वाक्यविश्वासादेवं कृतमिति नास्माकं दोषः. "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" (भ.गीता १८।६६), "कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती" (भ.गीता ९।३१) त्यादिवाक्यानि च शास्त्रदृष्ट्या. **नु** इति वितर्के, कश्चिदेवमप्यस्ति यो विश्वासं न कुर्यादित्यसम्भावना[1]पि सूचिता ॥१२॥

एवं मात्सर्येण भगवति दोषं सम्भाव्य साम्प्रतं पुरस्त्रीणां सम्बन्धं करोतीति स्मृत्वा सुतरामीर्ष्या जाता. ततस्तस्य तद् वैषयिकसुखं मा भवत्विति विचारयन्त्यः पुरस्त्रियोऽपि चेन्निवृत्ता भवेयुः तदा भवेदिति ता निवर्तयितुं उपालभन्ते[2] **कथं नु गृह्णन्तीति.**

कथं नु गृह्णन्त्यनवस्थितात्मनो वचः कृतघ्नस्य बुधाः पुरस्त्रियः ।
गृह्णन्ति वै चित्रकथस्य सुन्दर-स्मितावलोकोच्छ्वसितस्मरातुराः ॥१३॥

ननु सुखकराणि वाक्यानि सुखं च प्रयच्छन्ति, तत्कथं न विश्वसनीय इति चेत्, तत्राह **अनवस्थितात्मन** इति. **न अवस्थिताः** एकत्र प्रतिष्ठिताः वेदे लोके वा **आत्मानो** जीवा यस्य. न हि भगवत्सेवकाः क्वचित् प्रतिष्ठिता भवन्ति, तस्य हि वचनेन तत्सेवकत्वे स्वस्यापि (तथा) भविष्यतीति. अतो भगवदीयानां भगवद्व्यतिरिक्ते प्रतिष्ठितत्वाभावाद् ऐहिकाभिलाषिण्यः **नु** निश्चयेन **कथं गृह्णन्ति?** ननु प्रतिष्ठिते[3] साधने कृते कथं प्रतिष्ठां न लभन्ते, "अस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति अमुष्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठन्ति वा य एता रात्रीरुपयन्ती" (. । ।) त्यादिवाक्यैः कृते कर्मणि कथं प्रतिष्ठां न लभन्त इति चेत्, तत्राह **कृतघ्नस्येति.** स हि कृतमपि हन्ति. अत एवोक्तं "लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति, पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिला" (नवरत्न ६) इति. नन्वेतन्न जानन्तीति चेत्, तत्राह **बुधा** इति. बुधत्वे हेतुः **पुरस्त्रिय** इति, पुरवासिनो विचक्षणा भवन्तीति. तत्र स्वयमेव वचनग्रहणाग्रहणयोः

---

१. असम्भावेनेति पाठः. २. उपलभन्त इति पाठः. ३. प्रतिष्ठितेरिति पाठः.

दु:खतारतम्यं विचार्य अग्रहणे महदेव दु:खमिति ग्रहणोपपत्तिमाहु: **गृह्णन्तीति**. **वै** निश्चयेन, नात्र पूर्वपक्षोऽपि. तत्र हेतुत्रयमाहु: — **चित्रकथस्य** कथावैचित्र्यात् वाचा वशीकृता **गृह्णन्ति, सुन्दरस्मितावलोकाभ्यां** च मन:कायाभ्यां व्यामोहिता: **गृह्णन्ति**. त्रयाणां कार्यं जातमित्याहु: **स्मितावलोकाभ्यामुच्छ्वसितो** य: **स्मर:** मर्यादामुल्लङ्घ्य उद्‌गतो जात: तेन **आतुरा:**. यथा ज्वरातुरो वैद्यवाक्यं शृणोति, वाक्यात् कटुतिक्तादिकमपि भक्षयति, तद्वदित्यर्थ: ॥१३॥

एवं काश्चित् स्वयं दु:खमनुभूय अज्ञानवशाद् दोषनिवर्तके दोषं सम्भावयन्ति तासां निषेधार्थमन्या आहु:.

किं नस्तत्कथया गोप्य: कथा: कथयतापरा: ।
यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव न: ॥१४॥

किं नस्तत्कथया गोप्य इति, हे गोपस्य स्त्रिय: पामर्य:, तत्कथया न: किम्? भक्ति-निरोध-मुक्तीनां दोषोत्पत्तौ प्रयोजकत्वाभावात् सुतरां दोषजनकत्वाच्च तत्कथया न: कोऽपि न उपकार:. भक्तिमार्गे प्रतिबन्धान् दूरीकृत्य स्नेहेन भगवद्भजनं कृतं स्यात्. निरोधे तु क्षणमात्रमपि भगवददर्शने देहेन्द्रियादिकमपि त्यक्तं स्यात्. मुक्तौ वैषम्यग्रहणं न स्यात्. अतो

लेख:

किं नस्तत्कथयेत्यत्र भक्तीति. यद्यपि कथाया भक्ति-निरोध-मुक्तिसाधकत्वं तथापि दोषोत्पत्तौ दोषारोपे सत्येतस्यां[१] फलप्रयोजकता भक्ति-निरोध-मुक्तिसाधकत्वं नास्तीत्यर्थ:. **दोषेति**. अन्त्यावस्थाहेतुभूतो भावो दोष इति भ्रमरगीते निरूपितं टिप्पण्याम्; तज्जनकत्वादित्यर्थ:. फलाप्रयोजक-भक्ति-निरोध-मुक्तिजनकत्वं दोषजनकत्वं चेति **च**कार:. फलाप्रयोजकत्वं व्युत्पादयन्ति **भक्तिमार्गे** इति. दोषोत्पत्तौ सत्यामपि भक्तिमार्गस्य फलाप्रयोजकत्वे इत्यर्थ:. **प्रतिबन्धादित्यादिनोक्तं** त्रयाणामपि फलत्रयं ज्ञेयम्. **अत** इति, दोषारोपे सति फलाप्रयोजकत्वादित्यर्थ:. **दोषाणामिति**, प्रतिबन्धा: देहेन्द्रियादिकं वैषम्यग्रहणं च दोषास्तेषामित्यर्थ:.

---

१. एतासाम्.

दोषाणामनिवृत्तत्वाद् गुणानां चाभावात् तत्कथया नः किम्? ननु कथापि श्रोतव्या वक्तव्या वा कथारसावेशादिति चेत्, तत्राहुः **कथाः कथयतापरा** इति, यासु न दोषोत्पत्तिः. ननु कथमेवमौदासीन्यं कर्तुं शक्यं? तत्राह **यात्यस्माभिर्विना काल** इति. पारमार्थिकप्रयोजनाभावात् लौकिकप्रयोजनार्थं भगवानपेक्ष्यः. तत्रोभयोः विषयता भोक्तृत्वं च. एवं सति **अस्माभिर्विना यदि तस्य कालो** गच्छति तदास्माकमपि तं विना गच्छत्येव. नहि वयं मृताः. येन विना यस्य न निर्वाहः स उपालम्भ्यो भवति. तदा[1] न दोषः शास्त्रे, लोकेऽपि न विगानम्; यथा प्राणात्यये सर्वविषयपरिग्रहस्य. न हि म्रियमाणः निषिद्धादपि जलमन्नं वा गृह्णन् प्रत्यवैति. तथा भगवता विना चेदस्मत्प्राणा गच्छेयुः तदोपालम्भो निर्दुष्टः, अन्यथा दोष एव स्याद् उदासीनोपालम्भवत्. अथ भजनानुरूपेण भजनं, तद् भगवति नास्त्येव, अस्माभिर्विनैव तस्य कालो गच्छतीति. अतः स्वस्य तथाधिकारे भगवच्छास्त्रप्रामाण्ये भगवानेव समागच्छेत्, अप्रामाण्ये तु मरणमेव स्यात्. उभयमपि नास्तीति वृथोपालम्भो न कर्तव्य इत्यर्थः. उभयविधा अप्येताः मूर्च्छापर्यन्तव्यापारयुक्ताः, अतो दुःखात् प्रथमा वदन्ति मरणाभावाच्च परा[2] निषेधन्ति ॥१४॥

ततो मरणपर्यन्तं पीडिताः भगवदिच्छया अन्तस्तापं बहिःकृतवत्य इत्याह **इति प्रहसितमिति.**

इति प्रहसितं शौरेर्जल्पितं चारुवीक्षितम् ।
गतिं प्रेमपरिष्वङ्गं स्मरन्त्यो मुमुहुः स्त्रियः ॥१५॥

प्रहसितमान्तरं बहिर्व्यामोहकम्. **शौरेरिति** सामर्थ्यमुक्तम्. **जल्पितं** वाचनिकम्. **चारुवीक्षितमैन्द्रियकम्.** कायिकं द्विविधमप्याह **गतिं**

लेखः

गुणानां चेति, "तव कथामृतमि" (भाग.पुरा. १०।२८।९) त्यत्रोक्तानां षड्गुणानाम् अस्मान् प्रत्यप्रकटनादित्यर्थः. **उभयविधा अपीति,** दोषसम्भाविका दोषनिषेधिकाश्चेत्यर्थः ॥१४॥

---

१. तदा दोष एव स्यात् शास्त्रे लोकेऽपीति पाठः. २. अपरा इति शोधः.

प्रेमपरिष्वङ्गमिति. एवं पञ्चाङ्गं भगवन्तं **स्मरन्त्यः** मोहं मूर्च्छां प्राप्ताः ॥१५॥

मरणे तु सम्भाविते भगवानेवागच्छेत् सायुज्यं च दद्यात्, तदभावाद् बलभद्रेण सान्त्वनं कृतमित्याह **सङ्कर्षण** इति.

सङ्कर्षणस्ताः कृष्णस्य सन्देशैर्हृदयङ्गमैः ।
सान्त्वयामास भगवान् नानानुनयकोविदः ॥१६॥

ताः पूर्वं निरुद्धाः अपहतशोकाश्च पुनरुत्पन्ने दोषे उद्धववत् ततोऽपि विशेषप्रकारेण **सान्त्वयामास.** यतो **भगवान् नानाप्रकारानुनये कोविदश्च.** यथैव ताः सान्त्विता भवन्ति तथैव कृताः ॥१६॥

सान्त्वनार्थमेव ह्ययं गतः, वाक्यमात्रेण सान्त्वनं न भवतीति वसन्तसमये तत्रैव स्थितश्चेत्याह **द्वौ मासौ तत्र चावात्सीदिति.**

द्वौ मासौ तत्र चावात्सीन् मधुं माधवमेव च ।
रामः क्षपासु भगवान् गोपीनां रतिमावहन् ॥१७॥

स हि बहुकालं यत्र क्वचित् तिष्ठति, तत्रापि स्थितः. **मधुं माधवमेव चेति,** वसन्त एव कामकृता पीडा महतीति तस्मिन् विद्यमाने कामो न पीडयतीति. भगवान् उद्धवद्वारा अलौकिकसमाधानं कृत्वा लौकिकन्यायेन बलभद्रद्वारा कृतवानिति **रामोपि** रतिवर्धनः **क्षपासु भगवद्**रूपो भूत्वा **गोपीनां रतिमावहन्** स्वयमपि **रेमे** इत्यग्रेण सम्बन्धः, **अवात्सीदिति** पूर्वेण वा. **चकारात्** स वसन्तो मासत्रयात्मक इति ज्ञातव्यम् ॥१७॥

अन्यार्थमेव चेद् गच्छेत् तदा लोके अनौचित्यं भवतीति भगवदिच्छया स्वयमपि रतिं कृतवानित्याह **पूर्णचन्द्रकलामृष्ट** इति.

लेखः

इतीत्यत्र **सायुज्यं चेति,** सह योगेन परिष्वङ्गादिकं कुर्यादित्यर्थः.

द्वौ मासावित्यत्र. तत्र चेति चकारस्यार्थमाहुः **स हीति. मासत्रयात्मक** इति, स वसन्तः फाल्गुनमप्यादाय मासत्रयात्मक इत्यर्थः ॥१७॥

अन्यार्थमेवेति, सान्त्वनार्थमेव गमने ज्येष्ठत्वात् लौकिकदृष्ट्या अनौचित्यं स्यादित्यर्थः.

पूर्णचन्द्रकलामृष्टे कौमुदीगन्धवायुना ।
यमुनोपवने रेमे सेविते स्त्रीगणैर्वृतः ॥१८॥

तत्पतिसम्बन्धे या न विरुध्यन्ते ता बलभद्रेणापि न विरुध्यन्त एव. अनेन सर्वत्र भगवद्धर्मेषु भगवत्सिद्ध्यर्थं साक्षान्निर्लेपे सम्बन्धाभावाद् अनुकल्पाः कृता इति सूचितम्. अनुकल्पोऽपि सानुभाव एव भवति नतु निरनुभाव इति यमुनाकर्षणं वरुणादिसम्माननं च निरूपयिष्यति. त्याज्य एव देहादिरिति यथा वस्त्रपावनार्थं जलं वस्त्रे प्रक्षिप्यते तथा एताः भगवद्धर्मे प्रक्षिप्ताः. रमणे साधनान्याह **पूर्णचन्द्रकलाभिः मृष्टे** उज्ज्वले **यमुनोपवन** इति. वनं नदी च रसपोषके. अपेक्षितो वायुरिति देशं निरूप्य[१] निरूपयति **कौमुदीगन्धवायुनेति**. कुमुदसम्बन्धिनी **कौमुदी** नदी, तत्सम्बन्धिगन्धयुक्तेन वायुना सेविते. **कौमुदी** ज्योत्स्ना वा **गन्धश्च** उभयसहितेन **वायुना सेवितत्वादेव** मन्दत्वम्. इदं रमणं पुष्पावचयादिरूपम्. बहिरिति ज्ञापयितुं **स्त्रीगणैर्वृत** इत्युक्तम्. गणशः सर्वविधा एव स्त्रियस्तत्र सन्तीति ज्ञापितम् ॥१८॥

तस्यानुभावमाह **वरुणप्रेषितेति**.

लेखः

पूर्णचन्द्रेत्यत्र साक्षान्निर्लेपे इति. साक्षाद्भगवदीये निर्लेपे पदार्थे बलभद्रसम्बन्धो न भवति, अतो **भगवत्सिद्ध्यर्थं** भगवत इव रमणसिद्ध्यर्थं सर्वत्र भगवद्धर्मेषु पूर्णचन्द्रादि-सर्वपदार्थेषु **अनुकल्पा** एव **कृताः**. गोप्योऽपि तदनुकल्पाः रामोऽपि भगवदनुकल्पः अतः सर्वमेवानुकल्परूपमिति भावः. रामे भगवदावेशवत् सर्वेष्वेव पदार्थेषु तत्तदावेश इत्यनुकल्पत्वम्. निबन्धे "पश्चाज्जातास्तु गोपिकाः श्रुतपूर्वा बलं दृष्ट्वा रेमिरे" (त.दी.नि. ३।१०।३२२) इत्युक्तम् अत्र च शङ्खचूडप्रसङ्गस्था इत्युक्तम्. तत्र पश्चाज्जातासु रमणसमये कायिकसान्त्वनसिद्ध्यर्थं पूर्वासामावेश इत्यविरोधः. **त्याज्य एवेति**, पश्चाज्जातानाम् आवेशाधिकरणानां देहादिः पूर्वरूपत्यागेन शोधनीय एवेत्यर्थः. **भगवद्धर्मे** इति रामनिष्ठे इत्यर्थः ॥१८॥

---

१. देशं निरूपयतीति पाठः.

वरुणप्रेषिता देवी वारुणी वृक्षकोटरात् ।
पतन्ती तद्वनं सर्वं स्वगन्धेनाध्यवासयत् ॥१९॥

वारुणी काचिल्लक्ष्म्या सह अमृतमथने उत्पन्ना, सा अधिष्ठात्री देवता सर्ववृक्षेषु तिष्ठति. सा दैत्येभ्यो दत्तेति दैत्यराजाधीना. सा यस्मिन्नेव वृक्षे अधितिष्ठति तत एव मधुधारा उत्पद्यते. सङ्कर्षणश्च तामसी भगवन्मूर्तिः मधुना सम्प्रीतो भवतीति दैत्यराजेन वरुणेनाज्ञप्ता देवतात्वात् यथासुखं यथाभिलषितगन्धरसरूपा पतति. अतो **वृक्षकोटरात् पतन्ती सर्वमेव तद्वनं स्वगन्धेन अध्यवासयत्** यथा स गन्धः सर्वव्यामोहको भवति ॥१९॥

अत एव गन्धेनैव वशीकृतो बलभद्रः पपावित्याह **तद्गन्धं मधुधाराया** इति.

तद्गन्धं मधुधाराया वायुनोपहृतं बलः ।
आघ्रायोपगतस्तत्र ललनाभिः समं पपौ ॥२०॥

तत् सर्ववनव्याप्तम्. **वायुनोपहृतमिति** दूरेऽपि क्रीडन् **आघ्रायोपगतः**. उभयेषां पूर्णरमणे भगवत्स्मरणेन कदाचित् सङ्कोचः स्यात् रसो वा नोत्पद्येत अत एतदर्थं **ललनाभिः समं पपौ** ॥२०॥

ततो गतक्लेशास्ताः रतिपोषिका जाता इति वक्तुं तासां गानमाह **उपगीयमानचरित** इति.

उपगीयमानचरितो वनिताभिर्हलायुधः ।
वनेषु व्यचरत् क्षीबो मदविह्वललोचनः ॥२१॥

उपगीयमानं चरितं यस्येति तस्मिन् रुचिरुक्ता. यतो **वनिताः** वनमिताः इति. **हलायुध** इति तस्यापि विचाराभाव उक्तः. किञ्च **क्षीबो** मत्तः —अनेन विचाराभावः सम्यक् निरूपितः. **मदेन विह्वले लोचने यस्येति** लोकान् पश्यन्नपि न पश्यतीत्युक्तम् ॥२१॥

एवमवस्थापन्नस्य आधिदैविकं रूपं प्रकटीभूतमिति ज्ञापयितुं वर्णयति **स्रग्व्येककुण्डलो मत्त** इति.

लेखः

तद्गन्धमित्यत्र भगवत्स्मरणेनेति, रामाविष्टस्य भगवतो ज्ञानेनेत्यर्थः ॥२०॥

स्रग्व्येककुण्डलो मत्तो वैजयन्त्या च मालया ।
बिभ्रत् स्मितमुखाम्भोजं स्वेदप्रालेयरूषितम् ।।२२।।

चत्वारि विशेषणानि चतुर्मूर्तित्वसम्पत्तये निरूपितानि. **स्रग्वी** पुष्पमालापरिवीताङ्गः, **एकमेव कुण्डलं यस्य.** सङ्कर्षणस्य तदसाधारणं चिह्नं, योग एव न साङ्ख्यमिति. **मत्तः** स्वभावतः. **वैजयन्त्या** नवरत्नखचितया आपादलम्बिन्या **मालया** स हसितमुखाम्बुजं श्वेतमुखकमलं **बिभ्रत्. स्वेदरूपाः प्रालेयाः** हिमकणाः तेन **रूषितमिति.** अनेन श्रमः सहज एव शोभाकरः नतु क्लेशजनित इति सूचितम्, ते प्रस्वेदकणाः न शीतला भवन्तीति ।।२२।।

तर्हि स्वरूपनाश[१] एव वारुण्या जात इत्याशङ्क्य तथा प्रतीतवन्तं देवमपि नाशयतीति ज्ञापयितुं यमुनां तथा मन्यमानां निग्रहं चिकीर्षुराकारितवानित्याह **स आजुहावेति,** केवलं निग्रहार्थमाकारणे सुतरां मत्तता भवतीति.

स आजुहाव यमुनां जलक्रीडार्थमीश्वरः ।
निजं वाक्यमनादृत्य मत्त इत्यापगां बलः ।।
अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह ।।२३।।

यत्रैव पीत्वा तिष्ठति तत्रैव जलक्रीडा कर्तव्येति **जलक्रीडार्थमित्युक्तम्.** नन्वेवं कृतेऽपि मत्तता भवत्येव– नहीश्वरमर्यादया स्थापिता नद्यः क्वचिदायान्ति, आगता वा कथं न मर्यादाभङ्गं कुर्युः– तत्राह **ईश्वर** इति. न हि स्वार्थमेव मर्यादा भवति, अन्यथा क्रीडार्थं जगन्निर्माणमिति पक्षो न स्यात्.

लेखः

स्रग्व्येककुण्डल इत्यत्र **चतुर्मूर्तित्वेति.** वासुदेवाविष्ट-सङ्कर्षणाविष्ट-शेषो बल इति जन्मप्रकरणे निरूपितम्. तथा च त्रिमूर्तित्वं सर्वदा. अधुना पुरुषोत्तमोऽप्याविष्टो इति चतुर्मूर्तित्वसम्पत्तिरिति सङ्ख्यातात्पर्यमुक्तम्. **योग एवेति.** सङ्कर्षणो हि वेदात्मकः, साङ्ख्ये चात्मानात्मविवेकः; वेदे सर्वस्यैवात्मरूपत्वादयं विवेको न तत्सम्मत इति भावः ।।२२।।

तर्हीति मत्तत्वे सतीत्यर्थः.

१. स्वरूपानाश इति पाठः.

नहीश्वरः ईशितव्यमुपसर्पीति. ततो यमुनया विचारितं— मत्तोऽयं, मत्त एव अविचार्यैवाकारयतीति. **बलवाक्यमनादृत्य आपगां** नदीम् **अनागतां हलाग्रेण विचकर्ष.** हलस्याप्याधिदैविकत्वाद् देवतासहितां नदीं कूलेऽपि निम्नभावं सम्पाद्य कुल्यामार्गेण नीतवान्. तदा देवतासहितं जलं स्वभावमार्गेणागच्छत् तेनैव मार्गेण गन्तुं प्रवृत्तम् ॥२३॥

एतदपि मत्तकार्यमेवेत्याशङ्क्य ज्ञानपूर्वकं तथाकरणमित्याह **पापे त्वं** [1]**मामवज्ञायेति.**

पापे त्वं मामवज्ञाय यन्नायासि मयाहुता ।
नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेण शतधा कामचारिणीम् ॥२४॥

मयाहुता आहूता. अथवा यस्मात् **त्वं मामवज्ञाय** नागता अतो **मया हुता.** यथा हुता दग्धा भवति एवं शुष्केत्यर्थः. न केवलं [2]शुष्क (ता!) मात्रं निग्रहः किन्तु अगृहामपि करिष्यामि, यतो वृष्टिजलेनापि लोका नदीत्वं न मंस्यन्त इति. तदाह **नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेणेति,** यथा केदारेण सिक्तं जलं गच्छति. ईश्वरवचनोल्लङ्घने महत्पापं, पापे च दण्डादिकं न दोषायेति **पाप** इति सम्बोधनम्. तस्या अपराधमाह **कामचारिणीमिति** ॥२४॥

इयं न तस्य प्रतिज्ञा किन्तु निर्भर्त्सनमात्रमित्याह **एवं निर्भर्त्सितेति.**

एवं निर्भर्त्सिता भीता यमुना यदुनन्दनम् ।
उवाच चकिता वाचं पतिता पादयोर्नृप ॥२५॥

आकर्षणसामर्थ्यं दर्शनादेव ज्ञातवती सत्यमेव करिष्यतीति. ततो **भीता यदुनन्दनं** भक्तकृपालुं **चकिता** आश्चर्ययुक्ता सती प्रवाहस्थानाद् दूरे नीता **उवाच. पादयोः पतितेति** अपराधक्षमापनार्थम्. **नृपेति** सम्बोधनं परिज्ञानार्थम्, अल्पो न विश्वसतीति ॥२५॥

---

१. अविज्ञायेति पाठः. २. शुष्कतामात्रमिति शोधः.

तस्याः प्रार्थनामाह.

राम राम महाबाहो न जाने तव पौरुषम् ।
यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पते ॥२६॥

राम रामेति आदरे वीप्सा, तेनावज्ञा परिहृता. **महाबाहो** इति स्वज्ञातं भगवत्सामर्थ्यमाह. तज्ज्ञानं सामान्यत एव, विशेषतो न जानामीत्याह **न जाने तव पौरुषमिति**. वस्तुतस्त्वं **महाबाहुः**, अहं परं **न जान** इति वा. ज्ञात्वैवापराधशान्त्यर्थं तथा वदतीत्याशङ्कायामाह **यस्यैकांशेनेति**. माहात्म्यं हि दृष्टं जानाति. नदी पुनः भूम्या एकदेशे भवति, "भूमिरेव पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णा यस्य एकदेशेन विधृता भवति भूमण्डलं सर्षपायति यस्य मूर्ध्नी" (. । ।) तिवाक्यात्. तस्मादज्ञात्वा कृतोऽपराध इति क्षमा कर्तव्येति भावः. नन्वज्ञात्वा कृतेऽप्यपराधे दण्डो लोके दृष्ट इति चेत्, तत्राह **जगतः पत** इति. उदासीनव्यवस्थेयं, पतिस्त्वज्ञानकृते न दण्डं करोति ॥२६॥

ननु ज्ञायत एव सङ्कर्षणो महानिति सर्वशास्त्रसिद्धं, तत्कथमज्ञानमिति चेत्, तत्राह **परं भावं भगवत** इति.

परं भावं भगवतो भगवन् मामजानतीम् ।
मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन् प्रपन्नां भक्तवत्सल ॥२७॥

त्वयि मनुष्यभाव एव आधिभौतिकभावो वा लोकसिद्धः, नतु **परो भावः** यथा भगवति कृष्णे. स एवात्राविष्ट इति न कोऽपि जानाति. अतः **परं भावं** साक्षाद् **भगवतस्ते अजानतीं मां मोक्तुमर्हसि. भगवन्निति** सम्बोधनाद् इदानीं ज्ञातमिति नाग्रे अपराधः सम्भविष्यतीति सूचितम्. जातेऽप्यपराधे क्षमा कर्तव्येति सम्बोधनान्तरमाह **विश्वात्मन्निति**, आत्मापराधः कस्यापि न रोषकर इति. तथाप्यधिकारावेशेन भेददर्शनाद् अक्षमेति चेत्, तत्राह **भक्तवत्सलेति**. आत्मनो भक्तत्वमाह **प्रपन्नामिति** ॥२७॥

एवं कर्म-ज्ञान-भक्तिप्रकारैः प्रार्थनायां कृतायां तां त्यक्तवानित्याह **ततो व्यमुञ्चदिति**.

ततो व्यमुञ्चद् यमुनां याचितो भगवान् बलः ।
विजगाह जलं स्त्रीभिः करेणुभिरिवेभराट् ॥२८॥

तयैव मोचनार्थं **याचितः**, यतो **भगवान्**; महत इयमेव व्यवस्था. पुनरपकारं न करिष्यतीति बुद्ध्वा तथा कृतवानिति पक्षं व्यावर्तयति **बल** इति. स्वबलाभिनिवेशादेव तथा कृतवान्, नतु ज्ञात्वेत्यर्थः. तस्यां प्रसन्न इति ज्ञापयितुं क्रीडामाह **विजगाह जलं स्त्रीभिरिति**. पूर्ववन्मर्यादां त्यक्तवानिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **करेणुभिरिवेभराडिति** ॥२८॥

एतावत्पर्यन्तं भगवत्त्वमुक्त्वा तिरोहितो भगवानिति ज्ञापयितुं तस्य वस्त्राणां क्लेदनात् वस्त्रान्तरपरिधानमाह **कामं विहृत्य सलिलादुत्तीर्णायेति**.

कामं विहृत्य सलिलादुत्तीर्णायासिताम्बरे ।
भूषणानि महार्हाणि ददौ कान्तिः शुभां स्रजम् ॥२९॥

कान्तिर्भगवतश्चतुर्थी शक्तिः. अत एव तामसी मूर्तिश्चतुर्थी. तद्धितार्थं तस्य प्रिये नीले **अम्बरे भूषणानि** च तदीयानि **शुभां स्रजं** कल्याणसूचिकां मालां **ददौ,** अन्यथा **अपराधस्मरणाद्** जीवितमेव न भवेत्. भगवदीयया सत्कृत इति तस्यान्तस्तापो निवृत्तः ॥२९॥

लेखः

कामं विहृत्येत्यत्र. चतुर्थी शक्तिरिति, ''श्रिया पुष्ट्ये'' (भाग.पुरा. १०।३६।५५) ति गणनायां चतुर्थीत्यर्थः. **अन्यथेति**. भगवच्छक्त्या सत्काराभावे भगवदीयाया यमुनाया आकर्षणरू**पापराधस्मरणाद्** ग्लान्या स्वावतारसमाप्तिं बलः कुर्यादित्यर्थः. रमणं भगवद्वाक्यात् कायिकसान्त्वनार्थं कृतं, यमुनाकर्षणं तु स्वेच्छया कृतमिति तस्यापराधत्वमिति भावः. **अन्तस्ताप** इति पूर्वोक्तग्लानिरूप इत्यर्थः ॥२९॥

ततस्तत्परिधानाद् बहिर्मालिन्यमपि निवृत्तमित्याह **वसित्वा वाससी**

नीले इति.

वसित्वा वाससी नीले मालामुन्मुच्य काञ्चनीम् ।
रेजे स्वलङ्कृतो लिप्तो माहेन्द्र इव वारण: ॥३०॥

सजातीयेनैव सजातीयं व्यावर्त्यत इति **नीले वाससी वसित्वा मालां** च कीर्तिमयीमुन्मुच्य **काञ्चनीं** स्वरूपतोऽप्यमृतमयीं नित्यसद्गुणरूपां निर्दोषगुणवान् भूत्वा **रेजे**. एवं स्वाभाविकीमवस्थामापन्न: **स्वलङ्कृतो** जात: नतु गुप्त इति दृष्टान्तमाह **माहेन्द्र इव वारण** इति, ऐरावत इव ॥३०॥

तस्य माहात्म्यमग्रेऽपि दृश्यत इत्याह **अद्यापि दृश्यत** इति, अन्यथा अग्रे अपकीर्ति: स्यादिति.

अद्यापि दृश्यते राजन् यमुनाकृष्टवर्त्मना ।
बलस्यानन्तवीर्यस्य वीर्यं सूचयतीव हि ॥३१॥

आकृष्टवर्त्मना हलाकर्षणमार्गेण महत एव **वीर्यस्य वीर्यं सूचयतीव** सा जाता, नतु तावदेव बलमिति. वस्तुतस्तु तदप्रयोजकं न पूर्णमाहात्म्यसूचकं भवितुमर्हतीति इवशब्द: ॥३१॥

लेख:

वसित्वेत्यत्र सजातीयेनैवेति. वाससी नीले, मालिन्यमपि नीलमिति लोकप्रसिद्धि:, अत: सजातीयत्वम्. **स्वरूपतोऽपीति**. हिरण्मयस्य ब्रह्मधर्मत्वोपपादनात् मरणादिदोषराहित्यं नित्यसद्गुणरूपत्वं च, "निर्दोषपूर्णगुण-विग्रह"(. । ।) इतिवाक्यादिति भाव: ॥३०॥

अद्यापीत्यत्र आकृष्टवर्त्मनेति. **बलस्यानन्तं वीर्यं** तत्सम्बन्धिना **आकृष्टवर्त्मना** करणेन **वीर्यं सूचयतीव दृश्यते** इति मूलेऽन्वय: ॥३१॥

एवमेकदिनकृत्यमुक्त्वा यावत्कालं स्थित: सर्वेष्वेव दिवसेषु तदतिदिशति **एवं सर्वा निशा याता** इति.

एवं सर्वा निशा याता एकेव चरतो व्रजे ।
रामस्याक्षिप्तचित्तस्य माधुर्यैर्व्रजयोषिताम् ॥३२॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥

एकेवेति प्रकारे विशेषाभावः. **व्रजे चरत** इति स्थानस्य समानत्वाद् वैलक्षण्यं न प्रकाशितवान् [१]नत्वसामर्थ्यादिति सूचितम्. स्वपौरुषख्यापनमपि न कृतवानित्यत्र हेतुमाह **व्रजयोषितां माधुर्यैराक्षिप्तचित्तस्येति**. रामो हि साधनप्रधानः, भगवद्गुणाः तत्र प्रकाशन्त इति तत्साधनार्थमितरापेक्षया तत्समीचीनमिति तावन्मात्रेण पर्यवसितमतिर्माधुर्यैर्भगवद्धर्मैर्वशीकृत**चित्तस्य एकेव निशा** [२]**यातेत्यर्थः** ॥३२॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे षोडशोऽध्यायः ॥

लेखः

एवं सर्वा इत्यत्र **भगवद्गुणाः तत्रेति**. तत्र व्रजे **भगवद्गुणाः प्रकाशन्ते इति** हेतोर्भगवद्गुणप्राकट्य**साधनार्थमितरापेक्षया** व्रजरूपमेव स्थानं **समीचीनमिति** हेतोस्तत्रत्ययोषितां माधुर्येषु व्रजसम्बन्धमात्रेण हेतुना **पर्यवसितमतिर्जात** इत्यर्थः. **माधुर्य**पदार्थमाहुः **भगवद्धर्मैरिति**. भगवति प्रकाश्यैरनुकल्परूपैः कटाक्षादिधर्मैरित्यर्थः ॥३२॥

॥ इति द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥

---

१. तत्त्वसामर्थ्यादिति पाठः. २. जातेति पाठः.

।। तृतीयः स्कन्धादितः त्रिषष्टितमोऽध्यायः ।।

कामस्य पूर्तिमुक्त्वात्र क्रोधस्यापि निरूप्यते ।
कंसादेरिव दुष्टानां मोक्षोऽत्र विनिरूप्यते ॥(१)॥
सस्थानस्य सदेवस्य पोषकैः सहितस्य च ।
विपक्षिणो नाशरूपः पूर्वस्माद्[1] वचसा पृथक् ॥(२)॥
लौकिकैरपि वाक्यैर्यः कामादौ प्रविशेत् पुमान् ।
तं कृष्णो मोचयेत् सत्यं सर्वथेति निरूप्यते ॥(३)॥
पौण्ड्रकस्य समित्रस्य कर्मोपासनसंयुतौ ।
साधारवंशमात्रस्य नाशः सप्तदशेऽभवत् ॥(४)॥

पूर्वाध्याये पूर्वोक्तानां तामसप्रभृतीनां सात्त्विकत्वापादनाद् गोपिकानां

लेखः

सप्तदशेऽध्याये **सस्थानस्येति**. बाणासुरप्रसङ्गे तस्य स्थानं स्थापितम्; अत्र काशीस्थानसहितस्य **विपक्षिणो नाशः**. तत्र **देवे** महारुद्रे प्रसादः; अत्र **देवस्याभिचाराग्नेर्नाशः**. तत्र **पोषकाणां** रुद्रगणानां स्कन्दादीनां च स्थापनम्; अत्र **पोषकाणां** सुदक्षिणर्त्विजां नाशः. तत्र विपक्षिणो दर्पदूरीकरणमात्रम्; अत्र **विपक्षिणो नाशः**. एवं प्रकारैरयं मोक्षरूपो निरोधः **पूर्वस्माद्** बाणासुरनिरोधात् **पृथग्** भिन्नप्रकारकः. तत्र हेतुः **वचसेति**. तत्र "प्रह्लादाय वरो दत्त" (भाग.पुरा. १०।६०।४७) इतिवाक्यात् तथा, अत्र तादृशवचनाभावादित्यर्थः (१-२).

लौकिकैरिति. एता गोप्यः "श्रुतपूर्वा बलं दृष्ट्वे" (त.दी.नि. ३।१०।३२२) तिवाक्यात् लोकवाक्यश्रवणाद् भगवद्विषयककामे प्रविष्टाः, पौण्ड्रकश्च "इति प्रस्तोभितो बालैरि" (श्लो. २) तिवाक्यात् लोकवाक्यश्रवणाद् भगवद्विषयकक्रोधे प्रविष्ट इति भावः. **कर्मोपासनेति**, एतत्संयुतौ सत्यामित्यर्थः. **आधारभूतं** यद् **वंशमात्रं** तत्सहितस्य मित्रकाशीराजसहितस्य **पौण्ड्रकस्य नाशोऽभवदिति सप्तदशे निरूप्यते** इति पूर्वेणान्वयः (३-४).

---

१. सर्वस्माद् इति सं.पाठः - सम्पा.

सकामत्वात् सात्त्विकप्रकरणे कामः पूरितः. अधुना कंसवत् प्राकृतैरपि वाक्यैः ये भावं कृतवन्तः तेषां मोक्षरूपो निरोधो निरूप्यते. दैत्यांशानां द्विष्टानां साक्षान्मोक्षो नास्तीति निरोधरूप एव मोक्षो निरूप्यते. तत्रापि कामक्रोधयोः समानकाले प्रादुर्भाव इति शक्तिरपि विभक्तेति यदैव गोपिकानिरोधार्थं भगवान् रामो गतः तदैव साक्षाद् भगवतोऽपि नियोगं वक्तुं काशीदाहकथा आरभ्यते. तस्याः प्रस्तावनामाह.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

नन्दव्रजं गते रामे करूषाधिपतिर्नृप ।
वासुदेवोऽहमित्यज्ञो दूतं कृष्णाय प्राहिणोत् ॥१॥

"करूषान्मानवादासन्नि" (भाग.पुरा. ९।२।१६) ति कारूषा[१] एव करूषाः क्षत्रियाः. ते वस्तुतः उत्तरापथराजानः ब्राह्मणभक्ता धर्मपराश्च. तेषामधिपतिः कश्चित् कस्यचिद् वसुदेवनाम्नः पुत्रः पुराणेषु वासुदेवोऽवतरिष्यतीति श्रुत्वा वसुदेवपुत्रत्वादहमेव वासुदेव इति भगवदिच्छया तस्य वासुदेवोऽहमिति निरन्तरं भावनोत्पन्ना. तद्देहात्मवादिन एवेति बहिर्मुखस्यैव वासुदेवभावनया स्वदेशं परित्यज्य काश्यां वासे बुद्धिरुत्पन्ना. ततः काशिराजेन सह मैत्री विधाय काश्यामेव स्थितः. एवं स्थितौ वासुदेवद्वैविध्यं शास्त्रसिद्धं न भवतीति स्वस्मिन् वासुदेवभावना दृढेति अन्तर्बहिरेकरूपता युक्तेति बहिरपि भगवच्चिह्नानि धृत्वा, स्थानवशान्महादेवकृपया च सानुभावोऽपि

लेखः

साक्षान्मोक्ष इति, भक्तानामिव भगवता सह सर्वकामाशनरूपं "सोऽश्नुते सर्वान् कामानि" (तैत्ति.उप. २।१) तिश्रुत्युक्तं सायुज्यमित्यर्थः. **निरोधरूप** इति. "निरोधोऽस्यानुशयनमि" (भाग.पुरा. २।१०।६) तिवाक्यात् भगवतस्तैः सह तदधिकारोचितरूपेण स्थितिस्ततस्तत्र लय इत्यर्थः.

नन्दव्रजमित्यत्र. वासुदेव इतीत्यस्यानन्तरं 'भावयामासे'ति शेषो ज्ञेयः. **तद्देहात्मवादिन** इति. तद् वासुदेवत्वभावनं देहस्य वसुदेवपुत्रत्वेन वासुदेवत्वादात्मापि वासुदेव इति बुद्ध्यैव जातम्, नतु भगवतः सर्वरूपत्वात्

---

१. कामरूपा इति पाठः.

सन्, भगवतो दुर्गाश्रयणादिव्यामोहकलीलां संचिन्त्य, वासुदेवे तदनुपपन्नमिति स्वयमेव वासुदेवः नान्य इति निश्चित्य, मुख्यनिषेधार्थं **कृष्णाय** भगवते **दूतं प्राहिणोत्**. ननु स्वयं वासुदेवो भवत्येव, नापि [१]द्वैधमस्ति, अवतारबाहुल्येऽपि समानकालीने न विरोध इति किमिति प्राहिणोदिति चेत्, तत्राह **अज्ञ** इति — नायं किञ्चिच्छास्त्रतोऽनुभवतो वा जानाति ॥१॥

तर्हि कथमेवं कृतवानित्याशङ्क्याह **त्वं वासुदेवो भगवानिति**.

त्वं वासुदेवो भगवानवतीर्णो जगत्पतिः ।
इति प्रस्तोभितो बालैर्मेन आत्मानमच्युतम् ॥२॥

बाला अनभिज्ञाः दुर्ज्ञमूर्खबालकाः. ते वासुदेवो लोके अवतीर्ण इति श्रुत्वा सन्निहितपरित्यागे कारणाभावात् निकटस्थमेव तं वासुदेवं = वासुदेवनामानं पौण्ड्रक इत्यपराभिधेयं **त्वं वासुदेव** इत्याहुः. अतो बालकवाक्यात् तैः **प्रस्तोभित आत्मानमच्युतं मेने**. **वासुदेव** इति योगव्यावृत्त्यर्थं **भगवानिति**. तादृशस्य कथं जन्मेत्याशङ्क्याह **अवतीर्ण** इति. किमर्थमवतीर्ण इत्याकाङ्क्षायामाह **जगत्पतिरिति**. जगदुद्धारार्थमवतीर्ण इत्युक्तं भवति. एवं **प्रस्तोभितः** प्रोत्साहितो बालकवद् **आत्मानमच्युतमेव मेने** ॥२॥

दूतं च प्राहिणोन्मन्दः कृष्णायाव्यक्तवर्त्मने ।
द्वारकायां यथा बालो नृपो बालकृतोऽबुधः ॥३॥

तदा द्वैतबुद्धिर्बाधिकेति अज्ञत्वाद् बहिर्मुखत्वात् मुख्याद्वैतमज्ञात्वा बाह्यद्वैतं निराकर्तुं **दूतं च प्राहिणोत्**. बहिर्मुखस्य तथाभावनमेवैकोऽपराधः, सुतरां भगवते दूतप्रेषणमिति अपराधसमुच्चयार्थश्चकारः. ननु कथं सद्भिर्न निवारित इति चेत्, तत्राह **मन्द** इति. **मन्दस्तुच्छः** हीनबुद्धिरिति यावत्, तेन

लेखः

तद्रूपोऽहमिति ब्रह्मात्मवादबुद्ध्येत्यर्थः. **वासुदेवो भवत्येवेति** भगवतः सर्वरूपत्वादिति भावः. **नापि द्वैविध्यमिति**, "एकमेवाद्वितीयमि" (छान्दो.उप. ६।२।१) तिश्रुतेरित्यर्थः ॥१॥

---

१. द्वैविध्यमिति लेखपाठः.

सद्भिरुपेक्षित इत्यर्थः. तर्हि स्वापेक्षयापि भगवत्युत्कर्षं पश्यन् गोवर्धनोद्धरणादिकमपि शृण्वन् कथं प्रतिस्पर्धां कृतवानित्याशङ्क्याह **अव्यक्तवर्त्मने कृष्णायेति.** भगवन्मार्गः कुत्रापि नाभिव्यक्तः अतो माहात्म्यस्य अस्पष्टत्वात् तथाकरणमुचितमेवेत्यर्थः. तथापि [१]**द्वारकायाम्.** "काश्येव द्वारका प्रोक्ता कलौ नान्या कथञ्चने" (. । ।) तिवाक्यात् भ्रान्तपरिकल्पितादन्या द्वारकापि न भवतीति निश्चित्य द्वारकायामेव स्थिताय भगवते नाट्यक्रीडायामिव उन्मत्तवाक्यमिव प्रेषितवान्, सर्वथा अप्रसिद्धोऽर्थः पुरःस्फूर्तिकबाधे सर्वसम्मतो न भवतीति. एतादृशोऽपि लोके व्यवहारोऽस्तीति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **यथा बालो नृपो बालकृत** इति. सोऽपि स्वक्रीडायामेव स्वकीयेषु वदति, नतु मुख्ये समागत्येति चेत्, तत्राह **अबुध** इति. एतदपि न जानातीत्यर्थः ॥३॥

दूतोऽपि स इव भ्रान्त इति तस्य कथं गमनमित्याशङ्कां निवारयन् कृत्यमाह **दूतस्त्विति.**

दूतस्तु द्वारकामेत्य सभायामास्थितं प्रभुम् ।
कृष्णं कमलपत्राक्षं राजसन्देशमब्रवीत् ॥४॥

द्वारकां समागत्य, तत्रापि **सभायां स्थितं प्रभुं,** तत्र सभायां स एव प्रभुरिति सर्वैरङ्गीक्रियमाणम्. वस्तुतोऽपि **कृष्णं** सदानन्दम्. दृष्ट्यैव सर्वतापनाशकं सानुभावं **कमलपत्राक्षं राज्ञः** पौण्ड्रकस्य **सन्देशमब्रवीत्.** अनेनावश्यकवक्तव्यत्वं दोषाभावश्च सूचितः ॥४॥

राजवाक्यमाह द्वयेन.

वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमेक एव न चापरः ।
भूतानामनुकम्पार्थं त्वं तु मिथ्याभिधां त्यज ॥५॥

वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमिति स **एक एव** भवितुमर्हति, उभयोः प्रयोजनाभावात्. तर्हीदं वाक्यं विपरीतं कुतो न भवतीत्याशङ्क्याह **न चापर** इति. **अपरः** यो न राजा सामान्यभावं च प्राप्तः स **न** भवतीत्याशयः. किञ्च कार्यमपि त्वयि विरुध्यते, न मयीत्याशयेनाह **भूतानामनुकम्पार्थमिति.** त्वया अक्षौहिणीवधेन भूतानुकम्पा न क्रियत इत्यभिप्रायः. नन्वेवमस्तु,

१. स्थित्या माहात्म्यं कुतो ज्ञातवानित्याशङ्का अर्थाक्षिप्ता ज्ञेया.

दूतः किमिति प्रेष्यत इति चेत्, तत्राह **त्वं त्विति**. **मिथ्याभिधां** वसुदेवपुत्रत्वेन 'वासुदेव' इतिसञ्ज्ञां, सरस्वती तु "सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितमि" (भाग.पुरा. ४।३।२३) तिवाक्यात् शुद्धसत्त्वे आविर्भूतत्वमेव, अतो मिथ्याभिधात्वमिति. ननु योगस्य विद्यमानत्वात् कथं मिथ्यात्वं कथं वा त्यागः कर्तुं शक्यत इति चेत्, सत्यम्. नहि लोके पितृपुत्रत्वेन नाम भवति, अन्यथा नामकरणं व्यर्थं स्यात्. अतो योगो विद्यमानोऽपि व्यवहारे न वक्तव्यः. अयमेव च त्यागः यल्लौकिकवैदिकव्यवहारेषु तन्नामाख्यापनम्. भ्रमजनकत्वात् मिथ्यात्वमिति मन्यते, वासुदेवः परब्रह्मणोऽपि नामेति ॥५॥

अन्यान्यपि चिह्नानि त्यक्तव्यानीत्याह **यानि त्वमस्मच्चिह्नानीति**.

यानि त्वमस्मच्चिह्नानि मौढ्याद् बिभर्षि सात्त्वत ।
त्यक्त्वैहि मां त्वं शरणं नो चेद् देहि ममाहवम् ॥६॥

पूर्वं स्वमिन् वासुदेवत्वं सिद्धमिति **अस्मच्चिह्नत्वं** चक्रादीनाम्. नन्वस्मासु अन्यचिह्नानि कथं भवेयुः ? अतोऽस्मच्चिह्नान्येव तानीत्याशङ्कायामाह **मौढ्याद् बिभर्षीति**. अस्मन्मौढ्याच्चिह्नानि बिभर्षीति वास्तवोऽर्थः. जीवा भगवदाविर्भावेऽपि भगवन्तं न जानन्तीति भगवान् चिह्नानि बिभर्ति. **अस्मदिति** पञ्चमीबहुवचनम्, अस्मद्धेतोः. तत्रापि प्रयोजकधर्मात् **मौढ्याद्** हेतुत्वमुद्धारार्थमेव, नाशस्य पूर्वमेव सिद्धत्वात्. **सात्त्वतेति** वंशनाम्ना वैष्णवनाम्ना वा सम्बोधनम्. तेन वैष्णवन्यायेन[१] शङ्खचक्रादिधारणं न निषिध्यत इति सूचितम्[२]. सत्त्वप्रधानाः सात्त्वाः, सात्त्वत इति तसिल्. विसर्गपाठो वा लोपो वा द्रष्टव्यः, भक्तजनानुरोधाद् बिभर्षीति. एवं विरुद्धनिराकरणं

लेखः

यानि त्वमित्यत्र. वास्तवार्थपक्षे **सात्त्वतपदस्यार्थमाहुः सत्त्वप्रधाना इति**. तथा **चास्मदितिपञ्चमीबहुवचनान्तस्य सात्त्वत** इति तसिलन्तं विशेषणम्. **वम् आहेतिव्याख्याने** लोटो मध्यमपुरुषस्य च व्यत्ययेन– लट्प्रथमपुरुषश्च मामेहि ततः शरणं शरणमार्गं देहि, नोचेन्मम वं वद– इत्यन्वयः ॥६॥

---

१. भावेनेति पाठः. २. सूचितं भवतीति पाठः.

स्वबुद्ध्योक्त्वा स्वस्य कृपालुतामाविष्कुर्वन्नाह **एहि मां त्वं शरणमिति.** लौकिकदृष्ट्या सामर्थ्यं न दृष्टमिति यदि नागमनं तदा **मम आहवं देहि** आसमन्तात् त्वं मामेहि प्राप्नुहि, यथा निकटे गते मम सायुज्यसिद्धिर्भवति, अहमितः त्वत्स्थाने गन्तुमशक्त इति. इदमपि कृपाकार्यं स्वयमागत्योद्धरणम्. नो चेत्, **मम वम् आह** मह्य''मेतावत्सुखं दास्यामी''ति वद, तदा निश्चिन्ततया सन्देहाभावात् त्वत्समीपागमने यत्नं करिष्यामीति ॥६॥

एतद्वाक्याद् भगवद्भक्तानां क्रोधे उत्पन्ने तस्य परलोकसिद्धिरपि न भवतीति तेषां तच्छ्रवणेन कौतुकरस एव जात इत्याह **कत्थनं तदुपाकर्ण्येति.**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

कत्थनं तदुपाकर्ण्य पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः ।
उग्रसेनादयः सभ्या उच्चकैर्जहसुस्तदा ॥७॥

कत्थनं स्वश्लाघाम्. **पौण्ड्रकमिति** नाम्ना तस्य हीनत्वमुक्तमेव— पुण्ड्रा हीनाः चण्डालविशेषाः, तद्भावादुत्पन्नः पौण्ड्रः, कुत्सितार्थे कप्रत्ययः, अधमस्वभावोत्पन्नेष्वप्यधम इति. तत्रापि न देह एव तस्य दुष्टः किन्त्वन्तःकरणमपीति ज्ञापयितुमाह **अल्पमेधस** इति. **सभ्याः** सभार्हाः. उग्रसेनो राजा येषामिति धर्मविचारो निरूपितः. सर्व एव विचारकाः प्रमेयमत्यन्तं बाधितमिति **उच्चकैर्जहसुः. तदेति** विचारात् पूर्वमेव. ततः परिहासकथां कृतवन्तः अज्ञा इव भूत्वा, ''कीदृशोऽयं वासुदेवः ?'', ''कथं भक्तपरायण ?'' इत्यादिप्रस्तोभनावाक्यैः ॥७॥

उवाच दूतं भगवान् परिहासकथामनु ।
उत्स्रक्ष्ये मूढ चिह्नानि यैस्त्वमेवं विकत्थसे ॥८॥

[१]उपहासकथामुक्त्वा स्थितेषु तेषु **भगवान् दूतमुवाच.** भगवद्भावं प्राप्तो वदतीति तस्य वाक्याकरणे तस्याग्रे भगवत्त्वमपि न सेत्स्यतीति तद्वाक्यं यथाकथञ्चित् सत्यं करोति. **उत्स्रक्ष्ये मूढ चिह्नानीति,** यैर्धर्मैर्मौढ्यं प्रतीतं भवति, जीवत्वं वा प्राकृतत्वं वा. **मूढेति** सम्बोधनम्. लोकप्रतीत्या **यैः** कृत्वा **त्वमेवं विकत्थसे** आत्मानमेव बहु मन्यसे. यद्यहमज्ञत्वादिधर्मप्राकट्यं

---

१. परिहासकथामिति पाठः.

न कुर्याम् तदा तवैवं विकत्थनं न भवतीति. अत एव "अस्मच्चिह्नानी"ति जीवधर्माणां ग्रहणं निरूपितम्. [1]मद्धर्मपरित्यागद्वारा मामेव परित्यज्य मां शरणमेहि = शरणरूपं मां प्राप्नुहि, जीवाश्रयो भगवान् भवतीति [2]जीवाश्रितश्च तिष्ठतीति. शिष्टमङ्गीकृतं, न विरुद्धमिति ॥८॥

यदुक्तमहं शरणार्ह इति तद् जीवानां नाश्रयत्वं किन्तु ब्रह्मण एवेति, प्रार्थितं च देयमिति, शरणे निर्णयमाह **मुखं तदपिधायेति**.

मुखं तदपिधायाज्ञ कङ्क-गृध्र-बकैर्वृतः ।
शयिष्यसे हतस्तत्र भविता शरणं शुनाम् ॥९॥

तत्रैव काशीनिकटे त्वं **शुनां शरणं भविता**. अहोरात्रसमसङ्ख्याताः तद्देवताः यमालये श्वानः तिष्ठन्तीति प्रसिद्धिः. जीवाश्च श्वान इत्यपरे, "गतिसामान्यात्" (ब्रह्मसूत्र १।१।६), "क्षुत्परीतो यथा दीन" (भाग.पुरा. ४।२९।३०) इतिवाक्यात्. इन्द्रियाणि वा कुत्सिततरतानि; त एव हि तादृशं

लेखः

उत्स्रक्ष्ये मूढेत्यत्र अत एवेति. अज्ञत्वादिधर्मप्राकट्यादेव त्वया एवं निरूपितम्. तथापि त्वदुक्तमेवास्तु. "अस्मच्चिह्नानि बिभर्षी"त्यस्य त्वदभिमतव्याख्यानेऽपि त्वयैव जीवधर्माणां ग्रहणं निरूपितम्. अतस्त्वया स्वपरत्वेनोक्तं "त्यक्त्वैहि मामि"तिवाक्यं मत्परत्वेन जानीहि. तत्पक्षे मूले "मां = भगवन्तं परित्यज्य मां = भगवन्तं शरणमेही"त्यन्वयः. भगवत्परित्याग-पदार्थमाहुः **धर्मपरित्यागद्वारेति**. धर्माणां भगवतश्च भेदाभेदव्यवस्थापनात् तत्परित्यागः परम्परया भगवत्परित्यागः. तथा च 'मां परित्यज्ये'त्यस्य मद्धर्मान् परित्यज्येत्यर्थः. ततो "मां शरणमेही"ति मूलेऽर्थः. **तद्धर्मेति**, तत् त्वदुक्तं जीवधर्मग्रहणं धर्मेत्यादिप्रकारकमित्यर्थः. त्वदभिप्रेतार्थस्तु विरुद्धत्वान्न मन्तव्य इत्याशयेन तदभिप्रेतार्थमनुवदन्ति **जीवाश्रितश्चेति**. **शिष्टमिति**, शरणत्वातिरिक्तमित्यर्थः. शरणत्वं तु न मन्तव्यमित्याहुः **यदुक्तमिति** ॥८॥

---

१. तद्धर्म- इति लेखकृतां पाठः - सम्पा. २. जीवोऽश्रित इति पाठः.

शरीरमाश्रयन्ति. कालावयवा जीवा इन्द्रियाणि वा. [1]मुखपिधानकर्ता पुत्रादिर्भवति. सर्व एव मारणीया इति [1]मुखस्यापिधानमेव. **अज्ञेति.** ज्ञानिनो ज्ञानेन देहो दग्धो भवतीति शेषप्रतिपत्तिः. यथाकथञ्चिदपि भवतीति अपिधानं तदा न दूषणं भवेत्. अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थं सम्बोधनम्. **कङ्कास्तामसाः गृध्रा** राजसाः [2]**बकाः** सात्त्विका इति त्रिविधैरपि भक्षकैर्वेष्टितः, आधिभौतिकाद्यभिमानिन्यो देवताः सर्वाश्च अतः परं न परिपालयिष्यन्तीति. शरणं हि तेषामनुद्वेजकं भवति, तज्जीवतो न भवतीति. **हतः** सन् यदा **शयिष्यसे** तदा **शुनां शरणं भवि**तेति संस्काराभावोऽप्युक्तः. देहस्य येयं प्रतिपत्तिरुक्ता साऽस्मृता, अन्ते युद्धसमये तत्रासक्तो[3] न भविष्यतीति बोधनार्था. तदैव तस्य मोक्षो भवेदिति मोक्षदात्रा तथैव वक्तव्यम् ॥९॥

स दूतस्तथैवोक्तवानिति दूतो गुरुस्थाने जात इत्याह **इति दूत** इति.

इति दूतस्तदाक्षेपं स्वामिने सर्वमाहरत् ।
कृष्णोऽपि रथमास्थाय काशीमुपजगाम ह ॥१०॥

तद् भगवतोक्त**माक्षेपं स्वामिने** स पोषक इति तद्धितार्थं **सर्वमेवाहरत्,** नत्वन्यथाभावं न्यूनं वा कृतवानित्यर्थः. वाक्यं प्रेषयित्वा स्वयमपि प्रस्थित इत्याह **कृष्णोऽपि रथमास्थायेति.** यद्यपि भगवान् तत्रैव प्रादुर्भूतः तस्य मुक्तिं दातुं शक्तः, तत्रापि **कृष्णः** फलरूपः भक्तकृपालुर्वा. सोऽप्यभेदमार्गेण

लेखः

मुखं तदपिधायेत्यत्र. पक्षत्रयार्थान् क्रमेणाहुः **कालावयवा** इति. **देहो दग्ध** इति, लिङ्गशरीरं ज्ञानेन दग्धं भवतीत्यर्थः. **शेषप्रतिपत्तिरिति,** शेषस्य स्थूलदेहस्य प्रतिपत्तिर्गतिरित्यर्थः ॥९॥

इति दूत इत्यत्र **स्वामिने** इत्यस्यार्थमाहुः **स पोषक** इति. **स** पौण्ड्रको दूतस्य **पोषको** भवति **इति** हेतो**स्तस्य हितार्थं सर्वमाहर**दित्यर्थः. तथा च **स्वामिने** इति तादर्थ्यचतुर्थी; स्वामिहितार्थमित्यर्थः. **यद्यपीति.** "स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमि" (ब्रह्मसूत्र ४।४।१६) तिन्यायेन **तत्रैव** पौण्ड्रकहृदयप्रदेशे प्रादुर्भावेन मुक्तिदानसामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् तत्र गमनं नोचितं तथापि कृष्णत्वाद् गत इत्यर्थः. तथापि भक्तार्थमेव गन्तव्यं न त्वेतादृशार्थमित्यत

---

१. मुख्येति पाठः. २. वटा इति पाठः. ३. तत्रासक्तेति पाठः.

भक्तो भवतीति तत्स्त्रीणां दुःखं भवतीति यद्यपि भगवता न गन्तव्यं तथापि **रथमास्थाय** रथस्थितः सुस्थो भक्तकार्यं करोतीति **काशीमुपजगाम**. तामसस्थाने भगवदाविर्भावः सहसा न भवतीति स्वयमपि काश्यां न प्रविष्टः, अन्यथा काशीत्वमेव न स्यात्. अत एव **उप** समीप एव **जगाम** ॥१०॥

सोऽपि ग्रामाद् बहिर्भगवन्तं द्रष्टुमागत इत्याह **पौण्ड्रकोऽपीति**, अन्यथा तस्य काश्यां किं वा भवेदिति.

लेखः

आहुः **सोऽप्यभेदे**ति. सोऽपि भक्त एव भवति. मार्गभेद एव, नतु प्राप्यभेदः, "गोप्यः कामादि" (भाग.पुरा. ७।१।३०) त्यत्र तथोक्तेः, अतो गत इत्यर्थः. **कृष्णपद**स्य फलरूपत्वपक्षे आहुः **तत्स्त्रीणामि**ति. हृदये एवाविर्भावे तत्स्त्रीणां भगवद्दर्शनं न स्यात्, तदा तासां दुःखं तिष्ठेदेव, अतस्तासु कृपया स्वदर्शनेन तासां कृतार्थत्वाय तत्र गत इत्यर्थः. भक्तकृपालुतावाचकत्वपक्षे आहुः **यद्यपी**ति. ननु भक्तत्वे तु सुतरामत्रैवाकारणीयः, नतु तत्र स्वयं गन्तव्यमिति यद्यपि भवति, तथापि सुस्थो भगवान् भक्तकार्यं करोतीति सूचयितुं जगामेत्यर्थः. हेत्यनेनोक्तमाश्चर्यं **यद्यपि भगवांस्तत्रैवे**त्यारभ्य विवृतम्. एतावत्करणमाश्चर्यं तथापि कृतवानित्यर्थः. ननु हृदये आविर्भावेनापि भक्तकार्यं तु सिद्ध्यत्येवेत्यत आहुः **तामसे**ति. तस्य तामसस्थानस्थितत्वात् तद्धृदये सहसा साधनव्यतिरेकेणाविर्भावो न भवतीत्यर्थः. साधनैस्तामसत्वदोषे निवृत्ते तत्राप्याविर्भावो भवति, नतु साधनव्यतिरेकेणेति **सहसे**त्युक्तम्. अतो भक्तकृपालुत्वात् तत्कार्यार्थं गत इत्यर्थः. **स्वयमपि नेति**, तत्राविर्भूतो न भवत्यन्यत्र मथुरायामाविर्भूतोऽपि स्वयं न प्रविष्ट इत्य**पि**शब्दः. **अन्यथे**ति, भगवतस्तत्र प्रवेशे काशीत्वमेव गच्छेत्; महत एव प्रसिद्धिहेतुत्वेन विष्णुपुरीत्वापत्त्या मथुरात्वं द्वारकात्वं वा स्यादित्यर्थः ॥१०॥

पौण्ड्रकोपीत्यत्र **अन्यथे**ति. बहिर्गमनाभावे **काश्यां** स्थितस्य **तस्य किं वा** कार्यं **भवेत्** तत्र भगवत्सान्निध्याभावात् मुक्ति-युद्धादिकं किमपि कार्यं न भवेदित्यर्थः ॥११॥

पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योगमुपलभ्य महारथः ।
अक्षौहिणीभ्यां संयुक्तो निश्चक्राम पुराद् द्रुतम् ॥११॥

तस्य भगवत **उद्योगमे**तावद्दूरं समागमनम्. **महारथ** इति युद्धाभिनिवेशात् शौर्यलक्षणः स्वधर्म उक्तः. **अक्षौहिणीभ्यां** सहितः, तस्य तावद् बलं सहजं, सर्वसामग्र्या सहितो भगवत्समीपं गच्छेदिति. **द्रुतं पुरान्निश्चक्रामे**ति, भगवदिच्छया समागतः कालः तत्रैव शरीरं गृह्णीयादिति भयाद् द्रुतमेव पुरान्निर्गमनम् ॥११॥

काशिराजोऽपि तन्मित्रमिति तस्याप्यर्धगतिर्भविष्यतीति तस्याप्यागमनमाह **तस्य काशिपतिरि**ति.

तस्य काशिपतिर्मित्रं पार्ष्णिग्राहोऽन्वयान्नृप ।
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिरपश्यत् पौण्ड्रकं हरिः ॥१२॥

मित्रत्वात् पार्ष्णिग्राहो भूत्वा **अन्वयात्**. **नृपे**ति सम्बोधनं राजधर्मस्तथाविध इति ज्ञापयितुम्. **तिसृभिरक्षौहिणीभिः** सहित इति तस्य तावदेव बलम्. तत्र भगवान् प्रथमं कृपया पौण्ड्रकं दृष्टवानित्याह **अपश्यत् पौण्ड्रक**मिति, भगवज्ज्ञानेन [१]विद्धः स्वाभाविकं दोषं त्यजतीति, यतो **हरिः** ॥१२॥

तथा कृपायां तस्य जीवत एव सारूप्यं हेतुत्वेन वर्णयति **शङ्खे**ति.

शङ्खार्यसि-गदा-शार्ङ्ग- श्रीवत्साद्युपलक्षितम् ।
बिभ्राणं कौस्तुभमणिं वनमालाविभूषितम् ॥१३॥

कृत्रिम-सहजभुजेषु शङ्खम् अरिश्चक्रं च सहजयोर्धृतवान् **गदा-शार्ङ्गौ** कृत्रिमयोः. **श्रीवत्सा**दिचिह्नान्यपि कृतवान्. **कौस्तुभ**समानाकृति**मणिं** कृत्वा कण्ठे स्थापितवान्. अन्ये तु श्रीवत्स-कौस्तुभौ चर्म छित्वा तत्र स्थापितवानित्याहुः, तथा सत्यकृत्रिमता स्यादिति. **वनमालाविभूषित**मिति, यथैव नित्यनूतना भवति तथा वनमालां सम्पादयतीति ॥१३॥

कौशेयवाससी पीते वसानं गरुडध्वजम् ।
अमूल्यमौल्याभरणं स्फुरन् मकरकुण्डलम् ॥१४॥

---

१. वृद्ध इति पाठः.

कौशेयवाससी पीते भगवानिव **वसानः** समागतः, नतु कञ्चुकादिकं परिधाय, अन्यथा अन्ते वेषवशाद् अन्यथागतिः स्यात्. **गरुडध्वजमिति.** चित्रमयीं दारुमयीं वा गरुडमूर्तिं ध्वजे स्थापितवानिति, भजनीयोऽन्यो नास्तीति, धर्मश्चान्यो न कर्तव्य इति, भक्तैः सह स्वयमात्मानमेव पूजयतीति. **अमूल्यमेव मौलिमाभरणानि** च सम्पादितवान्, तथैव **मकराकृतिकुण्डले.** ध्यानेन भगवदावेशाच्च सर्व एव भगवद्धर्मास्तत्राविष्टा इति **स्फुरत्**पदेन सूचितम् ॥१४॥

तस्य रूपं दृष्ट्वा भगवान् सन्तुष्टः अभिनन्दनं कृतवानित्याह **दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यं वेषं कृत्रिममास्थितमिति.**

दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यं वेषं कृत्रिममास्थितम् ।
यथा नटं रङ्गगतं विजहास भृशं हरिः ॥१५॥

परं **कृत्रिममास्थितमिति** तत्रासक्तिर्महतीति वेषस्य न केनाप्यंशेन भङ्गः सूचितः. कृत्रिमत्वे गतिर्न भविष्यतीत्याशङ्क्य रसोत्पादकत्वात् स्थाय्येव भावो रस इति अधिकं तत्रानुप्रविष्टमिति निरूपयितुमाह **यथा नटं रङ्गगतमिति.** अतिहर्षाद् **भृशं विजहास** तस्य सर्वं भावं स्मृत्वा सर्वस्यैवाभिनन्दनं कृतवानित्यर्थः. यतो **हरिः** ॥१५॥

ततः सेनायाः प्रथमं भगवत्यतिक्रममाह **शूलैरिति.**

शूलैर्गदाभिः परिघैः शक्त्यृष्टि-प्रास-तोमरैः ।
असिभिः पट्टिशैर्बाणैः प्राहरन्नरयो हरिम् ॥१६॥

शिवप्राधान्यात् प्रथमं शूलग्रहणम्. दशभिरायुधैः सर्वप्रकारेण हरिं

लेखः

गरुडध्वजमित्यत्र ध्वजस्थापनस्य तात्पर्यत्रयमाहुः **भजनीय** इति **धर्मश्चेति भक्तैः सहेति** ॥१४॥

दृष्ट्वा तमित्यत्र. कृत्रिमत्वे इति. रसस्य स्थायित्वनियमाद् रसो न हीयते किन्तु कृत्रिमत्वमधिकं प्रविष्टं व्यभिचारिभाववदिति निरूपयितुं रसोत्पादकत्वमाहेत्यर्थः ॥१५॥

शूलैरिति शूलादिदशसङ्ख्यातात्पर्यमाहुः **सर्वप्रकारेणेति.** सगुणनिर्गुणप्रकारेणेत्यर्थः. हरिपदस्यार्थमाहुः **तूष्णीं स्थितमिति** ॥१६॥

तूष्णीं स्थितं तमगणयन्तं[१] **प्राहरन्** ॥१६॥

ततोऽक्लिष्टकर्मा भगवान् तां सेनां दूरीकृतवानित्याहु **कृष्णस्त्विति.**

कृष्णस्तु तत् पौण्ड्रक-काशिराजयोर्बलं गजस्यन्दनवाजिपत्तिमत् ।
गदासिचक्रेषुभिरार्दयद् भृशं यथा युगान्ते हुतभुक् पृथक्प्रजा ॥१७॥

तुशब्देन भगवतो जयमाह. **तद्बलं** प्रहरणकर्तृ. **पौण्ड्रक-काशिराजयोरिति** सात्त्विक-तामसभावापन्नयोरपि. राजसा एव हन्तव्या इति तयोरमारणमाशङ्क्य **नामग्रहणम्.** अङ्गानि गणयति **गजेति.** तयोरराजसत्वात् सेनाव्यवस्था कदाचिन्न भवेदिति तदर्थं गणना. **गदादिभिः** चतुर्भिरेव आसमन्तादार्दयत् पीडितवान्. अस्त्रादिसहितैर्बाणैः कृत्वा दाहपर्यन्तं कृतवानिति वक्तुं दृष्टान्तमाह **यथा युगान्त** इति. प्रजानां क्षयो यस्मात् तादृशो **हुतभुक्** प्रलयाग्निः ॥१७॥

ननु महादेवः कथं तत्साहाय्यं न कृतवानित्याशङ्क्याह **आयोधनमिति.**

आयोधनं तद् रथवाजिकुञ्जर-द्विपत्खरोष्ट्रैररिणावखण्डितैः ।
बभौ चितं मोदवहं मनस्विनामाक्रीडनं भूतपतेरिवोल्बणम् ॥१८॥

चक्रेण खण्डितै रथादिभिः कृत्वा **आयोधनं** रणभूमिर्**बभौ. तैश्चितं** व्याप्तं प्रसारितम्. तर्हि तद् दृष्ट्वा मूलभूतौ पलायितौ भविष्यत इत्याशङ्क्याह **मोदवहं मनस्विनामिति.** मोदं वहतीति **भूतपतेर्महादेवस्याक्रीडनं** क्रीडास्थानं कृतवान्. तत्राप्युल्बणमत्युत्कटं, येन भक्तोऽपि न स्मृतः ॥१८॥

अथ पौण्ड्रकवधार्थमुद्यतः स्वोपदिष्टोऽर्थस्तेन विस्मृतो मा भवत्विति पुनः स्मारयति **अथाहेति** द्वाभ्याम्.

अथाह पौण्ड्रकं शौरिर्भो भो पौण्ड्रक यद् भवान् ।
दूतवाक्येन मामाह तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते ॥१९॥
त्याजयिष्येऽभिधानं मे यत् त्वयाज्ञ मृषा धृतम् ।

लेखः

आयोधनमित्यत्र. मूलभूताविति सेनायां मुख्यौ पौण्ड्रक-काशिराजावित्यर्थः ॥१८॥

---

१. तान गणयन्तमिति मुद्रितपाठः, पादटिप्पण्यस्थपाठः गृहीतः - सम्पा.

व्रजामि शरणं तेऽद्य यदि नेच्छामि संयुगम् ॥२०॥

शौरिरिति पितृपितामहनाम्ना भगवत उत्कर्षं **पौण्ड्रकेति** तस्यापकर्षं चाह. **भो भो पौण्ड्रकेति** तस्य सहजो दोषः भगवता कीर्तित इति तन्नाशो निरूपितः. **यद् भवान् दूतवाक्येन मामाह तान्यस्त्राणि** सहजानि **ते** तुभ्यं त्वदर्थं **उत्सृजामि,** यैस्त्वं सहजस्तादृशो भविष्यसि. **मे अभिधानं** 'वासुदेवे'ति **यत् त्वया मृषा धृतं** भगवद्भावात् पूर्वमेव बालकवाक्येन स्थापितं तत् **त्याजयिष्ये,** सहजं तु दास्यामीति. यदि संयुगे न हनिष्यामि तदा निकटे समागत्य सायुज्यं दास्यामि. इदानीं युद्धार्थमेवागत इति सारूप्यमेव प्रयच्छामि. अयं दोषः दूतप्रेषणाद् जातः, अन्यथा सायुज्यमेव भवेत् यदि तूष्णीं तिष्ठेदित्यर्थः. अनेनैवमपि सूचितम्— इदानीमपि चरणे चेत् पतति सायुज्यमेव दास्यामीति ॥२०॥

तथाप्यनिवृत्तं भगवान् मारितवानित्याह **इति क्षिप्त्वेति.**

इति क्षिप्त्वा सितैर्बाणैर्विरथीकृत्य पौण्ड्रकम् ।
शिरोऽवृश्चद् रथाङ्गेन वज्रेणेन्द्रो यथा गिरेः ॥२१॥

क्षेपो दोषस्मारणम्. **सितैः** तीक्ष्णै**र्बाणैः** अश्वान् हत्वा **विरथीकृत्य (रथाङ्गेन!)** चक्रेण **शिर**श्छिच्छेद. भक्तवधोऽनुचित इत्याशङ्क्य परोपद्रवकारित्वात् मारितवानिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **वज्रेणेन्द्र** इति. यद्यपि विष्णुः पर्वतानामधिपतिः इति तेषां पक्षच्छेदोऽनुचितः तथापि लोकेऽत्युपद्रवकर्तृत्वाद् हननमिन्द्रद्वारा. पक्षावेव शिरःस्थानीयौ ॥२१॥

सात्त्विकवधमुक्त्वा तामसवधमप्याह **तथा काशिपतेरिति.**

तथा काशिपतेः कायाच्छिर उत्कृत्य पत्रिभिः ।
व्यपातयत् काशिपुर्यां पद्मकोशमिवानिलः ॥२२॥

विरथीकृत्य तमप्याक्षिप्य– चक्रेण हतो मुक्तो भविष्यतीति, छिन्नमपि शिरश्चेद् भगवान् पश्येत् तथापि मुक्तो भवेदिति– कालावयवभूतैः **पत्रिभिर्बाणैः शिर उत्कृत्य काशिपुर्यां व्यपातयत्.** साहाय्यं शरीरेणैव कृतमिति शरीरांशः

लेखः

त्याज्ययिष्य इत्यत्र. **व्रजामि शरणमित्यस्यार्थमाहुः सायुज्यं दास्यामीति.** तथाच त्वदर्थं शरणत्वं व्रजामि प्राप्नोमीति तदर्थः ॥२०॥

तस्य मुक्तः कृतः. तस्य मध्ये पतनादिकमाशङ्क्य दृष्टान्तमाह **पद्मकोशमिवानिल** इति. अनेन व्याजेन भगवान् महादेवे तच्छिरःकमलपूजां कृतवानिति द्योतितम् ॥२२॥

युद्धमुपसंहरन् भगवतो द्वारकागमनमाह **एवं मत्सरिणं** हत्वेति.

एवं मत्सरिणं हत्वा पौण्ड्रकं ससखं हरिः ।
द्वारकामाविशत् सिद्धैर्गीयमानकथामृतः ॥२३॥

भक्तस्यापि हनने मात्सर्यमेव हेतुः, काशिराजवधे तत्सखित्वं हेतुरिति. ततो भगवत्कृतं लोकशास्त्राविरुद्धमिति ज्ञापयितुं **सिद्धैर्गीयमानकथामृत** इत्युक्तम्. **एवं (हरिः!)** सर्वदुःखहर्ता तेषां दुःखं दूरीकृत्य **द्वारकामाविशत्** ॥२३॥

पौण्ड्रकस्य हननान्तरं या गतिर्जाता तामाह **स नित्यमि**ति.

स नित्यं भगवद्ध्यान-प्रध्वस्ताखिलबन्धनः ।
बिभ्राणश्च हरे रूपं स्वरूपं तन्मयोऽभवत् ॥२४॥

स तन्मयोऽभवत् तेन व्याप्तोऽभवत्; आत्मनि परमात्मा आविष्टः तेनावेशी जातः. शरीरेन्द्रियप्राणान्तःकरणसद्भावे आधिदैविकानि शरीरादीनि तत्राविष्टानि, अन्यथा तु स्वतन्त्रावेशीव भगवद्गणो जातः. तत्र च भगवत इव तस्यापि लीला भविष्यतीति मुख्यः पक्षः. विष्णुदेवतानुरूपत्वे तु

लेखः

तथा काशिपतेरित्यत्र. मुक्तः कृत इति मस्तकाद् भिन्नः कृतः. शरीरं पौण्ड्रकसमीपे मस्तकं काश्यां पातितमित्यर्थः. **अनेने**ति पद्मकोशदृष्टान्तेनेत्यर्थः ॥२२॥

स नित्यमित्यत्र. शरीरेन्द्रियेति, "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामती" (बृह.उप. ४।४।२) ति पक्षे वासनात्मक-देहादिसद्भावे तत्र वासनात्मक-देहादौ आधिदैविकानि शरीरादीन्याविष्टानीत्यर्थः. **अन्यथा त्वि**ति, "इहैव समवलीयन्ते प्राणा" (बृह.उप. ४।४।६) इतिपक्षे तु देहादिकं विनैव "चिति तन्मात्रेणे" (. । ।)तिन्यायेन भगवत्पार्षदो जात इत्यर्थः. **तत्र चे**ति, भगवत्पार्षदत्वे जाते सतीत्यर्थः. **भगवत इवे**ति, यथा भगवतो देहादिरहितस्यैव लीला तथैतस्यापीत्यर्थः ॥२४॥

वैष्णवलोके तथात्वमिति, शङ्खचक्रादिभावस्यैव प्राधान्यादिति केचित्. तस्य तथात्वे हेतुमाह **नित्यं भगवद्ध्यानेन प्रध्वस्तानि** अविद्या-काम-कर्मादीनि मात्सर्यादीनि च पश्चादुत्पन्नानि उभयविधान्यपि **बन्धनानि यस्य**. अनेन देहान्तरोत्पादकं कर्म निवर्तितम्. भगवदावेशे हेतुमाह **बिभ्राणश्च हरे रूपमिति.** हरिः रूप्यते अनेनेति शङ्ख-चक्रादिभावसमुदायः. तं बहिर्बिभ्रत्, **स्वरूपं तु मनसा बिभ्रत्. चकारात्** तत्क्रियादीनां सर्वेषामाधानमुक्तम्. एवं सर्वसामग्र्यां तन्मयत्वं युक्तमेव ॥२४॥

पौण्ड्रकस्य गतिमुक्त्वा तेन सहागतस्य काशिराजस्यापि कथं सा न गतिरिति शङ्कां वारयितुं तदुत्पन्नानां तदीयानां सर्वेषामेव परमं दोषमाह यावदध्यायपरिसमाप्ति. अर्थात् तेऽपि निरुद्धाः तीर्थमपि निरुद्धं भवतीति निरूपितम्.

शिरः पतितमालोक्य राजद्वारि सकुण्डलम् ।
किमिदं कस्य वा वक्त्रमिति संशिश्यिरे जनाः ॥२५॥

यद् भगवता पत्रिभिः **शिरश्छिन्नं** तद् **राजद्वारि पतितम्**. तदा**लोक्य.** राजत्वज्ञापनाय **सकुण्डलमिति**; मुखं रुधिराविलमिति कुण्डले अभिज्ञापके निरूपिते. आदौ पतनसमये किमिदं पतितमिति बुद्धिरुत्पन्ना. ततः शिर इति ज्ञात्वा कस्येति, ततो राज्ञो भविष्यतीति ज्ञातेऽपि वक्तुमयुक्तत्वात् **संशिश्यिरे** संशयं प्राप्ताः ॥२६॥

ततोऽन्तरङ्गाः समागत्य निश्चयं चक्रुरित्याह **राज्ञः काशिपतेरिति.**

राज्ञः काशिपतेर्ज्ञात्वा महिष्यः पुत्रबान्धवाः ।
पौराश्च हा हता राजन् नाथ नाथेति चारुदन् ॥२६॥

महिष्यः स्त्रियः **बान्धवाः** गोत्रिणः **पौराः** सेवकाः चकारादन्येऽपि साधारणाः. तथा वक्तुमनुचितमित्याशङ्क्य तेषां तुल्यव्यसनत्वं निरूपयितुमाह **हा हता राजन्निति.** माहात्म्ये **राजन्निति,** स्नेहे **नाथेति.** यथा स्ववधे राजा बोध्यते तद्वद् बोधयाञ्चक्रुरित्यर्थः. चकारात् 'पितः-स्वामिन्' इत्याद्यपि.

लेखः

शिरः पतनमित्यस्याभासे निरुद्धा इति, विरुद्धप्रकारेणापि भगवत्येव चित्तवृत्तीनां निरोध इत्यर्थः. **तीर्थमपीति,** तीर्थस्था अपीत्यर्थः.

स्ववधे यथा क्लेशेन रोदनं तथा मुखतो वदन्त एव रोदनं कृतवन्तः ॥२६॥

ततः क्षत्रिय इति मानभङ्गार्थं भगवतैवं प्रदर्शितमिति वैरं सिसाधयिषुः[१] विष्णोः समानौ ब्रह्म-शिवौ ज्ञात्वा तयोराराधनार्थं प्रवृत्त इत्याह **सुदक्षिणस्तस्य सुत** इति.

सुदक्षिणस्तस्य सुतः कृत्वा संस्थाविधिं पितुः ।
निहत्य पितृहन्तारं यास्याम्यपचितिं पितुः ॥२७॥

[२]ब्रह्म-महादेवौ– पितृहन्ता[३] तस्य सहजो देहादिदोष इति तद्वधार्थं प्रयत्नं करोतीति– तूष्णीं स्थितौ; जातश्चार्थस्तथैव. बहुदक्षिणयज्ञादुत्पन्नः **सुदक्षिण** इति वैदिकप्रकारे तस्य श्रद्धा, अन्यथा राज्ञामनुवृत्तिमेव लौकिकीं कुर्यात्. **संस्थाविधिः** पारलौकिकी क्रिया; पितृत्वात् तदावश्यकम्. ततोऽपि क्षत्रियो न निष्कृतो[४] भवतीति **पितृहन्तारं** स्वादृष्टशरीरादिकं हत्वैव **अपचितिं यास्यामीति** ॥२७॥

स्वबुद्ध्यै विचारितवानित्याह **इत्यात्मनाभिसन्धायेति.**

लेखः

सुदक्षिणस्तस्य सुत इत्यत्र. ननु भगवद्द्रोहार्थं प्रवृत्तो ब्राह्मणैः ऋत्विग्भिर्देवेन महारुद्रेण च कुतो न निवारित इत्यत आहुः **ब्राह्मणेति.** अयं पितृहन्तृवधार्थं यतते. पितृहन्ता तु सहजोऽस्यैव देहादिदोषः; देहेन साहाय्यं कृतमतो मारितः. हेतुत्वेऽपि प्राधान्यविवक्षया कर्तृत्वम्. तथाच **तस्य** सुदक्षिणस्य **पितृहन्ता** पितृदेह एव, **तद्वधार्थं प्रयत्नं करोति** न तु भगवति किञ्चिद्, अत**स्तूष्णीं स्थितौ** न निवारितवन्तावित्यर्थः. **जातश्चार्थ** इति, कार्यकारणयोरभेदेन "आत्मा वै पुत्रनामासी" (शतपथ ब्रा. १४।९।४।२६) ति श्रुतेश्च पितापुत्रदेहयोरैक्येन सुदक्षिणदेहनाश एव जात इत्यर्थः. **स्वादृष्टशरीरादिकमिति, स्वस्य** सुदक्षिण**स्यादृष्टम्** उक्तरीत्या भेदेन **शरीरादिकं** च पितृहन्तृ इत्यर्थः ॥२७॥

---

१. सिसाधयितुरिति. २. ब्राह्मणेति लेखपाठः –सम्पा. ३. सुदक्षिणस्य सहजं देहादिदोषम् उद्दिश्य पितृहन्तृत्वं विधीयते –सम्पा. ४. निवृत्त इति पाठः.

इत्यात्मनाभिसन्धाय सोपाध्यायो महेश्वरम् ।
सुदक्षिणोऽर्चयामास परमेण समाधिना ॥२८॥

सोपाध्यायो ब्राह्मणसहितः **महेश्वरमिति** ब्राह्मणादपि महादेवं महान्तं मन्यते, कदाचिद् ब्राह्मणाः ब्रह्मण्यो भगवानिति पक्षपातं कुर्युरिति. **परमेण समाधिनेति**, योगेन महादेवस्तुष्यतीति. **परमः** साक्षान्महादेवप्रीतिजनकः **समाधिः** चितैकाग्र्यं, तेन तुष्यतीति शैवतन्त्रसिद्धत्वात् तथा कृतवान् ॥२८॥

प्रीतोऽविमुक्ते भगवांस्तस्मै वरमदाद् भवः ।
पितृहन्तृवधोपायं स वव्रे वरमीप्सितम् ॥२९॥

ततः **प्रीतो** महादेवः. ननु भगवत्सान्निध्य एव समाधिः फलसाधक इत्याशङ्क्याह **अविमुक्त** इति. तत्र हि पूर्वं महादेव पञ्चमं शिरो ब्रह्मणश्छित्वा ब्रह्महत्यया व्याप्तः नारायणाश्रमं गत्वा पृष्टो बदरीनाथः "कथं ब्रह्मवधाद् विमोक" इति. तदाह भगवान् "स्वस्थानं गच्छ यत्र चास्य कपालस्य पतनं; ततश्चाव्यावृत्तिः कर्तव्ये"ति. ततः काश्यामागतस्य तथा जातमिति ततः प्रभृति महादेवेन न तद् विमुक्तम्. अतो नित्यसान्निध्यात् महादेवस्तत्र प्रसन्नः. स च **भगवान्** भवति, तामसकल्पेषु तद्रूप एव भगवानिति, यत उद्भवरूपः. अतस्तस्मै **वरं** दत्तवान्, "वरं ब्रूहि, दास्यामी"त्युक्तवानित्यर्थः. ततः स्वाभिलषितमाह **पितृहन्तरिति**. ननु कथमस्य वरत्वं, दुःखाभाव-सुखरूपत्वाभावात्? तत्राह **ईप्सितमिति**. न हि वरो नाम कश्चिन्नियतोऽस्ति, य एव कश्चन मनस्यभिलषितो भवति स एव वर इति ॥२९॥

तदा महादेवः उभयथाप्यनिष्टमिति ज्ञात्वा भक्तहितार्थं व्याजेन साधनमुपदिशति, अन्यथा न निवृत्तो भवतीति. शिववाक्यमाह त्वं **दक्षिणाग्निं परिचरेति**.

लेखः

इत्यात्मनेत्यत्र. भगवत्सान्निध्ये इति पूज्यदेवसान्निध्ये इत्यर्थः ॥२९॥

दक्षिणाग्निं परिचर ब्राह्मणैः सममृत्विजाम् ।
अभिचारविधानेन स चाग्निः प्रमथैर्वृतः ॥३०॥
साधयिष्यति सङ्कल्पमब्रह्मण्ये प्रयोजितः ॥
इत्यादिष्टस्तथा चक्रे कृष्णायाभिचरन् कुधीः ॥३१॥

"अग्नये रुद्रवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेदभिचरन् एषा वास्य घोरा तनूर्यद् रुद्रः तस्मा एवैनमावृश्चति ता जगर्तिमार्च्छती" (तैत्ति.संहि. २।२।२।३) ति श्रुतेः दक्षिणाग्नावेवाभिचारहोमः. अत आह त्वं **दक्षिणाग्निं परिचरेति**. तत्राप्येकाकिना न कर्तव्यमिति **ब्राह्मणैः सममित्युक्तम्. ऋत्विजां** मध्ये ऋत्विजां सम्बन्धि वा, तेन चातुर्होत्रविधानेन कर्तव्यमिति. तत्राप्य**भिचारविधानेन** इष्टिप्रकृतिकश्चेत् न शरमयादि. पशुप्रकृतिकत्वे तु तूपरः. पशुः स्फ्यो यूपः शरमयं बर्हिः वैभीतिक इध्मः. अत्र तु पुरोडाश एव. यतोऽग्निरेव देवः. **स च प्रमथैर्वृतः** अतो रुद्रवानेवाग्निः, अभिचारसामान्यात् शरमयादिर्वा. ततो यद् भविष्यति तदाह **स चाग्निरिति**. तव कः प्रसाद इति चेद्, अग्निरपि प्रसन्नो मत्कृपया, अन्योऽपि प्रसाद इति वक्तुं **प्रमथैर्भूतगणैर्वृत** इत्युक्तम्[१]. ततस्ते **सङ्कल्पं साधयिष्यति** यदि **अब्रह्मण्ये प्रयोजितो** भविष्यति. अन्यथा विपरीतो भूत्वा त्वामेव भक्षयिष्यतीति भावः, "तस्मादग्निचिह्नाभिचरितवै प्रत्यगेनमभिचारस्तृणुत" (. । ।) इतिश्रुतेः. सुदक्षिणस्तु भगवन्तं ब्रह्मण्यं न जानाति. चकारात् तदङ्गदेवता अपि कार्यं करिष्यन्तीति सूचितम्. एवं महादेवेनाज्ञप्तस्तथैव चक्रे, परमुद्देश्यो न तदुक्त इति ज्ञापयितुमाह **कृष्णायाभिचरन्निति. कृष्णो** ब्राह्मणानां फलरूपः ब्राह्मणहितश्च अतः **कुधीः** ॥३०-३१॥

उत्पादने वैगुण्याभावाद् अग्निरुत्थित इत्याह.

ततोऽग्निरुत्थितः कुण्डान्मूर्तिमानतिभीषणः ।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुः अङ्गारोद्गारिलोचनः ॥३२॥
दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदण्डकठोरास्यः स्वजिह्वया ।

---

१. इति उक्तं भवति इति सं.पाठे –सम्पा.

आलिहन् सृक्किणी नग्नो विधुन्वंस्त्रिशिखं ज्वलन् ॥३३॥
पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां कम्पयन्नवनीतलम् ॥

अग्निरुत्थितः कुण्डादिति, दक्षिणाग्निकुण्डात्. ज्वालारूपतां वारयति **मूर्तिमानिति**. प्रसन्नदेवतारूपतां वारयति **अतिभीषण** इति. मृत्यूरूपतां [१]वक्तुं तं वर्णयति **तप्तताम्रेति** द्वयेन. **तप्तताम्रसदृशानि श्मश्रूणि** यस्य. अङ्गारानेवोद्गिरन्ति लोचनानि यस्य, यथा कालीयादेः, **अङ्गारोद्गारिलोचनः**. **दंष्ट्रा उग्रः**, **भ्रुकुटी च दण्डरूपा**, एताभ्यां स्वरूपतोऽपि **कठोरमास्यं यस्य**. **स्वजिह्वया सृक्किणी आलिहन्निति** कार्याभिनिवेशो निरूपितः. **नग्न** इति स्वदेहमपि न जानातीत्युक्तम्, तेनाविचार्यैव क्रूरं करिष्यतीति. साधनमपि तथाविधमाह **विधुन्वंस्त्रिशिखमिति**. **ज्वलन्निति** क्रोधादिना. अग्नित्वात् स्वभावतोऽपि गतिसामर्थ्यार्थमाह **पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यामिति**. अग्रे कार्यं भविष्यतीति ज्ञापयितुमिदानीं तस्य महत्सामर्थ्यमाह **कम्पयन्नवनीतलमि** ति ॥३२-३३ १/२॥

तस्योद्योगमाह.

सोऽभ्यधावद् वृतो भूतैर्द्वारकां प्रदहन् दिशः ॥३४॥
तमाभिचारदहनमायान्तं द्वारकौकसः ।
विलोक्य तत्रसुः सर्वे वनदाहे यथा मृगा ॥३५॥

सोऽभ्यधावदिति. **भूतैः** प्रमथगणैर्वृतः. ततो द्वारकायामपि तद्दर्शनेन भयं जातमित्याह **तमाभिचारदहनमिति**. यतो **दिशः प्रदहन्** समागतः

लेखः

दंष्ट्रोग्र इत्यत्र. **एताभ्यामिति** द्वाभ्यां भ्रुकुटीभ्यामित्यर्थः. तथाच **दंष्ट्रया उग्रो भ्रुकुटीरूपो दण्डस्ताभ्यां कठोरास्य** इति विग्रहः. दंष्ट्रोग्रत्वं भ्रुकुटीदण्डस्य न सम्भवतीत्यत आहुः **स्वरूपतोऽपीति**. तथाच दंष्ट्रया उग्रः भ्रुकुटी दण्डरूपा यस्य तादृशः, कठोरमास्यं यस्य तादृशश्चेति कर्मधारयः ॥३३॥

तमाभिचारेत्यत्र. **तमित्यस्यार्थमाहुः यत इति**. **उपजीव्यनाशादिति**. उपजीव्या द्वारिका, तद्दाहो न (?) भविष्यतीत्यर्थः ॥३५॥

१. मृत्युरूपतां वारयति तप्तताम्रेति पाठः.

अतस्तं दृष्ट्वा. उत्पत्तिविचारेणापि **आभिचारदहन** इति, तत्राप्यायान्तम्. **द्वारकौकस** इति पूर्वमेव स्थानं त्यक्त्वा यथाकथञ्चिदत्र स्थितम्, अत्रापि भये किं कर्तव्यमिति **विलोक्यैव तत्रसुः** अहन्यमाना अपि. तत्र बलिष्ठा शूरा न तथा भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह **सर्व** इति. उपजीव्यनाशात् प्रतिक्रियायामसामर्थ्याद् महतोऽपि भयमिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **वनदाहे यथा मृगा** इति ॥३४-३५॥

अक्षैः सभायां क्रीडन्तं भगवन्तं भयातुराः ।
पाहि पाहि त्रिलोकेश वह्ने प्रदहतः पुरम् ॥३६॥

अन्यत्रालब्धशरणाः निश्चिन्तं भगवन्तं विज्ञापयामासुरित्याह **अक्षैः सभायां क्रीडन्तमिति**. अनेनान्तर्बहिः चिन्ताभावो निरूपितः. सभ्याधानार्थं क्रीडयतीति ज्ञापयितुं **सभायामित्युक्तम्**; यत उत्थानं न सम्भवति. **भगवन्तमिति** सर्वथा समर्थम्. **भयातुरा** इति न तेषाम् अवसरानवसरपरिज्ञानमिति सूचितम्. भीतानां वाक्यमाह **पाहि पाहि** इति. **त्राहि त्राहीति** क्वचित् पाठः. तत्रापि परस्मैपदं छान्दसमिति केचिद्, उभयपदी धातुरित्यपरे. **त्रिलोकेशेति** महादेवादिनिराकरणेऽपि सामर्थ्यं सूचितम्. **पुरं प्रदहतो वह्नेः** सकाशात् पालयेति, यथा पुरदाहो न भवति तथा यत्नं कुर्विति ॥३६॥

[१]क्षणं चेत् ते न वदेयुः तदा भगवान् तूष्णीं स्थितः दाहप्रारम्भपर्यन्तं पश्चादतिक्रोधे पक्षान्तराणां मूलच्छेदमेव कुर्यात्, यथा न कदापि भगवद्विपक्षाणामुद्गमः स्यात्. तावद्विलम्बं लोका न सहन्त इति भगवान् भक्तकृपालुः तद्वैक्लव्यात् सामिकार्यमेव कृतवानित्याह **श्रुत्वा तज्जनवैक्लव्यम्** इति.

लेखः

अक्षैः सभायामित्यत्र. सभ्याधानार्थमिति, "शतमक्षान् विजानाती" (। ।)ति सभ्येषु विद्यास्थापनार्थमित्यर्थः ॥३६॥

---

१. रक्षणम् इत्यपि पाठः —सम्पा.

श्रुत्वा तज्जनवैक्लव्यं दृष्ट्वा स्वानां च साध्वसम् ।
शरण्यः सम्प्रहस्याह मा भैष्टेत्यवितास्म्यहम् ॥३७॥

तत् प्रसिद्धं **जनानां वैक्लव्यं दृष्ट्वा च** निमित्तं तेषां **साध्वसं** भयं च दृष्ट्वा स्वयं शरणार्हः **प्रहस्याह** स्वनाशार्थं कृतवानिति **मा भैष्टेत्याह**. हेतुवाक्यव्यतिरेकेण भयस्यानिवृत्तावाह **अवितास्म्यहमिति** ॥३७॥

निदानापरिज्ञानेऽपि सुदर्शनं सर्वार्थमिति सुदर्शनावलम्बनेनैव कदाचित् प्रतीकारं कुर्यादित्याशङ्क्याह **सर्वस्यान्तर्बहिःसाक्षीति**.

सर्वस्यान्तर्बहिःसाक्षी कृत्यां माहेश्वरीं विभुः ।
विज्ञाय तद्विघातार्थं पार्श्वस्थं चक्रमादिशत् ॥३८॥

माहेश्वरीं कृत्यां विभुत्वाद् **विज्ञाय** तद्वधार्थं **पार्श्वस्थं चक्रमादिशत्**. चक्रं हि सचेतनं चक्ररूपेणैव. **विभुत्वात्** न चक्रसामर्थ्येन किञ्चित् किन्तु स्वसामर्थ्येनैवेत्युक्तम्. तस्य **विघातः** अग्नेः कार्यप्रतिघातः, नतु स्वरूपनाशः. **पार्श्वस्थ** इति स सर्वथा हृदयाभिज्ञः ॥३८॥

ततो भगवदिच्छानुसारेण चक्रकृत्यमाह.

तत्सूर्यकोटिप्रतिमं सुदर्शनं जाज्वल्यमानं प्रलयानलप्रभम् ।
स्वतेजसा खं ककुभो च रोदसी चक्रं मुकुन्दास्त्रमथाग्निमार्दयत् ॥३९॥

तत्सूर्यकोटिप्रतिममिति सूर्यकोटिसमानतेजस्त्वं स्वाभाविकी शक्तिः. **जाज्वल्यमानमिति** तस्योत्साहो निरूपितः. **प्रलयानलप्रभमिति** तस्य क्रोधावेशः. ततः क्रोधवशाद् उक्तदृष्टान्तसधर्मा जात इत्याह **स्वतेजसा खं ककुभो रोदसी च अर्दयदिति**. अन्तरिक्षं दश दिशः द्यावापृथिव्यौ च ज्वालयतीव. एतत्सामर्थ्यं न स्वस्य किन्तु भगवत इति वक्तुं **मुकुन्दास्त्रमित्युक्तम्**. एवं सर्वं दग्ध्वैव पश्चाद् (**अथ!**) भिन्नप्रक्रमेण **अग्निमार्दयत्** आ सर्वतः सर्वथैव भग्नसङ्कल्पं कृतवान् ॥३९॥

लेखः

सर्वस्येत्यत्र. सचेतनमिति चेतनासहितमित्यर्थः ॥३८॥

तत्सूर्यकोटीत्यत्र. उक्तदृष्टान्तसधर्मा जात इति, उक्तदृष्टान्तस्य प्रलयानलस्य कार्यं कृतवानित्यर्थः ॥३९॥ इति सप्तदशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

ततो यज्जातं तदाह **कृत्यानलः प्रतिहत** इति.

कृत्यानलः प्रतिहतः स रथाङ्गपाणेरस्त्रौजसा स नृप भग्नमुखो निवृत्तः ।
वाराणसीं परिसमेत्य सुदक्षिणं तं सर्त्विग्जनं समदहत् स्वकृतोऽभिचारः ॥४०॥

स स्वतन्त्रोऽपि **कृत्यानलः** श्रुत्या साधितोऽपि. **रथाङ्गपाणेरिति** तस्य लौकिकवैदिकसामर्थ्यनाशकत्वमुक्तम्. तत्रापि **अस्त्रत्वाद्** अप्रतिहतरूपमेव. तत्रापि तस्य **ओजः** तेन हतः सन् **भग्नमुखो** भूत्वा **निवृत्तो** जातः. ततो **वाराणसीमपि** महानिति **प्रतिसमेत्य** व्याघुट्य समागत्य स्वस्थाने समागत्य **सुदक्षिणं तं** स्वोत्पादकं **सर्त्विग्जनं** ऋत्विग्जनसहितं **सम्यगदहत्**. अनेन ब्राह्मणा हता इति न भगवद्दोषः कोऽपि. यतः **स्वकृत एवाभिचारः**. आत्मीयश्चेद् बाणः स्वात्मानं विध्यति तदा न कस्यापि दोष इति ते सर्वे कृत्यानलेन भस्मासात्कृता इत्यर्थः ॥४०॥

ततः सुदर्शनं भगवद्धृदयं जानातीति काशीमपि पीडितवदित्याह **चक्रं च विष्णोरिति**.

चक्रं च विष्णोस्तदनुप्रविष्टं वाराणसीं साट्टसभालयापणाम् ।
सगोपुराट्टालक-कोष्ठसंकुलां सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालाम् ॥४१॥

तदनु कृत्यानलमनु**प्रविष्टं** सत् **वाराणसीं समदहदिति** सम्बन्धः. **विष्णोश्चक्र**त्वान्न तस्य भयम्. छर्दींष्येव दग्धानि इति शङ्कां वारयितुं **साट्टसभालयापणामि**त्युक्तम्. अट्टादयः सौधगृहाः सभास्थानान्यपि. तथा आपणः पण्यवीथी —एते अद्यापि लोके सुधाधवलिता भवन्ति. साधारणा एत इति विशिष्टानामपि दाहं निरूपयति **सगोपुरे**ति. पुरद्वारसहिताम् **अट्टालकाः** हर्म्याः धनिनां गृहाः **कोष्ठानि** दुर्गादावन्नसङ्ग्रहस्थानानि. **सगोकुलाट्टालसगोष्ठसंकुलाम्** इति पाठे गोष्ठादीनां गोकुलस्य. तत्रापि प्रसिद्धगोपानाम् अट्टालकसहितस्य कदाचिद्दाहं न कुर्यादिति शङ्का स्यात्, तन्निवृत्त्यर्थमेवमुक्तम्. लक्ष्म्या आयतनं न पीडयिष्यतीत्याशङ्क्याह **सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालामि**ति. **कोशा** भाण्डारगृहाः, **हस्त्याद्यन्नान्तानां** च **शालाः**. रथनिर्माणं यत्र क्रियते सा रथशाला. स्थापिता अपि रथा गृहेष्वेव तिष्ठन्ति, अन्यथा घर्माद्युपद्रवो भवतीति ॥४१॥

एवं सामान्यविशेषप्रकारेण दाहमुक्त्वा सर्वदाहो न भविष्यतीत्याशङ्क्य विशेषं वदन्नुपसंहरति **दग्ध्वा वाराणसीं सर्वामिति.**

दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां विष्णुचक्रं सुदर्शनम् ।
भूयः पार्श्वमुपातिष्ठत् कृष्णस्याक्लिष्टकर्मणः ॥४२॥

विष्णुचक्रत्वात् कार्यसिद्धिः. **सुदर्शनमिति** एवंकर्तुरपि दोषाभावः. पुनरग्रेऽपि कार्यमेतादृशं भविष्यतीत्याशङ्कया **कृष्णस्यैव पार्श्वमुपातिष्ठत्.** ननु भगवान् स्वयमेव करिष्यति, किं सुदर्शनेनेत्याशङ्क्याह **अक्लिष्टकर्मण** इति. न हि भगवान् क्लिष्टं करोति. कदाचिच्च तथा कर्तव्यं भवति तदा गतः. अनेन सुदर्शनस्यापि निरोधो निरूपितः ॥४२॥

कदाचिदियं कथा काशीदाहं प्रतिपादयतीति स्वधर्महेतुभिः न श्रोतव्या भवेत्! तदर्थमाह **य एतच्छ्रावयेन्मर्त्य** इति.

य एतच्छ्रावयेन्मर्त्य उत्तमश्लोकविक्रमम् ।
समाहितो वा शृणुयात् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४३॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥

हेत्वपेक्षयामाह **उत्तमश्लोकस्य विक्रममिति.** उत्तमैः श्लोक्यते इति स्वभावत एव भगवच्चरित्रं श्रोतव्यम्. तत्रापि **विक्रमः** पराक्रमोऽयं **यः श्रावयेत् यो वा समाहितः शृणुयाद्** अवहेलां न कुर्यात् स **सर्वपापैः प्रमुच्यत** इति भक्तैरिव धर्मपरैरपि श्रोतव्यमिति निरूपितम् ॥४३॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥

॥ इति त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥

॥ चतुर्थः स्कन्धादितः चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥

बलस्य चरितं वक्ष्यन् तदभावात्तु पौण्ड्रकः ।
तथोक्तवानिति ह्युक्तम् अर्थादितद् बलस्य हि ॥(१)॥
बलरूपहरेः कार्यं न समाप्तमिति स्थितिः ।
अतो विशेषतो वक्तुं प्रश्नो राज्ञो निरूप्यते ॥(२)॥
अष्टादशे तु द्विविदवधः सम्यङ् निरुप्यते ।
गोपिकानामिवात्रापि स्त्रीणां माहात्म्यबोधने ॥(३)॥
बलस्त्रियोऽन्यथा त्वत्र निरुद्धा न भवन्ति हि ।
तदा विभागो व्यर्थः स्यान्निरोधानुपयोगतः ॥(४)॥
ततः सर्वजनीनं च चरित्रं हि करिष्यति ।
यस्यावेशस्य चरितम् एवं तस्य किमद्भुतम्! ॥(५)॥

लेखः

अष्टादशेऽध्याये **इति ह्युक्तमिति**, पूर्वाध्यायारम्भे इदमुपपादितमित्यर्थः. **एतद् बलस्य** हीति, बलस्थित्यभावाद् एतावज्जातमित्युक्त्या अर्थाद् बलस्यैव माहात्म्यमुक्तं जातमित्यर्थः. **बलरूपेति**, बलदेवे रूपं स्वरूपं यस्य तादृशस्य बलाविष्टस्य हरेरित्यर्थः. तथाच पूर्वाध्यायोक्तमपि माहात्म्यं बलाविष्टस्य भगवत एवेति **स्थितिर्मर्यादित्यर्थः**. **अतो विशेषत** इति. पूर्वाध्याये आर्थिकत्वात् सामान्यत उक्तम्, अत्र **विशेषतो वक्तुं राज्ञः प्रश्नो** बलकार्यसमाप्त्यभावात् **निरूप्यते** इत्यर्थः (१-२).

माहात्म्यबोधन इति — निमित्तसप्तमीयम्, बलस्त्रीणां माहात्म्यज्ञानसिद्ध्यर्थमित्यर्थः. **अन्यथा त्विति**, आवेशातिरिक्तप्रकारेण साक्षाद्भगवता बलस्त्रीणां निरोधो न सम्भवतीत्यर्थः. **तदेति**, एवंप्रकारेण बलस्त्रीणां निरोधाभावे पूर्वमुक्तः शक्ति**विभागो** निरोधानुपयोगाद्धेतो**र्व्यर्थः स्यात्**. व्युपसर्गो विरोधार्थकः; स्कन्धार्थविरुद्धः स्यादित्यर्थः. **तत** इति, इदं गुप्तचरित्रमुक्तम्, तदनन्तरं लक्ष्मणाप्रसङ्गे सर्वजनीनं चरित्रं करिष्यतीत्यर्थः. एवं विशेषनिरोधप्रकरणे चतुर्भिरप्यध्यायैर्बलचरित्रमेव निरूपितमित्युक्तम्. तस्य तात्पर्यवृत्त्या भगवच्चरित्रतामाहुः **यस्येति**. तथाच कैमुतिकन्यायेन भगवच्चरित्रमेवेदमिति भावः (३-५).

पूर्वाध्याये "नन्दव्रजं गते राम" (भाग.पुरा. १०।६३।१) इति रामे विद्यमाने नैवं पौण्ड्रको वक्तुं शक्त इति प्रतिभातम्, अतो बलस्य विशेषं (चरित्रं) पृच्छति **भूयोऽहमिति**.

॥ राजोवाच ॥

भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि रामस्याद्भुतकर्मणः ।
अनन्तस्याप्रमेयस्य यदन्यत् कृतवान् प्रभुः ॥१॥

यमुनाकर्षणादि-माहात्म्यं श्रुतम्, **अन्यदपि श्रोतुमिच्छामि**. **अद्भुतकर्मण** इति. अलौकिकचरित्रं तस्य वर्तत एव, तद् वक्तव्यमिति प्रश्नः. यथा भगवतः कार्यकरणार्थं गते तस्मिन् बह्वेव कार्यं भगवत आपतितं तथान्यदपि भविष्यतीत्याशयेन अद्भुतकर्मत्वमुक्तम्. **अनन्तस्येति**. चरित्राणामप्यनन्तता, तेन तादृशचरित्रबाहुल्यम्. **अप्रमेयस्येति** स्वतः कल्पयितुमशक्यम्. अत एव तादृशस्य **अन्यदपि** चरित्रं **श्रोतुमिच्छामि**. तच्च चरित्रं दैवाज्जातं न वक्तव्यं किन्तु समर्थो भूत्वा यत् **कृतवान्** तदेव वक्तव्यमिति ॥१॥

निरोधे स्त्रिय एव मुख्या इति तदर्थमेवान्यदिति निरूपयन् द्विविदवधमाह.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

नरकस्य सखा कश्चिद् द्विविदो नाम वानरः ।
सुग्रीवसचिवः सोऽथ भ्राता मैन्दस्य वीर्यवान् ॥२॥

नरकस्य सखा कश्चिदिति. नरकासुरो भगवता हत इति, स्त्रीणामेवार्थ इति च, तत्सखाप्येवमेव मारणीय इति वध्योऽपि स एतावत्कालमुपेक्षित इत्युक्तम्. **कश्चिदिति** विशेषतः दैत्यत्वेन वा देवत्वेन वा न निर्वक्तव्यः. **द्विविद** इति द्विधा विद् ज्ञानं यस्येति द्विःस्वभावोऽयम्. तेन रामावतारे भक्तोऽप्ययं साम्प्रतमन्यथा जात इति अनेन द्विःस्वभावा अपि वध्या एवेति निरूपितम्. **वानर** इत्युपेक्षायां हेतुः— भगवतैवार्धनराः कृताः

लेखः

भूयोऽहमित्यत्र भगवतः कार्यकरणार्थमिति. गोपिकासान्त्वनं भगवतः कार्यं, तत्करणार्थं गते सतीत्यर्थः. 'चरित्रं श्रोतुमिच्छामी'त्येतावतैव चारितार्थ्येऽपि **यदन्यत् कृतवानिति** यदुक्तं तत्तात्पर्यमाहुः **दैवाज्जातमिति**. पौण्ड्रकवधरूपमार्थिकं चरित्रं बलस्येत्युक्तं तादृशं न वक्तव्यमित्यर्थः ॥१॥

पुनः किमर्थं वध्या इति. तर्हि तद्वधे रामस्य किं माहात्म्यमित्याशङ्क्य माहात्म्यमाह **अथ** भिन्नप्रक्रमेण. **सुग्रीवसचिवः** चत्वारो मन्त्रिणस्तस्य हनुमदादयः, तन्मध्ये परिगणनात् तत्तुल्यतापि निरूपिता. **स** इति स्वभावतोऽपि रामायणे प्रसिद्धः. **मैन्दस्य भ्रातेति**. रामायणे मैन्दशौर्यं निरूपितम्, तद्भ्रातापि तत्तुल्य इति. ततोऽपि विशेषमाह **वीर्यवानिति** ॥२॥

तर्ह्येतादृशो महान् प्रसिद्धश्च कथं विरुद्धो जात इति चेत्, तत्राह.

सख्युः सोऽपचितिं कुर्वन् वानरो राष्ट्रविप्लवम् ।
पुरग्रामाकरान् घोषानदहद् वह्निनोत्सृजन् ॥३॥

सख्युः सोऽपचितिमिति. नरको भगवता मारित इति **अपचितिं कुर्वन्** क्षुद्रः केनापि न प्रतिपक्षतया विचार्यत इति **राष्ट्रविप्लवं** कृतवान् यथा सर्वमेव राष्ट्रं नष्टं भवति. नाशमेवाह **पुरग्रामेति**. राष्ट्रविप्लवो यथा भवति तथेति सर्वक्रियासु सम्बध्यते. **पुराणि** नगराणि **ग्रामा** अल्पाः **आकरा** रत्नादिस्थानानि **घोषा** आभीरग्रामाः. लौकिकास्त्रिविधा निरुक्ताः, वैदिकातिदोषसिद्ध्यर्थं (?) घोषा उक्ताः. **वह्निना** वह्निदाहेन. अनेन चौर्येण दाहो निरूपितः, अन्यथा **वह्नि**पदं व्यर्थं स्यात् ॥३॥

अग्निना उपद्रवमुक्त्वा पर्वतैराह **क्वचित् स शैलानुत्पाट्येति**.

क्वचित् स शैलानुत्पाट्य तैर्देशस्थानचूर्णयत् ।
आनर्तान् सुतरामेव यत्रास्ते मित्रहा हरिः ॥४॥

स्थानादुत्पाट्य देशोपरि पातयित्वा **देशस्थानचूर्णयदिति**. सुतरामेव भगवदीयानित्याह **आनर्तान् सुतरामेवेति**. तत्र हेतुः **यत्रास्ते** नरकघाती गोविन्दः ॥४॥

जलकृतोपद्रवमाह **क्वचित् समुद्रमध्यस्थ** इति.

क्वचित् समुद्रमध्यस्थो दोर्भ्यामुद्धृत्य तज्जलम् ।
देशान्नागायुतप्राणो वेलाकूलानमज्जयत् ॥५॥

दोर्भ्यामुद्धृत्येति बाह्वोः स्थूलता निरूपिता. **देशान्** समुद्रतीरस्थान्. आपाततः केनापि मारयितुं न शक्य इति वक्तुं **नागायुतप्राण** इत्युक्तम्; दशसहस्रहस्तिबलः. **वेलाकूले यस्येति** मज्जने सौकर्यमुपपत्तिश्चोक्ता ॥५॥

साधारणानाम् उपद्रवमुक्त्वा वैदिकानामप्युपद्रवमाह **आश्रमानृषिमुख्यानाम्** इति.

आश्रमानृषिमुख्यानां कृत्वा भग्नवनस्पतीन् ।
अदूषयच्छकृन्मूत्रैरग्नीन् वैतानिकान् खलः ॥६॥

तेषां पूर्तस्येष्टस्य च नाशं करोतीति वक्तुं **भग्नवनस्पतीन् कृत्वा वैतानिकान्** वैदिकान् **अग्नीन्** गार्हपत्यादीन् **अदूषयत्**. नन्वेवं कृते स्वस्य कः पुरुषार्थः ? न हि ब्राह्मणा नरकस्यान्यस्य वा द्विष्टा भवन्ति. तत्राह **खल** इति, दुरात्माऽयम् अतो निष्प्रयोजनमपि परोपतापार्थं करोतीति ॥६॥

देशोपद्रवं पृथिव्यप्-तेजोभिरुक्त्वा, वैदिकान् देशस्थानपि निरूप्य, अन्यान् स्त्रीपुरुषसाधारण्येन तदुपद्रुतान् निरूपयति.

पुरुषान् योषितो दृप्तः क्ष्माभृद्द्रोणीगुहासु सः ।
निक्षिप्य चाप्यधाच्छैलैः पेशस्कारीव कीटकम् ॥७॥

पुरुषान्योषितो दृप्त इति. सहस्थितान् तत्सङ्गभङ्गार्थं रसं च बीभत्सयितुं **दृप्त** उच्छृङ्खलः **क्ष्माभृतः** पर्वतस्य **द्रोणीगुहासु** द्रोण्याम् उभयपर्वतमध्ये गुहासु च "अत्र रमध्वमि"ति उपहसन् **निक्षिप्य अप्यधात् शैलैस्**तदुपरि पर्वतान् आरोपयति. तथाकरणे हेतुमाह **पेशस्कारीव कीटकमिति**. स हि स्वस्मरणेन स्वतुल्यः कीटो भवत्विति तथा करोति. तथायमपि विश्वस्यैव मदात्मकता भवतु, न भगवदात्मकतेति तथा कृतवान् ॥७॥

एवं सह्यमुपद्रवं निरूप्य तदुपसंहरन् असह्यं निरूपयति **एवं देशान् विप्रकुर्वन्निति**.

एवं देशान् विप्रकुर्वन् दूषयंश्च कुलस्त्रियः ।
श्रुत्वा सुललितं गीतं गिरिं रैवतकं ययौ ॥८॥

असह्यमेतत् **दूषयंश्चेति**. इतरदूषणं न दोषायेति **कुलपदम्**. अनेन नरकगृहाद् भगवता समानीतास्ता इति तथा करोतीति सूचितम्. एवमुत्कृष्टे पापे तेनैव मरणार्थं स्वयमेव समुद्यत इत्याह **श्रुत्वा सुललितं गीतमिति**.

लेखः

श्रुत्वा सुललितमित्यत्र तेनैवेति. पशुत्वेन स्वराद्यज्ञानाद् लालित्येनैव गीतत्वमनुमितम्, अन्यथोच्चैर्भाषणमेव ज्ञातं स्यादित्यर्थः ॥८॥

यथा सर्वे विषयास्तेन निराकृताः सर्वेषां तथा **सुललितमपि गीतं**[१] मयि स्थिते को वा गायतीति तन्निराकरणार्थं **रैवतकं ययौ** तेनैव गीतानुमानात् ॥८॥

ततो गीतकर्तारं दृष्टवानित्याह **तत्रापश्यदिति**.

तत्रापश्यद् यदुपतिं रामं पुष्करमालिनम् ।
सुदर्शनीयसर्वाङ्गं ललनायूथमध्यगम् ॥९॥

[२]तस्य मात्सर्योत्पत्त्यर्थं रामस्य दशगुणान् वर्णयति, एतावन्त एव गुणा इति. तत्रादावैश्वर्यं दृष्टवानित्याह **यदुपतिमिति**. यादवानां स्वामी, स्वामिचिह्नानि बिभर्तीति तथा ज्ञानं परिचयोऽप्यस्तीति वा. अनेन कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यमुक्तम्. इदं लौकिकम्, अलौकिकमाह **राममिति**, विभक्तवीर्यत्वात्, सर्वलोकानुरञ्जनमपि तस्यासाधारणो गुणः स्वरूपतः कार्यतश्चोत्कर्ष उक्तः. **पुष्करमालिनमिति** कमलमालया लक्ष्म्या वृत इति ज्ञापयन् भूषितत्वमाह. इत्यैश्वर्यादयस्त्रय उक्ताः. **सुष्ठु दर्शनीयानि सर्वाण्यङ्गानि यस्येति** सौन्दर्येण शारीरकीर्तिरुक्ता, **ललनायूथमध्यगमिति** बहिःकीर्तिरुक्ता, शोभाजनितेयं कीर्तिरिति ॥९॥

गायन्तं वारुणीं पीत्वा मदविह्वललोचनम् ।
विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव वारणम् ॥१०॥

गायन्तमिति स्वानन्दपूर्णता ज्ञानफलरूपा निरूपिता. **वारुणीं पीत्वेति** देहविस्मरणं ज्ञानफलं द्विविधमप्युक्तम्. **मदेन विह्वले लोचने यस्येति** बहिर्ज्ञानदृष्टिः विह्वला वैराग्यफलरूपा निरूपिता. **विभ्राजमानं वपुषेति** विगतभ्राजनं[३] वा विशिष्टभ्राजनं वा विकलतया; उभयमपि वैराग्यकार्यं भवति शरीरेण विराजमानम्. ततो वैराग्यस्वरूपमाह **प्रभिन्नमिव वारणमिति**.

लेखः

तत्रापश्यदित्यत्र दशगुणानिति. विभ्राजमानमित्यस्यार्थद्वयमभिप्रेत्य दशेत्युक्तम्. सङ्ख्यातात्पर्यमाहुः **एतावन्त** इति, दशविधैव लीलेत्यर्थः ॥९॥ इत्यष्टादशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

---

१. गीतमिति नास्ति. २. तत्रेति पाठः. ३. भ्राजनमानमिति पाठः.

स ह्यमर्यादो भवति यः प्रकर्षेण भिन्नः स्रवन्मदः. एवं कारणफलसहिताः षड्गुणा भगवति निरूपिताः ॥१०॥

एतादृशमपि दृष्ट्वा स्वदौष्ट्यं प्रकटितवानित्याह **दुष्टः शाखामृग** इति.

दुष्टः शाखामृगः शाखामारूढः कम्पयन् द्रुमान् ।
चक्रे किलकिलाशब्दमात्मानं सम्प्रदर्शयन् ॥११॥

भगवन्तं दृष्ट्वा **किलकिलाशब्दं चक्रे**. तज्जातीयशब्दः तादृशः. यदा स्वस्मिन् महत्त्वबुद्धिर्भवति तदा स्वजातिशब्दं कुर्वन्ति. प्रकृते तु भगवन्तमपि दृष्ट्वा तथाकरणे हेतुर्**दुष्ट** इति. दोषस्तस्य सहज इति ख्यापयितुं **शाखामृग** इति, भूमिं भूरुहं वा नाश्रयति किन्तु शाखा एव. **शाखां चारूढ** इति स्वल्पः स्वस्थाने स्थितो मत्तो भवतीति सूचितम्. **द्रुमान् कम्पयन्निति** स्वाश्रयाश्रयाणामप्यवगणना निरूपिता; तादृशस्येश्वरावगणना युक्तेति. निलीय रसजननार्थमपि तथा कुर्यादिति पक्षं व्यावर्तयितुमाह **आत्मानं सम्प्रदर्शयन्निति**, स्वस्वरूपं गुह्यदेशं वा ॥११॥

अल्पस्यैवंकरणमयुक्तमिति भण्डमिव तं दृष्ट्वा केवलेन तेन क्षोभो न भवेदपीति स्त्रीणां हास्यमाह **तस्य धार्ष्ट्यं कपेर्वीक्ष्येति**.

तस्य धार्ष्ट्यं कपेर्वीक्ष्य तरुण्यो जातिचापलाः ।
हास्यप्रिया विजहसुर्बलदेवपरिग्रहाः ॥१२॥

तस्यापराधकरणाद् वध्यस्य **कपे**स्तुच्छजीवस्य **धार्ष्ट्यं** तथाकरणं **वीक्ष्य. तरुण्यो जात्यैव चपलाः**, वयोऽपि स्वभावोऽपि तासामस्थिरतां सम्पादयतीति. **हास्य**मेव **प्रियं** **या**सामिति इन्द्रियान्तःकरणधर्मोऽपि तादृश इति. **बलदेवस्य** निर्भयस्य पूर्वोक्तस्य वा **परिग्रहाः** विवाहिताः स्त्रियः सर्वथा निर्भयाः. अनियामकानां चतुर्विधगुणानां विद्यमानत्वात् **विजहसुः**. रामस्तु न किञ्चिदुक्तवान्, गणनाया एवाभावात् ॥१२॥

उभयमपि स्वस्य हीनत्वापादकमिति तासामवगणनां कृतवानित्याह **ता हेलयामासेति**.

ता हेलयामास कपिर्भ्रूक्षेपैः सम्मुखादिभिः ।
दर्शयन् स्वगुदं तासां रामस्य च निरीक्षतः ॥१३॥

अवहेला मुखतः जातिचेष्टाभिरपीत्याह. **भ्रूक्षेपैः** तिर्यक् निरीक्षणयुक्तैः.

सम्यक् मुखं यत्रेति **सम्मुखादिभिर्विकारैः**. परितोऽग्रतश्च हेलनमुक्त्वा पृष्ठतोऽप्याह **दर्शयन् स्वगुदं तासामिति**. तूष्णीम्भावेनावगणित इति रामस्याप्यवहेलनं कृतवानित्याह **रामस्य च निरीक्षत** इति. **निरीक्षतः** सतस्तासामपि निरीक्षतीनां सतीनाम्. दर्शने सर्वेषां साधारणस्यापि सङ्कोचो भवति, अस्य तु तथात्वेऽपि न जातमिति दोषं वक्तुं वर्णितम् ॥१३॥

तं ग्राव्णा प्राहरत् क्रुद्धो बलः प्रहरतां वरः ।
स वञ्चयित्वा ग्रावाणं मदिराकलशं कपिः ॥१४॥
गृहीत्वा हेलयामास धूर्तस्तं कोपयन् हसन् ।
निर्भिद्य कलशं धृष्टो वासांस्यास्फोटयद् बलम् ॥१५॥

ततो विचारमकृत्वैव, अल्पदोषे अल्पैव शिक्षेति वा ज्ञापयितुं, पाषाणप्रक्षेपमात्रं कृतवानित्याह **तं ग्राव्णेति**. वानराः कृतोपकारा दयाविषयाश्चेति उपेक्षां परित्यज्य किमिति ग्राव्णा प्राहरत्? तत्राह **क्रुद्ध** इति. क्रोधे तस्याल्पस्य महदतिक्रमो हेतुः. अनावेशाद् हल-मुशलस्मरणात् पूर्वं सर्वं कृतवान्; तेन नाविचारकृतो दोषः. **बल** इति तस्य माहात्म्यं ज्ञात्वापि स्वस्य बलिष्ठत्वादेव तथा कृतवान्. काकादिष्विव केवलं निवारणार्थतां प्रहरणस्य निवारयति **प्रहरतां वर** इति. ततस्तेनैव व्यथितो भवेदिति तथा प्रकारं कृतवान्. स तु पूर्वं परमेश्वरस्य भक्त आसीदिति भगवत्कृपयैव तस्य जातं सामर्थ्यमनुवदति **स वञ्चयित्वेति**. तस्योद्धतस्य स्वत एव मरणार्थं प्रवृत्तस्य अपराधे असह्ये क्रोधान्मारणमिति वक्तुं तादृशमतिक्रममाह **ग्रावाणं वञ्चयित्वा मदिराकलशं गृहीत्वा हेलयामासेति**. यतो **धूर्तः**, पानव्यसनिनां तदपहारे महान् क्रोधो भवतीति जानाति. अपकारार्थं नेदं करणं किन्तु **कोपयन्**. केवलं कोपार्थताप्रदर्शनार्थं **हसन्**. तर्हि पानार्थं नयनं भविष्यतीत्याशङ्क्य अग्रे तत्कृतं चरित्रमाह **निर्भिद्येति**. **कलशं निर्भिद्य**. तथा कृते जीवनमपि गमिष्यतीति शङ्काभावायाह. ततः स्थापितानि जलक्रीडोत्तरं परिधेयानि स्त्रीणां बलस्य च **वासांसि** च **निर्भिद्य** बहुधा छित्त्वा ततो **बलमास्फोटयत्** मल्ल इव युद्धाकारणार्थं[१] बाहुस्फोटं कृतवान् ॥१४-१५॥

---

१. युद्धकरणार्थमिति पाठः.

कदर्थीकृत्य बलवान् विप्रचक्रे मदोद्धतः ।
तं तस्याविनयं दृष्ट्वा देशांश्च तदुपद्रुतान् ॥१६॥

नन्वल्पः कथमेवं करोतीत्याशङ्क्याह **बलवानिति**. ननु बलोऽपि बलवान्, नहि तुल्येऽप्येवं क्रियते, तत्राह **कदर्थीकृत्येति**, तुच्छीकृत्य. तदपि स्वमनस्येवेति वक्तुमाह **मदोद्धत** इति. **विप्रचक्रे** अपकारं कृतवान्. ततो बलः विचारपूर्वकं भगवदाविष्टः तदवधार्थं यत्नं कृतवानित्याह **तं तस्याविनयमिति**. वस्तुतस्त्विदं द्वारमात्रं, मुख्यस्तु अपराधः **तद्रुपद्रुतान् देशान्** विलोक्येति. यद्यपि पूर्वं दृष्टं तथापीदानीं स्मृतमित्येके. इदानीमेव भगवदावेश इति तस्य [१]चापरोक्षज्ञानमेव सर्वत्रेति इदानीमेव **दृष्ट्वेति** युक्तम् ॥१६॥

क्रुद्धो मुसलमाधत्त हलं चारिजिघांसया ।
द्विविदोऽपि महावीर्यः शालमुत्पाट्य पाणिना ॥१७॥

भगवता सहैव मुसलादीनामप्यागमनात् **मुसलं हलं च** तज्जिघांसया **आधत्त**. आयुधवद् चिह्नार्थमग्रहणमाह **क्रुद्ध** इति. भक्तत्वशङ्काव्यावृत्त्यर्थम**री**ति. चकाराद् अन्येऽपि धर्मा भगवता आविष्कृता इति अलौकिकं बलमपि ज्ञातव्यम्. तावतापि न निवृत्त इति अक्लिष्टकर्मत्वं भगवतो वदन्नाह **द्विविदोऽपीति**. युद्धं वक्तुं तस्य प्रसिद्धनामग्रहणम्. **महावीर्य** इति रामायणादौ तत्पराक्रमो निरूपितः स्मार्यते युद्धस्मरणाभिनिवेशाय. एकेन **पाणिना शालवृक्षमुत्पाट्येति** बलस्य कार्यं नतु केवलं प्रशंसापरमिति ज्ञापयितुम् ॥१७॥

अभ्येत्य तरसा तेन बलं मूर्धन्यताडयत् ।
तं तु सङ्कर्षणो मूर्ध्नि पतन्तमचलो यथा ॥१८॥

अभ्येत्य निकटे समागत्य **तरसा** रामोद्यमात् पूर्वमेव **तेन** शालेन **मूर्ध्निप्रदेशे अताडयत्** गृहीत्वैव लकुटेनेव ताडितवान्. बलपदात् श्रोतुर्भयाभावः सूचितः. ततस्तन्निराकरणमाह **तं तु सङ्कर्षण** इति. पर्वते वृक्षप्रक्षेपः न पर्वतस्य भयजनक इति **मूर्ध्नि पतन्तमपि** वृक्षं **यथा अचलः** पर्वतो गृह्णाति. तस्य हि वृक्षा लोमप्रायाः ॥१८॥

---

१. परोक्षेति पाठः.

प्रतिजग्राह बलवान् सुनन्देनाहनच्च तम् ।
मुसलाहत-मस्तिष्को विरेजे रक्तधारया ॥१९॥

तं हस्तेन गृहीतवान्, वञ्चनेऽपि भूमिस्ताडिता भवतीति. ततः **सुनन्देन** मुसलेन **तमाहनद्** हतवान्. चकारात् वृक्षमपि. तेनैव हत्वा तदुपरि प्रक्षिप्तवान्. तस्य वृक्ष इव मुसलमपि कार्यव्यभिचारि भविष्यतीत्याशङ्क्याह **मुसलाहत-मस्तिष्क** इति. **मस्तिष्कं** मस्तकास्थिः. ततो रुधिरप्रवाहोऽपि जातः. तेनापि **विरेजे** नतु मूर्च्छितः हतो वा ॥१९॥

ननु प्रहारेण सकार्येण कथं शोभेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **गिरिर्यथा गैरिकयेति.**

गिरिर्यथा गैरिकया प्रहारं नानुचिन्तयन् ।
पुनरन्यं समुत्क्षिप्य कृत्वा निष्पत्रमोजसा ॥२०॥

नन्वाकृतिसाम्येऽपि अन्तर्दुःखानुभवात् म्लानतैव युक्ता नतु शोभेति चेत्, तत्राह **प्रहारं नानुचिन्तयन् रेज** इति पूर्वेण सम्बन्धः; उत्तरत्र वा **पुनरन्यं समुत्क्षिप्येति.** "त्रिषत्या देवा" (तैत्ति.आर. २।१८।६) इति समानमपि युद्धं वारत्रयमुच्यते, त्रिर्यजुषे[१]तिवत्. **अन्यं** मूलात् **समुत्क्षिप्य निष्पत्रं** च **कृत्वा.** अन्यथा सर्वाः शाखा [२]अग्रभागे (न!) हस्ते धर्तुं न योग्या भवन्तीति मूलभागेन च ताडयितुं निष्पत्रकरणम्. **ओजसेति** शीघ्रम् ॥२०॥

तेनाहनत् सुसंक्रुद्धस्तं बलः शतधाभिनत् ।
ततोऽन्येन रुषा जघ्ने तं चापि शतधाभिनत् ॥२१॥

सुतरां **सम्यक् क्रुद्धः** प्रहार-वीर्ययोराविर्भूतत्वात्. तस्य प्रतिग्रहो न पौरुषायेति **बलस्तं शतधाभिनत्** विदीर्णं कृतवान्. तृतीयपर्याये पुनराह **ततोऽन्येनेति** ॥२१॥

ततोऽनन्तयुद्धमतिदिशति **एवं युध्यन्निति.**

एवं युध्यन् भगवता भग्ने भग्ने पुनः पुनः ।
आकृष्य सर्वतो वृक्षान्निर्वृक्षमकरोद् वनम् ॥२२॥

भगवता सह **युध्यन्** भगवतैव वृक्षे **भग्ने** क्रमेण सर्वेष्वेव वृक्षेषु

---

१. तिर्यक् जुषेतिवदिति पाठः. २. अग्रभारा इति क-खपाठयोः —सम्पा.

पुन: पुनराकृष्य इक्षुदण्डमिव मूलादुत्पाट्य सर्वत्र एवंकरणेन **वनं** वनभूमिं **निर्वृक्षमकरोत्** लतागुल्मादीनां विद्यमानत्वाद् वृक्षमात्रमेव गतम्, नतु वनमेव ॥२२॥

ततः पाषाणवृष्टिं भग्नोद्यमः सन् कृतवानित्याह **ततोऽमुञ्चच्छिलावर्ष-मिति.**

ततोऽमुञ्चच्छिलावर्षं बलस्योपर्यमर्षितः ।
तत्सर्वं चूर्णयामास लीलया मुसलायुधः ॥२३॥

तत् प्रक्षिप्तं **सर्वमेव चूर्णयामासेति** तस्य साधनस्य भगवत्प्रतिकूलस्य पुनः साधनतां निवारयति. तत्र क्लेशमाशङ्क्याह **लीलयेति.** अलौकिकप्रकारं वारयितुमाह **मुसलायुध** इति ॥२३॥

ततो भग्नसाधनो बाहुयुद्धार्थमागत इत्याह **स बाहू** इति.

स बाहू तालसङ्काशौ मुष्टीकृत्य कपीश्वरः ।
आसाद्य रोहिणीपुत्रं ताभ्यां वक्षस्यरूरुजत् ॥२४॥

तालसङ्काशाविति दीर्घ-स्थौल्य-परुषत्वान्युक्तानि. मुद्गरवन्**मुष्टीक-रणम्.** तथोद्यमे मोहितत्वं शङ्कितं व्यावर्तयितुमाह **कपीश्वर** इति. मारणपर्यन्तं तूष्णीं स्थित इति **रोहिणीपुत्रमित्युक्तम्. ताभ्यां** हस्ताभ्यां मिलिताभ्यां **वक्षसि अरूरुजत्** पीडां कारितवान् ॥२४॥

यादवेन्द्रोऽपि तं दोर्भ्यां त्यक्त्वा मुसल-लाङ्गले ।
जत्रावभ्यर्दयत् क्रुद्धः सोऽपतद् रुधिरं वमन् ॥२५॥

ततः स्वयमपि, अशस्त्रेण सह सशस्त्रो न युध्येदिति **स्वयमपि त्यक्त्वा**[1] **मुसल-लाङ्गले दोर्भ्यां जत्रावभ्यर्दयत्.** तथा सामर्थ्ये धर्मज्ञाने च लौकिकमेव साधनमित्याह **यादवेन्द्र** इति. यतः पूर्वमपि स रामभक्त इति तथाकरणम्. **जत्रुः** [2]कण्ठाधिष्ठितमस्थिः, तस्मिन् भग्ने म्रियते एवेति. अतो **रुधिरं वमन्** पतितः ॥२५॥

तस्य पराक्रममुक्त्वा देहस्यापि महत्त्वमाह **चकम्प** इति.

चकम्पे तेन पतता सटङ्कः सवनस्पतिः ।
पर्वतः कुरुशार्दूल वायुना नौरिवाम्भसि ॥२६॥

---

१. मुक्त्वेति पाठः. २. कपाठानुसारेण. कण्ठाधिःस्थितमिति सं.पाठः. मुद्रितस्तु कण्ठाधःस्थितमिति –सम्पा.

सटङ्कः प्रसिद्धः पर्वत **वनस्पतिसहितः**. सम्यक् परिज्ञानार्थमेतदुक्तम्. **सर्वतश्चकम्पे. टङ्क**शब्देन उपरितनो भागः वलभीसदृशः वप्रापरपर्यायः. तत्सहितः पर्वत एव भवति. **स पर्वत** इति पाठस्तु सुगमः. विश्वासार्थं (**कुरुशार्दूल** इति!) सम्बोधनम्. अधिकदोलनार्थं दृष्टान्तः, तत्रत्यानां भयोत्पादनार्थं वा. तेन तस्मिन् पतिते सर्वाः स्त्रियो राममालिङ्गितवत्य इति कामरसेन मध्ये न विघ्नः किन्तु तत्पोषक एव जात इति फलति ॥२६॥

भक्तत्वादल्पत्वाच्च कदाचिदयुक्तो भवेदिति देवानां सम्मतिमाह **जयशब्द** इति.

जयशब्दो नमःशब्दः　　साधु साध्विति चाम्बरे ।
सुर-सिद्ध-मुनीन्द्राणामासीत् कुसुमवर्षिणाम् ॥२७॥

उत्कृष्टानां **जयशब्दः** मध्यमानां **नमःशब्दः** शिष्टः **साधु**शब्द इति त्रिविधानामपि सम्मतिरुक्ताः. पूर्वं **जयशब्दः** आशीरूपः, पश्चात् मारणार्थं प्रार्थनारूपो **नमःशब्दः**. **साधु साध्विति** मारणानन्तरम्. दिवीत्यन्यथावचने ततः पात एव भवेदिति सूचितम्. **सुर-सिद्ध-मुनीन्द्राणा**मिति त्रिविधानामपि तथात्वम्. **कुसुमवर्षिणा**मिति कायिको व्यापारः. एवं सर्वात्मना देवानामनुमोदनमुक्तम् ॥२७॥

भूमिष्ठानामप्याह **एवं निहत्य द्विविद**मिति.

एवं　निहत्य　द्विविदं　जगद्व्यतिकरावहम् ।
संस्तूयमानो भगवान् जनैः स्वपुरमाविशत् ॥२८॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥

हनने हेतु**र्जगतो व्यतिकरं** नाशमावहतीति. अत एव **जनैः संस्तूयमानः**. एतावत्त्वोपपत्ति**र्भगवा**निति. पूर्वं तस्य प्रत्यापत्तिरनुक्तेति मध्ये भगवतः कार्यं पतितम्. अग्रेऽपि तथा पतिष्यतीत्याशङ्क्य तस्य द्वारकाप्रवेश उच्यते **स्वपुरमाविश**दिति ॥२८॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धेऽष्टादशोऽध्यायः ॥

॥ इति चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥

॥ पञ्चमः स्कन्धादितः पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥

अत्यलौकिकमाश्चर्यचरित्रमधुनोच्यते ।
एकोनविंशे रामस्य सर्वलोकातिशायिनः ॥(१)॥
एवं रामस्य कृष्णस्य त्रितयं त्रितयं द्वयोः ।
चरित्रमीरितं च स्यात् षड्गुणानां विभागकृत् ॥(२)॥
धर्मः सिद्धो भगवति कामः सिद्धस्तथापरे ।
अद्वितीयहरित्वं तु कृष्णे सिद्धं फलत्वतः ॥(३)॥
जगद्दोषनिवृत्तिस्तु रामे सिद्धा हि साधने ।
अलौकिकं साधनस्थं रामे कृष्णे फलं तथा ॥(४)॥
अत्रावान्तरभेदानां धर्मिणः पृथगीरिताः ।
विभागज्ञापनार्थाय यथैवं विनिरूप्यते ॥(५)॥
यमुनायां पर्वते च कृतं पूर्वं निरूपितम् ।
गङ्गायामपि यत् कार्यं तदत्र स्फुटमुच्यते ॥(६)॥
लक्ष्मणोद्वहने बद्धः साम्बो रामेण मोचितः ।
निगृहीता विपक्षाश्च तदत्र विनिरूप्यते ॥(७)॥

पूर्वाध्याये दुष्टनिवारणलक्षणं [१]चरित्रमुक्त्वा शिष्टशिक्षणरूपं चरित्रमाह. तत्र साम्बाहृत-लक्ष्मणा प्रसङ्गभूता निरूप्यते **दुर्योधनसुतामि.**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

दुर्योधनसुतां राजन् लक्ष्मणां समितिंजयः ।
स्वयंवरस्थामहरत् साम्बो जाम्बवतीसुतः ॥१॥

राजन्निति राजकन्यायाः स्वयंवर एव धर्म इति ज्ञापयति. लक्षणैर्विशिष्टेति **लक्ष्मणा.** सर्वत्र भगवदीयाः स्वयंवरे गच्छन्ति, तत्र सकामामकामां वा बलं विचार्याविचार्य वा हरन्ति. तथायमपि अविचार्यैव **स्वयंवरस्थाने** तूष्णीं स्थितामहरत्. **समितिंजय** इति तस्य धार्ष्ट्ये हेतुः, **जाम्बवतीसुत** इत्यविचारे ॥१॥

---

१. चरितमिति पाठः.

एवं हरणे निमित्ते जाते कौरवाणां भगवन्मार्गोल्लङ्घनजातम् अपराधं निरूपयति **कौरवा: कुपिता ऊचुरिति** त्रिभिः.

कौरवाः कुपिता ऊचुर्दुर्विनीतोऽयमर्भकः ।
कदर्थीकृत्य नः कन्यामकामामहरद् बलात् ॥२॥

पाण्डवा अपि कौरवाः, तथापि ते न तत्र तिष्ठन्ति. यद्यपि भीष्मादयः भगवद्भक्ता तथापि मर्यादास्थिता इति शास्त्रव्यतिरेकेण भगवदीयानपि न मन्यन्ते. वरणानन्तरमेव कन्या तदीया भवतीति बलाद्धरणं सम्भाव्य कुपिता जाताः. **कौरवा** महान्तः कुलकर्मभ्यां श्रेष्ठाः **ऊचुः** स्वगोष्ठ्यामेव **दुर्विनीतोऽयमर्भक** इति महतो बालकस्य विनयोऽपेक्ष्यते तदत्र नास्तीति बन्धनेऽपि न दोष इति. अथवा कैश्चिदुक्तं **दुर्विनीतोऽयमिति**, कैश्चि**दर्भक** इति. दोषाभावार्थमनेन हृतापि न दुष्यतीत्यपि सूचितम्; नहि बालकस्पृष्टा दुष्यति. ननु को दोषः ? कुतो निवार्यत इति चेत्, तत्र दोषमाह **कदर्थीकृत्येति**. अस्मान् तिरस्कृत्य, क्षत्रियाणां मानं हृत्वा. **नो**ऽस्माकं **कन्यां** कुलीनानाम्. अनेन ऋक्षनप्ता न कुलीन इति सूचितम्. किञ्च **कन्याप्यकामा**. वरणं दूरे, इच्छापि तस्या नास्ति. नन्ववश्यं केनचिन्नेया, देयैव च कन्या, तत्राह **बलादिति**. क्षत्रियाभासेभ्य एव बलिष्ठैर्नीयते बलात् ॥२॥

तर्ह्येवं सति किं कर्तव्यम् ? तत्राहुः —

बध्नीतेमं दुर्विनीतं किं करिष्यन्ति वृष्णयः ।
येऽस्मत्प्रसादोपचितां दत्तां नो भुञ्जते महीम् ॥३॥

बध्नीतेमं दुर्विनीतमिति दुर्विनय एव बन्धने हेतुः. नन्वेवं कृते यादवाः क्रोधं करिष्यन्तीति चेत्, तत्राहुः **किं करिष्यन्ति वृष्णय** इति. कथं न करिष्यन्तीत्याशङ्कायामाहुः **येऽस्मत्प्रसादोपचितामिति**. उपजीव्यत्वात् अस्मासु क्रोधं न करिष्यन्ति. स्वयमागत्य युद्धादिकरणसम्भावनैव नास्तीत्याहुः **येऽस्मत्प्रसादोपचिताम्**. जीवनपर्याप्ता तु सेवायामपि प्राप्यते, कृष्यादिना च, अतः पुष्टा प्राप्तव्या. सा यादवानां स्वाभाविकी न भवतीति परकीया ग्राह्या. तत्र[१] परस्य दुर्बलत्वेऽपि न्यायसिद्धत्वाद् बलिष्ठैः सेवया रक्ष्यते.

---

१. तस्येति पाठः.

तत्र पक्षपाते भूमिस्तस्य गच्छति. तथा यादवानाम् अस्मत्प्रसादोपचिता भूमिर्भवति. किञ्च मण्डलेश्वरराज्ञा तत्तद्भूमिस्तेभ्यस्तेभ्यो दीयते यदा, अभिषिक्तो भवति. अतो वयं पूरु (/कुरु !) वंशोद्भवत्वाद् राजानो अतः सामान्यविशेषप्रकारेण **अस्मद्दत्तामेव**[१] **भूमिं भुञ्जते** ॥३॥

ननु पुत्रे धृते भूम्यपेक्षामपि त्यक्ष्यन्तीति चेत्, तत्राहुः **निगृहीतं सुतं श्रुत्वेति.**

निगृहीतं सुतं श्रुत्वा यद्येष्यन्तीह वृष्णयः ।
भग्नदर्पाः शमं यान्ति प्राणा इव सुसंयताः ॥४॥

भग्नो दर्पो यैरिति स्तुतिः, **येषामिति** निन्दा. **यदीति.** श्रुत्वापि नायास्यन्त्येव ; यथा कृपयास्माभिर्भूमिर्दीयते तथा[२] पुत्रमपि प्रेषयिष्यन्तीति विश्वासात्, तदा प्रेषयिष्याम इति हृदयम्. अथ **यदि** अस्मास्वविश्वासं कृत्वा स्वस्य वा बलोत्कर्षं मत्वा आयास्यन्ति, तत्रापीह विषमदुर्गे, तदा पूर्वसिद्धोऽपि **दर्पः** अत्रोपक्षीणो भविष्यतीति **शमं** शान्तिमेव **यान्ति.** ते नूनमुपजीवका इति न निराकार्याः किन्तु बहुकालं निरुद्धाः सन्तः गतदर्पाः प्रार्थनया गृहं गमिष्यन्तीति भावः. वशे वा स्थास्यन्ति. तत्र दृष्टान्तमाह **प्राणा इवेति.** यद्यप्यन्येषां प्राणाः स्वतन्त्रा भवन्ति तथापि योगिनः संयता एवेति स्वात्मानं योगिस्थानीयं मन्यन्ते ॥४॥

एतादृशं वाक्यं भीष्मादीनामपि चेत् तदा सम्बद्धार्थमपि भवेदिति वक्तॄन् गणयन्ति **इतीति.**

इति कर्णः शलो भूरिर्यज्ञकेतुः सुयोधनः ।
साम्बमारेभिरे बद्धुं कुरुवृद्धानुमोदिताः ॥५॥

इतिशब्दः प्रकारवाची; एवंविधान्यन्यान्यपि वाक्यानि. दुष्टाश्चत्वारोऽत्र वक्तारः ये भारते— **कर्णः, शलः** शल्यः, भूरिश्रवसो भ्राता **भूरिः, यज्ञकेतुश्च** तेषामेव प्रधानभूतः. त्रय एते मध्ये दोषरूपा गणिताः. चतुर्णां प्रधानभूतावाद्यन्तयोर्गणितौ. दुःशासनोऽप्यत्रानुसन्धेयः, अग्रे ''षड्रथानि''-ति (श्लो. ९) वचनात्. **साम्बं बद्धुमारेभिरे,** परितः समागत्य धृत्वा

१. एवम् इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

२. तत्रेति मुद्रितपाठः. गृहीतम्तु खपाठानुरोधेन - सम्पा.

बन्धनीय इति. ननु जामातायं जात एव, तथा सति बन्धने कुले दूषणं भवेदित्याशङ्क्याह **कुरुवृद्धानुमोदिता** इति. अनेनैतत्कथानिरूपणस्य दशमे प्रयोजनमुक्तम्— यतो भक्ता अप्येते बहिर्मुखा जाताः अतः सात्त्विका अपि निरोधयोग्या इति. अन्यथा निरोधो न युक्तः स्यात् ॥५॥

ततोऽस्य साम्बस्य त्रिधा गतिः सम्भवति— कन्यया सह पलायनं, तां त्यक्त्वा वा सम्मुखतया युद्धं, दैन्यं वेति. तत्र पलायन-दैन्ये अकृत्वा युद्धार्थमुद्युक्त इत्याह **दृष्ट्वानुधावत** इति.

दृष्ट्वानुधावतः साम्बो धार्तराष्ट्रान् महारथः ।
प्रगृह्य रुचिरं चापं तस्थौ सिंह इवैकलः ॥६॥

स्वपृष्ठभागे स्वात्मानं धर्तुमनुधावतः षड्रथान् **दृष्ट्वा साम्बः**. तेऽपि पुनः पितुरेव पुत्रा **धार्तराष्ट्राः**. स्वयं तु **महारथः**, न पितुर्न मातुरग्रे बद्ध इति इदानीं युध्यतीति. **रुचिरं** स्वाभिलषितं **चापं परिगृह्य** स्वान्तरङ्गसेवकेष्वपि पलायितेषु **एकल** एव **तस्थौ**. शङ्काभावाय **सिंह इवेति**; न हि सिंहः सहायमपेक्षते ॥६॥

तं ते जिघृक्षवः क्रुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणः ।
आसाद्य धन्विनो बाणैः कर्णाग्रण्यः समाकिरन् ॥७॥

ततस्ते (तं!) स्थितमपि स्वप्रौढिख्यापनार्थं ग्रहणेच्छया न मारणीय इति दूराद् बाणप्रयोगमकृत्वा **आसाद्य** निकटे समागत्य **धन्विनो** भूत्वा **कर्ण एवाग्रणीर्येषां** ते धनुर्विद्यायामतिनिपुणाः पश्चाद् **बाणैः समाकिरन्** ॥७॥

ततो भीतस्य दैन्यमाशङ्क्य निराकरोति **सोऽपि विद्ध** इति.

सोऽपि विद्धः कुरुश्रेष्ठ कुरुभिर्यदुनन्दनः ।
नामृष्यत् तदचिन्त्यार्भः सिंहं क्षुद्रमृगैरिव ॥८॥

न केवलं परितो बाणप्रक्षेपः किन्तु **सोऽपि विद्धः**. **अपिशब्दादश्वाः** सारथिश्च. निपुणास्त इति न कन्या विद्धा. स्ववंशस्य हीनतां श्रुत्वा श्रवणे विरक्तो भविष्यतीति तन्निराकरणार्थं सम्बोधनं **कुरुश्रेष्ठेति**. ते तु कौरवमात्रम्, अत एव **कुरुभिरिति**. अग्रे पौरुषं करिष्यतीति **यदुनन्दनः**. तत्तेषां वेधनं **नामृष्यत्**, यतः **अचिन्त्यस्य** भगवतः **अर्भो** बालकः. यस्य पिता अन्यैरपि न चिन्त्यः स कथं स्वयं चिन्तां कुर्यात्! मौढ्यादप्येवं

भवति ज्ञानादपीति तत्पक्षद्वयं निराकर्तुं दृष्टान्तमाह **सिंहः क्षुद्रमृगैरिवेति.** न हि शृगालादिपीडां सिंहो मन्यते ॥८॥

ततस्तस्य पौरुषमाह **विस्फूर्ज्येति.**

विस्फूर्ज्य रुचिरं चापं सर्वान् विव्याध सायकैः ।
कर्णादीन् षड्रथान् वीरस्तावद्भिर्युगपत् पृथक् ॥९॥

वरो हि क्षत्रियाणां शौर्येणोत्कृष्टो भवति. अतः स्वपरीक्षां प्रयच्छन्निव लघुहस्ततां प्रदर्शयति— **सर्वान् कर्णादीन्** षड्भिः षड्भिर्बाणैः एकैकं **युगपदविध्यत्** ॥९॥

षड्बाणानां विनियोगमाह **चतुर्भिश्चतुरो वाहानिति.**

चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकैकेन च सारथीन् ।
रथिनश्च महेष्वासांस्तस्य तत् तेऽभ्यपूजयन् ॥१०॥

एतदपि कौशलं, यथा सर्व एव विद्धा भवन्ति समागताः ; अन्यथा तं तथा न स्मरेयुः. **एकैकेन** सर्वानिव **सारथीन्, एकैकेनैव रथिनः** कर्णादीन्. तर्हि अप्रयोजकास्ते भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह **महेष्वासानिति.** अनवहिता भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह **तस्य तत्तेऽभ्यपूजयन्निति.** साम्बस्य तत्कर्म महारथिनोऽपि कर्णादयः **अभ्यपूजयन्** "साधु साध्वि"ति प्रशंसां कृतवन्तः. एतदेव साम्बस्य बन्धने निमित्तं जातम्— तैः स्तुतः प्रतीकारं न कृतवान्, अन्यथा ब्रह्मास्त्रादिभिः युद्धं कुर्यात् ॥१०॥

एवं ते कपटं कृत्वा स्तोत्रेण मोहयित्वा युद्धं कृतवन्त इत्याह **तं तु ते इति.**

तं तु ते विरथं चक्रुश्चत्वारश्चतुरो हयान् ।
एकस्तु सारथिं जघ्ने चिच्छेदान्यः शरासनम् ॥११॥

तुशब्दः धर्मयुद्धं व्यावर्तयति. एकैकाश्ववधेन बहुभिरेव बाणादिभिः **चत्वारो** महारथाः **तं विरथं चक्रुः, एकस्तु** पञ्चमः **सारथिं जघ्ने, अन्यः** षष्ठः **शरासनं** धनुश्चिच्छेद. एकैकस्य आयुधानां प्रयोगाणां वा न सङ्ख्या[१] ॥११॥

---

१. साङ्ख्य इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

ततो यज्जातं तदाह **तं बद्ध्वेति**.

तं बद्ध्वा विरथीकृत्य कृच्छ्रेण कुरवो युधि ।
स्वकुमारं स्वकन्यां च स्वपुरं जयिनोऽविशन् ॥१२॥

कृच्छ्रेण आदौ **तं विरथीकृत्य** पश्चाल्लौकिकन्यायेन **बद्ध्वा**. यतः **कुरवः**, कुरुणा हि भूयान् धर्मः कृत इति तद्वश्यानामपि मनोरथसिद्धिः. **युधीति** बन्धनेऽपि लज्जाभाव उक्तः, युद्धे हि जयपराजययोरनियमात्. किञ्च **स्वकुमारं स्वकन्यां चेति** सुतरामेव बन्धने न विगानम्. दुर्योधनो हि बलस्य जामाता, तस्य चैषा कन्या, अत उभयोरपि स्वकीयत्वमेव. **कुमारं स्वस्य कन्यामिति** पाठे स्वकन्यासहितं कुमारमद्यापि विवाहरहितमिति बन्धने हेतुरुक्तः. मध्ये स्थापिते कश्चिन्नेष्यति पलाय्य वा गमिष्यतीति **स्वपुरं प्राविशन्. जयिन** इति प्रवेशे सन्तोषो निरूपितः ॥१२॥

नारदो हि निरोधनिदानमिति [१]सात्त्विकानां स्वासक्तिसिद्ध्यर्थं नारदः समागत्य वृत्तमित्याह **तच्छ्रुत्वेति**.

तच्छ्रुत्वा नारदेनोक्तं राजन् सञ्जातमन्यवः ।
कुरून् प्रत्युद्यमं चक्रुरुग्रसेनप्रचोदिताः ॥१३॥

भगवानक्लिष्टकर्मा पुत्रसाहाय्यं न करिष्यतीति **उग्रसेनेनैव प्रचोदिताः** यादवाः **कुरून् प्रत्युद्यमं चक्रुः. सञ्जातमन्यु**त्वं युक्तमिति **राज**सम्बोधनम्. उषाहरणे विपक्षस्यैव दोषः, अत्र तु न तथेति तूष्णीम्भावो भगवतः ॥१३॥

तदा – साधनशक्तिर्मुख्या बल इति, अत्रत्यं कार्यं भगवत एवेति, कुरुर्मूलभूतो भगवत इति यदुवंश इव कुरुवंशेऽपि देवा एवावतीर्णा इति देवानामन्यान्यविरोधो धर्मनाशकः पापपोषक इति, तानूनप्त्रोपाख्याने[२] शपथकरणाद् य एव प्रथमं द्रुह्यति स नष्टो भवतीति[३] बहुदोषदुष्टत्वात् कलहस्य तन्निवारणार्थं – रामः प्रवृत्त इत्याह **सान्त्वयित्वेति**.

---

१. तात्त्विकानामिति पाठः. २. तान् नप्त्रोपाख्याने इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः - सम्पा.

३. "यो नः प्रथमो अन्योन्यस्मै द्रुह्याद् इति तस्माद् यः सतानुनप्त्रिणां प्रथमो द्रुह्यति स आर्तिमार्च्छति" –(तैत्ति.संहि. ६।२।२) - सम्पा.

सान्त्वयित्वा तु तान् रामः सन्नद्धान् वृष्णिपुङ्गवान् ।
नैच्छत् कुरूणां वृष्णीनां कलिं कलिमलापहः ॥१४॥

वृष्णिपुङ्गवानिति महत्त्वम्. सान्त्वने हेतुः **सन्नद्धानिति.** तत्कार्यं स्वयं चेत् कुर्यात् तदैव सान्त्विता भवन्तीति ज्ञापितम्. कार्यं [1]साम्बस्य सभार्यस्यानयनम्, तत्प्रीत्यैव चेद् भवति तदा कलहो व्यर्थ इति **कुरूणां वृष्णीनां नैच्छत्,** उभयेषां देवभावात्. **रामश्च कलिमलापहः;** देवविरोधे सत्त्वस्य सर्वथा तिरोभावात् तमः केन हन्येत, कारणसत्त्वेन सह विरोधाभावात्. अन्यथा तमसः तत्कार्याणां च स्थितिर्न स्यात्. अन्यथा कलावुत्पत्स्यमानानामुद्धारो न भवतीति जन्मकारणनिर्धारो व्यर्थः स्यात्. तुशब्दः कुरुपक्षपातं व्यावर्तयति. **तान्** प्रसिद्धानिति हीनभावोऽपि नाश्रयणीय इति सूचितम्. तेन ऋजुमार्गेणासिद्धौ वक्रेणापि तत् करिष्यतीति सिद्धम्. ज्ञानशक्तिरत्र न पूर्णेति केचित्, लोकानुरोधी भगवानित्यपरे. नीतिमार्गानुसारिणी साधनशक्तिः पुष्टिमार्गानुसारिणी फलशक्तिरिति सिद्धान्तः ॥१४॥

सान्त्वनसिद्ध्यर्थं रामस्य गमनमाह **जगामेति.**

जगाम हास्तिनपुरं रथेनादित्यवर्चसा ।
ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः ॥१५॥

हस्तिनो नात्र सहभाव इति ऋजुभावेन गमनम्. **आदित्यवर्चसेति**

लेखः

एकोनविंशे **सान्त्वयित्वेत्यत्र अन्यथा तमस** इति. कारणसत्त्वेन सह विरोधे तमसस्तत्कार्याणां च मूलत एव नाशः स्यादित्यर्थः. **अन्यथा कलाविति,** देवविरोधेन सत्त्वतिरोभावे इत्यर्थः. नन्वेते दुष्टा भूभाररूपा अग्रेऽपि मारणीया एवेति युद्धं कुतो निवारितवानित्याशङ्क्य समाधानत्रयमाहुः **ज्ञानेति लोकेति नीतीति** ॥१४॥

जगामेत्यत्र. 'हस्तिनापुरमि'त्यनुक्त्वा **हास्तिनपुरमित्युक्तं** तत्तात्पर्यमाहुः **हस्तिन** इति. तथा सति तृतीयया सहभावोऽपि प्रतीयेतेति पुरे हस्तिसहभावोक्त्या वक्तव्यं सूचितं स्यात्. तादृशे पुरे च ऋजुमार्गेण गमनं नीतिविरुद्धं

---

१. कार्यः जाम्बवतः सभार्यस्यानयनमिति पाठः.

तेषां प्रतिबोधनम्. नीतिमार्गोपयोगिन आह **ब्राह्मणैः कुलवृद्धैः**[१] चकारादन्यैरपि शास्त्रिभिः. कुरूणामनभिप्रेतं साम्बविमोचनं भवतीति तत्तापार्थं गच्छतीत्याशङ्क्य तेषां तापपनोदार्थं गच्छतीति वक्तुं दृष्टान्तमाह **चन्द्र इव ग्रहैरिति**; बृहस्पतिप्रभृतिभिः ॥१५॥

नीतिपरैवेयं शक्तिरिति ज्ञापयितुं, लोकदृष्ट्यापि द्विषतां पुरं न प्रविशेदिति, बहिःस्थित एव स्वागमनं ज्ञापितवानित्याह **गत्वेति**.

गत्वा गजाह्वयं रामो बाह्योपवनमास्थितः ।
उद्धवं प्रेषयामास धृतराष्ट्रबुभुत्सया: ॥१६॥

अत एव **रामः**. **बाह्योपवनमिति** नगरसीमाप्रवेश उक्तः. **आस्थितिस्तत्र** विमोचनम्. नीतिज्ञ **उद्धवः**. **धृतराष्ट्रो** गन्धर्वो दैत्यावेशसहितो देवांशः ; स बुध्यतामिति **बुभुत्सा**, धृतराष्ट्रं प्रति बोधयितुमिच्छया वा ॥१६॥

तस्य यथोचितं करणमाह **सोऽभिवन्द्येति**.

सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रं भीष्मं द्रोणं च बाह्लिकम् ।
दुर्योधनं च विधिवद् राममागतमब्रवीत् ॥१७॥

अम्बिकापुत्रो धृतराष्ट्रः **बाह्लिकः** शन्तनोर्भ्राता, **चकारात्** कृपादिब्राह्मणान्. **दुर्योधनो,** वरश्वशुर इति. **चकारात्** तत्पक्षपातिनः. एवमुभयविधा नमस्कृता बोधिताश्च. **विधिवदित्यन्तेन** तुल्यत्वाय. कथमागमनमिति प्रश्नसमये **राममागतमब्रवीत्** ॥१७॥

तेऽतिप्रीतास्तमाकर्ण्य प्राप्तं रामं सुहृत्तमम् ।
तमर्चयित्वाभिययुः सर्वे मङ्गलपाणयः ॥१८॥

ते तां वार्तां श्रुत्वैव **प्रीताः**. स हि **सुहृत्तमः** दुर्योधनश्वशुरः

लेखः

स्यात्. अतः सम्बन्धमात्रसूचनाय तद्धितान्तो हास्तिनशब्द उक्तः ॥१५॥

गत्वा गजाह्वयमित्यत्र स बुध्यतामितीति. राम आगत इति धृतराष्ट्रो बुध्यतामितीच्छेति प्रथमपक्षे, साम्बो मोचनीय इति धृतराष्ट्रस्य प्रतिबोधनं तस्येच्छेति द्वितीयपक्षेऽर्थः ॥१६॥

---

१. कुलधर्मैरिति पाठः.

गुरुश्च. यादवपक्षपाते परमन्यथा भविष्यति. **तमुद्धवमर्चयित्वा आभिमुख्येन ययुर्यथाशास्त्रं मङ्गलपाणयः** ॥१८॥

तं सङ्गम्य यथान्यायं गामर्घ्यं च न्यवेदयन् ।

तेषां ये तत्प्रभावज्ञाः प्रणेमुः शिरसा बलम् ॥१९॥

सङ्गतावपि सौहार्ददार्ढ्यमाह **तं सङ्गम्येति.** प्रह्वादिप्रकारभेदैर्**यथान्यायम्.** अतिथिवन्मधुपर्कादिना पूजितवन्त इति ज्ञापयितुमाह **गामर्घ्यं चेति. तेषां** पूजकानां मध्ये **ये तत्प्रभावाभिज्ञाः** माहात्म्यविदः ते ज्येष्ठा अपि लौकिकीं दृष्टिं दूरीकृत्य **प्रणेमुः**. अनेन सर्वे लौकिकाः, केचनैव तत्प्रभावाभिज्ञा इति निरूपितम्. अभिज्ञा अपि **बलं** बलाधिक्येनैव, नत्वलौकिकानुभावेन, अन्यथा ते विषमान् बोधयेयुः ॥१९॥

एवं कायिकव्यवहारमुक्त्वा वाचनिकमाह **बन्धून् कुशलिन** इति.

बन्धून् कुशलिनः श्रुत्वा पृष्ट्वा शिवमनामयम् ।

परस्परमथो रामो बभाषेऽविक्लवं वचः ॥२०॥

शिवं कल्याणं सुखरूपम् **अनामयं** दुःखाभावरूपं **बन्धून्** धर्मिणः परस्परं **कुशलिनः श्रुत्वा** एतदपि परस्परं **पृष्ट्वा. अथो** भिन्नप्रक्रमेण **रामोऽविक्लवम्** अदीनम्, अन्यथा यादवानां दीनता स्यात्. भक्ताश्च ते ॥२०॥

॥ श्रीबलराम उवाच ॥

उग्रसेनः क्षितीशेशो यद् व आज्ञापयत् प्रभुः ।

तदव्यग्रधियः श्रुत्वा कुरुध्वं मा विलम्बितम् ॥२१॥

सर्वदेवाधिपत्यं भगवतोग्रसेनाय दत्तमिति तदाज्ञा सर्वैरेव देवैः कर्तव्या, अतो यादवान् परित्यज्य उग्रसेनाज्ञापनमाह **उग्रसेन** इति. तस्याज्ञा भिन्नै राजभिः कथं कर्तव्येत्याशङ्क्याह **क्षितीशानां** सर्वेषामेव राज्ञामीश इति. **यद्वो** युष्मान् प्रति **आज्ञापयत्.** आज्ञापनावाक्यमग्रे वक्तव्यं— साम्बः सभार्यः प्रस्थापनीय इति. तद्वाक्यात् पूर्वमेव अपराधक्षमावाक्य एव क्रुद्धाः

लेखः

बन्धून् कुशलिन इत्यत्र **बन्धून् धर्मिण** इति. शिवमनामयं च धर्मः, एते धर्मिण इत्यर्थः. धर्मिप्रश्नः स्वरूपतः सन्तीति प्रश्नः ॥२०॥

परुषभाषिणो जाता इति तदकथनम्. तदग्रे विवक्षितं कर्तव्यमिति हितोपदेशो रामस्य, **मा विलम्बितमिति** द्वितीयम्, अन्यथेश्वरः राज्ञां विलम्बं न सहत इति पश्चात् कृतमपि व्यर्थं स्यादिति. ईश्वरवचनोल्लङ्घने अनिष्टं शीघ्रमिति ज्ञापितम्. ईश्वरत्वमाह **प्रभुरिति** ॥२१॥

कदाचित् कृतापराधस्य दण्डं करिष्यतीत्याशङ्कायामाह **यद्यूयमिति.**

यद् यूयं बहवस्त्वेकं जित्वाऽधर्मेण धार्मिकम् ।
अबध्नीताथ तन्मृष्ये बन्धूनामैक्यकाम्यया ॥२२॥

यद्यपि भवन्तो दण्डार्हाः तथापि बान्धवानामन्योन्यं कलहो भविष्यतीति तदपराधं **मृष्ये**. ईश्वरेणापि क्रियमाणे दण्डे बन्धुभिरेव कारितमिति कदाचिद् वैमनस्यं स्यात्. तन्नाभिप्रेतं किन्तु **ऐक्यमेवा**भिप्रेतम्. शास्त्रनिषिद्धं ह्येकेन सह बहूनां युद्धम् ; तथाकरणे च दण्डो राज्ञावश्यं कर्तव्यः. ततस्तमपराधमनुवदति **यूयं बहवः**. तुशब्देनान्यथाकरणं निवार्यते, महास्त्रप्रयोगः पलायनं चाधर्म इति. अधर्मेण एककाले बहवो युद्धाभिज्ञा बालकं स्त्रीरक्षायां व्यग्रं खण्डशः साधननाशेन जितवन्त इति. बन्धनं चापरो दोषः ॥२२॥

एतावच्छ्रुत्वा रुष्टा जाता इत्याह **वीर्येति.**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

वीर्य-शौर्य-बलोन्नद्धम् आत्मशक्तिसमं वचः ।
कुरवो बलदेवस्य निशम्योचुः प्रकोपिताः ॥२३॥

वीर्यं क्रियाशक्तिः **शौर्यं** स्वभावः **बलं** देहस्य, त्रिभि**रुन्नद्धं वचः** फलपर्यवसायीति. ‘‘उग्रसेनो युष्मानाज्ञापयदि’’ति वीर्येणोन्नद्धं, ‘‘क्षितीशेश’’ इति शौर्येण, ‘‘मा विलम्बितमि’’ति बलेन, ‘‘यद्यूयमि’’ति **आत्मशक्तिसमम्. कुरव** इति अभिमानार्थम्. तद्धर्म एव युक्तः नतु तदीयाः. राजानमप्रयोजकं जानन्त्येव, **बलस्य** परं तादृशं वचनम्. यदि स्वयं वदेत् ‘‘ममाज्ञयैव एतत्कर्तव्यमि’’ति तदा क्रोधो न भवेद्, वस्तुत ईश्वरत्वाद् अस्माकम्. तेषामपि भक्तत्वाविशेषेऽपि यद् यादवेष्वेवैश्वर्यं स्थापयित्वा अस्मासु ईशितव्यत्वं

लेखः

वीर्यशौर्येत्यत्र. उग्रसेनेऽपि भगवता स्वोत्कर्ष एव स्थापित इत्याशयेन भगवदुत्कर्ष उक्तः ॥२३॥

स्थापयति, तत्र हेतुर्न कुलीनत्वादिः, तथा सत्यस्मास्वेवोचितं स्यात्. साधारणलीलेयं न भवतीति न स्वेच्छया यथासुखं करणम्. भक्तार्थं हि भगवानवतीर्णः. सा च भक्तिः कारणानुरोधाद् उद्गता कौरवेष्वेव पुष्टा भवितुमर्हति, नाकौरवेषु[१]. ईश्वरत्वाद् भक्तिमपि तेभ्य एव प्रयच्छतीति चेत्, न, तथा सति वैषम्यं स्यात्. अतः सिद्धामेव भक्तिमाश्रित्य भगवान् वदतीति कारणाधीनत्वं च भक्तेर्ज्ञात्वा स्वोत्कर्षं स्थापयितुं किञ्चिदुक्तवन्त इत्यर्थः. यतस्तेनैव वाक्यैः अन्तर्यामितया वा **प्रकर्षेण कोपिताः** ॥२३॥

स्वोत्कर्षख्यापकानि पञ्चवाक्यान्याह **अहो महच्चित्रमिति**. देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणात्मधर्मैः उत्कर्षः क्रमान्निरूप्यते.

॥ कौरवा ऊचुः ॥

अहो महच्चित्रमिदं कालगत्या दुरत्यया ।
आरुरुक्षत्युपानद् वै शिरो मुकुटसेवितम् ॥२४॥

तत्र देहोत्कर्षे वस्तुतो विचार्यमाणे यादवा धर्मरहिताः स्वेच्छाचाराः चर्मपुटप्रायाः, कौरवास्तु देवाधिष्ठिताः मुकुटाश्रय-शिरस्थानीयाः. अयमर्थः पारमार्थिकः. एवं सति कौरवेभ्योऽपि यादवोत्कर्षे वस्तुसामर्थ्याभावात्, कालवशादेव तथा भवतीति कालश्चेश्वरो नियन्तुमशक्य इति पूर्वं कदाप्येवं न जातमिति, **महच्चित्रं** भवति. तत्र हेतुः **दुरत्यया कालगत्येति**. ईश्वरवाक्याद् दुरत्ययत्वम्, अन्यथा असम्बद्धवाक्यतायां न किञ्चिद् दूषणं स्यात्, **वै** निश्चयेन **उपानच्छिरः आरुरुक्षतीति**. मुकुटैर्वस्त्रादिभिर्व्यासादिभिश्च **सेवितम्** ॥२४॥

ऐन्द्रियकव्यवहारे विवाह-शयनादौ हीनत्वमाह **एते यौनेन सम्बद्धा** इति.

एते यौनेन सम्बद्धाः सहशय्यासनाशनाः ।
वृष्णयस्तुल्यतां नीता अस्मद्दत्त-नृपासनाः ॥२५॥

यूनो भावो विवाहो **यौनं, तेन सम्बद्धाः** पूर्वमेकोत्पन्ना अपि व्यवहारे हीना इति त्यक्त्वा अपि पुनः यौनेन सम्बद्धा इत्यर्थः, पृथादयः

---

१. न यादवेष्विति पाठः.

स्त्रियः तेभ्यः समानीता इति. ननु तथापि "स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपी"(. । ।)ति न्यायेन न समानयनमात्रेण तुल्यता भवतीति चेत्, तत्राह **सहशय्यासनाशना** इति. शयनमासनं भोजनं चेत् सह येन सह तत्तुल्य एव भवतीति स्थितिः. अत एव **वृष्णयस्तुल्यतां नीताः**. अनेन अज्ञानान्निषिद्धाचरणे प्रायश्चित्तं कर्तव्यमिति पक्षो निवारितः. एवं कुलधर्मविचारेण स्वस्योत्कर्षमुक्त्वा ऐश्वर्यविचारेणाप्युत्कर्षमाह **अस्मद्दत्तनृपासना** इति. पूर्वं हि ययातिना पूरव एव राज्यं दत्तम्, अन्ये ज्येष्ठा अपि तदधीनाः ॥२५॥

एवं साधनानि स्वाधीनान्युक्त्वा तेषां भोगोऽप्यस्मदधीन एवेत्याह **चामरव्यजने** इति.

चामरव्यजने शङ्खमातपत्रं च पाण्डुरम् ।
किरीटमासनं शय्यां भुञ्जन्त्यस्मदुपेक्षया ॥२६॥

चामरव्यजने परितः, **शङ्खो**ऽग्रे, **आतपत्रं** पश्चात्, तत्रापि **पाण्डुरं** श्वेतम्, **किरीटमुपरि**, **आसनमधः**, **शय्या** निद्रावस्थायाम् —एतानि सप्त-महाराजचिह्नानि अन्येषामयुक्तानि राजभिरवश्यं अन्यत्र दृष्टानि निषेद्धव्यानि. तथापि तुल्यतां नीता इति राजभि**रस्माभिरुपेक्षितानि भुञ्जते**. भोगः प्राणधर्म इति तदुत्कर्षो निरूपितः ॥२६॥

आज्ञापनादिरन्तःकरणधर्म इति तदसहमानाः तन्निषेधपूर्वकं तदपकर्षमाहुः **अलं यदूनामिति**.

अलं यदूनां नरदेवलाञ्छनैर्दातुः प्रतीपैः फणिनामिवामृतम् ।
ये नः प्रसादोपचिता हि यादवा आज्ञापयन्त्यद्य गतत्रपा बत ॥२७॥

नरदेवलाञ्छनानि पूर्वोक्तानि उपेक्षाविषयाणि. **अलमिति** निषेधार्थे—नरदेवलाञ्छनैरलम्. अतः परं पूर्यताम्, अग्रे न स्थापनीयमित्यर्थः. दत्तापहारे हेतुः **दातुः प्रतीपैरिति**. अज्ञानादत्तं स्वानिष्टसम्पादकत्वे निवारणीयमित्यत्र दृष्टान्तमाह **फणिनामिवामृतमिति**. "सर्पस्य हि पयःपोषः पोषकस्याप्यनर्थ-कृद्"(भाग.पुरा. ४।१४।१०) इति. स हि मत्ततां सम्पादयति, पश्चादन्धः सन् पोषकमपि भक्षयति. तदस्मासु जातमित्याह **ये यादवाः नः प्रसादोपचिताः अद्य गतत्रपाः** सन्तः अस्माने**वाज्ञापयन्तीति**. **बतेति** खेदे ॥२७॥

वस्तुविचारेणात्मधर्ममाश्रित्याहुः **कथमिन्द्रोऽपीति**.

कथमिन्द्रोऽपि कुरुभिर्भीष्म-द्रोणार्जुनादिभिः ।
अदत्तमवरुन्धीत　　सिंहग्रस्तमिवोरणः ॥२८॥

भीष्मो हि काल-काम-परशुरामादीनां जेताः. ततोऽप्यधिको **द्रोण** विद्यया तुल्योऽपि ब्राह्मण्यादधिकः. ततोऽप्य**र्जुनः** तच्छिष्योऽपि महादेवादिप्रसादैरुपचितः. एते त्रय आधिभौतिकादिरूपाः[१] **आदिभूता येषां तैः अदत्तम् इन्द्रोऽपि कथमवरुन्धीत**! इन्द्रो वस्तुतः सर्वाधिपतिः, तथाप्येते अधिकृताः. न हि देहादिषु प्रतिकूलेषु ईश्वरोऽपि भोगं प्राप्तुमर्हति. ननु स्वभागः, तेषां का दानापेक्षेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **सिंहग्रस्तमिवोरण** इति. यद्यप्युरणस्याल्पमेषस्य पुत्रो भार्या वा भागो भवति, तथापि सिंहग्रस्तः तत्कृपयैव प्राप्यते. तथैव साम्बः सभार्योऽस्मदवरुद्ध इत्यर्थः ॥२८॥

एवं पञ्चावयवमहङ्कारवाक्यं श्रावयित्वा निर्गता इत्याह **जन्मेति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

जन्मबन्धु- श्रियोन्नद्ध- मदास्ते　　भरतर्षभः ।
आश्राव्य रामं दुर्वाक्यमसभ्याः पुरमाविशन् ॥२९॥

वाचनिक-कायिकातिक्रमे निरूपिते मानसिकोऽपि निरूपितप्रायः. एवमतिक्रमे हेतुः **जन्मबन्धुश्रियोन्नद्धमदा** इति. **जन्म** सत्कुले, **बन्धुः** बान्धवः, **श्रीः** लक्ष्मीश्च. **जन्मनि बन्धुकृता**[२] **या श्रीः** औत्पत्तिकलक्ष्मीः, तया वा **उन्नद्धः मदो येषाम्. भरतर्षभेति** सम्बोधनं राज्ञो मायामोहाभावाय, "दौष्यन्तिरत्यगान्मायामि" (भाग.पुरा. ९।२०।२७) ति वाक्यात्. अन्यथा क्षत्रियः स्वकीयापकर्षं न सहत इति इयं कथा श्रवणविघातिका स्यात्. इदं वाक्यं रामं प्रत्येव स्पष्टं[३], नत्वन्तःकरणेनापि स्वकीयेषु. तदाह **दुर्वाक्यं राममाश्राव्य पुरमाविशन्निति**. ननु गृहे समागते नैवं वक्तुमुचितमित्याशङ्क्याह **असभ्या** इति. सतामेवैषा कथा ; श्रीमदेनैव तेषामसत्त्वम्, अन्यथा अग्रे ऋजुत्वं न स्यात् ॥२९॥

ततो यज्जातं तदाह **दृष्ट्वा कुरूणामिति**.

---

१. आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकरूपा इति पाठः. २. बन्धुकृपा, बन्धुकृपयेति पाठौ. ३. स्पष्टं वाक्यमिति पाठः.

दृष्ट्वा कुरूणां दौःशील्यं श्रुत्वाऽवाच्यानि चाच्युतः ।
अवोचत् कोपसंरब्धो दुष्प्रेक्ष्यः प्रहसन् प्रभुः ॥३०॥

अवगणनां कृत्वा गमनं **दौःशील्यम्,** अन्यथा बान्धवातिक्रमो महदतिक्रमश्च न भवेदिति. **अवाच्यान्यपि** श्रुतवान्, **अवाक्यानि** तादृशवाक्यानि वा. **अच्युत** इति भयाभवाय. स्वयमपि तानि वाक्यानि दूषयितुम् **अवोचद्,** अन्यथा देहेन निराकरणेऽपि वाक्येन (न) निराकृताः स्युः. **कोपसंरब्ध** इति, भगवत्कृतं न मन्यन्त इति, अन्तर्गुप्ते क्रोधे अपकार एव. झटिति कृते क्लिष्टता स्यादिति क्रोधस्य बहिराविष्कारमाह **दुष्प्रेक्ष्य** इति. **प्रहसन्निति** दुःखाभावाय, यतः **प्रभुः** ॥३०॥

पञ्चवाक्यानामर्थं स्थानत्रयेण [१]नवभिर्निराकृत्य नवभिः कर्तव्यं प्रतिज्ञाय दशमेनाध्यवस्यति नूनमिति दशभिः श्लोकैः.

नूनं नानामदोन्नद्धाः शान्तिं नेच्छन्त्यसाधवः ।
तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लकुटो यथा ॥३१॥

"विद्यामदो धनमद" (. । ।) इत्यादिवाक्यैर्मदा निरूपिताः; तद्युक्ता नीतिवाक्यानि न मन्यन्ते. अतस्तेषां प्रतीकारः क्रियैव, न वाक्यानि. अतो यदेतैर्निराकृतमनङ्गीकरणवाक्यैः तद् युक्तमेव. अतः शमार्थं प्रयुक्ता विफला जाता इति क्रिययैव दण्डरूपया शमः कर्तव्यः. तदाह **तेषां हि प्रशमो दण्ड** इति. एतत् स्वोपक्रमानुसारेणोपक्रमविचारेणोक्तम्, उपसंहारे त्वन्यथा वक्तव्यम्. शममात्रमुपक्रमः, मारणमुपसंहारः. [२]नापि विरोधः, मारणोद्यम एव शमो भवतीति. ननु क्रियया दण्डे सुतरामेव प्रकोपः स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **पशूनां लकुटो यथेति.** स हि दण्डो लोकप्रसिद्धः. स यथा दृष्ट एव पशूनां भयजनको भवति, उद्यतो वा, तथा सर्वस्वनाशः उद्यतो ज्ञातो वा पशुतुल्यानां भयजनकः ॥३१॥

नन्वेवं सति यादवाः किमिति निवारिता इत्याशङ्क्य– तथा सति वैषम्यं स्यात्, न दण्डः, नहि शत्रुजयादिर्दण्डो भवति, अतो हितकारिण एव वयमिति– पूर्वोपक्रान्तां स्वक्रियामाह.

---

१. नवभिः श्लोकैः निराकृत्य कर्तव्यमिति पाठः. २. ततो विरोध इति मुद्रितपाठः. पादटिप्पण्यस्थो पाठः गृहीतः - सम्पा.

अहो यदून् सुसंरब्धान् कृष्णं च कुपितं शनैः ।
सान्त्वयित्वाऽहमेतेषां शममिच्छन्निहागतः ॥३२॥

अहो इति, शान्तिकर्तरि प्रकोपश्चाश्चर्यम्. **यदवः** सर्वे **सुसंरब्धाः** मारणोन्मुखाः समर्थाश्च. नन्वदृष्टवशादुर्वीरिताः, किं तव पौरुषमिति चेत्, तत्राह **कृष्णं च कुपितमिति.** भगवद्विचारमात्रेणैव सर्वं सिद्ध्यति, किं पुनः कुपिते! **कृष्ण** इति भक्ताधीनः कालात्मा[१] वा. तेनादृष्टादयस्तदनुगुणा एवेति तेषां सर्वमेव प्रतिकूलम्. तान् सर्वान् **शनैः सान्त्वयित्वा** न तु बलात्, **च** स्वसामर्थ्यप्रकाशनेन. तथाकरणे हेतुः **अहमिति.** अहङ्कारादेते बन्धनं कृतवन्त इति तदधिष्ठाता चाहमिति तेषां शान्तिमेव वा**ञ्छन्निहागतः** ॥३२॥

सा च शान्तिर्वाक्यैर्न जातेति क्रियार्थमाह **त इम** इति.

त इमे मन्दमतयः कलहाभिरताः खलाः ।
तन्मामवज्ञाय मुहुर्दुर्भाष्यान् मानिनोऽब्रुवन् ॥३३॥

यतो **मन्दमतयः**. तर्हि युद्धोद्यमे लौकिके शान्ता भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह **कलहाभिरता** इति, परस्परकलह एव अभितो रतिर्येषाम्. कलहे तु युद्धे मरणमेव, शान्तिर्नेति. नन्वन्तर्यामितया प्रेरणीया इति चेत्, तत्राह **खला** इति, मूलेच्छया तान् अन्तर्यामी तथैव प्रेरयतीति. तथापि त्वया शमार्थमुद्यमः कृत इति तदेव कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह **तन्मामवज्ञायेति.** तादृश-शमकर्तारं माम्, **तत्** तत्र वा. अङ्गीकारे हि वाक्यैः हिताचरणादिभिश्च प्रबोधो भवति, नान्यथा. तेत्ववज्ञामेव कुर्वन्ति. **मुहुरिति** पुनः. परीक्षा निषिद्धा. अवज्ञया मानसो दोष उक्तः. **दुर्भाष्यान्** दुष्टवाक्यानि **चाब्रुवन्** —अयं वाचनिको दोषः. **मानिन** इत्यग्रेऽप्यसमाधानम् ॥३३॥

ननु युक्तमेतेषां वाक्यम्, उग्रसेनवाक्यत्वेन त्वयापि किमित्युच्यत इत्याशङ्क्य उग्रसेनस्य सर्वराजाधिपत्यं साधयति **नोग्रसेनः किल विभुरिति.**

---

१. ''इदानीं कृष्णता गत'' इति वाक्यमत्रानुसन्धेयम्.

नोग्रसेनः किल विभुर्भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ।
शक्रादयो लोकपाला यस्यादेशानुवर्तिनः ।।३४।।

स्वतो वचनाभावायाह **किलेति**. नाम्नैव तस्येश्वरत्वं पूर्वसिद्धं सूचितम्. तत्रापि **विभुः** लौकिकन्यायेनापि समर्थः, अन्यथा तत्पुत्रः कंसो राजा न भवेत्. किञ्च साम्प्रतं **भोजवृष्ण्यन्धकानामीश्वरः** त्रिविधानामपि यादवानां प्रभुः. अलौकिकं सामर्थ्यमाह **शक्रादयो लोकपाला** इति. भगवतः इच्छया आज्ञया वा. "मयि भृत्य उपासीन" (भाग.पुरा. १०।४२।१४) इत्यत्रैव तद् विवृतम्. **यस्योग्रसेनस्य आदेशमाज्ञाम् अनुवर्तन्त** इति. अन्यथा यथाभिलषितवृष्ट्यादि न भवेत् ।।३४।।

सुधर्माक्रम्यते येन पारिजातोऽमराङ्घ्रिपः ।
आनीय भुज्यते सोऽसौ न किलाध्यासनार्हणः ।।३५।।

किञ्च **येन सुधर्मा आक्रम्यते**, इन्द्रादयोऽपि नमस्कृत्य तां सभामारोहन्ति, तादृशीमाक्रामति. **अमराङ्घ्रिपश्च पारिजातः आक्रम्यते**. तन्मर्यादादूरीकरणात् तस्याप्याक्रमणम्. इन्द्रादीनामननुमतौ कथमेतद्द्वयं स्यात्? भगवत्सामर्थ्यमेतदिति नाशङ्कनीयम्, भगवतैवोग्रसेने ऐश्वर्यकला स्थापितेति नरत्ववत् तदधीनत्वमप्यङ्गीकृतमिति "अङ्गीकृता ग्लानिर्न दोषाय" (. । ।). "अनधिकारिण एतेऽस्माभिस्तुल्यतां नीताः, राज्यं च दत्तमि"ति यदुक्तं तन्निराकरोति **आनीय भुज्यते सोऽसौ न किलाध्यासनार्हण** इति. न हि सर्वे राजानो भवन्ति. यद्येको राज्यार्हो न भवेत् तदैव तद्वचनं सार्थकं स्यात्. तत्र भाग्यं क्रियाशक्तिश्च प्रयोजिके. तत्रापि क्रियाशक्तिः प्रयोजिका यदिन्द्रं निर्जित्य पारिजातः आनीय भुज्यते. ननु सा शक्तिः साम्प्रतं कुण्ठिता भविष्यतीति चेत्, तत्राह **सोऽसाविति**, स एव भगवानिदानीं ममाग्रे तिष्ठति. मैवं **किलेत्युपलम्भार्थं** प्रसिद्धिः ।।३५।।

भाग्योत्कर्षमाह **यस्य पादयुगमिति**.

यस्य पादयुगं साक्षाच्छ्रीरुपास्तेऽखिलेश्वरी ।
स नार्हति किल श्रीशो नरदेवपरिच्छदान् ।।३६।।

सर्वेषां भाग्यं लक्ष्म्यधीनम् अतः सा सर्वेश्वरी. सापि नीचतया

भगवच्चरणारविन्दं सेवते. **साक्षादित्याधिदैविकी**, नतु दिव्यस्त्रीरूपा नापि राज्यलक्ष्मीरूपा. यदाहुः ''चामर-व्यजने शङ्खमि''ति तद्दूषणार्थं हेतुमुक्त्वा तदनूद्य दूषयति **स नार्हति किल श्रीश** इति. चामरव्यजनादयो **नरदेवपरिच्छदाः**. अनर्हत्वेऽपि[1] तदुपेक्षया भोगो भवति, अन्यथा इन्द्रादीनामपि तथात्वं स्यात् ॥३६॥

यदप्युक्तम् ''अलं यदूनामि''ति तत्तदा स्यात् यदि स्वतः सिंहासनं न स्यादिति वक्तुं तस्य सिंहासनोपपत्तिमाह **यस्याङ्घ्रिपङ्कजरज** इति.

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजोऽखिललोकपालै-
मौल्युत्तमैर्धृतमुपासिततीर्थतीर्थम् ।
ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः
श्रीश्चोद्वहेम चिरमस्य नृपासनं क्व ? ॥३७॥

अष्टौ लोकपालाः परितः, उपरि ब्रह्मा, अधः शेषोऽहम् —एतेषां दशानामाशापालकानां मध्ये प्रभुणा भाव्यं स एव मुख्यो 'राज'शब्दार्थः. प्रभुत्वं च दिक्पालकानां सर्वथा हीनभावावलम्बने भवति. एतत्तु सर्वैरेव दृष्टमिति सिद्धवन्निरूप्यते. **यस्य** चरणकमलरजः **अखिललोकपालैः** सर्वैरेव पूर्वोक्तैः. **मौल्युत्तमै**रिति करणम्. तेषामपि भगवदीयत्वसिद्ध्यर्थं लौकिकन्यायेन स्वामिसेवायां वा ऐश्वर्योत्कर्षमुक्त्वा धर्मोत्कर्षमाह **उपासिता तीर्थानामपि तीर्थभूता** गङ्गा यस्य. कीर्तिमाह **ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलाया** इति. भगवतः कला जगदुत्पत्ति-स्थिति-विनाशकर्त्री काचित्. तस्यास्त्रयोंऽशाः सत्त्वादयः. तत्र रजो ब्रह्माः, तमो भवः, अहं सत्त्वं भूधरत्वात्. श्रियमाह **श्रीश्चे**ति. चकारादन्तःस्थिते ज्ञान-वैराग्ये निरूपिते.

लेखः

यस्याङ्घ्रिपङ्कजेत्यत्र. **उपासितेति** विग्रहकथनम्. तदर्थस्तु— यस्य रजसः सम्बन्धिनी तीर्थतीर्थरूपा गङ्गा उपासिताः सर्वैरिति शेषः. सङ्कर्षणस्य तामसत्वात् कथं सत्त्वरूपत्वमित्याशङ्क्याहुः **भूधरत्वादिति**. शेषत्वेन भूधरत्वमात्रधर्ममादाय सत्त्वरूपत्वमित्यर्थः ॥३७॥

१. अनर्हत्वे हि इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु कपाठमनुरोधात् - सम्पा.

वयं सर्व एव यस्य रजः शिरसि स्थापयामः तस्य **नृपासनं क्व** भवतीति व्यङ्ग्योक्तिः ॥३७॥

एवमभिप्रेतार्थं निरूप्य साक्षात्तदुक्तमर्थं खण्डयति **भुञ्जते कुरुभिर्दत्त-मिति.**

भुञ्जते कुरुभिर्दत्तं भूखण्डं वृष्णयः किल ।
उपानहः किल वयं स्वयं तु कुरवः शिरः ॥३८॥

यद्दत्तं **भूखण्ड**मात्रमेव भवति. तत्रापि स्वरूपतोऽपि हीनत्वम् **उपानहः किल वयमिति.** उत्कर्षस्य निरूपितत्वाद् बाधितार्थत्वं स्पष्टमेव ॥३८॥

तर्ह्येवं सति किं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह **अहो ऐश्वर्यमत्तानामिति.**

अहो ऐश्वर्यमत्तानां मत्तानामिव मानिनाम् ।
असम्बद्धा गिरो रूक्षाः कः सहेतानुशासिता ॥३९॥

तेषां वाक्यं न सोढव्यम्. ततो यत् कर्तव्यं तदग्रे वक्ष्यते. आदरणीयानां वाक्यं कर्तव्यम्; लोकेऽपि मत्तास्त्वनादरणीयाः, तत्राप्यै**श्वर्येण** नित्य**मत्ताः**. बहिर्व्यवहारे माननीयत्वमाशङ्क्य मत्तत्वज्ञानादेव तथात्वमिति ज्ञापयन् दृष्टान्तमाह **मत्तानामिवेति.** इवेत्यग्रेऽपि सम्बध्यते **मानिनामिवेति** च. आत्मानमेव बहु मन्यमाना उन्मत्ता भवन्ति. ते सर्वदैव न माननीया इति दृष्टान्तद्वयम्. किञ्च वाक्यान्यप्यसम्बद्धार्थानीत्याह **असम्बद्धा गिरो रूक्षा** इति. स्नेहेन बाधितार्था अपि प्रयोजका भवन्तीति तदभावमाह **रूक्षा** इति. तत्र सहनमुभयेषां सम्भवति — विवेकिनामसमर्थानां च. वयं तु नोभयविधा इत्याह **अनुशासितेति.** लोके अनुशासनाधिकारिभिर्न सोढव्या इति ॥३९॥

ततो यत् कर्तव्यं तत् प्रतिजानीते **अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामीति.**

अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामीत्यमर्षितः ।
गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ दहन्निव जगत्त्रयम् ॥४०॥

यादवेभ्यः कौरवमात्रस्यैव तैरुत्कर्षो निरूपित इति भगवद्धस्ते मृतानां स्वर्गोऽस्तीति भूमिमेव निष्कौरवीं प्रतिजानीते. आदौ मनसि तस्योद्यममाह **अमर्षित** इति. कायिकमाह **गृहीत्वा हलमुत्तस्थाविति.** तस्योद्यमः सर्वजनीनो जात इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **दहन्निव जगत्त्रयमिति.** सङ्कर्षणो हि

प्रलये तथोत्तिष्ठति यस्य मुखाद् वह्निरुद्गच्छति, त्र्यक्षश्च महादेवः; तद्रूपं प्रकटितवानित्यर्थः ॥४०॥

क्रियामाह **लाङ्गलाग्रेणेति.**

लाङ्गलाग्रेण नगरमुद्विदार्य गजाह्वयम् ।
विचकर्ष च गङ्गायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः ॥४१॥

स्त्रियो बालाश्च युद्धे मारयितुमशक्या इति तस्यां भूमावुत्पन्नाः कौरवा एवेति लोके प्रसिद्धा भविष्यन्तीति **नगरमेवोद्विदार्य** जन्मान्तरेऽपि तथात्वाभावाय **गङ्गायां प्रहरिष्यन् विचकर्षः**. क्रियाद्वयं निष्पन्नं, तृतीयां क्रियां निवारयितुं चकारः. प्रहरणे विलम्बहेतुमाह **अमर्षित** इति, अतिक्रोधावेशान्न कृतवान्, अविचारे वा. प्रहरणसङ्कल्पे हेतुः ॥४१॥

कथमेतावता शिक्षा जातेत्याकाङ्क्षायामाह **जलयानमिति.**

जलयानमिवाघूर्णं गङ्गायां नगरं पतत् ।
आकृष्यमाणमालोक्य कौरवा जातसम्भ्रमाः ॥४२॥
तमेव शरणं जग्मुः सकुटुम्बा जिजीषवः ।
सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य साम्बं प्राञ्जलयः प्रभुम् ॥४३॥

आसमन्ताद् घूर्णा यस्मिन् **तदाघूर्णं नगरम्,** शत्रन्तं क्रिया वा. भिन्नं वाक्यं **गङ्गायां पतदिति;** मरणावश्यकताप्रतिबोधनं मरणं च ज्ञापितवान्. तत्र हेत्वन्तरनिराकरणाय बलक्रियादर्शनं कौरवाणामाह **आकृष्यमाणमिति. कौरवत्वात्** सहजदोषाभावः, **जातसम्भ्रमा** भीताः —अनेन गर्वनिवृत्तिरुक्ता. अतो दोषस्य निवृत्तत्वाद् गुणस्य च विद्यमानत्वात् **तमेव शरणं जग्मुः.** ऐकमत्यमाह **सकुटुम्बा** इति. मोक्षाभावायाह **जिजीषव** इति. निमित्ते विद्यमाने शरणागतिमपि नाङ्गीकुर्यादिति साम्बस्य सभार्यस्यानयनमाह **सलक्ष्मणमिति,** लक्ष्मणासहितम्. **प्राञ्जलयो** विज्ञापनार्थाः. कथमपकर्षोऽङ्गीक्रियत इति चेत्, तत्राह **प्रभुमिति** ॥४२-४३॥

लेखः

अद्येत्यत्र. त्र्यक्षश्च महादेव इति **यस्य मुखादुद्गच्छतीति** पूर्वेणान्वयः. पञ्चमस्कन्धे पञ्चविंशेऽध्याये इदं निरूपितम् ॥४०॥

ते हि पूर्वं वार्तामात्रहारित्वं भगवतो ज्ञातवन्तः, पश्चात् क्रोधे कृते भीताः स्तोत्रमाहुः पञ्चभिः **राम रामेति.**

पूर्वं कृतापराधस्य क्षमापनमिहोच्यते ।
क्रीडार्थत्वं तत्र हेतुर्महत्त्वं चापि सान्त्वने ॥(८)॥
अन्यार्थं च समारम्भः शरणं च वयं गताः ॥

॥ कौरवा ऊचुः ॥

राम रामाखिलाधार प्रभावं न विदामहे ।
मूढानां नः कुबुद्धीनां क्षन्तुमर्हस्यधीश्वरः ॥४४॥

तत्रापराधक्षमायां पञ्चहेतूनाह.(१-५) (१)**रामेति** रमणात्मकस्यादरेण द्विःसम्बोधनम्. अयमपि हेतुः. परं भगवद्धर्मः (२)**अखिलाधारेति.** वयमाधेयाः ; न हि यो यं बिभर्ति स तदपराधं मन्यते. अज्ञानमपि हेतुरित्याह (३)**प्रभावं न विदामह** इति. यद्यपि सहजः प्रभावो ज्ञायते तथाप्यत्राविष्कारं (न)[१] करिष्यसीति न जानीमः, सर्वत्रावतारेषु प्रतिज्ञातार्थमात्र-पूरकत्वात्. नन्वेतादृशोऽप्यर्थः प्रतिज्ञासिद्ध एवेति कथमज्ञानम्? तत्राह (४)**मूढानामिति,** विचाररहितानामिति. ननु सर्वेषां कथं विचाराभावः? तत्राह (५)**कुबुद्धीनामिति.** दुर्बुद्धित्वात् कैश्चिदुक्तमपि न गृहीतमित्यर्थः.

बुद्धिर्न शुद्धा नो शास्त्रं नापि ज्ञानं स्वतः क्वचित् ॥(९)॥
प्रभुः स्वामी भवांश्चापि धारकः क्षन्तुमर्हति ॥ ॥४४॥

किञ्च अस्माभिरेवमपि न प्रार्थयितव्यम् अ(/य!)तस्तवैव लीलास्थानं जगदिति. तदाह **स्थित्युत्पत्तीति.**

लेखः

राम रामेत्यत्र. बुद्धिर्न शुद्धेति कारिकया पूर्वार्धेन क्षमायां कौरवनिष्ठं हेतुत्रयं प्रातिलोम्येन निरूपितम्, रामनिष्ठं हेतुद्वयमानुलोम्येनाहुः **प्रभुरिति भवांश्चेति** ॥४४॥

तदाहेति, इति कौरवोक्तं जगतो लीलास्थानत्वं शुक **आहेत्यर्थः.**

---

१. नेति लोपितम्.

स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां त्वम् एको हेतुर्निराश्रयः ।
लोकान् क्रीडनकानीश क्रीडतस्ते वदन्ति हि ॥४५॥

एकेनैवोत्पत्त्यादिकं क्रियते स्वस्मिन्नेव स्थितेन. तत्र तथा करणे प्रयोजनं लीला, तदाह **लोकान् क्रीडनकानिति. ईश** इति सम्बोधनमन्यथा न कुर्यादिति ज्ञापयति. **क्रीडनका** यन्त्रादयः. अन्यक्रीडार्थपक्षं व्यावर्तयति **क्रीडतस्त** इति. **वदन्तीति** प्रमाणं व्यासादयः. **(हि!)** युक्तश्चायमर्थः ; पूर्णस्यान्यथा प्रवृत्तिरयुक्ता ॥४५॥

किञ्च समानेषु दण्डः क्रियते नतु मशकतुल्येषु, अतोऽतितुच्छत्वादस्मासु क्रोधो न युक्त इत्याशयेनाह **त्वमेव मूर्ध्नीदमिति.**

त्वमेव मूर्ध्नीदमनन्त लीलया भूमण्डलं बिभर्षि सहस्रमूर्धन् ।
अन्ते च यः स्वात्मनि रुद्धविश्वः शेषेऽद्वितीयः परिशिष्यमाणः ॥४६॥

अस्य नगरस्य कियती वार्ता, पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णं **भूमण्डलं,** हे **अनन्त, मूर्ध्नि लीलया बिभर्षि** तादृश**सहस्रमूर्धा** भवान्. भूमण्डलादधिकमात्र-परिमाणमायाति न व्यापकतेत्य**नन्ते**ति. न केवलमन्यप्रेरणया धारणं किन्तु स्वरुच्या, यतः **अन्ते स्वात्मनि रुद्धं विश्वं यतः**. तादृशो भवान् **अद्वितीयः शेषे** शिष्टो भवसि, यतः **परिशिष्यमाणः** स्वयमेव. अतः 'शेष'नामेति भावः ॥४६॥

एवमपि महतः अत्यल्पेषु क्रियाविष्कारोऽनुचित इति निरूप्य कृतस्य कोपस्यान्यथाविनियोगमाह **कोपस्त** इति.

कोपस्तेऽखिलशिक्षार्थं न द्वेषान्न च मत्सरात् ।
गृह्णतो भगवत्सत्त्वं स्थितिपालनतत्परः ॥४७॥

लोके द्वेधा कोपो भवति— द्विष्टे वा महत्युत्कर्षासहनाद् वा. तदुभयं न प्रकृते किन्तु **शिक्षार्थमेव.** सर्व एव भगवतो बालका इति ज्ञापयितु**मखिल**पदम्. तत्र हेतुः **गृह्णतो भगवत्सत्त्वमिति,** गुणान्तैरसंस्पृष्टस-त्त्वम्, अन्यथा बाधितं स्यात्. सत्त्वस्य च महत्प्रयोजनमित्याह **स्थितिपालनतत्पर** इति, जगतो मर्यादापालनं चान्यथा न स्यात् ॥४७॥

नमस्ते सर्वभूतात्मन् सर्वशक्तिधराव्यय ।
विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु त्वां वयं शरणं गताः ॥४८॥

शरणागतिं प्रार्थयितुं नमस्यन्ति **नमस्त** इति, नमनमात्रेणैव प्रसादयोगाय. **सर्वभूतात्मन्निति** आत्मा स्वल्पेनापि तुष्यति. **सर्वशक्तिधरे**त्यस्मदादि-तामसशक्तयोऽपि तवैव. अस्मदीयं सर्वं धर्माधर्मश्च भवानित्युक्तम्, एवं सत्यस्मदीयदोषसम्बन्धः स्यादित्याशङ्क्याह **अव्ययेति**. किञ्च एतत्पुरभङ्गे पुनरप्येतत्कर्तव्यं स्यादित्याशयेनाह **विश्वकर्मन्निति**, विश्वं कर्म यस्येति. अन्यदाप्यतिक्रमाभावाय नमनं प्रार्थयन्ते **नमस्तेऽस्त्विति**. एवं प्रसन्नं विधायाहुः **त्वां वयं शरणं गता** इति ॥४८॥

तैः स्वाभिप्रायो ज्ञात इति प्रसन्नो जात इत्याह **एवमिति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं प्रपन्नैः संविग्नैर्वेपमानायनैर्बलः ।
प्रसादितः प्रसन्नोऽसौ मा भैष्टेत्यभयं ददौ ॥४९॥

प्रपत्तिः प्रतीकारः **संविग्ना** मनसि पूर्वधर्मरहिताः **वेपमानमयनं** स्थानं गृहं शरीरं च येषामिति भये हेतुः शरीरे च गर्वाभाव उक्तः. अतस्त्रेधोत्तमधर्मवद्भिः **प्रसादितः** प्रसन्नो जातः प्रसादकार्यं कृतवानित्याह **मा भैष्टेत्यभयं ददाविति**. वाचा सह कायिकमकृत्वा मानसमभयं ददौ ॥४९॥

भयात् कन्यासमर्पणं वारयितुं पारिबर्हदानमाह **दुर्योधन** इति.

दुर्योधनः पारिबर्हं कुञ्जरान् षष्टिहायनान् ।
ददौ च द्वादशशतान्ययुतानि तुरङ्गमान् ॥५०॥
रथानां षट्सहस्राणि रौक्माणां सूर्यवर्चसाम् ।
दासीनां निष्ककण्ठीनां सहस्रं दु(!)हितृवत्सलः ॥५१॥

षष्टिहायनाः पूर्णसंवत्सराः सहस्रं शतद्वयं च गजा **द्वादशैवायुतानि**

लेखः

एवं प्रपन्नैरित्यत्र. आभासोक्तं वाक्यार्थं स्पष्टार्थमुपसंहरन्ति **प्रसन्नो जात** इति. तथाच सकार्यः प्रसादो वाक्यार्थः ॥४९॥

तुरङ्गमाः. [1]रुक्मसम्बद्धानां **रथानामिति** बलप्रीतिः सूचिताः. **सूर्यवर्चसां** सर्वलोकप्रसिद्धानाम्. मासाः संवत्सरा ऋतवश्च शतादिसङ्ख्यया प्रीणिता इति कालस्त्रेधा सन्तोषितः— साम्बश्च महादेवावतारः, बलश्च, तथा क्रोधश्च; त्रयोऽपि प्रीणिताः. अम्बां प्रीणयति **दासीनामिति** सहस्रेण. **दुहितृवत्सल** इति दाने तस्याभिप्रायः [2]उपदाने कदाचित् ते दुहितरि [3]कोपं कुर्युरिति ॥५०-५१॥

तेषां प्रणिपत्तिमुक्त्वा बलभद्रस्य तदङ्गीकारमाह **प्रतिगृह्येति**.

प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं भगवान् सात्त्वतर्षभः ।
ससुतः सस्नुषः प्रायात् सुहृद्भिरनुमोदितः ॥५२॥

दानाभिनन्दनार्थं **प्रतिग्रहपदम्**— अभयं स्वयं दत्तवान् स्वयं च तद्दत्तं गृहीतवान्. **तत्सर्वमिति** असङ्कोचात् शुद्धभावः तस्य स्थापितः.

लेखः

दुर्योधन इत्यत्र. **कुञ्जरान् द्वादशशतानि तुरङ्गमान् द्वादशायुतानीत्य**न्वय इत्याशयेनाहुः **सहस्रं शतद्वयं च गजा** इति. 'अयुतमि'ति वक्तव्येऽयुतानीति बहुवचनाद् द्वादशसङ्ख्या तत्राप्यन्वेति. **द्वादशेतिपदस्य** सान्निध्यान्न कपिञ्जलन्यायः[4]. **बलप्रीतिरिति**. बलस्य रूप्यवर्णत्वात् रूप्यसंयुक्तरथदानेन प्रीतिरित्यर्थः. **मासा** इति, द्वादशसङ्ख्यया **मासाः प्रीणिताः** हायनेषु षष्टिसङ्ख्यया प्रभवादिसंवत्सराः **प्रीणिताः** षट्सङ्ख्यया **ऋतवः प्रीणिताः**. **बलश्च तथेति**, एवं त्रयोऽपि कालरूपाः. नगरप्रहरणे साम्बो निमित्तं, बलः कर्ता, क्रोधः करणमिति विभागः ॥५०-५१॥

---

१. रूप्येति लेखपाठः.

२. अदाने इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु सं-कपाठानुरोधात् - सम्पा.   ३. रोषमिति पाठः.

४. अश्वमेधे "वसन्ताय कपिञ्जलान् अलभत" इति त्रित्व-चतुष्ट्वादिसङ्ख्यानां बहुत्वसाम्याद् इच्छया या काचिद् बहुत्वसङ्ख्या स्वीकार्या इति चेद्, न, त्रित्वेनैव शास्त्रस्य कृतत्वात्. यो हि चतुष्ट्वादिसङ्ख्याम् उपादत्ते तेन तदन्तर्भूतं त्रित्वं न वर्जयितुं शक्यं; त्रित्वोपादानेन चतुष्ट्वादिकं वर्जयितुं शक्यम्. अतो आवश्यकतया त्रित्वमेव लाघवेन ग्राह्यम् - सम्पा.

तत्र[१] हेतुर्न दानं किन्तु स्वपक्षे **भगवान्** तत्पक्षे **सात्त्वतर्षभ** इति भक्तानां स्वामी. अन्यजीवाः सापराधा एव भवन्तीति तथाविधस्यानङ्गीकारे भक्तिमार्ग उत्सन्नः स्यात्. स्वस्य तद्ग्रहणं वारयति **ससुतः सस्नुष** इति. **सुहृद्भिरनुमोदित** इति पराक्रमेण वैषम्याभाव उक्तः ॥५२॥

बलभद्रचरित्रस्य प्रत्यापत्तिमाह **ततः प्रविष्ट** इति, अन्यथा "नन्दव्रजं गत" इतिवद् भगवतः किञ्चित्कर्तव्यशङ्का स्यात्.

ततः प्रविष्टः स्वपुरीं हलायुधः समेत्य बन्धूननुरक्तचेतसः ।
शशंस सर्वं यदुपुङ्गवानां मध्ये सभायां कुरुषु स्वचेष्टितम् ॥५३॥

स्वपुरीं द्वारकाम् ; निर्विचारप्रवेशार्थमुक्तम्. **हलायुध** इति विचाराभावः. सर्वान् ज्ञापयित्वा समलङ्कृते पुरे प्रवेष्टव्यम्. विवाहे विरोधो वा न कर्तव्यः मैत्री वेति उभयकरणाद् विचाराभावः. **ततः** पुरप्रवेशानन्तरं **बन्धून्**

लेखः

प्रतिगृह्येत्यत्र स्वपक्षे इति. शुद्धभावस्थापने भगवत्त्वं रामनिष्ठो हेतुः, सात्त्वतत्वं तन्निष्ठो हेतुः. तथाच स्वपक्षे हेतुनिरूपणे **भगवानिति** पदमुक्तं, तत्पक्षे हेतुनिरूपणे **सात्त्वतर्षभ** इति पदमुक्तमित्यर्थः ॥५२॥

ततः प्रविष्ट इत्यस्याभासे **बलभद्रचरित्रस्येति**, भगवता बलभद्रे आविश्य कृतस्य निरोधरूपचरित्रस्य **प्रत्यापत्तिं** स्वस्थाने भगवति समागमन**माह**. अध्यायचतुष्टये बलदेवे आविश्य निरोधं कृतवान्, अतः परं स्वयमेव करिष्यतीत्यर्थः. अत्र **विचाराभावादिकथनेन** बलेऽनावेशः सूचित इति वाक्यतात्पर्यार्थः प्रत्यापत्तिरेवेति भावः. व्याख्याने पाठक्रममपेक्ष्याहुः **पुरप्रवेशानन्तरमिति. स्वपौरुषं चेति**, पूर्वविचाराभाव उक्तः अनेनापि विचाराभाव उच्यते इति **चकारः**. महतः स्वपौरुषं स्वयं न वक्तव्यमिति भावः. अतोऽपि विचाराभाव इति शेषः. **तन्निमित्तं चेति. कुरुष्विति** निमित्तसप्तमी, तथाच कुरुनिमित्तं चेष्टितं नगराकर्षणम्. मूले **सर्वपदाच्चकारेण** गमनावधि **सर्वमुक्तवानिति** पूर्वेणान्वयः ॥५३॥ इत्येकोनविंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

१. तस्य इति क-ख-संपाठः - सम्पा.

समेत्य. असम्मत्यभावायानुरक्तचेतस इति. स्वपौरुषं च स्वयमेवोक्तवान्, तन्निमित्तं च **स्वचेष्टितं** नगराकर्षणम् ॥५३॥

तस्य चरित्रस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वमाह **अद्यापीति.**

अद्यापि च पुरं ह्येतत् सूचयद् रामविक्रमम् ।
समुन्नतं दक्षिणतो गङ्गायामनुदृश्यते ॥५४॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥

एतद् हस्तिनपुरं **गङ्गायां** गङ्गासमीपे गङ्गामध्य इव वा. तस्य सहजरूपं तन्न भवतीत्याह **सूचयद् रामविक्रममिति.** अतो **दक्षिणतः समुन्नतं** कूलस्थानम्. कूलप्रदेश एवोन्नतो भवति नत्वपरः ; इदं तु विपरीतमिति रामपराक्रमस्य सूचकं भवति. इदानीं तु तन्नगरं पतितं गङ्गायां पतितमिति ज्ञातव्यम्. "गजाह्वये हृते नद्या" द्वादशे[1] वक्ष्यति. अतो न दर्शनविरोधः शङ्कनीयः. [2]भागवतकथनसमये तु दृश्यत एव ॥५४॥

॥ इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे एकोनविंशोऽध्यायः ॥

॥ इति पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥

---

१. भाग.पुरा. ९।२२।४०. २. अतः कथनसमय इति पाठः.

।। षष्ठः स्कन्धादितः षट्षष्टितमोऽध्यायः ।।

सात्त्विकानां निरोधे तु मुख्यो नारद ईरितः ।
अतस्तस्यापि वक्तव्यं पूर्वबुद्धेर्निवारणम् ॥(१)॥
भक्तिमार्गानुरोधस्य पृथक्त्वं स्याद् यतः स्फुटम् ।
विंशे नारददृष्टानां कृष्णानां चरितं महत् ॥(२)॥
अलौकिकत्वसिद्ध्यर्थं निरोधो[१] विनिरूप्यते ।
प्रकीर्णके प्रकरणे न सङ्गतिरिहोच्यते ॥(३)॥
तथापि साम्बकथने समायातस्तथाकरोत् ।
भ्रान्त्यभावाय भगवान् बोधयामास तादृशम् ॥(४)॥
निरोधस्तेन संसिद्धः सात्त्विकानामतः परम् ॥

पूर्वाध्याये साम्बवृत्तज्ञापनार्थं समागतो नारदः– शास्त्रदृष्ट्या[२] निर्दोषपूर्णगुणविग्रहो[३] भगवानिति लोके च पुत्रं हत्वा तदवरोधाद् बह्व्यः स्त्रियः समानीता इति [४]शास्त्रलोकविरोधमाशङ्क्य, तं विरोधं स्वदृष्ट्या साधयन् पश्चादन्यतरनिर्धारं करिष्यन् –स्वयं द्रष्टुं प्रवृत्त इत्याह **नरकं निहतं श्रुत्वेति**.

लेखः

विंशेऽध्याये कारिकासु **पूर्वबुद्धेर्निवारणमिति** प्रपञ्चविस्मरणमित्यर्थः. **सात्त्विकानां निरोधे** वक्तव्ये तन्मुख्यत्वात् नारदस्येदं **वक्तव्यमित्यन्वयः**. आसक्त्यंशस्तु पूर्वमेवास्तीति भावः. **पृथक्त्वमिति**. स्नेहो भक्तिः, तस्य प्रपञ्चविस्मृतिसाहित्ये निरोध इति **पृथक्त्वं** नारदस्य प्रपञ्चविस्मृतिकथनात् **स्फुटं स्यात्**. नारदस्य पूर्वं भक्तिमात्रं स्थितं; प्रपञ्चविस्मरणे सति निरोधो जात इति ज्ञाने ज्ञातं स्यादित्यर्थः. **यतः** प्रपञ्चविस्मृतिकथनादित्यर्थः (१-२).

---

१. निरोधे इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु कपाठानुरोधेन -सम्पा. २. शास्त्ररीत्येति पाठः. ३. निर्दोषपूर्णविग्रह इति पाठः. ४. लोके शास्त्रविरोधमिति पाठः.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

नरकं निहतं श्रुत्वा तथोद्वाहं च योषिताम् ।
कृष्णेनैकेन बह्वीनां तद्दिदृक्षुः स्म नारदः ॥१॥

केचित्तु इतःप्रभृति सात्त्विकप्रकरणमाहुः, त्रयस्त्रिंशदध्यायैः पूर्व इति च, तत्र नारदः सात्त्विकेषु मुख्य इति स निरूप्य इति. तत्रैवैकादश-एकादशभिः[1] तेषामवान्तरप्रकरणव्यवस्था, सात्त्विकास्तु द्विविधा एव सकाम-निष्कामभेदेनेति. तेषां मते दशेन्द्रियाणि अन्तःकरणं च निरुध्यत इति निरोधसिद्धिः. एतन्मतमवष्टभ्यास्माभिर्निबन्धे निरूपितं लक्ष्मणाहरणावधि इत्येतावता स्त्रियः समाप्ताः. तासु भोगो भगवत्कृतः शास्त्रविरोधान्न मन्तव्य इति प्रामाण्यार्थं नारददृष्टिरनुवर्ण्यते. नारदो हि भगवदीयशास्त्रेषु अक्लिष्टचरित्राण्येव श्रुतवानिति नरकवधादिकं न पूर्वं श्रुतवान्. यद्यपि नरकवधमात्रं पूर्वसिद्धं तथापि तदवरोधाद् विवाहः साम्प्रतमेव श्रुत इति स विचारणीयः. इदं चरित्रं न पूर्वं ऋषिभिर्विचारितम्. अतः परं सहस्रेष्वपि चरित्रेषु मीमांसितमेव चरित्रं विचार्यते. अत एव जाता लौकिकदृष्टिर्भगवतैवाग्रे निवारणीया. यदैव नरको हतः तदैव तेनैव प्रक्रमेण **योषितामुद्वाहश्च** श्रुतः एकस्मिन् क्षणे नानागारेषु विद्यमानानां एकेन कृष्णेन. तत्र यद्यपि रूपभेदः स्पष्ट एव, "उरुरूप" (. । ।) इतिवाक्यात्. तथा सति अवतारान्तरन्यायेन

लेखः

नरकं निहतमित्यत्र यद्यपि नरकवधमात्रमिति. "तस्यानु शङ्ख-यवन-मुराणां नरकस्य चे" (. । ।)ति स्वयमेव निरूपणात् तावन्मात्रं योगदृष्ट्या जानाति, श्रुतं त्वधुनैव. योषितामुद्वाहं तु योगेनापि पूर्वं न ज्ञातवान्, स्वच्छन्दचरित्रस्य योगाद्यगम्यत्वात्. अत एव विवाहं तत्र नोक्तवान्. श्रवणस्य दिदृक्षाहेतुत्वोक्त्या पूर्वं न श्रुतवानिति ज्ञायते इति भावः. **पूर्वसिद्धं** पूर्वज्ञातमित्यर्थः. **श्रुत** इति, विवाहस्तु **साम्प्रतमेव** निर्धारविषयीकृतः, पूर्वं योगेनापि ज्ञातो नेत्येवकारः ॥१॥

---

१. तत्रैवैकादशैवैक्कादशभिः इति मुद्रितपाठः. तत्रैवैक्कादशभिरित्यपि पाठः. तत्र एकैक्कादश-एकैक्कादशभिः इति खपाठः. पादटिप्पण्यस्थो पाठः गृहीतः - सम्पा.

भिन्नावतारत्वं स्यात्. ततः कृष्णेनैव विवाहिता न भवेयुः. न हि सर्वास्ता देवकीपुत्रवध्वो भवन्ति. तस्यैवानन्तरूपत्वं[१] तु पूर्वावतारेषु न सिद्धमिति विमर्शः[२] कर्तुमुचितः. वाक्योक्तं तु युक्त्या बाधितुं शक्यते, नतु दृष्टम्, "न हि दृष्टे अनुपपन्नं नामे"ति. **बह्वीनामेकेन कृष्णेन** [३]उद्वाहो विचित्रमिति **तद्दिदृक्षुर्नारदो** जात इत्यर्थः ॥१॥

ननु भगवच्चरित्रे किमिदमाश्चर्यं यतो नारदस्यापि दिदृक्षेत्याशङ्क्य वैचित्र्यमुपपादयति **चित्रमिति.**

चित्रं बत तदैकेन वपुषा युगपत् पृथक् ।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ॥२॥
इत्युत्सुको द्वारवतीं देवर्षिर्द्रष्टुमागमत् ।

बत इति हर्षे, तदा सर्वत्रैव स्थिता भक्ता भगवता अनुग्राह्या इति न क्वापि गमनक्लेश इति. **एकेन वपुषेति.** वपुषो ब्रह्मवदचिन्त्यैश्वर्यं न शास्त्रसिद्धम्. वपुर्भेदे तु कृष्णपत्नीत्वं तासु न स्यात्. अतो वपुषो ब्रह्मधर्मत्वं वा अवपुष्ट्वं वा कल्पनीयं स्यात्. तत्रावपुष्ट्वे लौकिकधर्मसम्बन्धो न युक्तः. ब्रह्मधर्मत्वे तु वैलक्षण्यमावश्यकम्. ब्रह्मणोऽप्येकत्र यो धर्मः स नान्यत्रेति, लोके तथा दर्शनात्. नारदश्च सूक्ष्मदर्शी. तत उभयमपि अनुपपन्नमिति **चित्रम्. युगपदेकस्मिन्** काले **एकेन वपुषा** करणेन **पृथक् पृथग् गृहेषु** स्थिताः **द्व्यष्टसहस्रसङ्ख्याव्याप्ताः**. कलानामिवानन्त्यपक्षेऽपि[४] ध्रुवाया नानन्त्यमिति षोडशसहस्रे भवत्येव वैचित्र्यम्. **स्त्रिय** इति तासां योगजधर्मो निवारितः येनैकत्र जातो दृश्येत. आकाशवत् परिच्छेदभेदेन

लेखः

चित्रमित्यत्र अवपुष्ट्वं वेति ब्रह्मत्वमित्यर्थः. लौकिकधर्मसम्बन्धनिराकरणेनायमग्रे सिद्धान्तः कर्तव्यः. **न युक्त** इति, अतोऽग्रे सिद्धान्ते निराकर्तव्य इति शेषः ॥२॥

---

१. अनन्तररूपत्वमिति पाठः. २. वैमर्शः इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् -सम्पा. ३. विवाह इति पाठः. ४. पक्षेति पाठः.

मायावदयथात्वेन वा विवाहपक्षं व्यावर्तयति **एक** इति. उद्वाहश्च यावदवतारं परिपालनीय इति न प्रदर्शनमात्रपरत्वम्[१]. अतो हेतोरुत्सुको जात इत्याह **इत्युत्सुको द्वारवतीमिति.** स हि देवगुह्यमपि जानाति अतो **देवर्षिः** देवानामपि मन्त्रद्रष्टा अयं हि गुप्तार्थोपदेष्टा अतो **द्रष्टुमागमत्** ॥२ १/२॥

नारदस्य द्वारकायां लौकिकबुद्धिसिद्ध्यर्थं तां वर्णयति **पुष्पितोपवनामिति** सार्धैस्त्रिभिः.

पुष्पितोपवनाराम-द्विजालिकुलनादिताम् ॥३॥

पुष्पितान्युपवनानि तेषु ये **आरामाः** क्रीडास्थानानि तेषु **द्विजानामलीनां** च यानि **कुलानि** अवान्तरजातिभेदाः **तैर्नादितां** तच्छब्दप्रचुरामिति सहजो मधुरः[२] शब्दस्तत्रत्यो निरूपितः ॥३॥

द्वारका वन-जल-स्थलरूपा त्रिविधा भवति. तत्र वनरूपा निरूपिता ; जलरूपां निरूपयति **उत्फुल्लेति.**

उत्फुल्लेन्दीवराम्भोज - कल्हारकुमुदोत्पलैः ।
छुरितेषु सरस्सूच्चैः कूजितां हंससारसैः ॥४॥

उत्फुल्लानीन्दीवरादीनि यानि पञ्चविधानि पुष्पाणि **तैश्छुरितेषु** व्याप्तेषु **सरस्सु हंसैः सारसैः** तत्र कूजद्भिर्जुष्टामित्यग्रेण सम्बन्धः ॥४॥

भूमिरूपां वर्णयति **प्रासादलक्षैरिति.**

प्रासादलक्षैर्नवभिर्जुष्टां स्फाटिकाराजतैः ।
महामरकतप्रख्यैः स्वर्णरत्नपरिच्छदैः ॥५॥

नवलक्षप्रासादाः महतां गृहाः स्फटिकमयाः रजतमयाश्च भित्ति-स्तम्भभेदेन. राजताः स्तम्भाः **महामरकतनिर्मिता** भूः तया **प्रख्याः** प्रसिद्धाः **प्रासादाः. स्वर्णरत्नमयानि परिच्छदानि येषु.** यथा गृहे दारुमयानि तथा स्वर्णमयानि, यथा शिलामयानि तथा रत्नानि. गृहोपकरणान्यपि 'परिच्छदानी'त्युच्यन्ते तथाप्यनवसरत्वात् न तानि ग्राह्याणि ॥५॥

एवं पुरीं बहिर्वर्णयित्वा अन्तस्तां वर्णयति **विभक्तेति.**

---

१. प्रदर्शनमानपरत्वम्. २. मधुः.

विभक्तरथ्या-पथ-चत्वरापणैः शाला-सभाभी रुचिरां सुरालयैः ।
संसिक्तमार्गाङ्गण-वीथि-देहलीं पतत्पताकाध्वजवारितातपाम् ॥६॥

विभक्ताः पृथक् पृथक् कृता रथ्यादयः, नतु सङ्कीर्णाः **रथ्या** राजमार्गाः **पन्थानः चत्वरमङ्गणम् आपणः** पण्यवीथिका. गतिस्थानान्येतानि, स्थितिस्थानान्याह— **शाला** अन्नादिभोजनस्थानानि **सभा** उपवेशनस्थानानि **ताभिः रुचिराम्**. ऐहिकार्थं द्वयमेव, पारलौकिकार्थमाह **सुरालयैश्च** रुचिरामिति. नैमित्तिकातिशयमाह **संसिक्तेति, सम्यक् सिक्ताः मार्गादिदेहल्यन्ता यस्याम्**. उपरिशोभामाह [१]**पतत्पताकाध्वजैः वारितः आतपो यस्यामिति** ॥६॥

सामान्यतो नगरीं वर्णयित्वा विशेषतो भगवद्गृहं वर्णयति नारददृष्टम्, एवंप्रकारेण नारदो दृष्टवानिति. तदा लौकिकोत्कर्षः सम्पद्यते. तच्च तस्यानभिप्रेतमिति, सिद्धे हि लौकिकत्वे तत्र बुद्धिस्थैर्ये लौकिकस्य निरोधः सम्पद्यत इति.

तस्यामन्तःपुरं श्रीमदर्चितं सर्वधिष्ण्यपैः ।
हरेः स्वकौशलं यत्र त्वष्ट्रा कार्त्स्न्येन दर्शितम् ॥७॥

तस्यां द्वारकायां **हरेरन्तःपुरं श्रीमत्** स्वतः शोभायुक्तम्. अनेन वैकुण्ठातिरेकः[२] तत्र निरूपितः लक्ष्मीस्थितिर्वा, अन्यत्रावतारेषु अवतीर्णैव लक्ष्मीस्तिष्ठति न मूलरूपेणेति. उपपत्त्या अन्तःपुरं वर्णयति **सर्वधिष्ण्यपैरर्चितं,**

लेखः

तस्यामित्यत्र तच्च तस्येति. लौकिकोत्कर्षसम्पादनं नारदस्यानभिप्रेतं, सन्देहजनकत्वादित्यर्थः. एतत्सम्पादने भगवदाशयमाहुः **सिद्धे हीति**. लौकिकस्य पूर्वं लौकिकत्वेनैव बुद्धिस्थैर्ये जाते तदनन्तरं लौकिकत्वांशो निवारणीयः, पदार्थास्तु त एवेति भावः. **वैकुण्ठावेश** इति, तस्य रमाक्रीडत्वादिति भावः. **श्रीमदित्यनेन** आधारत्वमात्रमुक्तं नतु क्रीडेत्याशयेन पक्षान्तरमाहुः **लक्ष्मीस्थितिर्वेति. साधनभावादिति**. साधनत्वेन इन्द्रादिपूजासाधनानि रत्नान्यत्र भूमिनिर्माणे साधनानि इति प्रकारेण निरूपिता इत्यर्थः ॥७॥

---

१. उद्यत्पताका-. २. वैकुण्ठावेश इति लेखपाठः.

स्वकौशलं त्वष्ट्रा कार्त्स्न्येन प्रदर्शितमिति प्रकारद्वयेन. रत्न-स्वर्णादयस्तु पुरे एव निरूपिता: न भगवदन्त:पुरे विशेषं सम्पादयन्ति, वक्तव्यश्च विशेष:, अतो भूमिष्ठा: पदार्था: साधनभावान्निरूपिता:— इन्द्रादयो हि **धिष्ण्यपा:** लोकपाला: ; तेषामपि परम्परोपार्जितान्यतिदुर्लभानि रत्नादीनि पूजासाधनानि भवन्ति, **तैरर्चितमिति**. तन्निर्माणार्थं तैस्तानि दत्तानीत्येके. यत: अग्रे **त्वष्ट्रा** विश्वकर्मणा शिल्पाचार्येण **हरेरर्थे स्वकौशलं प्रदर्शितम्** अतिनैपुण्येन निर्मितम्. रत्नानि इन्द्रादिभिर्दत्तानि, विश्वकर्मणा तु सम्यग्योजितानीत्यर्थ: ॥७॥

एवं सामान्यतोऽन्त:पुरं वर्णयित्वा तत्रस्थान् गृहान् प्रत्येकं वर्णयितुं विभागमुक्त्वैकं गृहं वर्णयति **तत्र षोडशभिरिति**.

तत्र षोडशभि: सद्मसहस्रै: समलङ्कृतम् ।
विवेशैकतमं शौरे: पत्नीनां भवनं महत् ॥८॥

ते गृहा: स्वत: प्रधानभूता अपि परस्परमेकस्यापि सर्वे[१] शोभाजनका भवन्ति. समप्राधान्ये तु विशिष्टो रसो नोत्पद्यत इति यदेव गृहं निकटे स्थितं तत्रैव नारदस्य विशिष्टबुद्धिरुत्पन्नेति तत्र प्रविष्ट:. एकमपि गृहं **षोडशभि: सद्मसहस्रै: समलङ्कृतम्**. ते च गृहा: **पत्नीनामेव**. तन्निकटे गतस्य तदेव गृहं महत्त्वेन भासत इति **महदित्युक्तं**, नतु गृहेषु न्यूनाधिकभावोऽस्ति. तथा सति भगवतस्तत्र वैषम्यं स्यात्, सर्वत्र विवाह-रमण-पुत्र-सम्पदां तुल्यत्वात् ॥८॥

अतस्तं वर्णयति स्थालीपुलाकन्यायेन **विष्टब्धमिति** ; पुरुषार्थचतुष्टयसम्पन्नमिति ज्ञापयितुं चतुर्भि:.

लेख:

विष्टब्धमित्यस्याभासे स्थालीपुलाकन्यायेनेति. यथा स्थालीस्थमेकमपि पुलाकमुपमर्द्य तस्मिन् पक्वे सर्वेऽपि पुलाका: पक्वा ज्ञायन्ते तथैकस्मिन्गृहे वर्णिते सर्वेऽपि गृहास्तादृशा एव ज्ञाता भवन्तीत्यर्थ:. अयं न्याय: सप्तमाध्याये चतुर्थचरणे उक्त: ॥९॥

---

१. सर्वेषु भावजनका इति पाठ: सूचित:, सर्वेषु भाजनका इति पाठ:.

विष्टब्धं विद्रुमैः स्तम्भैर्वैडूर्यफलकोत्तमैः ।
इन्द्रनीलमयैः कुड्यैर्जगत्या चाहतत्विषा ॥९॥

प्रवाल**स्तम्भैर्विष्टब्धं** धृतं **वैडूर्यनिर्मितफलकै**स्तदाच्छन्नम्. अनेन स्तम्भा उपरिप्रसारितदारुरूपाश्च द्विविधा ज्ञातव्याः. उपरिफलकानामेव वैडूर्यमयत्वम्. स्थूलफलकाः स्तम्भेष्वेव विशालाः स्थापिताः. तत्रापि कट्यान्तर्गतस्तम्भानां तथात्वं वक्तव्यमिति धरणीस्तम्भाश्चात्र विद्रुममया ज्ञातव्याः. **इन्द्रनीलमयैर्मणिभिः** कुड्यानि. **जगती** भूमिः कुट्टिमा तत्रत्या. **अलङ्कृतमिति** सम्बध्यते— न सूर्यादिभि**रहता त्विड्**यस्याः तादृश्या **जगत्यालङ्कृतमिति** ॥९॥

वितानैर्निर्मितैस्त्वष्ट्रा मुक्तादामविलम्बिभिः ।
दान्तैरासनपर्यङ्कैः मण्युत्तमपरिष्कृतैः ॥१०॥

वितानैश्चन्द्रातपै**स्त्वष्ट्रा** निर्मितैरि[1]त्यद्भुतत्वम्. **मुक्तादामानि विलम्बन्ते येष्विति**. दन्त**निर्मितैरासनैः पर्यङ्कै**श्चालङ्कृतम्. **मण्युत्तमै**र्मणिश्रेष्ठैरलङ्कृता आसनपर्यङ्काः ॥१०॥

स्त्रियः पुरुषाश्च दासी-दासरूपाः शोभायामवश्यं वक्तव्या इति तान् निर्दिशति **दासीभिरिति**.

दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः सुवासोभिरलङ्कृतम् ।
पुम्भिः सकञ्चुकोष्णीष-सुवस्त्रमणिकुण्डलैः ॥११॥

नित्याभरणेषु सत्स्वेव पदकाभरणमिति **निष्ककण्ठीभिरित्यनेन** कटककुण्डलाद्याभरणानि सूचितानि. **सुवासोभिरिति** सर्वतः शोभार्थमुक्तम्; यादृशैरेव वस्त्रैः शोभा सम्पद्यते, अन्यथा शोभाकथनं व्यर्थं स्यात्. **पुम्भिरप्यलङ्कृतम्**. पाश्चात्यो वेष इति उत्तमानि **कञ्चुकानि उष्णीषाणि** मध्ये बन्धकानि **मणियुक्तानि कुण्डलानि च येषामिति** सर्वतोऽलङ्कारो भगवद्गृहदासानामुक्तः ॥११॥

सार्वकालीनशोभामुक्त्वा रात्रौ विशेषतः शोभामाह **रत्नप्रदीपनिकरेति**.

---

१. निर्मितम्.

रत्नप्रदीपनिकरद्युतिभिर्निरस्त-
ध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग ।
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षै-
र्निर्यान्तमीक्ष्य घनबुद्धय उन्नदन्तः ॥१२॥

रत्नसमूहकान्तिभिर्निरस्तं ध्वान्तमन्धकारो यत्र. रात्रौ गार्हस्थ्ये कामरसो वर्ण्यत इति उद्दीपनविभावान् वर्णयति. **विचित्रवलभीषु** मणिमया निर्मितवक्रदारुषु मयूराः स्थिताः सन्तो **नृत्यन्ति. अङ्गेति** सम्बोधनं स्नेहसूचकम्. तेनास्याः कथायाः भगवद्भोगविषयत्वात् योगिचिन्त्यत्वमेव, नतु बाह्यतया साधारणत्वमिति सूचितम्. नृत्ये अलौकिकं हेतुं वर्णयति **यत्र विहितागुरुधूपं** गृहसंस्कारार्थं कृतं गवाक्षमार्गेण **निर्यान्तं** निरीक्ष्य घनोऽयमिति तेषां बुद्धिरुत्पन्नेति **घनबुद्धयः**. अत एव **ऊर्ध्वं नदन्तो** जाताः. मेघागमे हि तेषां नृत्यं भवति, नृत्यदर्शने च रस आविर्भूतो भवतीति, गीतवाद्यरहितं नृत्यं न शोभां करोतीति, उन्नादो हि द्विःस्वभावो निरूपितः ॥१२॥

यदर्थमेतन्निरूपितं तन्निरूपयति **तस्मिन्निति.**

तस्मिन् समानगुण-रूप-वयस्सुवेष-
दासीसहस्रयुतयानुसवं गृहिण्या ।
विप्रो ददर्श चमरव्यजनेन रुक्म-
दण्डेन सात्त्वतपतिं परिवीजयन्त्या ॥१३॥

समाना गुणा औदार्यादयः, रत्युपयोगिनो वा मृदुत्वादयः, **रूपं** सौन्दर्यं **वयस्तारुण्यं सुवेषो** वस्त्रादिभिः. रसो हि निर्बद्धः शङ्कां करोतीति

लेखः

रत्नप्रदीपेत्यत्र उन्नादो हि द्विःस्वभाव इति, गीतस्वभावस्ततः सुषिरवाद्याभिव्यक्त-स्वरस्वभावश्चेत्यर्थः. नादस्याक्षराद्यभावेन स्वरमात्ररूपत्वाद् द्विःस्वभावत्वं युक्तमिति हिशब्दः ॥१२॥

तस्मिन्नित्यत्र रसो हीति. कामरसो हि रहसि भोग्यत्वात् निर्बन्धयुक्तो भवति अतः प्रतिबन्धकागमनशङ्कां करोति. शङ्कायां तु न रसः अतः प्रतिबन्धकनिवृत्त्यर्थं दास्योऽपेक्ष्यन्ते इत्यर्थः. **स्वल्पश्चेति.** स्वल्प एव नायिकारूपो विभावो रसपोषको न भवति; तथाचापुष्ट एव रसोऽनुभूयेत,

स्वल्पश्च न पोषको भवतीति महारसानुभवार्थं **दास्यो** निरूप्यन्ते. [1]नायिकानां मेलने भिन्नस्वभावत्वात् रसो नोत्पद्यत इति तासां च कामना नैवंविधेति केवलभोगस्त्रीत्वं वारयितुमाह **गृहिण्येति. अनुसवं** सर्वकालं **दासीसहस्रयुतया** भार्यया **चमरव्यजनेन सात्त्वतपतिं** वस्तुतः स्वपतिं **परिवीजयन्त्या सह सात्त्वतपतिं ददर्शेति** सम्बन्धः. चमरकृतं व्यजनं उद्दीपनकरं, तथा सुवर्णदण्डयुक्तं च. अयं भगवति अद्भुतः प्रकारो निरूपितः ; नैवंविधः समानानां प्रकारो लोके सामान्यानां सम्भवति. अनेन रात्रावयं भोगकाले गत इति सूचितम् ॥१३॥

तत्र भगवता आतिथ्यप्रकारमाह **तं सन्निरीक्ष्येति** त्रिभिः कायिक-मानसिक-वाचनिकैः.

तं सन्निरीक्ष्य भगवान् सहसोत्थितः श्री-
पर्यङ्कतः सकलधर्मभृतां वरिष्ठः ।
आनम्य पादयुगलं शिरसा किरीट-
जुष्टेन साञ्जलिरवीविशदासने स्वे ॥१४॥

कायिकपूजा सर्वेणापि स्वयोग्या कर्तव्या अतो भगवानपि तं दृष्ट्वा

लेखः

नतु महारसः. अनेकविभावसत्त्वे तु तैरनेकैरनेककटाक्षादिभिः पोषितो महानेवोद्दीप्तो भवति ततो मुख्यायामनुभूयेतेत्यर्थः. तर्हि नायिका एव सर्वा मेलनीया इत्याशङ्क्याहुः **नायिकानामिति. केवलभोगेति**, धर्मोपयोगित्वं ज्येष्ठाया एव मुख्यम् अन्यासां गौणम्, अतः **केवलपदम्**. वीजनक्रियायां दर्शनक्रियायां च **सात्त्वतपतिमित्येव** कर्मेति वारद्वयमुक्तम्. व्याख्याने तत्तात्पर्यमाहुः **वस्तुतः स्वपतिमिति**. स्वस्यापि भगवदीयत्वेन सात्त्वतत्वादिति भावः. **अयमिति** गृहिण्या परिवीजनरूपः प्रकार इत्यर्थः. **नैवंविध** इति, लोके सामान्यानां जनानां मध्ये कुलशीलादिना समानानां पत्नीनां परिवीजनरूपः प्रकारो न सम्भवति, तस्य दासधर्मत्वादिति भावः. **अनेनेति** गृहिणीसाहित्यकथनेनेत्यर्थः ॥१३॥

---

१. नायकानामिति पाठः.

स्वपदे निवेशितवानिति निरूप्यते. नह्येतस्मादधिका पूजा सम्भवति. अन्या या लौकिकी सा सर्वसाधारणी अन्यदोषत्वेन[१] निरूप्यते. एवंकरणे हेतुमाह **भगवानिति**. अन्यथा अन्यस्माद् भगवति को विशेषः स्यात् यदि स्वपदे नोपवेशयेत्? **सहसोत्थित** इति तं प्रति लौकिकभावस्थैर्यं सूचितम्, अन्यथा स्वधर्माविर्भावे सेवकं प्रति भगवदुत्थानं नोचितं स्यात्. "ये यथा मां प्रपद्यन्त" (भ.गीता ४।११) इति भगवत्प्रतिज्ञा; स च लौकिकबुद्ध्या भगवन्तं दृष्टवानिति भगवानपि तथैव चकार. **श्रीपर्यङ्कत** इति अनौचित्यं निरूपितम्. केवललौकिकप्रकारेणापि तथात्वं भवतीति वैदिकप्रकारमाह **सकलधर्मभृतां वरिष्ठ** इति. **धर्मभृतो** निरन्तरधर्मकर्तारः; ते जीवा एव भवन्ति. तेषां मध्ये श्रेष्ठ इति सजातीयोत्कर्षाद् बहिर्दृष्टिरेव तस्य स्थिरीक्रियते. अत एव **भगवान् पादयुगलमानम्य** तत्रापि **शिरसा** धर्मनिष्ठां सूचयितुम्. **किरीटजुष्टेने**ति लोकनिष्ठा. न केवलं स्वयं तद्धर्मावलम्बनं कृतवान् किन्तु तं चापि स्वधर्मैर्योजितवानित्याह **साञ्जलिः स्वे आसने अवीविशदि**ति. स्वासने तं निवेशयामासेत्यर्थः. अन्तर्भावित-णिच्प्रयोगः. भगवानेव तत्र वस्तुतः स्वधर्मं स्थापितवानिति स्वयमेव तत्रोपविष्ट इति धर्मव्यत्यासं स्थापयितुम् **अवीविशदि**त्युक्तवान्. आसनं च **श्रीपर्यङ्क**मित्येव लक्ष्यते, तत एवोत्थित इति. **स्व**पदेनापि तदेवेति गम्यते. **आसन**पदेन स्वसिंहासनमिति. तथापि अग्रे पृथुकोपाख्याने "निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्क" (भाग.पुरा. १०।७८।१७) इतिवाक्यात् पर्यङ्कमेव आसनस्थानीयम् ॥१४॥

लेखः

तं सन्निरीक्ष्येत्यत्र. **अवीविशदि**ति यङ्लुगन्ताल्लङा णिजर्थस्त्वन्तर्भावित इत्याहुः **अन्तर्भावितणिच्प्रयोग** इति. **धर्मव्यत्यास**मिति. नारदस्थाने स्वयमुपविष्टः स्वस्थाने नारद इति वेशनधर्मव्यत्यासः. इदमेव पौनःपुन्यमिति भावः ॥१४॥

---

१. अन्यशेषत्वेन.

तस्यावनिज्य चरणौ तदपः स्वमूर्ध्ना

बिभ्रद् जगद्गुरुतरोऽपि सतां पतिर्हि ।

ब्रह्मण्यदेव इति यद् गुणनाम युक्तं

तस्यैव यच्चरणशौचमशेषतीर्थम् ॥१५॥

ततस्तस्य **चरणाववनिज्येति** कायिकोऽपि व्यापारः मानसशेषत्वेन निरूप्यते. स्वतः प्रक्षालनं भक्त्यैव सम्भवति. **तदपः** पादावनेजनीरापः स्वस्मिन् नारदधर्मावेशाद् भक्तानां भगवच्चरणारविन्दोदकं धार्यमेवेति **स्वमूर्ध्ना अबिभ्रत्**. नन्वेवमपि लोको भगवन्माहात्म्याभिज्ञः कथं मन्येत? तत्राह **जगद्गुरुतरोऽपीति**. यद्यपि जगतामत्यन्तं गुरुः शास्त्रप्रणेता उपदेष्टा प्रेरकः उपदेशश्च तथापि **सतां पतिर्भवति**. "यद्यदाचरति श्रेयानि" (भाग.पुरा. ६।२।४) ति वाक्याद् भगवत्कृतमेव भगवदीयः करोतीति सतां पालनार्थं तथा कृतवान्, अन्यथा गजेन्द्रवद् वैष्णवानामुपद्रवोऽपि सम्भवेत्. तस्माद् भगवता युक्तमेव भक्तरक्षार्थं कृतमिति हिशब्दार्थः. नन्वेवं सति भक्तिमार्गे विरोधः स्यात्, तत्राह **ब्रह्मण्यदेव** इति. ब्राह्मणानां हितस्तेषां कार्यसाधको देवः, ब्रह्मण्यश्चासौ देवश्चेति तेषामेव पूज्यः. इदं भगवतो **गुणनाम** तदैव **युक्तं** भवति यदि तन्मनोरथं साधयेत्. ब्राह्मणाश्च पूजां वाञ्छन्ति, नत्वन्नसत्रम्. तद् भगवत्येव तद्धर्मप्रवर्तके अन्यः प्रवर्तेत, न तु यस्मिन् कस्मिंश्चित्. ननु एतावतापि कथं लोकः प्रवर्तेत? तत्राह **तस्यैव यच्चरणशौचमिति**. अशेषाणि तीर्थानि यस्मिन् गङ्गाजले, "तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी चे" (. । ।) तिवाक्यात्. अनेन स्वापकर्षाभावोऽपि निरूपितः ॥१५॥

स्तोत्रमाह **सम्पूज्येति**.

सम्पूज्य देवऋषिवर्यमृषिः पुराणो

नारायणो नरसखो विधिनोदितेन ।

लेखः

तस्यावनिज्येत्यत्र गुरुतर इति तरप्प्रत्ययार्थमाहुः **शास्त्रेति** पदचतुष्टयेन. नामात्मकमपि भगवत्स्वरूपमेवेत्याशयेनाह उपदेशरूपोऽपि स्वयमेवेत्युक्तम् ॥१५॥

वाण्याभिभाष्य मितयामृतमिष्टया तं
प्राह प्रभो भगवते करवाम ते किम्? ॥१६॥

पूजाया अनुवादः उत्तरशेषत्वेन, तेन पूजा वाक्यापेक्षया हीना निरूपिता. **देवर्षिवर्यमिति**. अनेन देवा ऋषयश्च पूजितेन प्रीता भवन्तीति गार्हस्थ्ये ऋणत्रयापाकरणे आवश्यके द्वयमनेनैव भवतीति तस्यावश्यकता सूचिता. **ऋषिरिति नारायणोऽयं** अनिरुद्धांशेनैवं करोतीति सूचितम्. **पुराणः ऋषिर्नारायण** एव, तथापि वेदोद्गमरूपोऽपि भवतीति तन्निराकरणार्थं **नारायणो नरसख** इति निरूपितम्. तस्य च अस्यैव प्रकरणस्यान्ते प्रत्यापत्तिं वक्ष्यति "प्रत्येष्यतां निकाशं म"[१] इति वाक्ये. **विधिनोदितेनेति** पूजायां प्रकार उक्तः, अन्यथा ऐश्वर्येण राजसी पूजा प्राप्नोति. **वाण्या अमृतया अतिमिष्टया आभाष्य** "भो भो नारदे"त्युक्त्वा **तं** नारदं **प्राह**. सर्वोत्कर्षः स्वस्वामित्वं स्वस्य च तदाज्ञाकारित्वं पदत्रयेणाह **भगवते, हे प्रभो, ते किं करवामेति**. तृतीयं पदत्रयात्मकं त्वत्सेवा त्रिविधाप्यत्र कर्तव्येति सूचनार्थम्. तदाज्ञापयेति वाक्यशेषाभिप्रायः ॥१६॥

तत्रोत्तरमाह नारदः **नैवाद्भुतमिति**. वक्तव्यं तु न किञ्चित्, कृतानुमोदनं तु कर्तव्यं भवति. अन्यथा पूजा कृतैव न स्याद्, अनङ्गीकारात्. तत् स्वतोऽङ्गीकारे अयुक्तं स्याद्, अतो भगवदीयधर्मत्वेनाभिनन्दनमुच्यते.

॥ नारद उवाच ॥

नैवाद्भुतं त्वयि विभोऽखिललोकनाथे
मैत्री जनेषु सकलेषु दमः खलानाम् ।
निःश्रेयसाय हि जगत्स्थितिरक्षणाभ्यां
स्वेच्छावतार उरुगाय विदाम सुष्ठु ॥१७॥

लेखः

सम्पूज्येत्यत्र प्रकरणस्यान्त इति. **अन्ते** इति सामीप्यसप्तमी— मतान्तरसिद्धस्य सात्त्विकप्रकरणस्यान्तसमीपेऽध्याये अन्तात् पूर्वाध्याये "द्विजात्मजामी" (भाग.पुरा. १०।८६।५९) इतिश्लोके इत्यर्थः ॥१६॥

---

१. एतद्वचनं कुत्रत्यम् इति नोपलब्धं लेखे वा मूले श्रीमद्भागवतस्य मुद्रितपाठेऽपि - सम्पा.

हे **विभो** सर्वकरणसमर्थ, एतद् ब्राह्मणपूजनं **त्वयि नाद्भुतम्**, अखिललोकाः शिक्षणीया इति. **भगवांश्चाखिललोकनाथः**. त्रिविधं हि कर्म जगद्रक्षार्थं क्रियते— **खलानां दमः**, अन्तर्यामितया सर्वसख्यम्, एतादृशी ब्राह्मणपूजा च. एतस्य कर्मणः बन्धहेतुत्वमाशङ्क्य निराकरोति **निःश्रेयसायेति**, अन्येषामपि मोक्षार्थमेतत्करणं श्रोतॄणां कीर्तयितॄणां च. (हि!) युक्तश्चायमर्थः, अन्यथा त्रिविधानि कर्माणि लोकानां न शान्तानि भवेयुः, सजातीयनिवर्तकाभावात्. एतज्जीवैरपि कर्तुं शक्यत इति भगवतो विशेषं वक्तुमाह **जगत्स्थितिरक्षणाभ्यां** सहेति. स हि जगत् स्वात्मनि धारयति, पालयति च. **स्वेच्छावतारेति** सम्बोधनं तादृशस्यापि कर्मकरणं लीलार्थमिति सूचयति. सप्तम्यन्तं वा पदं हेतुप्रकथनाय, अन्यथा कथं लोकाः कीर्तयेयुः कथं वा [१]मुक्ता भवेयुरिति. अत्र प्रमाणमाह **विदामेति**. **सुष्ठ्विति** अनुभवश्रुतिभ्याम्, न तु तर्कमात्रेण ॥१७॥

एवं कृताभिनन्दनं कृत्वा भगवदुक्तं नान्यथा कर्तव्यमित्यभिप्रेत्य स्वाभिलषितं किञ्चित् प्रसङ्गात् प्रार्थयते **दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलमिति**.

दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जनतापवर्गं
ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात् ॥१८॥

यदेतत् **दृष्टं** तद् **ध्यायन्** सर्वत्र **चरामीति** स्वाध्यवसायः. अत्र **यथा स्मृतिः स्यात्** तथा **अनुगृहाणेति** कर्तव्यप्रार्थना. दुर्लभं ह्येतदेव. प्राप्तेऽपि बहवो बाधकाः अतः स्मृतिर्भविष्यतीति न विश्वासः. कर्तव्यं च मम नान्यद्, अतश्चरणस्मरणार्थमनुग्रह एव कर्तव्यः. **दृष्टमित्यनेन** ज्ञानपक्षो निराकृतः. भगवच्चरणयोरेव जीव-ब्रह्मत्वात् स्वात्म-परमात्मसाक्षात्कारः सिद्ध एव[२]. मोक्षपक्षमपि व्यावर्तयति **जनताया एवापवर्गं करोतीति** तत्रास्मदपवर्गे कः सन्देह इति भावः. एतस्माद् नान्यद् दुर्लभमस्तीत्याभिप्रायेणाह **अगाधबोधैः** पूर्णज्ञानैरपि **ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमेव**, नतु साक्षाद् द्रष्टुं शक्यम्. तस्माद्

---

१. युक्ता इति पाठः. २. इवेति सं-क-खपाठः -सम्पा.

ब्रह्मादीनामप्येतदेव दुर्लभमिति नातः परतरं किञ्चिन्मृग्यम्. अनेन चरणस्य ऐहिकपारलौकिकफलेभ्योऽपि महत्त्वं निरूपितम्. किञ्च भक्तिमार्गस्यैतदेव प्रवर्तकमित्याह **संसारकूपे**ति. "यावन्नृकायमि" (भाग.पुरा. ७।१५।४५) ति-न्यायेन शास्त्रानुसारेण ये स्वहितं न कृतवन्तः तान् "नो चेत् प्रमत्तमि" (भाग.पुरा. ७।१५।४६) ति न्यायेन विषयाः कूपे (निपातयन्ति. ते कूपे) पतिताः. तेषामुत्तरणे तीर्थाभावात् पक्षाभावाच्च कर्मवल्ली अन्तरेव संवृता नोपरिनयतीति, ज्ञानं च सूत्रवत् नो पर्याकर्षतीति, भगवच्चरणारविन्दद्वयमेव **संसारकूपे पतितानां** तत **उत्तरणे अवलम्बनं** भवति. अतो मार्गत्रयेऽप्येतदेव शरणमिति **ध्यायंश्चरामि**. एतावदुक्त्वा भगवता अनुज्ञातः निर्गत इति ज्ञातव्यम् ॥१८॥

ततो निर्गतस्य गृहान्तरप्रवेशमाह **ततोऽन्यदाविशद् गेह**मिति.

ततोऽन्यदाविशद् गेहं कृष्णपत्न्याः स नारदः ।
योगेश्वरेश्वरस्याङ्ग योगमायाविवित्सया ॥१९॥

अन्यत् पूर्वोक्तं समानम्. **कृष्णपत्न्या** इति. भगवान् पूर्वगृहे दृष्ट इति नारदस्य "भगवत्पत्नी वात्र स्थास्यती"ति बुद्धिरिति **कृष्णपत्न्या**

लेखः

दृष्टमित्यत्र भगवच्चरणयोरेवेति. चरणयोरक्षरात्मकत्वाद् जीवब्रह्मणोश्च अंशांशिभेदेनाक्षरात्मकत्वादिति भावः. **मोक्षपक्षमपी**ति, मोक्षः प्रार्थनीय इतिपक्षमित्यर्थः. **तेषामुत्तरणे** इति. संसारकूपपतितानाम् ऊर्ध्वतरणेऽवलम्बनाभा-वात् पक्षिणामिवोर्ध्वगत्यभावाच्चेत्यर्थः. **ज्ञानं चे**ति. यथा कूपे पतितेन ध्रियमाणं सूत्रमवलम्बनाभावे स्वयमपि पतति कुतस्तमाकर्षेत्, तथा स्वात्मज्ञानमपि भगवच्चरणावलम्बनाभावे स्वयमपि संसारे एवान्ततः पतति, नतु जीवमुपर्याकर्षति, "ज्ञानिनामपि चेतांसी" (मार्क.पुरा. दुर्गा स.श. १।५५-५६) तिवाक्यादित्यर्थः ॥१८॥

ततोऽन्यदाविशदित्यत्र भगवत्पत्नी वेति. "सत्यव्रतमि"त्यस्य व्याख्याने "यद्वा सर्वोत्कृष्टमि"त्यत्र 'वा'शब्द एवकारार्थे टिप्पण्यां व्याख्यातः तथात्रापि. अत्र गृहेऽन्या भगवत्पत्न्येव स्थास्यति, भगवांस्तु पूर्वगृहे दृष्टस्तत्रैव स्थितो भविष्यतीत्यर्थः. **स तु कृपामि**ति, भगवांस्तत्रैव स्थित इति तद्व्यावृत्त्यर्थं

इत्युक्तम्. **स** तु कृपां प्रार्थयित्वा निर्गतः ततोऽपि बहिर्मुखत्वाद् गृहान्तरमेव प्रविष्टः. यतो **नारं द्यति** खण्डयति व्यसनस्वभावः. तस्य गृहान्तरप्रवेशे मनीषितमाह **योगेश्वरेश्वरस्ये**ति. योगस्यैव गतिर्दुर्ज्ञेया, अलौकिकत्वात्. तत्रापि योगेश्वरस्य, यो योगमपि वशीकृतवान्. तेषामपीश्वरो भगवान्. तस्यापि योगमाया. तस्या विवित्सा, यस्याः वैभवं भगवानपि न मन्यते एतावदिति. **अङ्गे**त्यप्रतारणार्थं सम्बोधनम् ॥१९॥

तत्र स्थितस्य भगवतः पूर्वदृष्टापेक्षया भिन्नमेव सन्निवेशमाह **दीव्यन्तमक्षैरि**ति.

दीव्यन्तमक्षैस्तत्रापि प्रियया चोद्धवेन च ।
(पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥२०॥)

सर्वत्र तादृश एव सन्निवेशो वक्तव्यः येन पूर्वगृहे स्थितस्य शीघ्रं समागमनशङ्कापि न सम्भवति. **तत्रापि** भगवन्तं ददर्शेति पूर्वा क्रियैवानुसन्धेया. परं **प्रियया** भार्यया **उद्धवेन च** सह **अक्षैर्दीव्यन्त**मिति ॥२०॥

तस्य नारदस्य ''भगवान् मायया तथा प्रदर्शयती''ति बुद्धिव्यावृत्त्यर्थं भगवान् किञ्चिदुक्तवानित्याह **पृष्टश्चाविदुषेवासावि**ति.

पृष्टश्चाविदुषेवासौ कदायातो भवानिति ।
क्रियते किं नु पूर्णानामपूर्णैरस्मदादिभिः ॥२१॥

असौ पूर्वदृष्ट एव भगवान्, प्रत्यभिज्ञानस्य दृढत्वात्[1], तथापि **कदायातो भवान् इति** पृष्टवान्. **असौ** नारदो भगवता **पृष्टः**. यथा सः स्वाकारगोपनं करोति परीक्षार्थं तथा भगवानपि कृतवानित्यभिप्रायेणाह **तथा अविदुषे**वेति. चकारात् पूजा; (पूर्वगृहे!) कृतं सर्वं कृतवान्. स्तुतिं च कृतवानित्याह **क्रियते किं नु पूर्णाना**मिति. पूर्ववद् भगवन्नारदयोः धर्मव्यत्यासो द्रष्टव्यः, तदोपपद्यत एव. **पूर्णानां** भवतां **अपूर्णैरस्मदादिभिः किं** कर्तव्यमिति.

लेखः

तुशब्दः. बहिर्मुखत्वे हेतुमाहुः **यत** इति. नरधर्मान् व्यसनानि खण्डयति इति हेतोः खण्डनार्थं व्यसनपर्यालोचनस्वभावाद् बहिर्मुख इत्यर्थः ॥१९॥

---

१. दृष्टत्वात्.

यथा अज्ञाननाट्यम् एवं तत्कार्यनाट्यवाक्यमपीति केचित्. लौकिकी वा भाषा तन्मोहार्था, तद्बुद्धौ भगवान् परिच्छिन्नो भासत इति. "ये यथा मां प्रपद्यन्त" (भ.गीता ४।११) इतिन्यायेन भगवद्वचनमित्यपरे ॥२१॥

तथापि समागतस्य[१] भगवद्गुणनिर्धारार्थं प्रवर्तमानस्य हितं कर्तव्यमिति भक्तिशास्त्रमनुसृत्याह **अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मन्निति.**

अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मन् जन्मैतच्छोभनं कुरु ।
स तु विस्मित उत्थाय तूर्णमन्यदगाद् गृहम् ॥२२॥

अस्मान् प्रति **ब्रूहि** किञ्चित् प्रार्थयेत्यर्थः. **ब्रह्मन्निति** ब्राह्मणस्य याचनमुचितमिति. किञ्च **एतन्** मम **जन्म** अवतारः भक्तोद्धारक एवेति तत्र मुख्यो भवानिति स्वात्मानं पूर्णं कुर्वन् **जन्म शोभनं कुरु,** स्वजन्म वा. ततो यज्जातं तदाह **स तु विस्मित उत्थायेति.** पारमार्थिकम् एतद्वचनं न भवतीति स्वमनसि निश्चित्य, "मां वञ्चयति शीघ्रं तत आगत्ये"ति सम्भावनां कुर्वन्, शीघ्रमुत्थाय ततो गत इत्याह. हेत्वदर्शनाद् **विस्मितो** जातः. भगवतो वैभवेन समागमनं निराकरोति तुशब्दः. **उत्थाय तूर्णमेव अन्यद्गृहमगात्** ॥२२॥

तत्र सन्निवेशान्तरमाह **तत्राप्यचष्टेति.**

तत्राप्यचष्ट गोविन्दं लालयन्तं सुतान् शिशून् ।
ततोऽन्यस्मिन् गृहेऽपश्यन् मज्जनाय कृतोद्यमम् ॥२३॥

शिशून् पुत्रादीन्. तत्र भगवन्तं दूरादेव सन्निवेशान्तरस्थितं दृष्ट्वा, तत्त्वसङ्ख्यापर्यन्तं तत्तद्भावस्थितं भगवन्तं पश्यन्, तत्र तत्र प्रविश्य ततस्ततो निर्गत इत्याह **ततोऽन्यस्मिन्नित्यादि** "अथोवाचे"त्यतः प्राक्तनेन. **मज्जनाय** मर्दनानन्तरं स्नानाय **कृत उद्यमो येन** ॥२३॥

लेखः

तत्राप्यचष्टेत्यत्र शिशूनिति. बालकान् सुतान्, नतु प्रौढानित्यर्थः. **ततोऽन्यस्मिन्नित्यस्याभासे.** अत्र **तत** इति आनन्तर्यवाचकं पदमुक्तम्. अग्रेऽष्टाविंशतिसङ्ख्यापर्यन्तं मध्ये **तत** इत्यादिपदाभावाद् इत आरभ्यैकं प्रकरणमित्याशयेनाहुः **तत्त्वसङ्ख्यापर्यन्तमिति** ॥२३॥

---

१. सभागतस्य.

जुह्वन्तं च वितानाग्नीन् यजन्तं पञ्चभिर्मखैः ।
भोजयन्तं द्विजान् क्वापि भुञ्जानमवशेषितम् ॥२४॥

वितानाग्नीन् यज्ञविताने स्थितान् गार्हपत्यादीन्. "सोमं विधाय अवभृथस्नानानन्तरं सा यावद्रात्रे संतिष्ठत" (. । ।) इतिन्यायेन मध्यरात्रावप्यग्निहोत्रहोमः. तथैवान्यत्र **पञ्चमखाः** देवयज्ञादयः पञ्चगृहेषु. **क्वापि** गृहे **द्विजान् भोजयन्तं** रात्रिभोजनेन, ततोऽ**वशेषितं भुञ्जानं** गृहान्तरे. एते नव गृहाः, पूर्वोक्तैः सह द्वादश ॥२४॥

पुरुषार्थचतुष्टयं साधयन्तमाह.

क्वापि सन्ध्यामुपासीनं जपन्तं ब्रह्म वाग्यतम् ।
एकत्र चासिचर्मभ्यां चरन्तमसिवर्त्मसु ॥२५॥

तत्र धर्मे **क्वापि सन्ध्यामुपासीनम्**. अन्यत्र **जपन्तं**, तस्यैव विशेषणं **वाग्यतमिति**. मौनव्रतधरं भिन्नमिति विमर्शः. **एकत्र असिचर्मभ्यां चरन्तम् असिवर्त्मसु** शास्त्रोक्तखड्गमार्गशिक्षासु ॥२५॥

अश्वै रथैर्गजैर्क्वापि विचरन्तं गदाग्रजम् ।
क्वचिच्छयानं पर्यङ्के स्तूयमानं च बन्दिभिः ॥२६॥

तथैव **अश्वै रथैर्गजैः** सह **विचरन्तं गदाग्रजं**, भक्तरक्षार्थं तथा यतमानमित्यर्थः. **पर्यङ्के क्वचिच्छयानम्**, अन्यत्र **बन्दिभिः स्तूयमानम्**. दशधाऽयं धर्मो निरूपितः ॥२६॥

लेखः

भोजयन्तं द्विजानित्यत्र एते नव गृहा इति. **यजन्तं पञ्चभिर्मखैरिति** देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञश्चेति पञ्चापि मखा भिन्नगेहेषु. अत"स्ततोऽन्यस्मिन्नि"त्यारभ्य **भुञ्जानमवशेषितमितिपर्यन्तं** नवगृहाः ; ते **पूर्वोक्तैस्त्रिभिः** सहिता **द्वादश**गृहा जाताः. तत्त्वप्रकारकगणनायां तु पञ्चापि मखा मखत्वप्रकारेणैक एव अत"स्ततोऽन्यस्मिन्नि"त्यारभ्य पञ्चैव प्रकारा जाता इति भावः. अग्रे धर्मसाधने गृहा दश, प्रकारस्तु धर्मरूपेणैक एव. मोक्षसाधने गृहद्वयं, प्रकारस्तु मोक्षत्वेनैक एव. तथाच "इतिहासपुराणानि शृण्वन्तमि"तिपर्यन्तं षड्विंशतिगृहाः, प्रकारा नव. त्रिविधायां गुरुसेवायां गृहास्त्रयः, प्रकारस्त्वेक एव. अन्यत्र तु यथाश्रुतमेव ॥२४॥

अर्थं निरूपयति **मन्त्रयन्तमिति.**

मन्त्रयन्तं च कस्मिंश्चित् मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः ।

कामं निरूपयति **जलक्रीडारतमिति.**

जलक्रीडारतं क्वापि वारमुख्याबलावृतम् ॥२७॥

मोक्षं निरूपयन् सर्वाण्यङ्गानि निरूपयति **कुत्रचिद् द्विजमुख्येभ्य** इति.

कुत्रचिद् द्विजमुख्येभ्यो ददतं गाः स्वलङ्कृताः ।
इतिहासपुराणानि शृण्वन्तं मङ्गलानि च ॥२८॥

शृण्वन्तमिति इतिहासपुराणानीति विशेषः. **मङ्गलानि** भगवद्गुणान् ॥२८॥

ऋणमपाकुर्वन्निवाह **हसन्तमिति.**

हसन्तं हास्यकथया कदाचित् प्रियया गृहे ।
क्वापि धर्मं सेवमानमर्थकामौ च कुत्रचित् ॥२९॥

त्रैवर्गिकं तत्रैव शेषभूतमाह[१] **धर्मं सेवमानमिति** ॥२९॥

ध्यायन्तमेकमासीनं पुरुषं प्रकृतेः परम् ।
शुश्रूषन्तं गुरून् क्वापि कामैर्भोगैः सपर्यया ॥३०॥

ध्यायन्तमेकमिति निदिध्यासितम्. **शुश्रूषन्तं गुरूनिति** गुरुसेवा त्रिविधा ॥३०॥

एवमलौकिकपुरुषार्थानुक्त्वा लौकिकं व्यवहारमाह **कुर्वन्तं विग्रहं कैश्चिदिति.**

कुर्वन्तं विग्रहं कैश्चित् सन्धिं चान्यत्र केवलम् ।
कुत्रापि सह रामेण चिन्तयन्तं सतां शिवम् ॥३१॥

राज्यान्तरशिष्टा नाङ्गीकृताः सन्धावङ्गीकृताः. **केवलमित्यनेन** समयभेदेनापि सन्धि-विग्रहौ निरूपितौ. ततो लोकन्यायेन बलभद्रेण सह मन्त्रणं— कथं **सतां शिवं** भवेदिति. अलौकिकेन वा कलावुत्पत्स्यमानानाम् ॥३१॥

---

१. शेषनिरूपितम्, शेषनिरूतम्.

पुत्राणां दुहितॄणां च काले विध्युपपादनम् ।
दारैर्वरैस्तत्सदृशैः कल्पयन्तं विभूतिभिः ॥३२॥

पुत्राणां विवाहो **दुहितॄणां च** विधिपूर्वकम**उपपादनं काले** युक्तसमये. किञ्च **पुत्राणां दारैः** सह **विभूतिभिः कल्पयन्तम्,** क्वचिद्गृहे पुत्रं सभार्यं परमोत्सवयुक्तं करोतीत्यर्थः. तथा **दुहितॄणाम**पि **तत्सदृशैर्वरैः** सहितानां **विभूतिभिः कल्पयन्तम्,** जामातृसहिता दुहितरः ऐश्वर्यादिसम्पन्नाः कृता इत्यर्थः ॥३२॥

प्रस्थापनोपानयनैः अपत्यानां महोत्सवान् ।
वीक्ष्य योगेश्वरेशस्य येषां लोका विसिस्मिरे ॥३३॥

तासामेव **प्रस्थापनम्**[1] **उपनयनं**[2] च भर्तृगृहात् स्वगृहे समानयनम्. पुत्रवधूनां वा **अपत्यानां महोत्सवान्** कल्पयन्तमिति सम्बन्धः. आवश्यकत्वादनभिनिवेशेन करणं सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं महतीं समृद्धिमुपपादयति **वीक्ष्ये**ति. **योगेश्वराणामपीश्वरत्वात्** सामग्रीमनेकविधां अनायासेन शीघ्रं सम्पादयति. ततो **येषां** महोत्सवानां सम्बन्धिनो **लोकाः** तां दृष्ट्वा अभूतपूर्वत्वाद् **विसिस्मिरे** ॥३३॥

एवं लौकिकधर्मेषु केवललौकिकानुपपाद्य तदनुरूपधर्मानुपपादयति **यजन्तं स्वकलान् देवा**निति.

यजन्तं स्वकलान् देवान् क्वापि क्रतुभिरूर्जितैः ।
पूर्तयन्तं क्वचिद्धर्मं कूपारामालयादिभिः ॥३४॥

स्वस्य कला येषु, भगवदावेशयुक्तान्. **ऊर्जितैः** लौकिकसाधनैः पुष्टैः. **क्रतुभि**र्यज्ञादिभिः शान्तिकपौष्टिकैर्वा. पूर्तमप्याह **पूर्तयन्त**मिति. कूपारामादिप्रतिष्ठार्थं देवतावाहनं कृत्वा अधिवासने उपविष्टमित्यर्थः. **आरामा** वाटिकाः, तत्र **आलयाः** गृहाः देवस्थानानि वा. तामसादिभेदा उक्ता इति अन्येषां तदादित्वम् ॥३४॥

चरन्तं मृगयां क्वापि हयमारुह्य सैन्धवम् ।
घ्नन्तं ततः पशून् मेध्यान् परीतं यदुपुङ्गवैः ॥३५॥

---

१. प्रस्थानम्. २. उपानयनम्.

ततोऽन्तःपुरस्थपर्वतोपवनादिषु **सैन्धवं** समुद्रोद्भवं **हयमारुह्य मृगयां चरन्**[1]. रात्रावपि गृहे प्रविष्टः, गृहस्थैस्तथोक्तः, मृगयास्थाने तथाविधं दृष्टवानित्यर्थः. तथैव क्वचित् **मेध्यान्पशून्** श्राद्धाद्यर्थं **घ्नन्तम्**. तत्रान्येषामप्यर्थे तथा करोतीति ख्यापयितुं **परीतं यदुपुङ्गवैरि**त्युक्तम् ॥३५॥

गुप्तचर्यां चरन्तं दृष्टवानित्याह **अव्यक्तलिङ्गे**ति.

अव्यक्तलिङ्गं प्रकृतिष्वन्तःपुरगृहादिषु ।
क्वचित् चरन्तं योगेशं तत्तद्भावबुभुत्सया ॥३६॥

अव्यक्तानि लिङ्गानि सत्त्वासत्त्वख्यापकानि. यासां **प्रकृतीनां** स्त्रीणामन्तः**पुरे गृहादिकं येषां** तेषामपि तस्य तस्य सतोऽसतो वा **भावबुभुत्सया क्वचिच्चरन्तम्**, गूढरीत्या यथा राज्ञां गुप्तचर्या भवति. तत्रैव– नारदः स्वयमपि तादृशधर्मपर[2] इति नारदादीन् भगवान् पुनरन्वेषतीति "ये यथा मां प्रपद्यन्त" (भ.गीता ४।११) इति समानशीलत्वात् तत्र –भगवत्साक्षात्कारो जातः ॥३६॥

ततो निकटे मिलितः पलायनेऽप्यशक्तः लज्जितः सन् किञ्चिद् भगवन्तमुवाचेत्याह **अथोवाचे**ति.

अथोवाच हृषीकेशं नारदः प्रहसन्निव ।
योगमायोदयं वीक्ष्य मानुषीमीयुषो ग(/र)तिम् ॥३७॥

हृषीकेशमित्यनेन स्वापराधो निवारितः, भगवतैव तथा प्रेरित इति. आदावन्योन्यदर्शनेन **प्रहसनं** ततो लज्जया विषादादिवेति. एतावद्दर्शनेन नारदस्य किं मौढ्यमासीद् आहोस्विद् भगवदचिन्त्यैश्वर्यपरिज्ञानेन तथात्वम्,

---

लेखः

अव्यक्तलिङ्गेत्यत्र. अव्यक्तानि लिङ्गानि यासां तादृशीषु प्रकृतिषु स्त्रीषु, अन्तःपुरे गृहादिकं येषां तादृशेषु पुरुषेषु चेत्यर्थः; दासीदासादिष्विति यावत्. **तथा धर्मपर इतीति**. नारदोऽपि गुप्तचर्याधर्मपर **इति** हेतोस्तत्रैव भगवन्तं दृष्टवानिति शेषः. **नारदादीनिति आदिशब्दः** प्रकारार्थे; नारदप्रकारकान् गुप्ततया स्थितानित्यर्थः ॥३६॥

---

१. चरन्तम् इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु क-खपाठानुरोधेन - सम्पा. २. तथा धर्मपर इति लेख-क-खपाठः - सम्पा.

अथवा मायैषैवेति? मायापक्षे सर्वथा प्राकृतबुद्धिः, प्रथमपक्षे तु नारदस्य सर्वथा प्राकृतत्वम्, मध्यमे तूभयोरुत्तमत्वमिति त्रयोऽपि बुद्धिविशेषा नारदबुद्धौ न स्फुरिताः. किन्तु योगगतिरेषेति स्वस्य भगवतश्च तुल्यतया परिज्ञानं मध्यमभावश्च स्फुरित इति ज्ञापयन्नाह **योगमायोदयं वीक्ष्येति.** [१]योगमायया दिव्या अपि गतयो भवन्तीति कथमियमेव लीला दृष्टेत्याशङ्क्याह **मानुषीमीयुषो गतिमिति.** योगेश्वरो हि यादृशीं **रतिं** वाञ्छति तदनुरूपा भवति,[१] **योगमाया** योगस्याधिदैविकी देवता साधनरूपा वा भगवच्छक्तिस्तथेति[२] ॥३७॥

तावन्मात्रं ज्ञातं विनिश्चित्य तत्रैव पर्यवसितमतिः, अधिकार्थापरिज्ञानात् नायकोत्कर्षाभावे प्रमेयभक्तिमार्गो न साधीयानिति, ततो निवृत्तिं वाञ्छन्निव प्रमाणबलेनैव भक्तिमार्गमुपदेक्ष्यामीति निश्चित्य भगवन्तं प्रार्थयते **विदामेति** द्वाभ्याम्.

॥ नारद उवाच ॥

विदाम योगमायास्ते दुर्दर्शा अपि योगिनाम् ।
योगेश्वरात्मन्निर्भाता भवत्पादनिषेवया ॥३८॥
अनुजानीहि मां देवलोकांस्ते यशसाप्लुतान् ।
पर्यटामि तवोद्गायन् लीला भुवनपावनीः ॥३९॥

लेखः

अथोवाचेत्यत्र तथात्वमिति, पुरुषोत्तमस्वरूपवित्त्वमित्यर्थः. **सर्वथेति**, एतद्बुद्ध्या भगवत्यपि प्राकृतत्वमित्यर्थः. **प्रथमपक्षे त्विति**, मौढ्यपक्षे नारदस्य प्राकृतत्वं भगवत्स्वरूपस्य त्वज्ञानमेवेति तुशब्दः. **मध्यमभाव** इति. ब्रह्मैवानन्तमूर्तीति भाव उत्तमः, योगबलेन नानारूपाणि करोतीति मध्यमभाव इत्यर्थः ॥३७॥

नायकोत्कर्षाभावे इति. प्रमेयमार्गे साधनान्तराभावाद् भगवानेव **नायकः** स्वरूपप्रापणकर्ता, **तस्योत्कर्षः** स्वरूपबलप्राकट्यं, **तदभावे** इत्यर्थः. **विदामेत्यत्र लौकिकपरिज्ञानादिति** लौकिकत्वेन परिज्ञानदित्यर्थः. **एतदर्थपरिज्ञाने एवेति**, योगमायापरिज्ञाने मध्यमभावस्फुरणे इत्यर्थः ॥३८-३९॥

---

१. 'योगमाये'त्यारभ्य 'भवती'ति प्रभूणां पुस्तकेऽपि नास्ति. २. नानारूपेत्यर्थः.

ते योगमाया: यथेच्छं प्रवर्तमानस्य तत्तदिच्छापूरिका: **विदाम:**. इदं ज्ञानं स्वस्यैवासाधारणमिति ज्ञापयितुमाह **दुर्दर्शा अपि योगिनामिति**. कारणपरिज्ञानं योगिनामपि दुर्लभं, कार्यस्य लौकिकपरिज्ञानात् कारणजिज्ञासैव नोत्पद्यत इति. तर्हि तव कथमुत्पन्नेत्याशङ्कायामाह **योगेश्वरात्मन् भवत्पादनिषेवया निर्भाता** इति. योगेश्वराणाम् अस्मदादीनामात्मत्वेन स्फुरितो भवानेव पादभजने हेतुरिति सम्बोधनम्. चरणसेवा तु योगमायापरिज्ञाने हेतु:. अत एतावत्कालं कृता प्रमेयबलभक्ति: एतदर्थपरिज्ञान एवोपक्षीणा जातेति एतन्मतपरित्यागेन कीर्तनमार्गेणैव स्थास्यामीति प्रार्थयते **अनुजानीहीति**. **देवलोकानिन्द्रादिस्थानानि ते यशसा आप्लुतान्** व्याप्तानि[1] **उद्गायन् पर्यटामि. भुवनपावनी: लीला:** पूर्वसिद्धा एव. एतासामदृष्टानां शास्त्रे प्रसिद्ध्यभावाद् एता असम्मता इत्यर्थादुक्तं भवति ॥३८-३९॥

तत्र भगवान् विचारार्थं प्रवृत्तोऽपि अपरिज्ञानात् खिन्नो जात: मार्गमेव परित्यक्तुं वाञ्छतीति निश्चित्य प्रबोधयति **ब्रह्मन् धर्मस्येति**.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताहं कर्ता तदनुमोदिता ।
तच्छिक्षयँल्लोकमिममास्थित: पुत्र मा खिद: ॥४०॥

केवलकथने वेदादौ क्रियाप्रवेशाभावे[2] लोको न मन्यत इति **धर्मस्याहं कर्तापि**. यदि क्रियमाणस्यानुमोदनं न कुर्यां वचनाचरणादिभि: तदापि लोको न प्रवर्तेतेति **तस्य** धर्मस्या**नुमोदिताप्यहम्**. अतो लोके धर्मप्रवृत्त्यर्थं **तच्छिक्षयन्** लोके धर्मं ग्राहयन् **इमं लोकमास्थित:** अयं भाव: समाश्रित इत्यर्थ:. इति स्वकृतस्य[3] नानाविधधर्मस्याभिप्रायो वर्णित:. ननु त्वद्वञ्चनार्थं माया

लेख:

ब्रह्मन्धर्मस्येत्यत्र केवलेति. एतस्यैव विवरणं **वेदादाविति**. केवलमितिहासादिरीत्या कथने वेदादौ क्रियाया धर्मस्य प्रवेशाभावे उपनिबन्धनाभावे इत्यर्थ:. तथाच मूले **कर्तेत्यस्य** उपनिबन्धनकर्ता इत्यर्थ: ॥४०॥

---

१. व्याप्तान् इति कपाठ: - सम्पा. २. अपूर्वाभिव्यञ्जकक्रियाया: लौकिकत्वेन तथात्वे इत्यर्थ:. ३. स्वकृतस्य-.

प्रदर्शितेति पक्षं निवारायितुं सम्बोधनमाह **पुत्रेति**. लीलायाः तत्त्वापरिज्ञानात् **मा खिद**, तत्त्वं तूक्तमिति ॥४०॥

ततस्तस्य दृष्टं दर्शनानन्तरमध्यवसायं च श्लोकद्वयेनाह **इत्याचरन्तमिति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्याचरन्तं सद्धर्मान् पावनान् गृहमेधिनाम् ।
तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह ॥४१॥
कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य योगमायामहोदयम् ।
मुहुर्दृष्ट्वा ऋषिरभूद् विस्मितो जातकौतुकः ॥४२॥

सतां त्रिविधानां सर्वविधान् **धर्मान् गृहमेधिनां पावनान्** पवित्रकरान्, एवं चेत् कश्चिदाचरति भगवानाचचारेति तदा पवित्रो भवतीति. अतोऽनन्तमूर्तिं **तमेव सर्वगेहेषु सन्तं ददर्श**. ततो यज्जातं तदाह **कृष्णस्येति**. **अनन्तानि वीर्याणि यस्येति** लीलयैवं स्त्रीषु स्थितिः नतु वस्तुतः[१], यतोऽयं सर्वशक्तिः. तत्रापि **योगमायायाः महानुदयो**ऽयं न कदाप्येवं दृष्टः. अतो धर्मधर्मिणोरलौकिको भावो दृष्ट इति **विस्मितः** पुनर्दर्शने **जातकौतुकश्च** जातः ॥४१-४२॥

इत्यर्थकामधर्मेषु कृष्णेन श्रद्धितात्मना ।
सम्यक् सभाजितः प्रीतस्तमेवानुस्मरन् ययौ ॥४३॥

ततः सादरदर्शनानन्तरमर्थकामधर्मेषु **श्रद्धितात्मना** भगवता **सम्यक् सभाजितो** ब्राह्मणबुद्ध्या ऋषिबुद्ध्या च यथेष्टं भोजनादिना सन्तुष्टः **तमेव** भगवन्तमनु**स्मरन् ययौ** नतु प्रमाणबलमाश्रित्य ॥४३॥

लेखः

अग्रिमे **त्रिविधानामिति** धर्मार्थकामयुक्तानामित्यर्थः. अग्रिमे **नतु वस्तुत** इति —नारदबुद्धिमनुसृत्यैवमुक्तम् ॥४१-४२॥

इत्यर्थकामेत्यत्र. एवकारस्यार्थमाहुः **नतु प्रमाणबलमिति**. प्रमेयमार्गं त्यक्तुमिच्छुर्भगवता समाहित इत्यर्थः. **आश्रित्येति**. किन्तु प्रमेयमार्गमेवाश्रित इत्यर्थः ॥४३॥

---

१. आनन्दोद्रेकाद् अनायासेन क्रियमाणा चेष्टा लीला. तच्छक्त्या, नतु सजातीय-विजातीय-स्वगत-द्वैतवर्जित-वस्तुस्वरूपात् - सम्पा.

एवं नारददृष्टां भगवल्लीलामुपपाद्योपसंहरति **एवं मनुष्यपदवीमिति.**

एवं मनुष्यपदवीमनुवर्तमानो
नारायणोऽखिलभवाय गृहीतशक्तिः ।
मेनेऽङ्ग षोडशसहस्रवराङ्गनानां
सव्रीडसौहृदनिरीक्षणहासजुष्टः ॥४४॥

तद्धर्माणामनाचरणे तत्तदनुसर्पणं[1] न भवतीति **मनुष्यपदवीमनुवर्तमानः षोडशसहस्रवराङ्गनानां सव्रीडादिभिर्जुष्टो मेने.**[2] मनुष्यपदव्यामप्यागतः मूलरूप एवेति ज्ञापयितुमाह **नारायण** इति. तस्यैवंकरणे किं प्रयोजनमित्याशङ्क्याह **अखिलभवाय गृहीतशक्ति**रिति. सर्वेषामुद्भवार्थं सात्त्विक्यः शक्तयः सर्वाः सङ्गृहीताः. तत्र मनुष्येषु धर्माप्रवृत्तौ[3] सर्वेषामुद्भवो न भवतीति तथाकरणम्. **अङ्गे**त्यप्रतारणाय सम्बोधनम्. अष्टमहिषीणां न विवाद इति नरकासुरपरिगृहीतानामेव **षोडशसहस्रवराङ्गनाना**मिति वरशब्देन तत्तद्दास्यो व्यावर्तिताः. अन्या वा गोप्यः सङ्गृहीताः. **व्रीडापूर्वको योऽयं सौहृदनिरीक्षणविशेषः तत्पूर्वको हासः तेन जुष्ट** इति त्रिविधो भावो निरूपितः तामससात्त्विकादिभेदेन ॥४४॥

एवं रमणमुपसंहृत्य लौकिकीयं लीला धर्मार्थिभिर्न श्रोतव्येति शङ्कां वारयितुं फलश्रुतिमाह **यानीति.**

लेखः

एवं मनुष्येत्यत्र **व्रीडापूर्वक** इति. भावप्रधानमिदम्, व्रीडापूर्वकत्वं निरीक्षणे विशेष इत्यर्थः ॥४४॥ इति विंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

---

१. तत्तदानुसर्पणम्. २. रेमे. ३. धर्मात्.

यानीह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः
कर्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकारः ।
यस्त्वङ्ग गायति शृणोत्यनुमोदते वा
भक्तिं लभेत भगवत्यपवर्गमार्गे ॥४५॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥

सर्वविधकर्मकरणे भगवतो हेतुमाह. **विश्वस्य विलयः उद्भव** उत्पत्तिः **वृत्तिः** स्थितिः **तेषां हेतुः**. अत एवा**नन्यविषयाणि कर्माणि चकार**. नह्यन्यो जगदुत्पत्त्यादिहेतुर्भवति. लीलायां च नान्यं प्रवेशयति किन्तु स्वयमेव तत्र तत्राविष्टः तथा करोति. अतो नान्यो विषयः. विशेषलीलायाः प्रयोजनं हरिरिति. अतो **य** एतां लीलां **गायति** स्वत एवानन्देन कीर्तयति वा, अन्यैर्गीयमानां **शृणोति** असन्निहितः सन्निहितो वा, कालान्तरे कथावसाने **वा अनुमोदते** श्रोतृवक्तृकथाः सः **भक्तिं लभेत भगवति** पूर्णपुरुषे. भक्तेरन्यत्र विनियोगाभावायाह **अपवर्गमार्ग** इति. मोक्षे नान्यो मार्गोऽस्तीत्यर्थः ॥४५॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे विंशोऽध्यायः ॥

॥ इति षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥

॥ सप्तमः स्कन्धादितः सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥

सात्त्विकानां निरोधे तु प्रमेयबलतः पुराः ।
षड्भिः सर्वे निरुद्धास्ते साधनेनोच्यतेऽधुना ॥(१)॥
षड्भिरेव तथाध्यायैर्धर्मोऽत्र भगवत्कृतः ।
कारितश्च द्विरूपो हि वर्ण्यतेऽन्यनिषेधने ॥(२)॥
तत्रैकविंशे[1] त्वध्याये धर्मो हि भगवत्कृतः ।
निरूप्यते यतो लोका जाता हरिपराः स्वतः ॥(३)॥
सर्वान् धर्मान् विशेषेण तत्तद्भेदेन चैव हिः ।
पूर्वाध्याये निरूप्यैव ह्याह्निकं ह्यत्र रूप्यते ॥(४)॥
तेनैव शुद्धचित्तास्ते राजानः सात्त्विकास्तथा ।
प्रपन्नाः सर्वथा कृष्णे प्रयोजनमिदं मतम् ॥(५)॥
अन्यथा ह्याह्निको धर्मो निष्प्रयोजनतां व्रजेत् ।
सभायां गमनं चैव रक्षां सूचयति क्षतात् ॥(६)॥

एवं पूर्वाध्यायैः भगवता प्रमेयबलमाश्रित्य सर्वे आत्मसात्कृताः, इदानीं धर्मादिसाधनैर्भगवान् आत्मसात्करोति. तत्र प्रथमम्[2] भगवत आह्निको नित्यो धर्मो निरूप्यते, ततो धर्मपरस्य यत् कृत्यम्. तत् कालनिमित्तकमेवेति अरुणोदयावधि पूर्वाह्णकृत्यं[3] सर्वं निरूपयति अथेति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अथोषस्युपवृत्तायां कुक्कुटान् कूजतोऽशपन् ।
गृहीतकण्ठ्यः पतिभिर्माधव्यो विरहातुराः ॥१॥

अवान्तरप्रकरणभेदप्रतिपादकोऽयमथशब्दः. **उषस्यरुणोदये उपवृत्ताया-मारब्धप्राये,** चतस्रो घटिकाः प्रातररुणोदय उच्यत इति. धर्मार्थकामानाम्

लेखः

एकविंशेऽध्याये **अथोषसीत्यत्र उषस्यरुणोदये** इति. अग्रे "ब्राह्मे मुहूर्ते" इत्युक्तेस्तदनुरोधेनात्राप्युषःपदेनारुणोदय एवोच्यते नत्वष्टपञ्चाशद्घटिका

---

१. एकविंशत्यध्याये. २. प्रथमतः. ३. पूर्वदिनकृत्यम् इति खपाठः - सम्पा.

आवृत्तिर्भगवता क्रियत इति ज्ञापयितुं कामपराणां स्त्रीणां धर्मासहिष्णुत्वमाह **कुक्कुटान् कूजतोऽशपन्निति**. तत्र हेतुः **पतिभिः कृष्णैर्गृहीतकण्ठ्यः**. ननु गार्हस्थ्ये भोजनवद् भोगस्यापि नियतत्वात् प्रातःकालसूचके[1] कुक्कुटे शापः कथमिति चेत्, तत्राह **विरहातुरा** इति. तत्र हेतुः **माधव्य** इति, माधवस्य स्त्रियः. 'मायाधव' इति, स्वविश्लेषमात्रेणैव[2], लक्ष्म्याः सम्बन्धसम्भवात्. अतो विरह सम्भावित इति, प्राप्तफलानां साधने द्वेषो युक्त इति– भगवत्कृतधर्मस्य च सात्त्विकनिरोधपरत्वात् सम्बद्धानामिच्छामात्रेणैव निरोधः सिद्ध इति –कुक्कुटशापो युक्तः ॥१॥

ननु कुक्कुटादयो वा किमिति भगवदनभिप्रेतं कुर्वन्तीत्याशङ्कायामाह **वयांस्यरूरुवन्निति**.

वयांस्यरूरुवन् कृष्णं बोधयन्तीव बन्दिनः ।
गायत्स्वलिष्वनिद्राणि मन्दारवनवायुभिः ॥२॥

वयसामपि पक्षिणां भगवल्लावण्यामृतप्राप्तिरभीष्टेति स्वार्थमेते बोधयन्ति. तथा सत्यपराधो भवेदिति शङ्कां वारयितुं दृष्टान्तमाह **बन्दिन इवेति**. तेन प्रबोधने अधिकृता अपि पक्षिण इति सूचितम्. ननु बहिरङ्गा एते भगवदभिप्रायमज्ञात्वा कथं नित्यं बोधयन्तीत्याशङ्कायामाह **गायत्स्वलिष्विति**. ये ह्यन्तरङ्गाः अलयः; भगवदभिप्रेतं ज्ञात्वैव गायन्ति. न च स्वभावादेव वयांस्यरूरुवन्नित्याशङ्कनीयम्, यतः **अनिद्राणि**. तत्रापि निद्राभावः सहेतुक इत्याह **मन्दारवनवायुभिरिति**. आमोदेनाकृष्टचित्तानि देवताधिष्ठानाच्च साक्षाद्भोगेऽप्यशक्तानि अत आकाङ्क्षाया विद्यमानत्वाद् अनिद्राण्येव ॥२॥

लेखः

इत्यर्थः. **अतो विरह** इति, लक्ष्मीसम्बन्धे तामेव गृह्णीयात् तदास्माकं विरह एव सिद्ध्येदित्यर्थः ॥१॥

वयांसीत्यस्याभासे आहेति कूजनप्रयोजनमिति शेषः. तथाच पूर्वोक्तकूजनानुवादेन प्रयोजनकथनं वाक्यार्थ इति भावः ॥२॥

---

१. प्रातःकालसूचककुक्कुटशापः इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु क-खपाठानुरोधात् - सम्पा. २. 'स्व'पदबोधितानां माधवीनां विश्लेषे सत्येव 'मायाधव'पदेन लक्ष्मीसम्बन्धः शक्यः - सम्पा.

एतत् सर्वस्त्रीणां न भविष्यतीत्याशङ्क्य मुख्याया रुक्मिण्या अप्येतदित्याह **मुहूर्तमिति.**

मुहूर्तं तं तु वैदर्भी नामृष्यदतिशोभनम् ।
परिरम्भणविश्लेषात् प्रियबाह्वन्तरं गता ॥३॥

तं प्रसिद्धं ब्रह्मसम्बन्धिनम्. तुशब्देनान्यथापक्षं व्यावर्तयति. ननु लक्ष्म्या अवतार: कथमेवमवददित्याह **वैदर्भीति.** दर्भाभावेन कर्मराहित्यमुक्तम्, अतिशोभनमपि, सर्वोद्बोधकत्वात् सर्वपुरुषार्थसाधकत्वाच्च. तथापि **नामृष्यत्.** तत्र हेतु: फलानुभव इत्याह **प्रियबाह्वन्तरं गतेति.** तादृश्या: **परिरम्भणविश्लेष:** अनङ्गीकारे हेतु: ॥३॥

एवं सर्वासामनभिप्रेतत्वे तद्वश्यश्चेद् भगवानपि नोत्तिष्ठेदिति तन्निराकरणार्थं भगवत उत्थानपूर्विका: सर्वा: क्रिया निरूपयति **ब्राह्मे मुहूर्ते** इति.

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधव: ।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमस: परम् ॥४॥

उत्थानं निद्रापगमलीला शय्यातो वा. ततो **वार्युपस्पर्शनम्.** हस्तादिप्रक्षालनमात्रमिति केचित्, स्नानमित्यपरे, आचमनमात्रमिति सिद्धान्त:, ध्यानस्यापि शुद्ध्यर्थमेवं क्रियमाणत्वाद्, अन्त:शुद्धिलीलां कृत्वैव बहि:शुद्धिलीला कर्तव्येति. यथा आद्यस्नानेन शौचं स्नानान्तरेण च धर्म: तथा ध्यानेऽपि ज्ञातव्यम्. ननु पूर्णो भगवान् बोभूयमानस्वरूप: परमानन्द एव, अन्त:करणाद्यभावात् कथं प्रणिधानं कृतवानित्याशङ्क्याह **माधव** इति. लक्ष्मीं शक्तिं स्वीकरोतीति मधुवंशे चावतीर्ण इति यथैषा लीला

लेख:

पूर्वश्लोके सर्वासां विरहासहने उक्ते रुक्मिण्या अपि तथात्वं प्राप्तमेवेति "मुहूर्तं तं त्वि"तिश्लोक: किमर्थ इत्याशङ्क्य तदाभासमाहु: **एतत्सर्वेति.** कासाञ्चिदेवं भविष्यतीत्याशङ्क्य ज्येष्ठाया धर्मोपयोगित्वेऽपि तथात्वे अन्यासां तु कैमुत्येनैव तथात्वं प्राप्तमित्यर्थ: ॥३॥

ब्राह्मे मुहूर्ते इत्यत्र. ननु स्नात्वा ध्यानं कर्तव्यमत आचमनमात्रसिद्धान्त: कथमुक्त इत्यत आहु: **ध्यानस्यापीति.** इदं ध्यानं शुद्ध्यर्थमेव ननु

तथा ध्यानमपीत्यर्थः. **प्रसन्नानि करणानि** इन्द्रियाणि यस्येति शुद्धसत्त्वस्य सर्वत्राविर्भावः सूचितः. तत **आत्मानमेव दध्यौ,** "अथ योऽन्यां देवतामुपास्त" (बृह.उप. १।४।१०) इति आत्मातिरिक्तदेवतायाः ध्याननिषेधात्. नन्वात्मनः प्रत्यक्षस्य स्फीतालोकवर्तिघटवत् प्रकाशमानस्य किं ध्यानेनेत्याशङ्क्याह **तमसः परमिति.** कालस्याप्यग्रे तमस्तिष्ठति, तस्याग्रे भगवान्. स एव तमोगुण इति केचित्. सत्त्वगुणो बहिरावरणमिव ॥४॥

सर्वस्यैवात्मत्वात् सर्वोपासकानाम् आत्मोपासकत्वमाशङ्क्य केवलमात्मोपासकत्वसिद्ध्यर्थम् आत्मानं विशिनष्टि **एकमिति.**

एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं स्वसंस्थया नित्यनिवृत्तकल्मषम् ।
ब्रह्माख्यमस्योद्भव-नाश-हेतुभिः स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम् ॥५॥

तदात्मस्वरूपं षड्गुणैश्वर्ययुक्तं ब्रह्मैवेति वक्तुं सप्त विशेषणान्युच्यन्ते. **एकमि**त्यसहायेन ऐश्वर्यमित्युक्तम्. **स्वयंज्योति**रित्यलौकिकवीर्यम्. **अनन्यमि**[१]ति कीर्तिः. **अव्ययमि**ति लक्ष्मीः. **स्वसंस्थया** स्वरूपस्थित्यैव **नित्यनिवृत्तानि कल्मषाणि यस्ये**ति ज्ञानम्. '**ब्रह्मे**'**त्याख्या यस्ये**ति प्रापञ्चिकसर्ववैलक्षण्येन वैराग्यम्. धर्मिणमाह "जन्माद्यस्य यत" (ब्र.सू. १।१।२) इति न्यायेन **अस्य** जगतः **उद्भवनाशहेतुभिः**. उद्भवः सत्त्वम्, अभिवृद्धेस्तद्धेतुकत्वात्. नाशस्तमः, हेतू रजः —एताश्च **स्वशक्तय** एव. **तैर्लक्षिता भावाः** सात्त्विकादयोऽन्तःकरणस्य तेषां **निर्वृतिः** अपगतिः. यत्र **भावैः** सहितं **निर्वृतिं** चेति वा. अनेन प्रपञ्चकर्ता प्रपञ्चरहितश्चेति विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन

लेखः

कर्माङ्गमित्यर्थः. **बहिरावरणमिवेति.** भगवतो बहिरावरणं सत्त्वगुणः तदावरणं तम इति भगवतो गूढत्वात् तत्प्रकाशनार्थं ध्यानमावश्यकमिति जीवान् शिक्षयितुं स्वयं दध्यावित्यर्थः ॥४॥

एकमित्यत्र निर्वृतिं चेति वेति. निर्वृतिरानन्दस्तद्युक्तमित्यर्थः. **अनेनेति. निर्वृतमितिपाठपक्षे** तादृशभाववत्त्वेन प्रपञ्चकर्तृत्वं निर्वृतत्वेन प्रपञ्चराहित्यं चोक्तम्. तथाच विरुद्धधर्मनिरूपणाद् धर्मिस्वरूपं निरूपितमिति भावः.

---

१. अनन्तम्.

निरूपितम्. अनेन वा वैराग्यम्, **ब्रह्माख्यमिति** धर्मी. आत्मत्वेन सर्वत्र भेदनिराकरणार्थं पञ्चभेदनिराकरणार्थं वा **एकपदम्**. प्रमाणाभावाय स्वयंज्योतिष्ट्वम्. अनन्यत्वं भिन्नधर्मनिराकरणाय. अव्ययत्वं ब्रह्मधर्माणां नित्यत्वाय. साङ्ख्यादिमते अब्रह्मधर्मा एव ब्रह्मणि समागत्य गच्छन्तीति तन्निराकरणार्थमेतदवश्यं वक्तव्यम्. स्वरूपस्थितिश्च संसारात्मवदविद्यानिराकरणाय. **नित्यपदेन** ज्ञानानन्तरनिवृत्तिर्निराकृता. **ब्रह्मपदेन** सर्वश्रुतिसमन्वयः. सर्वेषां बन्धमोक्षदातृत्वाय विरुद्धधर्माः ॥५॥

एवं भगवत्त्वं भावयित्वा तत्कार्यं च स्वनिष्ठः सन्नपि तां निष्ठां परित्यज्य बहिर्धर्मानिव अन्तस्तथाभूतोऽपि भिन्नप्रक्रमेण कृतवानित्याह **अथेति**.

अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि क्रियाकलापं परिधाय वाससी ।
चकार सन्ध्योपगमादि सत्कृतो हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः ॥६॥

अम्भसि आप्लुत इति गोमत्यादाववगाह्य स्नानं नतूद्धृतजलैः. **अमले वाससी परिधायेति** विशेषणविशेष्ययोर्दूरे समन्वयः— स्नानेऽपि रात्रिवासःपरित्यागेनामले वाससी परिधाय पुनः स्नात्वामलवाससोः परिधानमाह. **यथाविधीति** स्नानपरिधानयोः क्रियाकलापे चान्वेति. क्रियाकलापमेव विशेषेणाह **सन्ध्योपगमादीति**. **वाग्यत** इति सन्ध्यायां मौनं कर्माङ्गत्वेनैव कृतवानिति

लेखः

पञ्चभेदेति. वीर्यादिपञ्चगुणेभ्य ऐश्वर्यं भिन्नं नास्ति किन्तु पञ्चस्वप्यनुस्यूतम्. आद्ये तथा कथनमुपलक्षणेन सर्वेऽपि गुणा अन्योन्यमनुस्यूता इतिज्ञापनार्थम्. **प्रमाणाभावायेति**, चक्षुराद्यगम्यत्वायेत्यर्थः. **भिन्नधर्मेति**, धर्मा अहिकुण्डलादिन्यायत्रयेऽपि [१] स्वरूपाद् भिन्ना नेत्यर्थः ॥५॥

अथाप्लुत इत्यत्र. विशेषणविशेष्ययोर्दूरे कथनस्य तात्पर्यमाहुः **स्नानेऽपीति**. स्नानवाक्ये **अमले** इति विशेषणकथनं विशेष्यमाकृष्य स्नानेऽप्यमलवासःपरिधानसूचनार्थम्. **पुनरिति** **अमलवाससोरित्यनेनान्वेति**. स्नात्वा पुनरमलवाससोः परिधानमुभयान्वितपदकथनेन शुक आहेत्यर्थः ॥६॥

१. उभयव्यपदेशाद् अहिकुण्डलवद्, प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वात्, पूर्ववद् वा (अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वाद्) इति सूत्रत्रयसूचितः (ब्र.सू. ३।२।२७-२९) न्यायः - सम्पा.

ज्ञापयति. अर्घ्यदानान्ता सन्ध्या, ततोऽग्निहोत्रहोमः, ततो ब्रह्मजपः गायत्रीमन्त्रजपः. **सत्कृत** इति तिलकावश्यकभूषणादि-परिधानमुक्तम्. एवमेव कृतः धर्मो भवतीति क्रमविधाने निरूपिते. अरुणकरग्रासात् पूर्वं ध्यानम्, अरुणकरग्रासे स्नानं, ततः सन्ध्या अर्घ्यान्ता, ततोऽग्निहोत्रं, ततो जप सूर्योदयावधि ॥६॥

उदिते सूर्ये तूपस्थानं, तदाह **उपस्थायार्कमुद्यन्तमिति.**

उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वात्मनः कलाः ।
देवानृषीन् पितॄन् वृद्धान् विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान् ॥७॥

ततो देवर्षि-पितृतर्पणमाह **आत्मनः कलास्तर्पयित्वेति.** "ऋषयो मनवो देवा" (भाग.पुरा. १।३।२७) इतिवाक्याद् भगवत्कला एव. यथा अवयवादीनां पुष्ट्यर्थमवयविना यत्नः क्रियते एवं कलानां पोषार्थं यत्नः नतूपास्यत्वेनेति ज्ञापनार्थं **कलापदम्.** "ततः प्रभृति पूज्यन्त" (. । ।) इतिवाक्यात् लोकशिक्षापरत्वेनापि सिद्ध्यति. **सप्तम** इतिपाठे सप्तमो भगवान् षड्विधं देशादिनिरूपितं धर्मं कृतवानिति सूचितम्. कला एव गणयति **देवानृषीन्पितॄनिति. वृद्धान्** स्वजातीयान् क्षत्रियान्, **विप्रान्** सर्वानेव. एतेषामभ्यर्चनं गन्धादिभिः. **आत्मवानिति** निष्कामत्वमुक्तम्, कामनयाप्येतेषां पूजनसम्भवात्. अग्रेऽप्येतद्विशेषणं सम्बध्यते ॥७॥

ततो गोदानस्य नित्यत्वात् प्रत्येकापेक्षया समुदायस्योत्कृष्टत्वात् समुदाये अलङ्करणं न सम्भवतीति विचार्य अलङ्कारगुणान् निरूपयन् दानमाह **धेनूनामिति** द्वाभ्याम्.

धेनूनां रुक्मशृङ्गीणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम् ।
पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम् ॥८॥
ददौ रौप्यमयाङ्घ्रीणां क्षौमाजिनतिलैः सह ।
अलङ्कृतेभ्यो विप्रेभ्यो बद्धं बद्धं दिने दिने ॥९॥

आदौ गावः सवत्साः दोग्ध्र्यः. एतादृश एव समुदाय इति पशूनां

लेखः

उपस्थायार्कमित्यत्र पितृतर्पणमिति. अग्निष्वात्तादिसामान्यपितृतर्पणमित्यर्थः ॥७॥

भाग्यातिशयो निरूपितः. न हि द्वारकायां कश्चिद् विसदृशादृष्टो भवतीति ज्ञापनार्थमुक्तम्, अन्यथा धेनूनां बद्धता न सम्भवेत्. **रुक्ममये** सुवर्णमये **शृङ्गे यासां, रौप्यमयाः अङ्घ्रयो यासां** प्रत्येकम्. **सुष्ठु वाससी प्रत्येकं यासाम्. साध्व्यः** शान्तस्वभावाः. **पयस्विन्यः** बहुदोग्ध्र्यः, **गृष्ट्यः** सकृत्प्रसूताः. सर्वासां जीवद्वत्सत्वाय **सवत्सानामित्युक्तम्. मौक्तिकानां स्रजो माला यासाम्** — पूर्वार्धविशेषणमेतत्. एतादृशीः गाः **ददौ**. दानक्रियाणां समुदाये बद्धसङ्ख्या सम्बध्यत इति केचित्, समुदाय एव दानमित्यपरे. **क्षौमाजिनतिलानां सह**भावः शास्त्रीयः ; तदैकमेव विशिष्टं दानं भवति. **अलङ्कृतेभ्यो विप्रेभ्य** इति देयसमसङ्ख्या ब्राह्मणानां निरूपिता, गोसमसङ्ख्या बद्धसमसङ्ख्या वा. **बद्धं बद्धमि**त्येव पाठः. 'बद्वं बद्वमि'ति वैदिकः शब्दः, स नात्रानुसन्धेयः. तत्रापि 'बद्व'शब्दो बद्धपर्यायः. चतुरशीत्यग्रसहस्राणि त्रयोदशेति केचित्, तन्नवमे विचारितं[१] निराकृतं च. तस्माद् गोष्ठपर्यायो **बद्ध**शब्दः. अत्र च विशेषसङ्ख्यायाः उपयोगाभावः, अयुतलक्षादीनामेव[२] नित्यदाने उपयोगाच्च. **दिने दिने**, नतु गार्हस्थ्ये नापि वर्षे प्रतिगृहमिति उपक्रमे बहुवचनस्योक्तत्वाद् अध्यवसेयम् ॥९॥

लेखः

धेनूनामित्यत्र अन्यथेति. विसदृशादृष्टसत्त्वे नवसूतिकानां गोष्ठता न भवेद्, गोष्ठे सर्वा नवसूतिका न भवेयुरित्यर्थः. **एतादृशीः गा** इति. एतन्मते 'गवामि'ति सम्बन्धविवक्षया द्वितीयार्थे षष्ठी. **बद्धमिति** क्रियाविशेषणम् ; बद्धसङ्ख्याकं दानम्. बद्धं यथा स्यात् तथा गा ददौ, क्षौमाजिनतिलांश्च ददौ. सर्वेषां दानं मिलित्वा बद्धसङ्ख्याकं दानमित्यर्थः. **समुदाय एवेति**, अस्मिन्मते क्षौमाजिनतिलसहितानां बद्धसङ्ख्याकानां गवां दानमेकमेवेत्यर्थः. स्वमते तु **बद्ध**शब्दं गोष्ठपर्यायं वक्ष्यन्तीति भावः. **न तु गार्हस्थ्ये** इति, सम्पूर्णगृहस्थाश्रमवर्षाणां मेलने एतावद्दानं सम्पन्नमिति नेत्यर्थः. **उपक्रमे** इति, "अथोषसी"तिश्लोके 'पतिभिरि'ति बहुवचनोपक्रमादित्यर्थः ॥९॥

---

१. विचार्य. २. लक्ष्य-.

ततो नमस्कारादिकमाह **गोविप्रेति.**

गो-विप्र-देवता-वृद्ध-गुरून् भूतानि सर्वशः ।
नमस्कृत्यात्मसम्भूतीर्मङ्गलानि समस्पृशत् ॥१०॥

गावो हविर्विप्रा मन्त्राः **देवताश्च** — त्रितयं मिलितं यागो भवतीति क्रमोः निरूपितः. **वृद्धाः** सर्वे सभासदः **गुरवः** कर्मोपदेष्टारः. **सर्वश** इति शिष्यप्रशिष्यादिसहितान्. एतेषां नमस्कारे हीनता भवतीति शङ्कां निवारयति **आत्मसम्भूतीरिति.** एते सर्वे सम्भूतिरूपाः ; यथा स्वयं स्वपादक्षालनं करोति तद्वदित्यर्थः. ततो **मङ्गलानि सम्यगस्पृशद्** गोहिरण्यादीनि मङ्गलानि ॥१०॥

धर्मपरिष्कारमुक्त्वा धर्मिपरिष्कारमाह **आत्मानं भूषयामासेति.**

आत्मानं भूषयामास नरलोकविभूषणम् ।
वासोभिर्भूषणैः स्वीयैर्दिव्यगन्धानुलेपनैः ॥११॥

स्वस्य सच्चिदानन्दं रूपं देहं भूषयतीति पक्षं व्यावर्तयितु**मात्मपदम्.** किन्त्वात्मानमेव, अध्यासादात्मपदं शरीरेऽपि वर्तते जीवेषु नतु भगवतीति. भूषणस्य प्रयोजनमाह **नरलोकविभूषणमिति.** न हि स्वार्थमलङ्करणं करोति, निरतिशयानन्दत्वात्, किन्तु जगतो भूषणम्. तद्रूपं जगच्च लौकिकोत्कर्षमपेक्षते. अतो यथा भूषणसंस्कारे भूषितः संस्कृतो भवति एवं जगद् भगवता संस्कृतमित्यर्थः. पूर्वपरिधानीय-वस्त्राद्यपेक्षया भिन्नान्येतानीति ज्ञापयितुं भूषणकरणानां नामतो निरूपणमाह **वासोभिरिति.** कञ्चुकोष्णीषादिभिः **भूषणरूपैः स्वीयैः** असाधारणैः मकरकुण्डलादिभिश्च. **दिव्यो गन्धो यस्य** एतानि **अनुलेपनानि** बहुविधानि. ततः सर्वाभरणभूषितः ॥११॥

अवेक्ष्याज्यं तथादर्शं गोवृषद्विजदेवताः ।
कामगं सर्ववर्णानां पौरान्तःपुरचारिणाम् ॥
प्रदाप्य प्रकृतीः कामैः प्रतोष्य प्रत्यनन्दत ॥१२॥

आत्मानं तेजोमयं कर्तुमाज्यावेक्षणं कृतवान्. तेन सर्व एव लोकदृष्ट्या रोगादयो निवृत्ता भवन्ति. ततः कान्तियोगार्थमादर्शं दृष्टवान्, गो-वृष-द्विज-देवतानां च दर्शनं कृतवान्. अत्र देवा देवालयस्थाः. ततो लौकिकोचितदानमाह **कामगमिति.** कामं गच्छति पूरयति प्राप्नोतीति वा **कामगाः** मनोहरा

विषयाः. सर्वेषामेकं न भवतीति ज्ञापयितुं **सर्ववर्णानां** मुख्यानां गौणानां चेत्युक्तम्. **पौरान्तःपुरचारिणामिति** लौकिकप्राधान्यार्थमुक्तम्. साक्षात्तेषां दानं तेषामभीष्टं न भवतीति गोप्यार्थं **प्रदाप्येत्युक्तम्. प्रकृतीः** मन्त्रिणः अन्तःपुरस्त्रियो वा **कामैः प्रतोष्य** ततस्तत्कृतां पूजां **प्रत्यनन्दत** ॥१२॥

ततो भोगं वक्तुं मुख्यत्वात् ताम्बूलादिस्वीकारमाह **संविभज्येति.**

संविभज्याग्रतो विप्रान् स्रक्-ताम्बूलानुलेपनैः ।
सुहृदः प्रकृतीर्दारानुपायुङ्क्त ततः स्वयम् ॥१३॥

अग्रतः प्रथमं **विप्रान् संविभज्य** विप्रेभ्यो दत्वा **स्रक्-ताम्बूलानुलेपनानि.** सर्वैः सर्वेषां संविभागः — लौकिकदाने सुहृदः प्रथमाः, ततः[१] प्रकृतयः मन्त्रिणः, ततो दाराः. यद्यपि प्रथमं स्वस्योपयोगः तथापि संविभागः सर्वेषां प्रथम एव, भगवदुपभोगानन्तरं पदार्थोत्पत्त्यसम्भवात्. अतः पश्चात् **स्वयमुपायुङ्क्त,** शिष्टस्य सेवकगामित्वात् ॥१३॥

ततस्त्रैलोक्यरक्षार्थमुद्यतस्य सुधर्मायां गमनं निरूप्यते **तावत्सूत** इति चतुर्भिः.

तावत्सूत उपानीय स्यन्दनं परमाद्भुतम् ।
सुग्रीवाद्यैर्हयैर्युक्तं प्रणम्यावस्थितोऽग्रतः ॥१४॥
गृहीत्वा पाणिना पाणिं सारथेस्तमथारुहत् ।
सात्यक्युद्धवसंयुक्तः पूर्वाद्रिमिव भास्करः ॥१५॥
ईक्षितोऽन्तःपुरस्त्रीणां सव्रीडप्रेमवीक्षितैः ।
कृच्छ्राद् विसृष्टो निरगाद् जातहासो हरन् मनः ॥१६॥
सुधर्माख्यां सभां सर्वैर्वृष्णिभिः परिवारितः ।
प्राविशद् यन्निविष्टानां न सन्त्यङ्ग षडूर्मयः ॥१७॥

परमाद्भुतमिति वैकुण्ठात् समागतरथव्युदासः. किन्तु धर्ममयो रथः,

---

लेखः

तावत्सूत इत्यस्याभासे. अत्र श्लोकत्रयेण निर्गमनं निरूप्य चतुर्थेन सुधर्माप्रवेश उच्यते. तत्र श्लोकत्रयसङ्ख्यातात्पर्यमाहुः **त्रैलोक्येति.** व्याख्याने

---

१. ततः इत्यधिकं खपाठानुरोधेन, मुद्रिते नास्ति - सम्पा.

स तु सङ्कर्षणोपकारी. अश्वाः सूतश्च त एवेत्याह **सुग्रीवाद्यैर्हयैर्युक्तमिति**. अनिरुद्धप्राधान्यात् **सुग्रीवाद्यैरित्युक्तम्**. प्रणामः पूर्वस्माद् वैशिष्ट्यद्योतकः. अग्रे तूष्णीमवस्थानं कार्यस्य [१]अलौकिकत्वाभावाय. ततः अप्रेरितोऽपि भगवान् **सारथेः पाणिं पाणिना गृहीत्वा रथमारुहत्**. तस्य क्रियाशक्तिः स्वक्रियाशक्त्या निबद्धा, अन्यथा धर्मप्रेरकोऽन्यथा प्रेरयेत् [२]पूर्वाविशिष्टत्वात्. **तं रथमारुहदिति**, भगवदारूढो धर्मः सर्वत्र सुस्थिरो भवतीति **तमित्युक्तम्**. रक्षारूपा क्रियाशक्तिः भक्तिश्च साधनत्वे धर्मे ग्राह्येति **सात्यक्युद्धवसंयुक्त** इत्युक्तम्. **उद्धवो** = भक्तिः अधिकारिणामेव प्रकाशको भविष्यतीत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **पूर्वाद्रिमिव भास्कर** इति. प्रातः सर्वेषामेव प्रबोधो भवति, न केवलमधिकारिणाम्. ततो धर्मे कामनिवृत्तिमाशङ्क्य तन्निराकरणार्थमाह **ईक्षितोऽन्तःपुरस्त्रीणामिति**. **स्त्रीणामिति** षष्ठीबहुवचनं न केवलं दर्शनमात्रं किन्तु तासां सम्बन्ध्यपि भगवानिति द्योतयति. ज्ञानद्वारा सम्बन्धः. आन्तरः बाह्यो निवर्तक इति ज्ञाने त्रैविध्यमाह **सव्रीडप्रेमवीक्षितैरिति** — व्रीडा तामसी प्रेम राजसं वीक्षितं सात्त्विकमिति. ततो भावेन बद्धः "ये यथा मां प्रपद्यन्त" (भ.गीता ४।११) इतिन्यायेन. तासामपेक्षया स्वच्छन्दं धर्मपरता न भविष्यतीति तासां

लेखः

अनिरुद्धेति. सङ्कर्षणकार्ये सैन्याश्वस्य प्राधान्यात् तदादित्वमुक्तम्; अनिरुद्धकार्ये सुग्रीवस्य प्राधान्यात् **सुग्रीवाद्यैरित्युक्तम्**. अयं सुष्ठु ग्रीवा यस्येति रजस्तमसोरभावाद् धर्मोपयोगी, स तु सैन्यवत्संहारकत्वात् संहारोपयोगीति भावः. **अन्यथेति**. दारुकक्रियाशक्तेर्निबन्धनाभावे संहारधर्मे प्रेरकः सङ्कर्षणस्तं संहारकार्ये प्रेरयेत्, नतु धर्मकार्ये, तस्य तत्कार्यार्थमेवागतत्वात्. तत्र हेतुः **पूर्वेति**. एतस्यापि रथारोहणस्य संहारार्थरथारोहणतुल्यत्वाद् अनिरुद्धांशेन निर्बन्धने स न तथा कुर्यादित्यर्थः. **रक्षेति**, अधुना सात्यकेः पुराध्यक्षत्वाद् रक्षारूप-क्रियाशक्तिरूपत्वम् ॥१४-१५॥

ईक्षित इत्यत्र. **बाह्य** इति, बाह्यो दाम्पत्यसम्बन्ध एतस्मिन्समये भगवतः सकाशादेतासां निवर्तकः, एतस्य सभागमनकालत्वादित्यर्थः. **तथापि**

---

१. लौकिक- इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा. २. पूर्वावशिष्टत्वादिति पाठः.

निर्बन्धाभावमाह **कृच्छ्राद् विसृष्ट** इति. कष्टेन ताभिर्विसृष्टः धर्मानुरोधान्निर्गच्छत्विति विचारितः. ततो **निरगात्. जातहास** इति तासामपि धर्मानुरोधमालक्ष्य हास्यम्. न हि स्त्रीणां कामादुपरतिरस्ति. तथापि धर्मपरताप्यासां मा भूदिति ज्ञापनार्थं धर्मपरत्वम्[1]. **हरन्मन** इति निरोधार्थम्, अन्यथा लोके धर्मे वा चित्तमासक्तं भवेद्, भगवान् **विसृष्ट** इति. **सुधर्माख्यामिति** सुष्ठु धर्मो यत्रेति नाम्नैव धर्मपरत्वं सिद्ध्यति. **सभा** स्वभावतोऽपि धर्मनिर्णयस्थानम्. **सर्ववृष्णिभिः परिवारित** इत्येकमत्यं[2] तस्यामाधिदैविकधर्मत्वज्ञापनार्थम्. कालधर्मातिक्रममाह **यन्निविष्टानामिति**. यत्रोपविष्टानां **षडूर्मयो** देहादिधर्माः आवश्यका अपि **न सन्ति** तत्रानावश्यकाः सुतरामेव न भविष्यन्तीति अर्थादुक्तम् ॥१४-१७॥

एवं सुधर्मामाहात्म्यमुक्त्वा तत्रोपवेशने धर्म एव केवल इत्याशङ्क्य स च निर्बन्धात्मक इति सुखोपवेशनमाह **तत्रोपविष्ट** इति.

लेखः

धर्मपरतापीति, यत्किञ्चिद्धर्मानुरोधेऽपि धर्मनिष्ठता आसां मा भूदिति भगवदाशय **इति** हेतोर्लोकेषु धार्मिकत्वं ज्ञापयितुं "यद्यदाचरति श्रेष्ठ" (भ.गीता ३।२१) इतिन्यायेन लोकान् शिक्षयितुं बाह्यतः स्वस्य धर्मकरणम्, अन्तस्तु जातहासत्वात् कामरसमनुभवतीत्यर्थः. धर्मद्वेषवत् केवलधर्मनिष्ठताप्यासामयुक्तेत्य**पि**शब्दः. **अन्यथेति**, निरोधाभावे स्त्रीणां चित्तं लौकिकपदार्थे धर्मे वासक्तं भवेद्, भगवतो विसृष्टत्वादित्यर्थः. अत एवाभासे कामनिवृत्तिनिराकरणमेव वाक्यतात्पर्यार्थ उक्तः. **सुधर्माख्यामित्यस्य** वाक्यार्थ"स्तावत्सूत" इति श्लोकाभासे उक्त एवेति नात्राभास उक्तः. **षडूर्मय** इति, "क्षुत्पिपासे शोकमोहौ जरामृत्यू षडूर्मयः" (.   । ।) ॥१६-१७॥

तत्रोपविष्ट इत्यस्याभासे **सुखोपवेशनमाहेति**. भगवतो भानस्य स्वतःसिद्धत्वात् तदनुवादेनोपवेशनमेव वाक्यार्थ इति भावः. अत एव **बभाविति**पदस्य अभानशङ्कानिवृत्त्यर्थकत्वमेव वक्ष्यन्ति. व्याख्याने

---

१. धर्मपरत्वं भगवतः इति ऊह्यम् - सम्पा. २. 'इत्येकमि'तिपाठं स्वीकृत्य "स्वरूपं ज्ञेयमि"तिटिप्पणं श्रीपुरुषोत्तमानाम्.

तत्रोपविष्टः परमासने विभुर्बभौ स्वभासा ककुभोऽवभासयन् ।
वृतो नृसिंहैर्यदुभिर्यदूत्तमो यथोडुराजो दिवि तारकागणैः ॥१८॥

तत्र सभायाम्. तत्रापि मध्ये भगवदुपवेशनस्थानं **परमासनम्**. प्रान्ते पश्चिमभागे कुड्यसमीपे राज्ञः स्थानं, मध्ये तत्सम्मुखे भगवत्स्थानमिति विमर्शः. सभासदां मध्ये भगवतोऽनुप्रवेशं निवारयितुमाह **स्वभासा ककुभोऽवभासयन्निति**. तत्र सामर्थ्यं **विभुरिति**. राज्ञो मुख्यत्वादभानमाशङ्क्याह **बभाविति**. सभाधर्मेण देवधर्मेण वा तथात्वमाशङ्क्य **स्वभासेति**. अप्रधानेनापि प्रधानभानं सम्भवतीति तन्निराकरणार्थं दश दिश एवोक्ताः नतु तत्रत्या एव केवलाः. अनेन सभया भगवद्भानं निवारितम्. एवं तर्हि सभासदाम् अप्रयोजकत्वमेव स्यादित्याशङ्क्य निराकरोति **वृतो नृसिंहैरिति**. तेषामागन्तुकत्वं निराकरोति **यदुभिरिति**, अन्यथा नृसिंहाः परशुरामव्यासादयो भवेयुः. तुल्यतामाशङ्क्याह **यदूत्तम** इति. तेषामेकत्र निवेशनमात्रं; भगवतस्ततोऽप्युत्तमत्व एव स्याद् नतु नियामकत्वम्. ततो धर्म एकमुखो न भवेदिति तेषां पतिर्भगवानिति दृष्टान्तेन निरूपयति **यथोडुराज** इति. **दिवीत्याधिभौतिकं** निवारितम्, यथा देवरूपम्. ग्रहनक्षत्राणामपि केनचिदंशेन तुल्यता पोषकत्वं चास्तीति **तारकागणैरित्युक्तम्**. **उडुराज** इत्यनेन स्वकीयानां तदधीनत्वमुक्तमेव ॥१८॥

ततो धर्मफलमिव वदन् मनसः परितोषार्थमाह **तत्रोपमन्त्रिण** इति.

तत्रोपमन्त्रिणो राजन् नानाहास्यरसैर्विभुम् ।
उपतस्थुर्नटाचार्या नर्तक्यस्ताण्डवैः पृथक् ॥१९॥

उपमन्त्रिणः कौतुकिनः. **राजन्निति** ज्ञापनार्थं सम्बोधनं **नानाविधा हास्यरसाः**. लौकिकी भाषेयं धर्मे चित्तोद्वेगनिवारणार्थमुक्ता. विभुत्वादप्रेरिता अपि तथा **उपतस्थुः**. न केवलं हास्यरसा एव किन्तु शृङ्गारादयोऽपि

लेखः

दिवीत्याधिभौतिकम् इति, आधिभौतिकं रूपं ज्योतिश्चक्रे तिष्ठति नतु स्वर्गे इत्यर्थः ॥१८॥

परितोष (षार्थ) माहेति. अयं वाक्यतात्पर्यार्थ उक्तः, शक्यार्थस्तूपस्थानमेव.

विभावादिभिः प्रकाशिता इत्याह **उपतस्थुरिति**. **नटाः** रसाभिनयनकर्तारः शुद्धस्वाङ्गप्रदर्शकाः, स्त्रियोः **नर्तक्यः** लास्यप्रदर्शिकाः ; उभयविधा अपि सभात्वात् **ताण्डवैरेव पृथक् पृथक् उपतस्थुः**. **नरानार्य** इति वा पाठः ॥१९॥

भगवतः सभायां गमनमुत्सवरूपमिति ज्ञापयितुं वाद्यमाह **मृदङ्गेति**.

मृदङ्ग-वीणा-मुरज-वेणु-ताल-दर-स्वनैः ।
ननृतुर्जगुस्तुष्टुवुश्च सूतमागधबन्दिनः ॥२०॥

षड्विधानां **स्वनैः** सह **ननृतुर्जगुस्तुष्टुवुः**. स्तोत्रे नटादयो नात्यन्तमभिज्ञा इति सूतादीन् निर्दिशति **सूतमागधबन्दिन** इति ॥२०॥

तत्रस्था ब्राह्मणाः केचिदासीना ब्रह्मवादिनः ।
पूर्वेषां पुण्ययशसां राज्ञां चाकथयन् कथाः ॥२१॥

लौकिकोत्सवमुक्त्वा तस्य धर्मफलत्वं ज्ञापयितुमाह **तत्रस्था ब्राह्मणाः केचिदिति**. ते हि सभासदः सभायामधिकृताः धर्मनिर्णयार्थं, यतो **ब्रह्मवादिनः** सर्वज्ञाः ; अन्ये हि धर्मं न विदुः. **केचिदिति** साधारणाः, नतु वसिष्ठादयः. धर्मः परम्परागत एव कर्तव्य इति तादृश एव भगवता क्रियत इति ज्ञापयितुं ब्राह्मणैस्तथा निरूप्यत इत्याह **पूर्वेषां पुण्ययशसामिति**. इक्ष्वाकुप्रभृतीनां धर्मे यादृशं वर्तनम्. पुण्यं यशो येषामिति लोकेऽप्यविगीतानाम्. **चकाराद्** ब्राह्मणादीनामपि **कथाः** धर्मोपयुक्ताः **अकथयन्**. यतो धर्मवार्तैव सभायां नत्वन्यवार्तेति ज्ञापितम् ॥२१॥

यदर्थमेषा धर्मकथा निरूपिता तं सात्त्विकानां निरोधं निरूपयितुं प्रस्तावनामाह **तत्रैकः पुरुष** इति त्रिभिः.

तत्रैकः पुरुषो राजन् नागतोऽपूर्वदर्शनः ।
विज्ञापितो भगवते प्रतीहारैः प्रवेशितः ॥२२॥
स नमस्कृत्य कृष्णाय परेशाय कृताञ्जलिः ।
राज्ञामावेदयद् दुःखं जरासन्धनिरोधजम् ॥२३॥

लेखः

तत्रस्था इत्यस्याभासे **धर्मफलत्वमिति**. धर्मः फलं यत्र तादृशार्थत्वं धर्मार्थत्वमित्यर्थः ॥२१॥

ये च दिग्विजये तस्य संनतिं न ययुर्नृपाः ।
प्रसह्य रुद्धास्तेनासन्नयुते द्वे गिरिव्रजे ॥२४॥

धर्मेणालौकिकप्रकारेण निरुद्धाः बहिः जरासन्धद्वारा च उपायान्तरान्निवृत्ताः भगवन्तमेव विज्ञापयामासुः. तथापि भगवान् लोकन्यायेन लीलां करोतीति निश्चित्य दूतं प्रेषितवन्तः. तस्यागमनं निरूप्यते. **एकः** असहायः **पुरुषः** समर्थः. (**राजन्निति** !) सम्बोधनं ज्ञापनाय. **अपूर्वं दर्शनं यस्येति** अदृष्टपूर्वः ; भिन्नप्रक्रमार्थं निरूपितः. स पूर्वं दौवारिकैर्विशेषेण ज्ञापितः —राजधर्मा एते. ततो भगवताभ्यनुज्ञातः **प्रतीहारैः प्रवेशितः** बहुभिरेकः. नीतिरेषा. तस्य कृत्यमाह **स नमस्कृत्य** इति. **कृष्णाय,** नतु राज्ञे, अलौकिकत्वात्. तत्र हेतुः **परेशाय** कालादृष्टादीनामपि नियामकाय. न हि राज्ञा कालादयो निवारयितुं शक्याः. **कृताञ्जलिरिति** दूतस्यापि सात्त्विकत्वं निरूपितम्. राजत्वाद् दुःखानुभवः, अत एव **जरासन्धनिरोधादेव** उत्पन्नं **दुःखं** भगवते **आवेदयत्**. भगवद्भक्तानां दुःखमनुचितमित्याशङ्क्य भक्तिविरुद्धधर्मसम्भवात् तेषां दुःखमिति वक्तुमभिमानमाह **ये च दिग्विजय** इति. नृपत्वात् **सम्यङ्नतिं** नम्रतां **न ययुः,** नतु भगवदीया इति. भगवद्विमुखो जरासन्ध इत्यतोऽन्तर्यामिप्रेरणया, **प्रसह्य तेनैव रुद्धाः द्वे अयुते गिरिव्रजे आसन्**. अहन्ताया ममतायाश्च चतुर्दश चतुर्दश स्थानानीति सहस्रशः शतशश्च तेषां वृत्तय इति विंशतिसहस्राण्यष्टशतानि च सङ्ख्या भवति. अष्टशतान्युपसंहारे निरूपितानि. **गिरीणां व्रजो यत्रेति** कूटवत् पर्वताः परितो दुर्गत्वाय निरूपिताः ॥२२-२४॥

दूतस्तेषां वचनान्याह **कृष्ण कृष्णेति** षड्भिः. ऐश्वर्यादयो धर्मा भगवदीयाः क्रमेण निरूप्यन्ते, भगवानेव हि जीवानां स्वगुणैर्मोचक इति.

लेखः

ये च दिग्विजये इत्यत्र **अहन्तेति**. दशेन्द्रियान्तःकरणचतुष्टयम् —एवं चतुर्दशस्थानान्यहन्ताया ममतायाश्चेत्यष्टाविंशतिः. तथाच निरोध्येषु तावत्सङ्ख्यया वृत्तिसहिताहन्ताममतास्थानत्वाद् एते निरुद्धा इत्यभिमानस्य निरोधहेतुत्वं सूचितम्. पूर्वश्लोके दुःखजनकत्वेन जरासन्धनिरोधस्योक्तत्वाद् अत्र निरोधानुवादेन तद्धेत्वभिमाननिरूपणं वाक्यार्थ इत्याशयेनाभासे तथोक्तम् ॥२४॥

तत्रैश्वर्यं निरूपयन्ति.

॥ राजान ऊचुः ॥

कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् प्रपन्नभयभञ्जनः ।
वयं त्वां शरणं यामो भवभीताः पृथग्धियः ॥२५॥

आदरे वीप्सा. स्नेहादरयोर्नैश्वर्यं [1]बाधकम्. अदृष्टकालादीनां बाधकत्वात् साधारणाधिकारित्वाच्च कथं भवतां दुःखनिवृत्तिरिति चेत्, तत्राह **अप्रमेयात्मन्निति**. प्रमातुं योग्ये हि कालादिविचारः, नत्वयोग्ये. तथाप्युदासीनो भवेदित्याशङ्क्याहुः **प्रपन्नभयभञ्जनेति**. "सङ्ग्रामे [2]विप्रपन्नानाम्" (रामा. ६।१८।३३) इत्यादिवाक्यात् प्रपन्नभयनिवारकत्वं तत्रावश्यकम्. अतो वयं प्रपन्ना भवाम इत्याहुः **वयं त्वां शरणं याम** इति. जरासन्धाद् विमोकपक्षं वारयन्ति **भवभीता** इति. नह्येकस्माद् भयात् कश्चिन्निवृत्तिं वाञ्छति सर्वभयनिवृत्तिसम्भवे. बहिर्मुखानां संसारे सर्वतोभयम्, तदाहुः **पृथग्धिय** इति. अनेन ज्ञानादिपक्षा निवारिताः ॥२५॥

ननु सर्वे येन प्रकारेण संसारनिवृत्तिं वाञ्छन्ति तेनैव प्रकारेण संसारो निवर्तनीयः, किं मच्छरणागमनेनेत्याशङ्कायामाहुः **लोको विकर्मनिरत** इति.

लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥२६॥

कालरूपश्च त्वमेव अतस्त्वच्छरणागमनेनैव भयनिवृत्तिः नान्यथा. यतस्तवाज्ञोल्लङ्घने त्वमेव भक्षयसि. आज्ञोल्लङ्घनं प्रपञ्चयन्ति **विकर्मणि** निषिद्धे विहितोल्लङ्घने वा **निरतः** तदेवादरेण करोति. लोकस्य तत्रैव महती श्रद्धा. **कुशले** विहिते **प्रमत्तः** असावधानः. तत्पुनरीश्वरवाक्योल्लङ्घन-रूपमिति वक्तुमाहुः **त्वदुदित** इति. वीर्यवता[3] वेदादिकर्त्रा त्वयैव तन्निरूपितम्.

लेखः

लोको विकर्मेत्यत्र **वीर्यवतेति**. वीर्यस्य वाक्यार्थत्वादेवमुक्तम्. त्वया

---

१. नैश्वर्यबाधकत्वम्. २. प्रतिपन्नानाम् इति कपाठः -सम्पा. ३. वीर्यं बलादिति पाठः.

तत्रापि **भवदर्चने** भवत्पूजारूपे तन्त्रोक्ते साक्षाद्भगवतैवावतीर्णेन निरूपिते. तत्रापि **स्वे** श्रवणादिरूपे. त्रिविधं कर्म भगवता निरूपितम्— वैदिकं पाञ्चरात्रं भागवतं च. उत्तरोत्तरं प्राणिनामश्रद्धातिशयः अतः प्रमत्तः. भगवानपि प्रमत्त इव न तूर्ष्णीं तिष्ठति यतो जगत्कर्ता, तदाहुः **यस्तावदिति**. सह्यधिकृतः, अन्यथा प्रलयो न सम्भवेद्, जीवधर्मापेक्षया ब्रह्मधर्मा विशिष्टा इति. **तावदिति** यावत् प्रमत्त एव तिष्ठति. आज्ञोल्लङ्घनसमनन्तरमेव अधः तत्तरणं प्रमाणं वा स्वानुभवरूपं निरूप्यते. एतत्करणे यो गुणः प्रधानभूतः तं निर्दिशति **बलवानिति**. साक्षान्मारणे न जानीयात्. न हि मरणे जन्मान्तरे वा मरणक्लेशस्मृतिरस्ति. अतो **जीविताशामेव** रोगादिना निराकरोति, येन सर्वेषामेव मरणप्रतीतिर्भवेत्. सर्वथा आज्ञोल्लङ्घने महान्तं व्याध्यादिकमुत्पादयतीत्यर्थः. जीववद् भगवानपि कदाचिदसावधानो भवेदित्याशङ्कायामाहुः **अनिमिषायेति**, अतिसावधानाय. अत**स्तस्मै नमः** पूर्वापराधक्षमापनार्थम्. शरणागतिस्तु मोक्षार्था, अपराधे विद्यमाने साधनैरपि मोक्षो दुर्लभ इति ॥२६॥

एवमैश्वर्य-वीर्ये निरूप्य यशो निरूपयिष्यन्तश्चोद्धरणाभावे तत्र न्यूनतां भावयमानाः सिद्धान्तापरिज्ञानात् पृच्छन्त इवाहुः **लोके भवानिति**.

लोके भवान् जगदिनः कलयावतीर्णः
सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चान्यः ।
कश्चित् त्वदीयमतियाति निदेशमीश
किं वा जनः स्वकृतमृच्छति तन्न विद्मः ॥२७॥

जगदिनो जगत्स्वामी **भवान् लोके कलया सहावतीर्णः** ससहायः. तत्र प्रयोजनद्वयं— **सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय** चेति. ईश्वरः साधारण्येन पालनार्थमेव तथा करोति, सुतरां विशेषप्रयत्नवान्. चकाराद् भक्तरक्षार्थम्.

लेखः

एतच्छ्लोकवाक्यार्थरूपेणोदिते इत्यर्थः. **जगत्कर्तेति** वेदादिकर्ता, अतः स्वाज्ञोल्लङ्घने दण्डयतीत्यर्थः. कालस्य दोषमाशङ्क्याहुः **स हीति**. कालो मारणेऽधिकृत इत्यर्थः. कालस्य जीवात् प्राबल्ये हेतुमाहुः **जीवेति**. प्रमादो जीवधर्मः अधिकारो भगवद्धर्म इत्यर्थः ॥२६॥

एवं त्रिविधकार्यसन्दर्भेऽप्यस्मासु. [1]कस्माद्धेतोरन्यस्तुच्छः अनीश्वरः कारणकार्यप्रेरकस्य तव **निदेशमाज्ञाम् अतियाति** स्वगर्वादिति चेत्, तत्राहुः **ईशेति**. सम्बोधनमुल्लङ्घ्य वाक्यत्वबोधनार्थम्— "मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम्" (भाग.पुरा. १०।४८।४४), "सङ्ग्रामे च प्रपन्नानां 'तवास्मी'ति च यो वदेद्, अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम[2]." (रामा. ६।१८।३३-३४) साधारणस्तु स्वप्रारब्धमनुभवतीत्याह **किं वा जन** इति. एवं भगवद्वाक्यं साधारणमिति मन्यमाना वयं दुःखं चानुभूय **तदत्र** निर्णीतं **न विद्मः** दुःखानुभवो न निर्णायकः, शास्त्रमात्रोच्छेदप्रसङ्गात्. अतः स्ववाक्यपरिपालनार्थं मोचयेति तात्पर्यम् ॥२७॥

ननु प्रत्यक्षविरोधिनं सन्दिग्धमिमं मार्गं विहाय ज्ञानमार्ग एव सर्वत्यागात्मको निरभिमानात्मको वा कुतो नाश्रीयत इत्याशङ्कां परिहरन्तो भगवच्छ्रियं निरूपयन्ति **स्वप्नायितमिति**.

स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रमीश
शश्वद् भयेन मृतकेन धुरं वहामः ।
हित्वा तदात्मनि सुखं त्वदनीहलभ्यं
क्लिश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह ॥२८॥

वस्तुतो ज्ञानमार्गयोग्यो विषयोऽस्ति तथाप्यपरित्यागे हेतुः **तव माया** श्रीरूपा. अतो वाक्यं वा पालय मायां वा व्यावर्तयेति. **स्वप्नो** मायामात्रमिति स्थितम्. **नृपाणां सुखं** लोके प्रसिद्धम्, तन्मायिकमेव, व्यवहारे कापट्याधिक्यात्. माया हि कुहकाधीना. अन्तर्यामिप्रतिनिधित्वेन [3]लोकं निरूपयन् भगवान् प्रतिकूल इति ज्ञापयितुं सुखं विशिनष्टि **परतन्त्रमिति**. अन्तर्यामिणः सख्युः

लेखः

स्वप्नायितमित्यत्र. ज्ञानमार्गयोग्य इति ज्ञानमार्गीयत्यागयोग्य इत्यर्थः. **अन्तर्यामिप्रतिनिधित्वेनेति**. यथान्तर्यामि प्रेरयति तथा करोतीति प्रतिनिधित्वम्.

---

१. अस्मात्. २. ममेत्यनन्तरं— **"कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति" "नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्ड" इति. अथ मतं प्रायिकमेतत् पुष्टिमार्गस्थितानामेव** —इत्यधिकं क्वचित्. ३. लोकाम्.

अनुचितमेतदित्याशङ्क्य सम्बोधयति **ईशेति**. माया स्वकार्यभोग्या नत्वात्मभोग्येति ज्ञापयितुं साधनमाह **मृतकेनेति**. चेतनसम्बन्धाभावाय तथा वचनम्. मायाकार्यं साधने स्पष्टमित्याह **शश्वद्भयेनेति**. तेन भारवहनमत्यन्तं मायामोहितकार्यम्. लोका मृतकमेव कथञ्चिद् वहन्ति त्यजन्ति वा, नतु मृतकेन किञ्चिद् वहन्ति, वयं तु तेन **धुरं वहाम** इति स्पष्टोऽस्मासु मोहः. ननु सुखासक्त्या असाधनेऽपि प्रवर्तते प्रकारान्तरेण सुखमलभमान इति चेत्, तत्राह **हित्वा तदात्मनीति**. सुखस्य परमोत्कर्षमाह **तदिति**. **आत्मनीति** गमनक्लेशाभावः. क्रियाप्रयासं व्यावर्तयति **अनीहलभ्यमिति**. तुशब्देन न्यायसिद्धान्तवन्निरानन्दात्मपक्षो व्यावर्त्यते. सुखप्राप्तिर्ज्ञानादनीहया च. निरोधादनीहा सम्भवतीति "सर्वेहोपरतिस्तनुरि" (भाग.पुरा. ७।१३।२६) -तिवाक्यात् सुखप्राप्तिः. तथाप्यन्याभिनिवेशाद् हीनम्. "भोक्ता तारतम्यं जानाती" (. । ।) ति न्यायात् विषयसुखमेव सर्वोत्कृष्टं भविष्यति, अन्यथा चित्तं कथं प्रवर्तेतेत्याशङ्क्याह **क्लिश्यामह** इति. **त्वदनीहलभ्यमिति** पाठे त्वत्स्मरणेन तत्सुखस्य सुलभता निरूपिता. क्लेशस्यानुभवसिद्धत्वाद् विपरीतहेतुत्वेन अलौकिकत्वेनानान्तरीयत्वाच्च क्लेशपर्यवसानानुभवेऽपि अनिवृत्तत्वाद**तिकृपणाः** अनालोचनेन याचनादिना अतिदीनाः. तत्र हेतु**स्तवैव माया**, अतो विज्ञापना. अन्य**थेह** विषयेच्छा न स्यात्, वैराग्यहेतूनामानन्त्यात् ॥२८॥

एवं श्रियं निरूप्य भगवतो ज्ञानशक्तिं निरूपयन्तः तत्फलं मोक्षं प्रार्थयन्ते **तन्नो भवानिति**.

लेखः

त्वदनीहेतिपाठे **त्वदिति**पञ्चम्येकवचनम्; त्वत्तो हेतोरनीहलभ्यमित्यर्थः. **क्लेशस्येति**. विषयसुखानन्तरं क्लेशोऽनुभवसिद्धः, अतो विषयसुखं विपरीतस्य क्लेशस्य हेतुः. नान्तरीयत्वे सोप्यविगीतो भवेत्. सत्वलौकिकोऽप्रत्यक्षैरविद्यादि-भिर्जातोऽतो न नान्तरीयकः. **अनिवृत्तत्वात्** क्लेशस्येति शेषः. अतोऽनुत्कृष्टत्वं विषयसुखस्य. तादृशसुखयाचका वयमतिकृपणाः अतः क्लिश्यामहे इत्यर्थः ॥२८॥

तन्नो भवान् प्रणतशोकहराङ्घ्रियुग्मो

बद्धान् वियुङ्क्ष्व मगधाह्वयकर्मपाशात् ।

यो भूभुजोऽयुतमतङ्गजवीर्यमेको

बिभ्रद् रुरोध भवने मृगराडिवावीः ॥२९॥

ब्रह्मज्ञानं मोक्षहेतुः, तदक्षरम्, अवतारे तस्य पादत्वम्. भक्तार्थमेव अवतार इति अस्मद्व्यापारव्यतिरेकेणापि स्वत एव **तवाङ्घिद्वयं प्रणतशोकहरं** भवति. तेन तव या ज्ञानशक्तिः सा चरणेन संवलिता प्रणतानां शोकं हरति[१]. तत्रापि **नो भवान्** समानकालावतारान् अतो **बद्धान् वियुङ्क्ष्व.** नन्वेतादृशलौकिकबन्धनान्मोक्ष इति न ज्ञानसाध्यम्, तत्कथमसाधनेन साध्यप्रार्थनेति चेत्, तत्राहुः **मगधो** मागधो जरासन्धः. **कर्मपाशस्यैव** नामान्तरं तत्, "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" (मुण्ड.उप. २।२।८) तिवाक्यात्, देशनाम्ना स्थित्या [२]अधिककर्मणोत्पत्तिसम्भवाद् न भोगेन क्षयसिद्धिः. ननु मागधस्य कर्मत्वे किं प्रमाणम्? तत्राहुः **यो भूभुज** इति. न हि कर्माधीनः कश्चिद् **अयुतमतङ्गजवीर्यो** भवति. अतो भूभुजाममस्माकं भोगहेतुभूतमाधिभौतिकं कर्म निवार्य[३] स्वयमाधिदैविकः केवलं ज्ञानैकनिवर्त्यो भवति. तर्हि तस्मै राज्यं दत्वा तत्सेवका एव कुतो न भवन्ति? तत्राहुः **मृगराडिवावीरिति.** स हि भक्षणार्थमेव मेषीः स्थापयति, तथायमपि प्रमथनाथ-मखाय वधार्थमेव स्थापितवानित्यर्थः. अतस्तामसदेवतायै समर्पितानां तत्रैव प्रवेशात् कालान्तरेऽपि मोक्षो नास्तीति मरणात् पूर्वमेव वयं मोचनीया इति भावः. तद्भवने निरोधाद् न पलायनसम्भावना ॥२९॥

लेखः

तन्नो भवानित्यत्र चरणेन संवलितेति. [४]धर्मरूपज्ञानात्मकश्चरणः शक्तिरूपं ज्ञानं तत्संवलितमित्यर्थः. **नहि कर्माधीन** इति, मूले **अयुतमतङ्गजवीर्यं बिभ्रदित्युक्तं** तदर्थोऽत्र बहुव्रीहिणा **अयुतमतङ्गजवीर्य** इत्यनेन विवृतः ॥२९॥

---

१. विनयति. २. कर्मोत्पत्तिसम्भवात्. ३. विचार्य इति सं-क-खपाठः - सम्पा. ४. धर्मिरूप-.

भगवतो भोगासक्तिं निवारयन्त इव रक्षासक्तिं[1] प्रकटयन्तः भगवदीयत्वं स्वस्य वदन्तः भगवतो वैराग्यशक्तिमुररीकुर्वन्तः वैषम्य-नैर्घृण्यपरिहारार्थं पूर्वं भगवद्वृत्तान्तमाहुः **यो वै त्वयेति.**

यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्तचक्र-
भग्नो मृधे खलु भवन्तमनन्तवीर्यम् ।
जित्वा नृलोकनिरतं सकृदूढदर्पो
युष्मत्प्रजा रुजति नोऽजित तद्विधेहि ॥३०॥

वस्तुतस्त्वष्टादशेऽपि कार्यस्यासिद्धत्वाद् भङ्ग एव, अत आह **द्विनवकृत्व** इति. प्रजापतिर्वा विद्या वा न तस्य जयहेतुरिति रजस्तमोगुणावेव इतरसंश्लेषाद् आधिदैविकादिभेदापन्नौ हेतू इति नवसङ्ख्यायाः आवृत्तिरुक्ता. भगवान्माहात्म्यात् तद्गताधिदैविकैरेव भङ्गं व्यावर्तयितुमाह **उदात्तचक्रेति.** चक्रेण कालशक्त्यैव भक्षणार्थं व्यात्तया **मृधे** स **भग्नः**. **खल्विति** नात्र तिरोहितं किञ्चिदिति सूचितम्. ननु जयापजययोरव्यवस्थितत्वात् कथमेकस्यैव पराजय इति चेत्, तत्राहुः **भवन्तमनन्तवीर्यमिति.** परिमितबलानामेव जयाजयव्यवस्था. तथापि कपटवेषलीलायाः प्रकटितत्वात् तद्विरोधाभावाय **नृलोकनिरतं सकृद्** घुणाक्षरन्यायेन गूढहेतोर्वा **जित्वा ऊढदर्पो** जातः. वयं तु केवलं भवत्परिपाल्या एव, मर्यादापरित्यागेन पुष्टिमार्गावलम्बनात्. अतो यस्य भवदपेक्षाभावः[2] तेन सर्वथैव बाध्याः. अतो **युष्मत्प्रजाः रुजति** पीडयति. तर्हि लोकन्यायस्य स्वीकृतत्वात् कथं मोचनमिति चेत्, तत्राहुः हे **अजितेति.** तव

लेखः

यो वै त्वयेत्यस्याभासे वैराग्यशक्तिमिति. अन्येषु रागाभावो भक्तेष्वेव राग इत्यर्थः. **वैषम्येति.** पूर्ववृत्तान्तकथनेन दर्पयुतोऽयम् अतस्तस्य हितार्थमेव हन्तव्यः अतो वैषम्यनैर्घृण्यपरिहारः. व्याख्याने **रजस्तमोगुणाविति.** सत्त्वेन तमसा च रजस संश्लेष इतिद्वयम्, तमसश्च सत्त्वेन संश्लेषः एवं त्रयः. त्रयाणामपि गुणप्रधानभावभेदेन षट्. षण्णामाधिदैविकादिभेदत्रयेऽष्टादशेत्यर्थः. **उदात्तचक्रेण** करणेन **भग्न** इति समासः ॥३०॥

---

१. भक्तासक्तिम् इति खपाठः - सम्पा. २. भगवदपेक्षाभावः इति क-खपाठः - सम्पा.

स्वरूपमजितेति "द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलीय" (पूर्वमी.सू. ६।३।१८।३८) इतिन्यायेन लीलाप्रदर्शनं दूरीकृत्य अस्मान् पालयन् **तत्** स्वस्याजितत्वं **विधेहि**. अनेन सर्वे सन्देहा अनुपपत्तयश्च निवारिताः ॥३०॥

तेषां प्रार्थना आज्ञापनरूपत्वाद् दोषाय मा भवत्विति प्रपत्तिरूपतां सम्पादयितुं दूतस्तात्पर्यमाह **इतीति**.

॥ दूत उवाच ॥

इति मागधसंरुद्धा भवद्दर्शनकाङ्क्षिणः ।
प्रपन्नाः पादमूलं ते दीनानां शं विधीयताम् ॥३१॥

इति ते पादमूलं प्रपन्नाः मागधेन च संरुद्धाः. "दृष्टं स्मृतेर्बलिष्ठमि" (. । ।)ति स्मरणेन कार्यं न सेत्स्यतीति **भवद्दर्शनकाङ्क्षिणः दीनानां** प्रार्थितदानेन **शं विधीयतामि**ति. दूतस्य भगवत्साक्षात्कारे जाते तत्फलस्येव प्रार्थना, येन प्रार्थनाद्वयं दर्शनफलं चेति भवति साधकत्रयम् ॥३१॥

एवं राजसानां भगवद्धर्मेण भगवत्परतां निरूप्य सात्त्विकानामपि भगवत्परतां निरूपयितुं सात्त्विकमुख्यस्य नारदस्य सात्त्विककार्यपरस्य समागमनं निरूप्यते, अन्यथा भगवत्कार्यं [1]राजसमात्रपर्यवसायि स्यात्. क्षणमात्रविलम्बेऽपि भगवान् भक्तदुःखे विलम्बं न सहत इति राजदूते एवं वदत्येव समागत इत्याह **राजदूत** इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

राजदूते ब्रुवत्येवं देवर्षिः परमद्युतिः ।
बिभ्रत् पिङ्गजटाभारं प्रादुरासीद् यथा रविः ॥३२॥

देवानामपि मन्त्रद्रष्टृत्वात् तदानीमागमनमुचितम्. अन्येषां बाधकानां

लेखः

इतीत्यत्र प्रार्थनाद्वयमिति. भवभयविमोकप्रार्थना मगधकर्मपाशविमोकप्रार्थना चेत्यर्थः. **साधकत्रयमिति** मागधवधे त्रयं साधकं हेतुरित्यर्थः ॥३१॥

---

१. भगवत्कार्ये राजसमात्रपर्यवसायित्वम् इति खपाठः - सम्पा.

तेजोदूरीकरणाय **परमद्युतिरि**ति. अधिकारिणो नात्यन्तं वचनमादरणीयमिति शङ्कां वारयितुमाह **बिभ्रत् पिङ्गजटाभारमिति** —तपोरूपमेतत्. तत्रत्यानां तमोदोषव्यावृत्त्यर्थं **यथा रविरि**ति. **रविपदेनैव** भगवत्सान्निध्ये तम:सम्भावना सूचिता, अन्यथा दिन-रात्रिव्यवस्था न स्यात्. **प्रादुरासीदि**ति न दूतवत् तस्यागमनम् ॥३२॥

ततः तस्यागतस्य वाक्यसन्माननार्थं लौकिकसन्माननं निरूप्यते **तं दृष्ट्वे**ति त्रिभिः कायिक-मानसिक-वाचनिकैः.

तं दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः सर्वलोकेश्वरेश्वरः ।
ववन्द उत्थितः शीर्ष्णा ससभ्यः सानुगो मुदा ॥३३॥

तत्र कायिकमुत्थानं वन्दनं च सर्वैः सहेति त्रयम्. हर्षो मानसः. **भगव**त्त्वादनुचितत्वेऽपि **कृष्ण**त्वेनावतीर्ण इति तथात्वमुचितम्. शिक्षार्थमेतदिति ज्ञापयितुमाह **सर्वलोकेश्वरेश्वर** इति. ऋषित्वाल्लोकस्थानीयः गुरुत्वादीश्वरो वा, अतोऽवनतिर्न दोषाय. **सर्व**पदेन देवर्षित्वकृतोऽप्युत्कर्षो निवारितः ॥३३॥

सभाजयित्वा विधिवत् कृतासनपरिग्रहम् ।
बभाषे सूनृतैर्वाक्यैः श्रद्धया तर्पयन् मुनिम् ॥३४॥

सभाजनं तन्मनःप्रीतिकरणं लौकिकम्. ऋषित्वाद् वेदाभिनिवेश इति तदप्याह **विधिवदि**ति. ईश्वरधर्मविचारेण कदाचिदनङ्गीकारे कृतं व्यर्थं स्यादित्यत आह **कृतासनपरिग्रहमि**ति. दत्तासनस्वीकारः **परिग्रहः**. ततो वाचनिकारम्भमाह **बभाषे सूनृतैरि**ति. स हि श्रद्धया परितुष्यति, तदाह

लेखः

राजदूते इत्यत्र **अन्यथे**ति. रविं विना भगवत्सान्निध्येनैव तमःसम्भावनाभावे भगवल्लीलायां दिनरात्रिव्यवस्थानं न स्यात्. तथा नारदं विना भगवत्सान्निध्येनैव अज्ञानसम्भावनाभावे भगवल्लीलायां ज्ञानाज्ञानव्यवस्थानं न स्यात्. लीलार्थमज्ञानमपि स्थापनीयमिति भावः ॥३२॥

तं दृष्ट्वेति त्रिभिरिति. एतच्छ्लोकमारभ्य त्रिभिः प्रकारैः, नतु श्लोकैरित्यर्थः. **ऋषित्वादि**ति. नारदस्य लोकत्वपक्षे ईश्वरत्वपक्षे वा तस्यापीश्वरस्य भगवतो नारदवन्दनं शिक्षार्थमेव. **अत** इति शिक्षार्थत्वादित्यर्थः ॥३३॥

श्रद्धया तर्पयन्निति. मानसमेतत्. सोऽपि **मुनिस्तेनैव** परितुष्यति ॥३४॥

वाचनिकं द्वयेनाह **अपि स्विदिति.**

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अपि स्विदद्य लोकानां त्रयाणामकुतोभयम् ।
ननु भूयान् भगवतो लोकान् पर्यटतो गुणः ॥३५॥

सर्वलोकाधिकारिणो लोकत्रयस्य गृहत्वात् तत्कुशलप्रश्न एव कर्तुमुचितः, स्तुतिरूपश्च भवति. **अपि स्विदिति** सन्देहगर्भितसम्भावना. राज्ञां बन्धनस्य श्रुतत्वात् सन्देहः. **अकुतोभयमिति,** स्वत[१] एवाज्ञानाद् भयं न त्वन्यत इति रहस्यम्. ननु लोकेश्वरस्य कथं पर्यटनमित्याशङ्क्याह **ननु भूयान् भगवत** इति. **लोकान् पर्यटतो भगवतस्तव** सतः **भूयानेव गुणो** भवतीत्यर्थः. अतः सर्वलोकहितार्थं परिभ्रमणमित्यर्थः. अनेन तस्य स्तुतिरुक्ता ॥३५॥

प्रकृतोपयोगिकार्यं प्रष्टुं तस्य ज्ञानमाह **न हि तेऽविदितं किञ्चिदिति.**

न हि तेऽविदितं किञ्चित् लोकेष्वीश्वरकर्तृषु ।
अथ पृच्छामहे युष्मान् पाण्डवानां चिकीर्षितम् ॥३६॥

अयं हीश्वरस्येच्छाशक्तेराधिभौतिकरूपः. यावद् भगवानिच्छति करोति च तत्सर्वमस्य विदितम्. **ईश्वर** इति मूलभूतः काल इति विमर्शः. अत ईश्वरेच्छया **पाण्डवानां यच्चिकीर्षितं** तत्तव विदितमेवेति **युष्मान् पृच्छामहे.** हे **आयुष्मन्निति** वा. **अथशब्दो** हेत्वर्थः आनन्तर्यपर्यायः ॥३६॥

भगवत्कृतं कायिकं वाचनिकं च तथा नोचितमिति कदाचिदुपस्थितमन्यथा कुर्यादिति तन्निराकरणार्थं मायाभावं प्रार्थयते **दृष्ट्वा मयेति** त्रिभिः.

लेखः

अपि स्विदित्यत्र ननु लोकेश्वरस्येति. पूर्वतरश्लोके गुरुत्वाल्लोकेश्वरत्वेनोक्तस्य नारदस्येत्यर्थः ॥३५॥

दृष्ट्वा मयेत्यस्याभासे उपस्थितमिति. उपस्थितं भगवत्प्रश्नं मल्लक्षणो जनोऽ**न्यथा कुर्यात्** न वदेत्. अनुचितत्वज्ञाने हि न वदेत्.

---

१. सतः.

॥ श्रीनारद उवाच ॥

दृष्ट्वा मया ते बहुशो दुरत्यया माया विभो विश्वसृजश्च मायिनः ।
भूतेषु भूमंश्चरतः स्वशक्तिभिर्वह्नेरिव च्छन्नरुचो न मेऽद्भुतम् ॥३७॥

अनेकधा सर्वजनव्यामोहिका; बहुधा प्रवर्तमाना मया दृष्टाः, तत्र स्वाज्ञानप्रकटनेन हीनभावप्रकटनेन च केवलमेकस्य मम व्यामोहनं किमाश्चर्यमिति वाक्यार्थः. मायायाः स्वरूपज्ञानमेवात्ययोऽतिक्रमः; तद् भगवन्मायासु न कस्यापि भवतीति **दुरत्ययाः**. वस्तुव्यभिचारे सकृदवगते पुनः प्रदर्शिता माया ज्ञाता भवतीति शङ्कां वारयितुं **बहुश** इत्युक्तम्, एका सहस्रधा प्रदर्शितापि न बुध्यत इति. एवं करणे सामर्थ्यमाह **विभो** इति. प्रयोजनमाह **विश्वसृज** इति, मायया जीवव्यामोहाभावे विश्वोत्पत्तिर्न स्यात्, **चकारात्** स्थिति-प्रलयौ. किञ्च **मायी** भगवान् मायानामेक एवाश्रयः, तासामप्रदर्शने प्रचार एव न स्यादित्यावश्यकत्वमुक्तम्. किञ्च मायानामप्रकटीकरणे महत्त्वे वानुपपत्तिरित्यभिप्रायेणाह **भूतेषु भूमंश्चरत** इति. चरणावश्यकत्वाय सम्बोधनम्. सकलभूतसम्बन्धो[१] हि भूमा. तद्गतदोषसम्बन्धाभावाय **स्वशक्तिभिरि**त्यसाधारणसामर्थ्यैः. अन्यथाभिमानमात्रे जीवे सर्वावस्थाः प्रवृत्तयश्च न भवेयुः. ननु भगवतः सर्वे गुणाः सर्वत्र प्रसिद्धाः, मायागुणः क्व प्रसिद्ध इत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **वह्नेरिव छन्नरुच** इति. वह्निर्जलादौ प्रविष्टः स्वकार्यं कुर्वन्नपि छन्नरुग्भवति. रूपस्पर्शयोर्मध्ये अन्यतरप्राकट्यं ज्ञातधर्मस्य मायया विना न सम्भवतीति वह्नेः प्रथमोत्पन्नस्य स्वधर्मः प्रकट इत्यर्थः. यस्तु भगवतो

लेखः

भगवत्कृतेऽनुचितत्वज्ञानं तु मायाकार्यम्, अतो मायाभावप्रार्थनेत्यर्थः.

भूतेषु भूमन्नित्यत्र सकलेति, सकलभूतेषु सम्बन्धो यस्येति व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः. **अन्यथेति**, एतस्यैव विवरण**मभिमानमात्रे** इति. वस्तुतो भूतेषु चरणं नास्ति किन्तु अभिमानमात्रमिति सतीत्यर्थः. **वह्निर्जलादाविति**. उष्णे जले प्रविष्टो वह्निः **स्वकार्यं** धूमादिकं **कुर्वन्नपि छन्नरुग्भवति**. यथा वह्निः "अग्नेराप" (तैत्ति.उप. २।१) इतिश्रुत्युक्तक्रमात्

---

१. सकलभूतानां सम्बन्धो यस्मिन्नित्यर्थः.

माहात्म्यं जीवेषु समत्वादिकं च पश्यति तस्य विरुद्धधर्मदर्शनाद् अद्भुतज्ञानं भवति, मम तु दर्शनेऽपि सिद्धान्तार्थपरिज्ञानात् **नाद्भुतम्** आश्चर्यज्ञानजनकं न भवतीत्यर्थः. इममेवार्थं पुरस्कृत्य "मायया विरोधसमाधानमि"ति वाक्यं भ्रमादन्यथा कैश्चिद् योजितम् ॥३७॥

नन्वद्भुतकर्मा भगवान्, कथं तस्य चरित्रदर्शनेनाश्चर्यमिति चेत्, तत्राह **तवेहितं कोऽर्हतीति**.

तवेहितं कोऽर्हति साधु वेदितुं स्वमाययेदं सृजतो नियच्छतः ।
यद् विद्यमानात्मतयावसीयते तस्मै नमस्ते स्वविलक्षणात्मने ॥३८॥

इदमित्थतया चरित्रज्ञाने प्रतिनियतधर्मे च चरित्रे विरोधज्ञानादाश्चर्यं

लेखः

स्वस्माज्जातेन स्वधर्मरूपेण जलेन छादकत्वात् मायारूपेण छन्नस्वरूपो भवति तथा भगवानपि सर्वं प्रकाशयन्नपि मायया स्वशक्त्या छन्नस्वरूप इति वाक्यार्थः. **रूपेति**. ज्ञाता वह्निधर्मा रूपस्पर्शादयो येन तादृशस्य पुरुषस्याग्रे वह्नेः रूपं वायुसमन्वयेनागतः स्पर्शश्च, अनयोर्मध्येऽन्यतरस्य स्पर्शमात्रस्य **प्राकट्यम्. अप्राकट्यमिति**पाठे अन्यतरस्य रूपमात्रस्याप्राकट्यं मायया स्वाच्छादकधर्मेण विना न सम्भवतीति हेतोर्जलात् प्रथमोत्पन्नस्य वह्नेः स्वधर्मो जलरूपः प्रकटः तेन वह्निरूपाच्छादनं भवतीति. दार्ष्टान्तिके जलस्थानीयया मायया छन्नस्वरूप इति भगवदाच्छादकत्वं मायागुणः प्रपञ्चे प्रसिद्ध इत्यर्थः. प्रकाशकत्वेन स्थिताप्यज्ञाने हेतुमाहुः **यस्त्विति**. भगवन्माहात्म्यं सर्वप्रकाशकत्वं जीवेषु च सर्वेष्वन्योन्यं सर्वसमत्वं च यः पश्यति तस्य विरुद्धधर्मदर्शनाद् अतिहीनेषु महतश्चरणमाश्चर्यमिति ज्ञानं भवति. भगवन्माहात्म्यं तु अवाङ्मनोगोचरम् अतो न कस्याप्यद्भुतत्वज्ञानमित्यर्थः. तर्हि नारदस्याप्यज्ञानादेव नाश्चर्यमित्याशङ्क्य तत्र भिन्नं हेतुमाहुः **मम त्विति**. माहात्म्यदर्शनेऽपि नाश्चर्यं तत्र हेतुः **सिद्धान्तेति**. भगवान् स्वशक्त्या छन्नस्वरूपः अतो हीनेषु स्थितोऽपि न सम्बध्यते इति ज्ञानादित्यर्थः. **इममेवेति**. सिद्धान्तार्थमेव पुरस्कृत्य स्थितमिदं **भ्रमादन्यथा योजितं** सर्वं मायिकमतो भगवत्स्थितिरपि मायिक्येवेति प्रकारेण योजितमित्यर्थः ॥३७॥

तवेहितमित्यत्र प्रतिनियतधर्मे चेति ज्ञाते इति शेषः. **यदविद्यमानमपीति**.

भवति. तदेव तु न सम्भवति, यतः **को वा तवेहितं साधु** इदमित्थतया **वेदितुमर्हति?** तत्र हेतुः **स्वमाययेदं सृजतो नियच्छत** इति. मायाबहिर्भूतो हि वस्तुनो मायाया वा याथात्म्यं जानाति. विश्वमेव हि मायया सृजति हरति. तस्मादिहलोके परलोके वा न कोऽपि तत्त्वं जानाति. ननु बाधितार्थत्वेन मायायास्तत्त्वं कुतो न ज्ञायत चेत्, तत्राह **यद्विद्यमानात्मतयावसीयत** इति. यदविद्यमानमपि विद्यमानात्मतया निश्चीयते. अतो ज्ञानाभावात् केवलं **तस्मै ते नमः**. जीवस्वरूपाद् नमस्कारयोग्यत्वाय सर्ववैलक्षण्यमाह **स्वविलक्षणात्मन** इति. स्वत एव सर्वविलक्षणः आत्मा यस्येति ॥३८॥

नन्वेवं सति भगवाननर्थहेतुः कथं सेव्य इति चेत्, तत्राह **जीवस्येति.**

जीवस्य यः संसरतो विमोक्षणं न जानतोऽनर्थवहाच्छरीरतः ।
लीलावतारैः स्वयशःप्रदीपकं प्राज्वालयत्त्वा तमहं प्रपद्ये ॥३९॥

यः स्वयशःप्रदीपकं प्राज्वालयत् तं त्वामहं प्रपद्य इति सम्बन्धः. तदा भगवाननर्थहेतुः स्याद् यद्यनन्तं संसारं सृजेद्, द्वाराभावं[१] वा सर्वथाऽज्ञानं वा. प्रत्युत सर्वपदार्थज्ञानाय **स्वयशःप्रदीपकं** वेदपुराणेषु प्रसिद्धमवतारं गृहीत्वा **प्राज्वालयत्**[२]. अन्यथा शब्दैकनिष्ठस्य न कदापि धर्मः प्रसिद्धो भवेत्.

लेखः

माया हि भगवन्तमाच्छादयति घटत्वादिकं च प्रकाशयति. **यद्** यस्माद**विद्यमानमपि** घटत्वादिकं विद्यमानत्वेन निश्चीयते. अतो भगवज्ज्ञानाभावाद् एतादृशभगवतः स्थितौ प्रपञ्चस्य हीनत्वकथनं बाधितार्थमिति ज्ञानाभावेनाच्छादकत्वं मायातत्त्वमपि न ज्ञायते इत्यर्थः. **अत** इति, अविद्यमानस्यैव विद्यमानत्वनिश्चयाद् भगवज्ज्ञानाभावात् **केवलं** ज्ञानादिमार्गराहित्येन नमनमेवास्त्वित्यर्थः. **जीवस्वरूपादिति** भावप्रधानो निर्देशः. स्वस्य जीवस्वरूपत्वाद् भगवतः सर्वविलक्षणत्वाद् नमनयोग्यतेत्यर्थः ॥३८॥

जीवस्येत्यत्र सर्वथाऽज्ञानं वेति साधयेदिति शेषः. **अन्यथेति,** अवताराभावे **शब्दैकनिष्ठस्य** श्रुतिभागवतादिष्वेव प्रसिद्धस्य यशोरूपो: **धर्मः प्रसिद्धो न भवेदित्यर्थः** ॥३९॥

---

१. द्वारभावम्. २. प्राज्वलत्.

भगवन्मायान्धकारे यश एव प्रदीपो भवति, न ज्ञानादि, "ज्ञानकाशया" (. । ।) इतिवाक्यात्. प्रज्वालनहेतवोऽपि न दुःखसम्पाद्याः किन्तु **लीलावताराः**. तत् प्रपन्नायैव प्रज्वालयतीति **तं त्वामहं प्रपद्ये** ॥३९॥

अतो यद्यपि ज्ञात्वैव [१]व्यामोहार्थमज्ञाननाट्यं करोषि तथापि पृष्टेऽर्थे उत्तरं दास्ये इत्याह **अथापीति**.

अथाप्याश्रवये ब्रह्मन्(/भूमन्) नरलोकविडम्बनम् ।
राज्ञः पैतृष्वस्रेयस्य भक्तस्य च चिकीर्षितम् ॥४०॥

भूमन्निति तवात्मसङ्गोपनमावश्यकमिति. कथने हेतुः **ब्रह्मन्निति**. वेदवत् तवाज्ञा सर्वैरेव कर्तुं शक्येति सूचितम्. यदस्मत्सन्तोषार्थं लोककुशलं पृष्टं तस्य स्तुतिपरत्वात् तत्रोत्तरं न दास्यामि किन्तु **पैतृष्वस्रेयस्य** युधिष्ठिरस्य **चिकीर्षितमाश्रा**वयिष्ये. राज्ञो हि चिकीर्षितं प्रजानां हितकारि भवति, बन्धोर्बन्धूनां, भक्तस्य भगवतः, **च**कारात् सर्वेषां हितकारि गुणवतः ॥४०॥

तदेवाह **यक्ष्यतीति**.

यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः ।
पारमेष्ठ्यकामो नृपतिस्तद् भवाननुमोदताम् ॥४१॥

त्रिधा हि यज्ञकृतिः— फलार्था भौतिकी, शुद्ध्यर्थाध्यात्मिकी, भगवदर्थाधिदैविकीति. "यज्ञेन यज्ञमयजन्ते" (तैत्ति.आर. ३।१२।७, ऋक्.संहि. १०।९०।१६) ति श्रुत्या सैव निरूपिता. तत्र प्रतिबन्धकनिवृत्तिः भगवतैव कर्तव्या, इज्यान्तराभावादित्यभिप्रेत्याह **त्वां यक्ष्यतीति**. "यज्ञो वै मख" (तैत्ति.आर. ५।३।२, तैत्ति.संहि. ५।१।६) इतिश्रुतेः आधिदैविक एव यज्ञो मखो भवति. प्रकरणवशात् क्षत्रियस्य राजसूयादन्यः यज्ञः श्रेष्ठो

लेखः

अथापीत्यत्र. राज्ञः पैतृष्वस्रेयस्य भक्तस्येति पदत्रयस्य तात्पर्यमाहुः **राज्ञो हीति बन्धोरिति भक्तस्येति**. बन्धोश्चिकीर्षितं बन्धूनां हितकारी भवति, भक्तस्य चिकीर्षितं भगवतो हितकारि भवतीत्यर्थः ॥४०॥

---

१. व्यामोहनार्थम् इति सं-क-खपाठः - सम्पा.

नास्तीति, उपरतानां क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामेव दीर्घसत्रेष्वधिकारात्. महति च बहवो विघ्नाः. **पाण्डवः** इति पाण्डुवाक्याद् अवश्यकर्तव्यत्वम्. भगवान् सर्वभावेन सेव्यः प्राणिना (तदा,) यदा कदाचित् तादृशी सेवा नियतकालसाधनसम्पत्तौ भवति. सा सम्पत्तिः परमेष्ठिन एव, नान्यस्य इति **पारमेष्ठ्यकामः**. अन्तस्तथा सेवायामनधिकारमाह **नृपतिरि**ति. तत्रेज्यानुमतिः प्रयोजिका, तदभावे तोषाभावात्. देवतातः फलमिति पक्षे न फलं कर्मणः. कर्मणः फलमित्यपि पक्षे देवताप्रीतिः साधनत्वेन सिद्धेति तदभावे न फलम्, "तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयती" (. । ।) ति-श्रुतेः. अतः पूजायां पूज्यानुमोदनमावश्यकमिति **भवाननुमोदताम्**. इदमनुमोदनं समीपे स्थित्वा, पूजा-पूज्ययोः देशान्यत्वासम्भवात्. अनेनैव यशः स्वर्गहेतुभूतमन्तःकरणशुद्धिश्च भविष्यतः ॥४१॥

अत एकेनैव त्रैविध्यमपि सेत्स्यतीत्यभिप्रायेणाह **तस्मिन् देव** इति द्वाभ्याम्.

तस्मिन् देव क्रतुवरे भवन्तं वै सुरादयः ।
दिदृक्षवः समेष्यन्ति राजानश्च यशस्विनः ॥४२॥

कीर्तिर्लोकद्वये राजभिर्देवैश्च भवति. तत्र यद्यपि भागाभावात् यागार्थं देवानामनागमनेऽपि त्वां **दिदृक्षवः समेष्यन्ति, राजानश्च** स्पर्धिनोऽपि. कौतुकार्थमागमने तु न यश इति **देवे**ति सम्बोधनम्. **क्रतुवरे,** यथा महोत्सवे देवदर्शनं महोत्सवकर्तुर्यशस्करं भवति. **यशस्विन** इति तेषामपि यशोऽत्र मिलितं भवतीत्युक्तं भवति. **आदिशब्देन** सिद्धादयोऽपि ॥४२॥

लेखः

यक्ष्यति त्वामित्यत्र भगवानिति. नियतकालमपेक्षितसमये अलङ्कारा-दिसाधनसम्पत्तौ सत्यां कदाचित् तादृशी सेवा यदा भवति तदा सर्वभावेन सेव्यो भवति, नतु नित्यं सेवा भवति. पारमेष्ठ्यसम्पत्तौ तु नित्यं तादृशसाधनसद्भावात् सेवा भवतीत्यर्थः ॥४१॥

तस्मिन् देवेत्यत्र भागाभावादिति. भगवदवयवत्वेन हि तेषां भागः श्रुतावुक्तः. अत्र साक्षादेव भगवदवयवानां विद्यमानत्वात् न प्रतिनिधीनामाधिभौ-तिकावयवरूपाणां तेषां भाग इत्यर्थः ॥४२॥

प्रसङ्गादेव शुद्धिमप्याह **श्रवणादिति.**

श्रवणात् कीर्तनाद् ध्यानात् पूयन्तेऽन्तेवसायिनः ।
तव ब्रह्ममयस्येश किमुतेक्षाभिमर्शिनः ॥४३॥

प्रमाणबले आदौ श्रवण-कीर्तन-स्मरणान्येवोक्तानि ; **ध्यानमेकाग्रतया** स्मरणम्. एवं भक्ता एव कर्मत्यागादिभिः तथात्वमापन्नाः पूर्ववासनया श्रवणादिना तद्दोषं परिहरन्तीति केचित्. अन्यथाप्यन्तेवसायिनां श्रवणादिसम्भवे तादृशजन्मसम्पादक-दोषनाशक इति विमर्शः. **तवेति** सम्मत्यर्थं युष्मच्छब्दप्रयोगः. प्राकृतबुद्ध्या श्रवणादौ मर्यादाभक्तानां मते प्रमेयबलाभावाद् न फलम्, अन्यथा सर्वेषामेव नाम्नां भगवद्वाचकत्वात् कस्यापि बन्धो न स्यात्. तत आह **ब्रह्ममयस्येति.** ब्रह्मप्रचुरस्य परमानन्दमूर्तेः, सच्चिद्रूपप्राचुर्यात् सर्ववेदमयस्य वा. **ईशेति** शुद्धौ सामर्थ्यम्. **ईक्षाभिमर्शनं** प्रमेयबलम्. साक्षात्कार-सम्बन्धौ हि फलरूपाविति तत्सिद्धौ साधनसिद्धिर्नान्तरीयकेति कैमुतिकन्यायेनाह **किमुतेति.** अन्तेवसायिव्यावृत्त्यर्थमीक्षाभिमर्शयोः सहप्रयोगः ॥४३॥

भगवद्दर्शनादेः शोधकत्वं कैमुतिकन्यायेन वक्तुं चरणोदकस्य माहात्म्यमाह **यस्यामलमिति.**

यस्यामलं दिवि यशः प्रथितं रसायां
भूमौ च ते भुवनमङ्गल दिग्वितानम् ।
मन्दाकिनीति दिवि भोगवतीति चाधो
गङ्गेति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम् ॥४४॥

भगवतः कीर्तिद्वयं तीर्थरूपं चरणद्वयान्निर्गतं भक्तानां हितार्थम्. तत्रैकम**मलं यशः दिवि रसायां भूमौ च प्रथितम्.** सर्वाणि कर्माणि

लेखः

श्रवणादित्यत्र. तथात्वमिति. विहितकर्मत्यागेन **आदिपदा**न्निषिद्धकरणेन अन्तेवसायित्वमापन्ना इत्यर्थः. "अत्रापि वेदनिन्दायामि" (त.दी.नि. २।२१६) तिवाक्यमनुसन्धातव्यम्. **अन्यथापीति,** पूर्वजन्मनि भक्तत्वाभावेऽपीत्यर्थः. **ईक्षाभिमर्शनमिति** ईक्षा अभिमर्शनं चेत्यर्थः. मूले ईक्षा दर्शनम्, अभिमर्शः सम्बन्धः, तद्युक्ता इति मत्वर्थीय इनिः ॥४३॥

दोषसहितानीति "सर्वारम्भा हि दोषेणे" (भ.गीता १८।४८) तिवाक्यादवगत्याह **अमलमिति**, सन्नियोगशिष्टदोषरहित-गुणत्वाद् भगवतः. अतो भगवान् **सर्वभुवनेषु मङ्गलरूपः**. भुवनमङ्गलत्वाद् वा, तत्रत्यानां यशोगानं लोकत्रयेऽपि. प्रान्तभावेषु तदभावमाशङ्क्याह **दिग्वितानमिति**, दिशामाच्छाद-कम्. द्वितीयमाह **मन्दाकिनीति**. **दिवि मन्दाकिनी, अधो भोगवती, पृथिव्यां गङ्गेति चरणाम्बु** कमण्डलुसम्भूतं **विश्वं पुनाति** ॥४४॥

एवमुभयोः दूत-नारदयोः स्व-स्वार्थ प्रार्थनायां यज्जातं तदाह **तत्र तेष्विति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

तत्र तेष्वात्मपक्षेष्वगृणत्सु विजिगीषया ।
वाचःपेशैः स्मयन् भृत्यमुद्धवं प्राह केशवः ॥४५॥

तत्र प्रसङ्गे अन्यतरदेशगमने **तेषु** तत्रत्येषु सहायभूतेषु **विजिगीषया गृणत्सु** सत्सु– जरासन्धवधार्थमेव गन्तव्यमिति, लौकिकबुद्धेः प्राथम्यात्, नारदेष्टाकरणे सति, उभयसमाधानार्थं, स्वस्य मध्यस्थत्वाद् –उभयमताभिज्ञम् **उद्धवं** (**केशवः**!) ब्रह्म-शिवयोरपि नियन्ता सुखदाता च वचनोत्तमैः **प्राह**. स्मयेन तमपि मोहयन्; वाङ्माधुर्यात् सादरं शृणुयात्. अन्यथा सर्वेश्वरत्वं जानातीति न शृणुयादपि. नारदहिताकरणे ब्रह्मपक्षहानिः, जरासन्धवधे महादेवपक्षनाश इति यज्ञार्थमेव गमनमायाति. अतोऽङ्ग-प्रधानयोर्विरोधे क्रीडा सुखदा न भवतीति तदभिज्ञमुद्धवं सर्वसम्मतं बोधयामास ॥४५॥

लेखः

तत्र तेष्वित्यत्र. **नारदेति**. दूतवाक्यकरणे नारदहिताकरणाद् ब्रह्मपक्षहानिः, जरासन्धवधान्महादेवपक्षहानिश्च भवेद्, अतो नारदवाक्यस्यैव कर्तव्यता आयातीत्यर्थः. **अङ्गप्रधानयोरिति**. दूतवाक्यकरणे **अङ्गयोर्ब्रह्म**-महादेवयोर्विरोधः, नारदवाक्यकरणे भक्तदुःखनिवृत्तौ विलम्बेन **प्रधानस्य** स्वरूपस्य **विरोधः**, स्वरूपस्य भक्तदुःखासहिष्णुत्वादित्यर्थः ॥४५॥
इत्येकविंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

भगवद्वाक्यमाह **त्वं हि न** इति.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

त्वं हि नः परमं चक्षुः सुहृन्मन्त्रार्थतत्त्ववित् ।
अथात्र ब्रूह्यनुष्ठेयं श्रद्दध्मः करवाम तत् ॥४६॥

सर्वज्ञस्य स्वत एव ज्ञात्वा करणमुचितम्, नत्वसर्वज्ञस्य वाक्यात्, व्यामोहकत्वं वा स्यात्. अतस्तत्परिहारार्थमुद्धवं स्वावयवत्वेन निरूपयति **त्वं नश्चक्षुरिति**. आधिदैविकं परमानन्दरूपं चक्षुषश्चक्षुर्वा, तस्यैवायमवतार इति. लोकोक्तिश्च ''मन्त्री ज्ञानचक्षुरि'' (. । ।)ति. अतो **न** इति बहुवचनम्. केवलं शास्त्रपरतां वारयितुमाह **सुहृदिति**. पर्यवसानज्ञानमाह **मन्त्रार्थस्य** फलस्य **तत्त्वं** पर्यवसानं **वेत्तीति**. **अथ** अतः कारणादत्रार्थे **अनुष्ठेयं ब्रूहि**. उभये वयं **श्रद्दध्मः** तदेव च **करवाम**. अन्यतरस्याप्यश्रद्धां करणाभावं च वारयति ॥४६॥

तत उद्धवो महामन्त्री तद्वाक्यममोहकं मत्वा उत्तरकथनार्थमुद्युक्त इत्याह **इत्युपामन्त्रित** इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्युपामन्त्रितो भर्त्रा सर्वज्ञेनापि मुग्धवत् ।
निदेशं शिरसाधाय उद्धवः प्रत्यभाषत ॥४७॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥

उद्धवो हि न युद्धादावुपदिश्यते, ज्ञानांशत्वात्. यदि ज्ञानेऽपि न विनियुज्येत, तस्य भरणं व्यर्थं स्यात्. एतत्सूचयति **भर्त्रेति**. दोषं निवारयति **सर्वज्ञेनापीति**. **निदेशमाज्ञां प्रति शिरसा आधाय अभाषत** अङ्गीकृतवान्,

"उत्तरं विचार्य वक्ष्यामी"ति उक्तवानित्यर्थः ॥४७॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे एकविंशोऽध्यायः ॥

॥ इति सप्तषष्टितमोऽशध्यायः ॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमोत्तरार्ध-सात्त्विकप्रमेयप्रकरणम् समाप्तम् ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धसुबोधिन्यामुत्तरार्धे
चतुर्थे सात्त्विकप्रकरणे अवान्तरसाधनप्रकरणे
॥ प्रथमः स्कन्धादितो अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥

* * *

द्वाविंशे धर्मरक्षार्थं धर्मस्थानगतिर्हरेः ।
सर्वसम्मतियुक्तस्य शोभा युक्ता निरूप्यते ॥(१)॥
एका कृतिर्हरेरत्र बहुकार्यनिरूपिका ।
निर्धार्यते [१]सर्वसुखा धर्मे सर्वाधिकारिणी ॥(२)॥

पूर्वाध्यायान्ते भगवद्वाक्यं शिरसा स्वीकृतम्. ततो भगवदिच्छानुसारेणैव कथने मन्त्रित्वं व्याहन्येतेति पूर्वापरानुसन्धानार्थम् उद्धवस्य प्रकरणज्ञानपूर्वकम् उत्तरारम्भमाह **इत्युदीरितमिति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्युदीरितमाकर्ण्य देवर्षेरुद्धवोऽब्रवीत् ।
सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य च महामतिः ॥१॥

दूतवाक्ये न कस्यापि विवाद इति **देवर्षेरुदीरितमित्युक्तम्**. भगवद्वाक्यश्रवणानन्तरमुत्तरस्य वक्तव्यत्वेऽपि पुनर्नारदवाक्यानुसन्धानात् तत्समाधानार्थमेव **उद्धवोऽब्रवीत्**. धर्म-ब्राह्मणावेव पुष्टिमार्गे बाधकौ, तयोः प्रतिविधानं किञ्चित् पुष्टिविरोधार्थेनेति प्रकरणार्थः. विवादे हि मन्त्रिणो वचनमिति

श्रीविठ्ठलेशरायात्मज-श्रीवल्लभकृतलेखः

इत्युदीरितमित्यस्याभासे प्रकरणेति. **उत्तरारम्भः** पूर्वाध्यायान्तश्लोक उक्तः इति तदनुवादेन प्रकरणज्ञानमेव वाक्यार्थ इति भावः. व्याख्याने **धर्मेति**. राजसु अनुग्रहकरणे राजसूययज्ञो नारदश्च एतौ बाधकावित्यर्थः. अनुग्रहः कर्तव्यः परन्तु किञ्चित् विलम्बेनेति **किञ्चित् पुष्टिविरोधः** ॥१॥

---

१. सर्वमुखा.

पक्षद्वयं निरूपयति **सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य** चेति. सभ्यानां मतं— युद्धार्थं गमनं मुख्यं, धर्मार्थं पश्चात्, दुःखाभाव-सुखयोः आदौ दुःखं प्रतिविधातव्यमिति. भगवतोऽप्येवं मतं, **चकारात्** विपरीतं च. एवं पौर्वापर्यसन्देहे निर्णयार्थमस्य बुद्धिरस्तीत्याह **महामतिरिति**. भक्तिमार्ग-नारदयोः कोपः प्रतिविधातव्यः, मर्यादा च स्थाप्या यावच्छक्यम्. अतो धर्म-ब्राह्मण-मर्यादात्रयमेकत्र विरुध्यते, अपरत्र भक्तिमार्ग एवैकः ॥१॥

अतो बहूनामनुग्रह इतिन्यायेन वक्तव्यमिति निश्चित्य पक्षद्वयमनुवदति **यदुक्तमिति**.

॥ उद्धव उवाच ॥

यदुक्तमृषिणा देव साचिव्यं यक्ष्यतस्त्वया ।
कार्यं पैतृष्वस्रेयस्य रक्षा च शरणैषिणाम् ॥२॥

देवेति सम्बोधनम्. **साचिव्यं** मन्त्रोपदेशः, नतु युद्धेन सहायकरणम्. अलौकिकप्रकारस्तु मन्त्रे न वक्तव्यः अतः साचिव्यमेव नारदेनोक्तमनुवदति. "कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुः" (भाग.पुरा. ४।२१।२६) इतिवाक्यात् तथाकरणे धर्मः. **पैतृष्वस्रेयकार्यकरणं** लौकिकं, तस्मादत्र लोक-वेदौ विरुद्धौ न भवत इति द्वयं निरूपितम्. द्वितीयः पक्षः **शरणैषिणां रक्षा चकाराद्** बन्धूनां वाक्यं च. तथा सति द्वयोरैक्यं यथा भवति तथा कर्तव्यम् ॥२॥

तत्र यज्ञो मोचने विनियोक्तुमशक्य इति मोचनमेव यज्ञे विनियोक्तव्यमित्याह **यष्टव्यमिति**.

यष्टव्यं राजसूयेन दिक्चक्रजयिना विभो ।
अतो जरासुतजय उभयार्थो मतो मम ॥३॥

दिशां चक्रं दश दिशः, तत्र जयशीलेन राजसूयः कर्तव्यः. अत

लेखः

यदुक्तमित्यत्र अलौकिकेति. त्वां यक्ष्यत्यतो गमनमावश्यकमितिप्रकारो लौकिकन्यायेन मन्त्रकथने न वक्तव्य इति साचिव्यत्वेनैवानुवादः कृत इत्यर्थः. यक्ष्यतः पैतृष्वस्रेयस्य यत् साचिव्यम् ऋषिणोक्तं तत् त्वया कार्यं, शरणैषिणां रक्षा च कार्येति पक्षद्वयानुवादो वाक्यार्थः. **द्वयं निरूपितमिति, यक्ष्यतः पैतृष्वस्रेयस्येति** पदद्वयं निरूपितमित्यर्थः ॥२॥

एव स एव जरासन्धं घातयिष्यति. यज्ञार्थं वधे तु न दोषः. एवं सति ये दोषास्ते अग्रे परिहर्तव्याः. आदौ यज्ञार्थं तद्वधं स्थापयति **अतो जरासुतजय** इति. तर्हि भक्तिमार्गो बाधित एवेत्याशङ्कायामाह **उभयार्थ** इति, यज्ञार्थं मोचनार्थं च. अयं पक्षो **मम सम्मतः**. युक्तश्चायं, नारदादेः कोपाभावात् ॥३॥

अस्मिन् पक्षे दोषान् परिहरति **अस्माकं चेति** साधाभ्याम्.

अस्माकं च महानर्थो ह्येतेनैव भविष्यति ।
यशश्च तव गोविन्द राज्ञो बन्धाद् विमुञ्चतः ॥४॥

पराक्रमेण जरासन्धवधे तद्धनमस्माभिः प्राप्तव्यम्. यज्ञार्थवधपक्षे तु तस्याभावः. पूर्वं भगवद्धनं च तेनापहृतं यवनजयोद्भवं, तस्य प्रत्यावृत्तिश्चकारार्थः, मोचितेभ्यश्च. एतत् सर्वमपि यज्ञार्थवधेनापि भविष्यतीत्याह **एतेनैव भविष्यतीति**, तेन धनेन मोचिता भक्ताः पोषणीया इति. अन्यसम्मेलनाद् यशो न भविष्यतीत्याशङ्क्याह **यशश्च तव गोविन्देति**. **च**कारात् प्रतिज्ञा "अभयं सर्वभूतेभ्यः" (रामा. ६।१८।३३) इति. बन्धाद् विमोचनं न तद्वधमात्रेण भवति, तत्पुत्रेणापि सम्भवात्. अतो विशेषतो मोचनं हेतुत्वेनोपदिशति **राज्ञो बन्धादिति**. **राज्ञो** राजशरीराणि आत्मनश्च **बन्धाद्** उभयविधात् विशेषतो मोचनं तदेव **विमुञ्चतस्तव** ॥४॥

ननु को विशेषः? ऋषिरेव वक्तव्य "आवश्यको जरासन्धवधः,

लेखः

यष्टव्यमित्यत्र यज्ञार्थं वधे तु न दोष इति. अन्यथा ब्रह्मण्यस्य वधे दोषः स्यादित्यर्थः. इदमग्रिमाध्यायकारिकायां स्फुटम् ॥३॥

अस्माकं चेत्यत्र **साधाभ्यामिति**, मिलिताभ्यामुभयोः सेनाभ्यां कृत्वेत्यर्थः. **एतेनैवेति**, युधिष्ठिरो भगवत्कार्यं ज्ञात्वा यवनजयोद्भवं धनं च तत्र स्थितं ज्ञात्वा तद्धनमस्मभ्यमेव दास्यतीति भावः. **तेन धनेनेति**, स्वस्य प्रच्छन्नतया गमनाद् धनाभावेन **मोचिता** राजानो जरासन्धधनेन **पोषणीयाः** सहदेवेनैव सत्कारकरणादित्यर्थः. पोषणमात्रेऽन्यसम्मेलनेऽपि बन्धनमोचनाद् यशो भविष्यत्येवेत्यर्थः ॥४॥

तं कृत्वा समागमिष्यती''ति. अस्मिन् पक्षे स्त्रीभिः सह लीलया गमनं बाध्यते. मर्यादायामवश्यश्चायं पक्ष इति वक्तुं जरासन्धस्वरूपमाह द्वाभ्यां **स वै दुर्विषह** इति.

स वै दुर्विषहो राजा नागायुतसमो बले ।
बलिनामपि चान्येषां भीमं समबलं विना ॥५॥

केनापि यादवेन स सोढुं न शक्यः. यतो **राजा** क्षत्रियः, अनपोह्यः प्रायेण. एतदलौकिकं बलम्, लौकिकमप्याह **नागायुतसम** इति, बलविषये अयुतहस्तिसमः. एतादृशा अन्येऽपि सन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **बलिनामपि चान्येषामिति**. महाबलिनां सर्वेषामेवायं मिलितानां समः. चकाराद् ब्राह्मणादिवरसिद्धमपि तस्य बलम्. तर्हि मर्यादायामवध्य एवेत्याशङ्क्याह **भीमं समबलं विनेति**. भीमोऽप्येतादृशः तथापि यथा जयस्तदग्रे वक्ष्यते ॥५॥

किञ्च तस्यान्यदपि वरप्राप्तं सामर्थ्यमस्तीत्याह.

द्वैरथे स तु जेतव्यो मा शताक्षौहिणीयुतः ।
ब्रह्मण्योऽभ्यर्थितो विप्रैर्न प्रत्याख्याति कर्हिचित् ॥६॥

द्वैरथे स तु जेतव्य इति, द्वन्द्वयुद्धेनैव जेतव्यः, न त्वपरिमि**ताक्षौहिणीयुतः**. अनेन तस्य सेनाधिक्यमपि सूचितम्. एवं तस्य गुणानुक्त्वा एको गुणः समयविशेषे दोषत्वमापद्यत इति तदाह **ब्रह्मण्य** इति. स्वभावतो हि ब्राह्मणहितकारी **अभ्यर्थितश्चेत् न प्रत्याख्याति कर्हिचिदिति**. कपटं ज्ञात्वापि धर्मदार्ढ्याद् इदमेकं तस्य मारणे छिद्रम् ॥६॥

तर्हि क्षत्रियाणां किमायातमित्याशङ्क्योपायमाह **ब्रह्मवेषधर** इति.

ब्रह्मवेषधरो गत्वा तं भिक्षेत वृकोदरः ।
हनिष्यति न सन्देहो द्वैरथे तव सन्निधौ ॥७॥

लेखः

स वै दुर्विषह इत्यस्याभासे **अस्मिन् पक्ष** इति. दुर्विषहत्वात् लीलागमनबाधनं प्रथमश्लोके वाक्यतात्पर्यार्थः, अशक्यपक्षत्वं द्वितीयश्लोक इति विभागः ॥५॥

कञ्चुकाद्यभावसहितं सोपवीतवस्त्रद्वयं तिलकादिसहितं **ब्रह्मवेषः**. यद्यपि तेजो न सम्पादयितुं शक्यं तथापि प्रार्थितदाने मारणे च सामर्थ्यमाह **तव सन्निधाविति** ॥७॥

नन्वहं परब्रह्म चेत् (भवामि!) तदोदासीनः सर्वात्मा च. विष्णुश्चेत् पालक एव, न घातकः. तेजसा आप्यायनपक्षे ब्रह्मण्ये न वैष्णवं तेजः प्रभवति. अतः कथं वध इति चेत्, तत्राह **निमित्तं परमीशस्येति**.

निमित्तं परमीशस्य विश्वसर्गनिरोधयोः ।
हिरण्यगर्भः शर्वश्च कालस्यारूपिणस्तव ॥८॥

ईश्वरः कालरूपोऽपि भवान्. सन्निधिमात्रेणैव स्वाभीष्टसमये विश्वमेवोत्पादयसि हंसि च. ब्रह्म-रुद्रयोस्तु खड्गादिवन्निमित्तत्वमेव. यतः **कालस्य तव** कालेनाक्रोडितानामेवोत्पत्ति-प्रलयौ. यथा कर्मक्रोडीकृतानां पितृ-व्याघ्रौ सृष्टि-प्रलययोः निमित्तत्वमेव. नन्वहमेव चेत् सर्वदा मारकस्तदा कथं सर्वेषामनुपलम्भ इति तत्राह **अरूपिण** इति. स एव त्वम्, इदानीं रूपमधिकमित्यर्थः ॥८॥

नन्वेवमपि तथा यशो न भविष्यतीत्याशङ्कायामाह **गायन्ति ते विशदकर्मेति**.

गायन्ति ते विशदकर्म गृहेषु देव्यो
राज्ञां स्वशत्रुवधमात्मविमोचनं च ।
गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः
पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयं च ॥९॥

तव यशः पूर्वमेव लोकत्रये व्याप्य तिष्ठति, किमद्योत्पादनक्लेशेनेति वाक्यार्थः. अनेन भगवतो भगवदीयानां वा भगवत्त्वाद् भगवदीयत्वाच्च सिद्धमेव यशो न नूतनमुत्पादनीयम्. **ते विशदकर्म** हिरण्यकशिपु-रावणवधादिरूपं **देव्यो** देवस्त्रियः सहजं भगवच्चरित्रं **स्वशत्रूणां** हिरण्यकशिपुप्रभृतीनां **वधम्**, **आत्मनो** बन्दीकृतानां **विशेषेणाविद्यातो मोचनं** च स्वस्व**गृहेषु गायन्ति**

लेखः

गायन्तीत्यत्र अनेनेति. देव्यस्ते, देव्यो, गोप्यः, लब्धशरणा, मुनयः, वयम् — एवं गातॄणां षट्सङ्ख्याकथनेनेत्यर्थः. **लब्धशरणा** इत्यस्य

ते गृहेषु वा. **देव्यो** नरकासुरगृहीताः. पूर्ववत् सर्वं योजनीयम्. **ते राज्ञाम्** उग्रसेनादीनां **देव्यो** वा, भाविनि भूतवदुपचारेण वा मोक्ष्यमाणानाम्. किञ्च अन्येऽपि बहवो गायन्तीत्याह **गोप्यश्चेति**. चकारात् सम्बन्धिस्त्रियोऽपि. **स्वशत्रोः** शङ्खचूडादेर्**वधम्** अविद्या-लज्जादीनां वा. यथा स्वशत्रोर्वधं गायन्ति एवं **कुञ्जरपतेरपि** गजेन्द्रस्य **शत्रोर्**नक्रस्य **वधम्**. तथा **जनकात्मजायाः** सीतायाः **शत्रोः** रावणस्य. **पित्रोरपि** देवकी-वसुदेवयोः **शत्रोः** कंसस्य. एवं प्राकृता अपि स्वस्यान्यस्य वा त्रिविधा गायन्ति. तथा अन्येऽपि त्रिविधा गायन्तीत्याह **लब्धशरणा मुनयो वयं च** कर्मिणो ज्ञानिनो भक्ताः. **लब्धशरणा** इति विशेषणं वा सर्वत्र, "मा भैष्टेत्यभयारावौ" (भाग.पुरा. १०।३४।२८), "तस्मान्मच्छरणं गोष्ठम्" (भाग.पुरा. १०।२२।१८), "एतद्व्रतं मम" (रामा. ६।१८।३३) इत्यादिवाक्यसहस्रैः. पाण्डवा लब्धशरणा इति केचित्. **मुनयोऽपि** दण्डकारण्यवासिनः विश्वामित्रादयश्च. **वयं** सर्वे एव भक्ताः चकारात् निर्गुणा अपि अन्यशत्रुवधं गायन्ति. तस्मात् सिद्धैव कीर्तिरित्यर्थः ॥९॥

नन्वलौकिकोपायेन राज्ञां मोचनं शीघ्रं कृत्वा कथं न यागार्थं गम्यत इत्याशङ्क्याह **जरासन्धवध** इति.

जरासन्धवधः कृष्ण भूर्यर्थायोपकल्पते ।
प्रायः पाकविपाकेन तव चाभिमतः क्रतुः ॥१०॥

कृष्णेति कालरूपस्यैतदेव कृत्यमिति सूचितम्. केवलं सम्बोधनं वक्तृत्वाभिनिवेशात् प्रमादात् पापक्षयार्थं वा. **भूर्यर्थायेत्य**नेकप्रयोजनाय ; भक्तद्रोहे विनश्यतीति भक्तिमार्गसिद्धिः शरणागतरक्षा यज्ञः कीर्तिः पूर्ववैरप्रतीकारः भूभारहरणमित्यादि सहस्रप्रयोजनानि सिद्ध्यन्ति. भक्तिमार्गश्च सर्वेभ्योऽतिरिच्यते. किञ्च **प्रायः पाकविपाकेनेति**, जरासन्धकर्मणां परिपाकस्य विपाकेन समाप्त्या. पापविपाकेन वा बहुद्रोहात्. राजसूयो हि भूमेर्निर्वीरत्वं सम्पादयति

लेखः

विशेषणत्वपक्षे **गोप्यश्चेति** चकारोक्ताः सम्बन्धिस्त्रियो मिलित्वा षट्. **ते गृहेष्विति**. अस्मिन् पक्षे ते गृहेषु स्थिता **राज्ञां देव्यः** राजकन्यारूपा देव्य इत्यर्थः. **सर्वेषां वे**(?)ति शत्रोर्वधमिति शेषः ॥९॥

तेन कारणेन **तवाप्यभिमतः क्रतुः**. चकारात् **क्रतुश्च भूर्यर्थायोपकल्पते**, शिशुपालवध-दुर्योधनमानभङ्गाद्यर्थत्वात् ॥१०॥

प्रकारान्तरेण वध्यो न भवतीत्यनेनैव युद्धार्थमुद्युक्ता निवारिताः, सिद्धत्वात् यशोपेक्षा च निवारिता. मोचनार्थं समायातीति शङ्कायां प्रमथनाथार्थं प्रथममेव दद्यात्. अत उद्धववाक्यमेव सर्वतोभद्रमिति भगवता तदेव गृहीतमित्याह **इत्युद्धववच** इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्युद्धववचो राजन् सर्वतोभद्रमच्युतम् ।
देवर्षिर्यदुवृद्धाश्च कृष्णश्च प्रत्यपूजयन् ॥११॥

एवं कापट्येन वधे न किञ्चिद् दूषणम्, "मायेत्यसुरा" (मुण्ड.उप. ३।२) इतिश्रुतेः "तद्धैतान् भूत्वावति" (बृह.उप. १।५।७-१०) इति च. कापट्यव्यतिरेकेण न दैत्यवधः सिद्ध्यतीति न कापट्यस्वीकरणं दोषाय. **राजन्निति** सम्बोधनं राजधर्मोऽपि तादृश इति ज्ञापनार्थम्. **सर्वतोभद्रता** निरूपितैव. **अच्युतमिति** न च्युतं कापि क्षतिर्यत्रेति भगवद्रूपोऽयं प्रकारः निर्दोषपूर्णगुणरूपः. अतएव सर्वेषां सम्मतं जातमित्याह **देवर्षिरिति**. **यादवेषु वृद्धाः** चकारादन्येऽपि. तरुणानां परं शौर्योत्सिक्तानां नागतं मनसीति सूचितम्. **कृष्णश्चेति** चकाराद् वसुदेवादयो भगवद्भक्ताश्च. **प्रतिपूजनं** "साधु साध्वि"ति वचनम् ॥११॥

अथ भिन्नप्रक्रमेण लौकिकानां सुखार्थं गृहस्थितिक्लेशाभावाय निर्गमनोत्सवं निरूपयति **अथेति** सार्धैः षड्भिः.

अथादिशत् प्रयाणाय भगवान् देवकीसुतः ।
भृत्यान् दारुकजैत्रादीननुज्ञाप्य गुरून् विभुः ॥१२॥

लौकिक्येषा भाषा. **देवकीसुत** इति स्त्रीप्रभृतीनां सुखदायकः. **भृत्या** अन्तरङ्गसेवकाः कर्मकराः. **जैत्रो**ऽपि जयशीलः कश्चिद् रथयोजकः. **गुरून्** पित्रादीन् ब्राह्मणान् वा. **विभुरिति** सर्वकरणसमर्थः ॥१२॥

निर्गमय्यावरोधान् स्वान् ससुतान् सपरिच्छदान् ।
सङ्कर्षणमनुज्ञाप्य यदुराजं च शत्रुहन् ॥
सूतोपनीतं स्वरथमारुहद् गरुडध्वजः ॥१३॥

प्रथमत एवान्तःपुरस्त्रियो **निर्गमय्य. अवरोधो**ऽन्तःपुरस्त्रियः ; पुल्लिङ्गनिर्देशः स्त्रीभावाभावाय. **सङ्कर्षणः** सहायार्थम्. **यदुराजः** उग्रसेनः. अनेन राजस-तामसौ परित्यज्य अन्ये सर्वे निर्गता इति सूचितम्. **शत्रुहन्निति** बहिर्मुखताभावाय. प्रद्युम्नादयोऽपि कौतुकाद् भगवद्रथमानयेयुः भगवान् वा कौतुकाद् अन्यरथमारोहेत् स्त्रीभिः परिवृतो वा गच्छेदतः **सूतोपनीतं स्वरथमित्युक्तम्. गरुडध्वजत्वान्न** सहायापेक्षा ॥१३॥

ततो रथद्विपभटसादिनायकैः करालया परिवृत आत्मसेनया ।
मृदङ्ग-भेर्यानक-शङ्ख-गोमुखैः प्रघोषघोषैः ककुभो निराक्रमत् ॥१४॥

ततः सेनासहितः नानाविधवाद्यसहितोऽपि दिशां प्रतिध्वनिसहितोऽपि **निराक्रमत्. सादयो**ऽश्ववाराः. **चतुरङ्गनायकैः** सहिता दर्शनमात्रेणैव भयजनिका केवलं भगवत एव सेना ॥१४॥

ततः असाधारणीनां साधारणीनां च प्रयाणप्रकारमाह **नृवाजीति** द्वाभ्याम्.

नृवाजिकाञ्चनशिबिकाभिरच्युतं सहात्मजाः पतिमनु सुव्रता ययुः ।
वराम्बराभरणविलेपनस्रजः सुसंवृता नृभिरसिचर्मपाणिभिः ॥१५॥

नृशब्देन नरयानं दोला. **वाजिनो**ऽश्वाः केवलाः शकटयोजिताश्च. **काञ्चनशिबिका**श्चतुर्दोलाः[१], नृभिर्वाजिभिर्वा युक्ताः. **अच्युतं पतिमनु सुव्रताः** पतिव्रताः रुक्मिण्यादयः सपुत्रा **ययुः**. चतुर्विधालङ्करणयुक्ताः मार्गेऽपि स्वतोऽपि रक्षिताः **नृभिरपि सुसंवृताः** ॥१५॥

साधारणीनामाह **नरेति**.

नरोष्ट्रगोमहिषखराश्वतर्यनःकरेणुभिः परिजनवारयोषितः ।
स्वलङ्कृताः कटकुटिकम्बलाम्बराद्युपस्करा ययुरधियुज्य सर्वशः ॥१६॥

नरादिभिरष्टभिः **परिजना वारयोषितश्च** निर्गताः. गावो वृषभाः अश्वतरी **अनः** शकटं **करेणुः** करिणी — सर्वा एव **स्वलङ्कृताः**.

लेखः

नृवाजीत्यत्र स्वतोपीति, स्वयमप्युपरिवस्त्रेण संवृता इत्यर्थः ॥१५॥

---

१. अत्र "चोंडोल इति भाषायाम्" इति संपाठे टिप्पणी मुद्रितपाठे सुबोधिन्यां निवेशिता - सम्पा.

तासां जाति-स्वभाव-सामग्रीं[१] वर्णयति **कटकुटीति**. कटानामेव कुटी, कटः पटकुटी वा. कम्बलादयो वृष्टिनिवारकाः. तासां कृष्णमन्विति न नियमः किन्तु सर्वश एव ॥१६॥

सामान्यतो भगवत्कटकं वर्णयति समुद्रतुल्यतया, **बलमिति**.

बलं बृहद्ध्वजपटछत्रचामरैः वरायुधाभरणकिरीटवर्मभिः ।
दिवांशुभिस्तुमुलरवं बभौ रवेर्यथार्णवः क्षुभिततिमिङ्गिलोर्मिभिः ॥१७॥

वस्त्रैरायुधैः सूर्यरश्मिभिस्त्रिविधैर्**बभौ** उपर्याच्छादकाः **बृहन्तो ध्वजादयः**. **पटसहितानि छत्राणि** भिन्नानि वा. **आयुधानि आभरणानि किरीटानि** कवचानि च. **तुमुलो रवो** **यत्रे**त्यन्तःशौर्यम्. तस्यापरिमितत्वाय **यथार्णव** इति. **क्षुभितास्तिमिङ्गिलाः ऊर्मयश्च** ॥१७॥

एवं निर्गम्य नारदवाक्यमिव कृत्वा ततोऽग्रे नारदं प्रेषयामासेत्याह **अथो मुनिरिति**.

अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः प्रणम्य तं हृदि विदधद् विहायसा ।
निशम्य तद् व्यवसितमाहृतार्हणो मुकुन्दसन्दर्शननिर्वृतेन्द्रियः ॥१८॥

(अथ!) भिन्नप्रक्रमः समाधिभाषार्थः. भगवन्तं विहाय भक्तस्य पुरतो गमनमनुचितमित्याशङ्क्याह **तं हृदि विदधदिति**. **विहायसा** तु आकाशमार्गेण. **तस्य** भगवतो **व्यवसायं** गमनात्मकं **निशम्य** निर्धारितं श्रुत्वा. बहिरन्तश्चानन्दपूर्णो निर्गत इति वक्तुं विशेषणद्वयम्. **आहृतमर्हणं यस्मै, मुकुन्दसन्दर्शनेन निर्वृतानीन्द्रियाणि यस्य**. एवं स्वतः कार्यतश्च सिद्धो गत इत्यर्थः ॥१८॥

ततो दूतसमाधानमाह **राजदूतमिति**.

लेखः

नरोष्ट्रेत्यत्र जातिस्वभावरूपां सामग्रीमिति. कुट्यभावे विटानां गमनं बाध्येतेति कुटी जातिस्वभावरूपा सामग्रीत्यर्थः. **कटः कुटीति** पक्षे वस्त्राणां कुटी ज्ञेया ॥१६॥

---

१. जातिस्वभावरूपां सामग्रीम् इति लेखकृतां पाठः - सम्पा.

राजदूतमुवाचेदं भगवान् प्रीणयन् गिरा ।
मा भैष्ट दूत भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम् ॥१९॥

इदं वक्ष्यमाणम्. वाक्येनैव तस्य प्रीतिं जनयन्. **मा भैष्टे**ति वाक्यं मध्यमपुरुषबहुवचनं राज्ञः प्रति. **दूते**ति केवलस्यैव सम्बोधनं तथा कथनाय, अन्यथा भगवतैव राजानो बोधिता इति दूतो व्यर्थः स्यात्. न केवलं मोचनं किन्तु **वो भद्रमपी**त्याशीः. हेतुभूतं कर्तव्यमाह **घातयिष्यामी**ति ॥१९॥

ततो दूतकर्तव्यतादिकमाह **इत्युक्त** इति.

इत्युक्तः प्रस्थितो दूतो यथावदवदन् नृपान् ।
तेऽपि सन्दर्शनं शौरेः प्रत्यैक्षन्त मुमुक्षवः ॥२०॥

यथावद् जातानुपूर्व्या. श्रुतानां मनोवृत्तिमाह **तेऽपी**ति. भगवतैव मोक्ष इति भगवत्सन्दर्शनमेव काङ्क्षन्तः स्थिताः. अयमेव मोक्षोपायः सर्वेषामिति सूचितम् ॥२०॥

इन्द्रप्रस्थपर्यन्तं भगवत आगमनमाह **आनर्ते**ति द्वाभ्यां स्थलजलोत्तरणप्रयत्नभेदात्.

आनर्तसौवीरमरूंस्तीर्त्वा विनशनं हरिः ।
गिरीन्नदीरतीयाय पुरग्रामव्रजाकरान् ॥२१॥

आनर्तो द्वारकादेशः **सौवीरः** सुराष्ट्रदेशः **मरवो** मरुदेशः. ततो **विनशनं** कुरुक्षेत्रदेशः. अल्पपरिभ्रमणेनागमनं पर्वतवनाद्यभावात्. यतो हरिः. **गिरीन्** रैवतकादीन् तत्प्रभवा **नदीश्च अतीयाय** पादगत्यैवातिक्रान्तवान्. **पुरग्रामव्रजाकरा**श्चत्वारो भेदाः जनस्थानानाम् ॥२१॥

ततो दृषद्वतीं तीर्त्वा मुकुन्दोऽथ सरस्वतीम् ।
पाञ्चालानथ मत्स्यांश्च शक्रप्रस्थमथागमत् ॥२२॥

दृषद्वती सरस्वती च तदानीमतिगम्भीरनद्यौ. **दृषद्वती-सरस्वत्यो**र्मध्ये **मुकुन्द** इति पदम् अग्रे तत्र मोक्षं दास्यतीति सूचयति. **अथे**त्यग्रे शनैर्गमनं सूचितम्. पाञ्चालदेशो मत्स्यदेशश्च मध्येमार्ग एवांशभेदेनेति विमर्शः.

लेखः

इत्युक्त इत्यस्याभासे **दूते**ति. दूतकर्तव्यता आदिर्यस्य तादृशं राज्ञां भगवद्दर्शनप्रतीक्षणमाहेत्यर्थः. व्याख्याने **श्रुताना**मिति कर्तरि क्तः ॥१९॥

शक्रप्रस्थमिन्द्रप्रस्थम् ; अन्वर्थ सञ्ज्ञा स्थानस्येति ज्ञापयितुं तथा वचनम् ॥२२॥

ततो निकटे समागमने युधिष्ठिरस्य स्नेहपूर्वकं कृत्यमाह **तमागतमिति** चतुर्भिः.

तमागतमुपाकर्ण्य प्रीतो दुर्दर्शनं नृणाम् ।
अजातशत्रुर्निरगात् सोपाध्यायः सुहृद्वृतः ॥२३॥

नृणां प्राणिमात्रस्य **दुर्दर्शनमित्यलभ्यलाभोक्तिः**. **अजातशत्रुरिति** भगवद्दर्शनाधिकारः. विद्यापरिजनाभिमानाभावाय **सोपाध्यायः सुहृद्वृत** इति ॥२३॥

गीतवादित्रघोषेण ब्रह्मघोषेण भूयसा ।
अभ्ययात् स हृषीकेशं प्राणः प्राणमिवादृतः ॥२४॥

ततो निकटमागतः **गीतादिसहितः** यतः **स** प्रसिद्धः निकटागमनयोग्यः. ननु भक्त्या मध्ये विकलः कथं न जातः, कथमागत इति शङ्कां वारयति **हृषीकेशमिति**. इन्द्रियाधिपतित्वाद् इन्द्रियाण्येव गतानि, नतु तत्प्रयत्नः तत्र जात इत्यर्थः. स्वत एव गमने दृष्टान्तः **प्राणः प्राणमिवेति**. बहिर्निर्गतः प्राणः यथानायासेन प्राणमेव समागच्छति. ततः परमादरयुक्तो जातः ॥२४॥

निकटे समागतस्य कृत्यमाह **दृष्ट्वेति**.

दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः कृष्णं स्नेहेन पाण्डवः ।
चिराद् दृष्टं प्रियतमं सस्वजे स्म पुनः पुनः ॥२५॥

स्मेति प्रसिद्धे, अन्यथा जीवस्यैवं धार्ष्ट्यं वर्णयितुमनुचितम्. भगवता कथमङ्गीकृतमिति शङ्कां वारयितुमाह **विशेषेण क्लिन्नहृदय** इति. तस्य विचाराभावेनालिङ्गने हेतुः **प्रियतममिति**. **पुनः पुनरिति** अन्तरानन्देन बहिः सम्मूढता सूचिता ॥२५॥

ततो यज्जातं तदाह **दोर्भ्यामिति**.

दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयं मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः ।
लेभे परां निर्वृतिमश्रुलोचनो हृष्यत् तनुर्विस्मृतलोकविभ्रमः ॥२६॥

रमायाः अमलमालयम् — अनेन लौकिकन्यायेनापि दोषाभावाय सुखाय च हेतुरुक्तः, **मुकुन्दगात्रमिति** मोक्षानन्दोऽपि. ततः सर्वपापक्षयः

ततः परमानन्दस्फूर्तिरन्तर्बहिर्लोचनयोः शरीरे च तदुल्लासः. ततो लौकिकमोहनिवृत्तिः ॥२६॥

उत्तमाधिकारित्वाद् अस्यैतावन्निरूप्य ततो न्यूनं भीमकृत्यं निरूपयति **तं मातुलेयमिति.**

तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो भीमः स्मयन् प्रेमजवाकुलेन्द्रियः ।
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् ॥२७॥

सम्बन्ध एव तस्य हृदये प्रतिभातः तथापि वस्तुसामर्थ्याद् **निर्वृतिः**[१] भगवत्सम्बन्धाद् बलाविर्भावे जाते. **स्मयन्** मन्दहासं कुर्वन्. ततोऽधिकारित्वात् **प्रेमजवेनाकुलानीन्द्रियाणि यस्य. यमौ** माद्रीपुत्रौ, तयोरपि[२] लौकिकत्वाद् भीमानन्तरं कथनम्. **किरीटी** अर्जुनः, तत्र **चकारः** राजधर्ममन्यधर्मं च समुच्चिनोति. परिष्वङ्गे हेतुः **सुहृत्तममिति. मुदा प्रवृद्धबाष्पा** इत्यविचारे. भगवांस्त्व**च्युत** इति न कापि तस्य क्षतिरित्यनुमोदनं सूचितम् ॥२७॥

प्रेमकार्यं निरूप्य लौकिकं कृत्यमर्जुनादीनां निरूपयति **अर्जुनेनेति** द्वाभ्याम्.

अर्जुनेन परिष्वक्तो यमाभ्यामभिवादितः ।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्च यथार्हतः ॥२८॥

समस्यालिङ्गनं कनिष्ठौ चेदभिवादनम्, अतः **अर्जुनेन परिष्वक्तः यमाभ्यां चाभिवादितः**. ततो भगवान् भीमादयो ज्येष्ठा इति तान् सर्वानेव नमस्करोतीत्याह **ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्चेति. यथार्हतः** यथायोग्यतः ॥२८॥

मानितो मानयामास कुरुसृञ्जयकैकयान् ।
सूत-मागध-गन्धर्वान् बन्दिनश्चोपमन्त्रिणः ॥२९॥

सर्वैर्मानितः सर्वानेव **मानयामास**; "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" (भ.गीता ४।११) इति लौकिकभावेन प्रपन्नान् लौकिकभावं बोधयतीति निरूप्यते. **कुरवः सृञ्जयाः कैकयाश्च** सात्त्विकादिभेदा इव त्रिविधा निरूपिताः. बन्धुत्वोपजीवकानुक्त्वा विद्योपजीवकानाह **सूतमागधगन्धर्वानिति. गन्धर्वा**

---

१. निर्वृतः इति सं-क-खपाठः -सम्पा. २. ततो इति कपाठः -सम्पा.

गायकाः, **उपमन्त्रिणः** परिहासकर्तारः समीचीनाः ॥२९॥

ततो भगवता मानिताः भगवन्तं मानयामासुरित्याहुः **मृदङ्गेति.**

मृदङ्ग-शङ्ख-पटह-वीणा-पणव-गोमुखैः ।
ब्राह्मणाश्चारविन्दाक्षं तुष्टुवुर्ननृतुर्जगुः ॥३०॥

चकारात् क्षत्रियादयोऽपि. **अरविन्दाक्षमिति** दृष्ट्यैवाप्यायिताः. ज्ञानिनः **तुष्टुवुः**, भक्ता **ननृतुः, जगुः** कर्मिणः सामगाः ॥३०॥

दर्शनस्थानकृत्यमुपसंहरन् अग्रिमकृत्यमाह **एवं सुहृद्भिरिति.**

एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः पुण्यश्लोकशिखामणिः ।
संस्तूयमानो भगवान् विवेशालङ्कृतं पुरम् ॥३१॥

एवम्भूतैः **सुहृद्भिः पर्यस्तो** व्याप्तस्तैरेव **संस्तूयमानः पुरमविशत्.** भगवतो महतो नगराद् बहिरेव स्थातुं युक्तं ; कथमन्तःप्रवेशनमिति शङ्कां वारयति **पुण्यश्लोकशिखामणिरिति. पुण्यश्लोका** युधिष्ठिरादयः, तेषां **शिखामणिर्मुकुटमणिः.** भगवतः प्रवेशाभावे कोऽपि पुण्यश्लोको न प्रविशेदिति तदनुरोधेन प्रार्थनया प्रविष्ट इत्यर्थः. भगवत्त्वाद् अनन्यत्वं, सर्वैरेव स्तूयमानत्वात् न लज्जा. सर्वानुमोदनार्थं विशेषणम् **अलङ्कृतमिति** ॥३१॥

भगवत्प्रविष्टं पुरं वर्णयति द्वाभ्यां **संसिक्तेति.**

संसिक्तवर्त्म करिणां मदगन्धतोयै-
श्चित्रध्वजैः कनकतोरणपूर्णकुम्भैः ।
मृष्टात्मभिर्नवदुकूलविभूषणस्रग्-
गन्धैर्नृभिर्युवतिभिश्च विराजमानम् ॥३२॥

करिणां मदगन्धतोयैः संसिक्तवर्त्मेति अधो वर्णितम्, **कनकतोरणैः पूर्णकुम्भैश्चेत्युपरि.** मध्ये वर्णयति **मृष्टात्मभिरिति. मृष्टा** उद्वर्तनादिभिः शोधिताः **आत्मानो** देहा येषां, **नवानि दुकूलानि स्रजो** माला **गन्धाश्च** येषाम् —एतादृशैर्**नृभिर्युवतिभिः** स्त्रीपुरुषैर्**विराजमानमिति** साधारणपुरुषाणां शोभा निरूपिता. प्रसिद्धपुरुषाणां तु पुरमेव शोभाकरम् ॥३२॥

साधारणं पुरं वर्णयित्वा राजगृहात्मकं वर्णयति **उद्दीप्तेति.**

उद्दीप्तदीपवलिभिः प्रतिसद्मजाल-
निर्यातधूपरुचिरं विलसत्पताकम् ।
मूर्धन्यहेमकलशै रजतोरुशृङ्गै-
र्जुष्टं ददर्श भवनैः कुरुराजधाम ॥३३॥

राजगृहाः सर्वे भोगस्थानभूता इति तत्र **उद्दीप्ता दीपा वलयश्च** पुष्पमण्डलानि पूजासाधनानि भवन्ति. **प्रतिसद्म** सर्वेष्वेव गृहेषु ये **जाला** गवाक्षाः तन्मार्गेण **निर्याता** ये **धूपास्तै रुचिरम्. विलासयुक्ताः पताका यस्मिन्.** सात्त्विक-राजस-तामसोत्कर्षो निरूपितः क्रमेण पदत्रयेण. गृहाणां स्वाभाविकोत्कर्षमाह **मूर्धन्येति.** गृहमूर्धनि स्थितैः **हेमकलशैः राजतानि उरु शृङ्गाणि च तैर्जुष्टं** सेवितम्. ज्ञापकत्वेन तानि स्थितानि. अयमर्थः— भगवान् दूरादेव दीपविशेषैः पताकाभिः सुवर्णकुम्भैः राजतशृङ्गैश्च राजगृहमिदमिति ज्ञातवानिति ॥३३॥

ततः पुरं प्रविष्टस्य भगवतः प्रकारान्तरेण स्वरूपं वर्णयितुं तत्रत्यानाम् औत्सुक्यमाह **प्राप्तं निशम्येति.**

प्राप्तं निशम्य नरलोचनपानपात्र-
मौत्सुक्यविश्लथितकेशदुकूलबन्धाः ।
सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च तल्पे
द्रष्टुं ययुर्युवतयः स्म नरेन्द्रमार्गे ॥३४॥

नराणां यानि **लोचनानि** लावण्यामृतसारज्ञानयुक्तानि तेषां लावण्यामृतपाने भगवान् पानपात्रं यत्रत्यं रूपामृतं चक्षूंषि पिबन्ति. ततो

लेखः

उद्दीप्तेत्यत्र तै रुचिरमिति. तादृशमेकं भवनम्, एवंविधैर्भवनैर्जुष्टमिति मूलेऽन्वयः. **उरुशृङ्गाणि चेति.** तादृशैः कलशैरेतादृशैः शृङ्गैश्च युक्तानि भवनानि इति शेषः. तैर्भवनैर्जुष्टमित्यर्थः. 'कलशैः शृङ्गैश्च जुष्टमि'त्यन्वये आभासे **गृहाणामिति** बहुवचनमनुपपन्नं स्यात्. तथाच मूर्धन्या हेमकलशा येषु भवनेषु राजतान्युरुशृङ्गाणि येष्विति समासः. व्याख्याने त्वर्थकथनमात्रम् ॥३३॥

प्राप्तं निशम्येत्यत्र ज्ञानयुक्तानीति. लोचनमालोचनं ज्ञानं तद्युक्तानीत्यर्थ

रूपदर्शनेन उन्मथिताशयानां देहवैक्लव्यमाह **औत्सुक्येति**. दर्शने दर्शनानन्तरं वा या उत्सुकता **औत्सुक्यं** तेन **विश्लथिताः केशदुकूलयोर्बन्धा यासाम्**. केशबन्धापगमे मनोवैक्लव्यं, दुकूलबन्धापगमे देहकार्श्यम् — अन्तर्बहिःक्लेशो निरूपितः. ततः पूर्वावस्थायां स्थातुमशक्ताः **सद्य एव गृहकर्म पतींश्च तल्पे** त्यक्त्वा = क्रियाः क्रियाफलानि च त्यक्त्वा **नरेन्द्रस्यैव मार्गे** राजमार्गे **युवतयो** भगवन्तं **द्रष्टुं ययुः**. तल्पे पतीनां निरूपणात् न ते भगवद्भक्ताः. राजा तु भगवत्सम्मुखं गत इति पतिगृहेभ्यः राजमार्ग एव श्रेष्ठ इति तत्रैव निविष्टा येन भगवान् दृश्येतेत्यर्थः. **गृहाः कर्माणि पतयश्चेति** वा तामसादिभेदास्त्रयः त्यागार्हा एव. अर्थाद् राजमार्गो गुणातीत एव भवति ॥३४॥

अत एव तत्र गतानां भगवद्दर्शनं जातमित्याह **तस्मिन्निति**.

तस्मिन् सुसंकुल इभाश्वरथद्विपद्भिः
कृष्णं सभार्यमुपलभ्य गृहाधिरूढाः ।
नार्यो विकीर्य कुसुमैर्मनसोपगुह्य
सुस्वागतं विदधुरुत्स्मयवीक्षणेन ॥३५॥

चतुरङ्गसेनासंकुले **तस्मिन्** मार्गे **सभार्यं** भगवन्तमुपलभ्य **गृहाधिरूढाः** सत्यः आरोहदोषपरिहाराय **कुसुमैर्विकीर्य** विवाहमिव कृत्वा पश्चात् **मनसोपगुह्य उत्स्मयवीक्षणेन** हासपूर्वकनिरीक्षणेन **सुष्ठु स्वागतं विदधुः**. सर्वनिरूपणेन ह्यपराधक्षमा. तत्र विधानपूर्वकं भगवन्तं परिगृह्य प्रमाणविरोधं परिहृत्य आत्मानं भगवति योजयित्वा प्राप्तं भगवन्तं पूरितमनोरथं पूर्णमनोरथाः

लेखः

आद्यच् — एवं विग्रहमभिप्रेत्येदमुक्तम्. **केशेति**. मनोवैक्लव्ये सति शिथिलबन्धनात् तदपगमो भवति अतस्तदपगमे सति मनोवैक्लव्यं सूचितं भवतीत्यर्थः ॥३४॥

तस्मिन्नित्यत्र सर्वेति. कुसुमवृष्ट्यादिनिरूपणेनारोहदोषक्षमेत्यर्थः. एतावत्करणेऽपराधक्षमा युक्तैवेति हिशब्दः. **प्रमाणविरोधमिति**. स्त्रीणां गृहस्थितिः प्रमाणमार्गः ; तत्र स्थितौ हि तद्विरोधचिन्ता, एतास्तु तदुपरि गता इत्यर्थः ॥३५॥

हासेनाधिकरतिं दास्याम इति सूचयन्त्यः मोहयन्त्यो वा ततः साभिलाषं भगवन्तं सम्यगागतमिति सन्माननां कृतवत्य इत्यर्थः ॥३५॥

एवं भगवति स्त्रीणां भावमुक्त्वा पुरुषाणां भावमाह **तत्र तत्रेति.**

तत्र तत्रोपसङ्गम्य पौरा मङ्गलपाणयः ।
चक्रुः सपर्यां कृष्णाय श्रेणीमुख्या हतैनसः ॥३६॥

पौराः पुरवासिनः सर्व एव कृष्णस्य **सपर्यां** पूजां **चक्रुः**. श्रेणीमुख्यानां विशेषमाह. एकशिल्पोपजीविनः वणिग्विशेषाः श्रेणीमुख्याः. ते भगवता तत्तच्छिल्पसहिता विशेषतो दृष्टाः सर्वात्मना **हतैनसो** जाता इत्यर्थः. मङ्गलद्रव्ययुक्तपाणित्वं तु समानमेव. सपर्या गन्धपुष्पादिभिः ॥३६॥

एवं सर्वैः सभाजनमुक्त्वा स्त्रीभिः कृतं मुकुन्दपत्नीनां पुनराह **ऊचुरिति.**

ऊचुः स्त्रियः पथि निरीक्ष्य मुकुन्दपत्नी-
स्तारा यथोडुपसहाः किमकार्यभूमिः ।
यच्चक्षुषां पुरुषमौलिरुदारहास-
लीलावलोककलयोत्सवमातनोति ॥३७॥

स्त्रीत्व-भक्तत्वाविशेषेऽपि एता एव धन्या, नतु वयम्. यद्यपि वयमुपरि तथापि भगवान् भूमौ समागत इति भूमिरेव स्वर्ग इति निरूपयन्त्यो दृष्टान्तमाहुः **तारा यथोडुपसहा** इति. "देवगृहा वै नक्षत्राणि" (तैत्ति.ब्रा. १।५।२।११) इति श्रुत्या तासामिन्द्रियाणां देववद् भोगाधिक्यं सूचितम्. केन धर्मेणायमर्थः प्राप्त इति तासां विमर्शनमाहुः **किमकार्यभूमिरिति.** ननु किमाश्चर्यं, बह्वीनामेव तथाभावाद्, इत्याशङ्क्य तासां सर्वोत्तमफलभोगमाह **यच्चक्षुषामिति.** यासां चक्षुषां भगवान् स्वय**मुत्सवमातनोति.** भगवानेव सर्वकर्तेति किमाश्चर्यमिति शङ्कां वारयितुं भगवति विशेषमाह **पुरुषमौलिरिति.** न हि पुरुषोत्तमः स्त्रिया उत्सवं सम्पादयति. तथा सत्युत्तमत्वमेव चिन्त्यं स्यात्. तत्रापि **उदारो** यो **हासः** सर्वेषामनायासेन सर्वपुरुषार्थदाता, तत्सहितो यो **लीलावलोकः** पूर्णसर्वपुरुषार्थोऽपि भक्तिज्ञानसहितः. उदारो गुणः त्रयाणां च हासलीलावलोकानां तेषामपि या **कला** नैपुण्यातिशयः तेन स्वसर्वस्वेनापि तासां नेत्राणामुत्सवं करोतीति तासां महती स्तुतिः ॥३७॥

पुरवासिनां कृत्यमुक्त्वा अन्तःपुरवासिनामाह **अन्तःपुरजनैरिति.**

अन्तःपुरजनैः प्रीत्या मुकुन्दः फुल्ललोचनैः ।
ससम्भ्रमैरभ्युपेतः प्राविशद् राजमन्दिरम् ॥३८॥

अन्तःकरणेन्द्रियशरीराणि तेषां भगवत्पराणीति वक्तुं विशेषणत्रयं **प्रीत्या फुल्ललोचनैः ससम्भ्रमैरिति. सम्भ्रमो** देहधर्मः. एवं सर्वभावैः प्रपन्नै**रभ्युपेतः** सन् **राजमन्दिरं प्राविशत्** ॥३८॥

सम्माननाया अविच्छेदं वक्तुं पृथादिकृतं सम्मानमाह **पृथा विलोक्येति.**

पृथा विलोक्य भ्रात्रेयं कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम् ।
प्रीतात्मोत्थाय पर्यङ्कात् सस्नुषा परिषस्वजे ॥३९॥

भ्रातृपुत्रोऽपि **कृष्णस्त्रिभुवनेश्वरः** महान् सम्बन्धीति **प्रीतात्मा** सती **सस्नुषा पर्यङ्कादुत्थाय परिषस्वजे.** महति लज्जा-भये भवतः ते च परित्यज्य. परिष्वङ्गाज्जातिदेहधर्मनिवृत्तिः, पर्यङ्कादुत्थायेति सुखसाधनपरित्यागः, सस्नुषेति निरन्तरत्वम् —अन्तःकरणप्रीत्या दोषाभावपूर्वकं सर्वगुणा निरूपिताः. पर्यङ्कस्थितिः भगवत्कृपां सूचयति. भगवदर्थं गृहकार्ये स्थिताया विकलाया वा पर्यङ्के स्थितिः. एतावदेव तयोः कृत्यं प्रेम्णा विकलयोर्नाधिकम् ॥३९॥

ततो गृहागते भगवति राज्ञः कृत्यमाह **गोविन्दमिति.**

गोविन्दं गृहमानीय देवदेवेशमादृतः ।
पूजायां नाविदत् कृत्यं प्रमोदोपहतेन्द्रियः ॥४०॥

देवमात्रेऽपि गृहागते महती पूजा कर्तव्या. भगवांस्तु **देवानामपि देवः.** तस्मिन्नप्यागते स्वयमेव **गृहानानीय पूजायां** कर्तव्यायाम् आदरे विद्यमानेऽपि सति[१] **कृत्यं** कर्तव्यं **नाविदत्,** भगवद्व्यतिरेकेण तस्यान्यत्र पूजासाधने दृष्ट्यभावात्. बलात् चित्तप्रेरणे वैकल्यसम्भवात् न पूजाज्ञानम्. **प्रमोदेन च उपहतानीन्द्रियाणि** सुखासक्तानि न क्रियायां प्रवर्तन्त इत्यर्थः ॥४०॥

लेखः

पृथेत्यत्र महतीति. सम्बन्धिन्यपि प्रौढे सत्येते भवत एवेत्यर्थः. **तयोः कृत्यमिति** श्वश्रू-स्नुषयोरित्यर्थः ॥३९॥ इति द्वाविंशोऽध्यायः ॥

---

१. सत्यम्.

एवं सर्वेषु प्रेम्णा विकलेषु सत्सु भगवत्कृत्यमाह **पितृष्वसुरिति.**

पितृष्वसुर्गुरुस्त्रीणां कृष्णश्चक्रेऽभिवादनम् ।
स्वयं च कृष्णया राजन् भगिन्या चाभिवन्दितः ॥४१॥

येन भगवच्चरित्रेण मोहकेन तेषां सावस्था दूरे भवति, अन्यथाग्रिमकार्यं न स्यात्, तच्चरित्रमाह. स्वापेक्षया ज्येष्ठानां **स्त्रीणां पितृष्वसुश्च** भगवानभिवादनं **चक्रे.** ततस्तासां देहधर्मयुक्तानां कृत्यमाह **स्वयं चेति.** स्त्रीत्वैकगृहत्वैकगोत्रत्वादिभिः सर्वा एकभावमापन्ना इति वृद्धनमस्कारेऽप्यन्यासामपि देहधर्मसम्बन्धः. **कृष्णा** द्रौपदी, **भगिनी** सुभद्रा, **च**कारादन्या अपि ॥४१॥

ततो भगवत्पत्नीनां पूजामाह **श्वश्र्वेति.**

श्वश्र्वा सञ्चोदिता कृष्णा कृष्णपत्नीस्तु सर्वशः ।
आनर्च रुक्मिणीं सत्यां भद्रां जाम्बवतीं तथा ॥४२॥
कालिन्दीं मित्रविन्दां च शैब्यां नाग्नजितीं सतीम् ।

पृथया सम्प्रेषिता **कृष्णा**[१] **सर्वशः** सर्वप्रकारेण **कृष्णपत्नीरर्चयामास.** तुशब्देन न्यूनाधिकभावेन पूजा निवारिता. समुदायेन पूजां निवारयितुं प्रत्येकं नामान्याह **रुक्मिण्यादिपदैः. सत्या** सत्यभामा, **शैब्या** लक्ष्मणा, **नाग्नजित्येव सती** सत्या. एवमष्टमहिष्यो नाम्ना निरूपिताः ॥४२॥

षोडशसहस्राण्यवशिष्टानि एकभावापन्नत्वात् समुदायेनाह **अन्याश्चेति.**

अन्याश्चाभ्यागता यास्तु वासःस्रङ्मण्डनादिभिः ॥४३॥

किं बहुना, प्रद्युम्नादिपत्न्योऽपि **याः** काश्चन समागताः ताः सर्वा एव **वासःस्रङ्मण्डनादिभिः आनर्चेति** सम्बन्धः ॥४३॥

तात्कालिकं पूजाविशेषमुक्त्वा राज्ञः स्थिरं कृत्यमाह **सुखं निवासयामासेति.**

सुखं निवासयामास धर्मराजो जनार्दनम् ।
ससैन्यं सानुगामात्यं सभार्यं च नवं नवम् ॥४४॥

वस्तुतस्तु सुखरूपं भगवन्तं स्थापयित्वा स्वयं सुखी जात इत्यर्थः.

---

१. अत्र खपाठे द्रौपदीः इत्यधिकः - सम्पा.

जनार्दनमविद्यानाशकम्. यथैव भगवतो मनःप्रीतिर्भवति तथा स्थापितवान्. न केवलं भगवतः किन्तु सर्वेषामित्याह **ससैन्यमिति**. भगवतश्चत्वार्यङ्गानि— सैन्यं सेवकाः अमात्या भार्याश्चेति. तत्सहितं प्रत्यहं **नवं नवं** यथा भवति ॥४४॥

एवं सर्वभावेन सेवायां क्रियमाणायां लौकिकधर्माभिनिविष्टे राजनि भगवता यत्कृत्यं तदाह **तर्पयित्वेति** द्वाभ्याम्.

तर्पयित्वा खाण्डवेन वह्निं फाल्गुनसंयुतः ।
मोचयित्वा मयं येन राज्ञे दिव्या सभा कृता ॥४५॥

देवेष्वग्निः प्रधानभूत इति **खाण्डवेन** तमादौ तर्पयामास. दैत्याधिपतिं **मयं** च मोचयामास. एवं देवासुररूपाणीन्द्रियाणि स्वाधिदैविकतर्पणेन तृप्तानि सन्ति युधिष्ठिरं सर्वथा लौकिकवैदिकभावेन तर्पयिष्यन्ति. दैत्यभागस्य शीघ्रफलत्वज्ञापनाय मयकृतोपकारमाह **येन** मयेन **राज्ञे दिव्या सभा कृते**ति. **क्त्वा**प्रत्ययान्तयोः **उवासे**त्यनेन सम्बन्धः ॥४६॥

न केवलं कृत्यैव तं सुखीचकार किन्तु स्थित्यापीत्याह **उवासेति**.

उवास कतिचिन्मासान् राज्ञः प्रियचिकीर्षया ।
विहरन् रथमारुह्य फाल्गुनेन भटैर्वृतः ॥४६॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥

कतिचिन्मासानिति कार्यान्तरमकृत्वा राज्ञः प्रियार्थं निरन्तरं राजसन्निधान एवोवास. मासचतुष्टयमिति विमर्शः, भगवतः शयनकाल एव तादृश इति. निर्बन्धेन स्थितिं वारयति **विहरन् रथमारुह्ये**ति. तत्रत्यान् स्वकीयांश्च प्रीणयन्निति वक्तुं **फाल्गुनेन भटैर्वृत** इत्युक्तम्. **फाल्गुन**स्तत्रत्योपलक्षकः **भटाः** स्वकीयाः उभयैर्वृतः. वेष्टनेन निरन्तरं सर्वेषां सुखदानं निरूपितम् ॥४६॥

॥ इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धे द्वाविंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥

॥ द्वितीयः स्कन्धादितो एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥

निरोधः सात्त्विकानां हि सगुणानां निरूपितः ।
धर्मप्रसङ्गे शुद्धानां तेषां दुःखं निवार्यते ॥(१)॥
त्रयोविंशे जरासन्धवधः क्लेशहरो महान् ।
निरूप्यते यतः सर्वसात्त्विकाः सुखिनोऽभवन् ॥(२)॥
त्रिविधाः सात्त्विकाः प्रोक्ता राजानो यादवास्तथा ।
पाण्डवाश्च ततस्तेषु द्वयोऽरिष्टो वधः स्फुटः ॥(३)॥
पाण्डवानामिष्टतायै प्रसङ्गोऽप्यत्र रूप्यते ।
भक्तानां कर्मिणां चेत् स्यादिष्टं मागधनाशनम् ॥(४)॥
तदैव नाशनं युक्तं ब्रह्मण्यस्य दयावतः ।
ब्राह्मणस्याप्यालभनं यज्ञार्थं हि निरूप्यते ॥(५)॥
ब्रह्मण्ये तत्र को मर्षः क्षत्रिये विमुखे हरेः ॥

पूर्वाध्यायान्ते स्वगृहे भगवन्तं सुखेन स्थापितवानित्युक्तम्. ततो यदर्थं स्थापनं तद्विज्ञापनार्थं प्रसङ्गमाह **एकदा त्विति** द्वाभ्यां, साधारणासाधारणसम्बन्धिसहभावभेदात्.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एकदा तु सभामध्य आस्थितो मुनिभिर्वृतः ।
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैर्भ्रातृभिश्च युधिष्ठिरः ॥१॥
आचार्यैः कुलवृद्धैश्च ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ।
शृण्वतामेव चैतेषामाभाष्येदमुवाच ह ॥२॥

एकान्ते विज्ञापनमभिमाननिवर्तकं न भवतीति सम्भावनायां सर्वसन्निधानं निरूप्यते. **एकदा** शुभलग्ने. तुशब्दः कालान्तरसन्निधानं वारयति. **आस्थित**

लेखः

कारिकायां **निरोध** इति. **सगुणानां** तमोरजःसत्त्वमिश्रितानाम्. **सात्त्विकानां** राज-यादव-पाण्डवानां **निरोधो निरूपितः**. सात्त्विकप्रकरणत्वात् तथा युक्तमिति हिशब्दः. अतः परं तेषां त्रयाणां निरोधेन शुद्धानां दुःखं राजसूयप्रसङ्गे जरासन्धवधेन निवार्यत इत्यर्थः (१).

उत्थितः. धर्मार्थमेव विज्ञापनमिति ज्ञापयितुमादौ मुनीनां सहभावः. अन्ये साधारणा **ब्राह्मणाः** त्रयो वर्णाः क्रमेण निरूप्यन्ते. "शूद्रस्तु यज्ञे अनवक्लृप्तः" (तैत्ति.सं. ७।१।१।६). **भ्रातरो** भीमादयः, **च**काराद् दुर्योधनादयश्च. **आचार्या** द्रोणादयः, **कुलवृद्धाः** भीष्मादयः, **ज्ञातयो**ऽन्ये गोत्रजाः **सम्बन्धिनो** विवाह्याः **बान्धवा** दूरस्थाः सर्व **एव**. तद्द्वारा तत्स्त्रीणामभ्यनुज्ञा सिद्धेति न कस्यापि परोक्षता. सर्वे सावधानाः शृण्वन्त एव स्थिताः. एवकारेण व्यासङ्गो निवार्यते, चकारेणानुद्दिष्टानामपि. **आभाष्य** "हे कृष्ण स्वामिन्नि"त्युक्त्वा. एवमभिमानपरित्यागः आश्चर्ययेति **हे**त्युक्तम् ॥१-२॥

विज्ञापनामाह **क्रतुराजेने**ति.

॥ युधिष्ठिर उवाच ॥

क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः ।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्सम्पादय नः प्रभो ॥३॥

गोविन्देति सम्बोधनमिन्द्र एव यष्टव्य इति मर्यादास्थापनार्थम्. यथा राजा पुरुषाणां तथा राजसूयो यज्ञानामिति **क्रतुराज**त्वम्. यद्यपि नारदेन "त्वां यक्ष्यती" (भाग.पुरा. १०।६७।४१) त्युक्तं तथापि सर्वरूपस्य परिच्छेदः समायातीति भगवदंशानामेव विभूतिरूपाणां देवानां यागं निरूपयति **पावनीस्तव विभूतीर्यक्ष्य** इति. **पावनी**रित्याधिदैविकीः दैत्यसम्बन्धव्यावृत्त्यर्थं वा. **तत्** तस्मात् **तद्** वा यजनं **नो**ऽस्माकं **सम्पादय**. सामर्थ्याय सम्बोधनम् ॥३॥

ननु भगवद्भक्ता न किञ्चन वाञ्छन्ति; "पुंसां किलैकान्तधियाम्" (भाग.पुरा. ६।११।२२) इति शास्त्रानुसारेणापि भगवदीयानां कार्यसिद्धिः, तत्कथं प्रार्थनेत्याशङ्क्याह **त्वत्पादुके** इति.

त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति
ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति ।
विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्ग-
माशासते यदि त आशिष ईश नान्ये ॥४॥

यद्यपि कायवाङ्मनोभिस्त्वां प्रपन्नाः नैतादृशं वाञ्छन्ति तथापि यदि

वाञ्छन्ति तदा प्राप्नुवन्तीति सिद्धान्तः. तेषां सहजं फलं निरूपयति[१] **ये त्वत्पादुके** भक्तिमार्गानुसारेण **परिचरन्तीति** कायिको व्यापारो निरूपितः. **ध्यायन्तीति** मानसः. चित्तमस्थिरं, योगव्यतिरेकेण कथं ध्यानसिद्धिरित्याशङ्कां वारयितुं विशेषणमाह **अभद्रनशने** इति. पापवशादेव चाञ्चल्यम्. ध्यानार्थमुद्यतस्य प्रथमस्मरणेन पापनाशे उत्तरोत्तरस्मरणसिद्धिः. ततः **शुचयो गृणन्ति** तेन कायिकान्यव्यापारनिवृत्तिः सर्वपापक्षयः शुद्धिश्च तेषां प्रसङ्गादुक्ता. **अतस्ते भवस्य** संसारस्यापवर्गं समाप्तिं **विन्दन्ति.** ननु कर्मज्ञानाभावे कथं भगवद्भजनमात्रेण प्रमाणाभ्यनुज्ञाभावाद् भवापवर्ग इत्याशङ्क्य सम्बोधनमाह **कमलनाभेति**. भुवनकोशात्मकं कमलं नाभौ यस्य. एतत्प्रवर्तित एव सर्वोऽपि संसार इति एतत्परिचर्यायां न प्रमाणाभ्यनुज्ञापेक्षेति भावः. **ते यदि** बहिर्मुखाः सन्तः बालपुत्रव**दाशिष आशासते** लौकिकीर्वैदिकीर्वा तदा त एव विन्दन्ति. अन्ये तु कर्मादिभिः क्लृप्तमेव प्राप्नुवन्ति नाक्लृप्तमिति भावः. "एकान्तधियाम्" (भाग.पुरा. ६।११।२२) इत्यत्रान्तर्निष्ठा एव गृहीता इति न विरोधः. प्रथमप्रवृत्तस्यैव धनादिहरणम्, अन्यथा सर्वसेव्यता न स्यात् ॥४॥

ततो लोके ये स्वोत्कर्षं वाञ्छन्ति, भक्ताः सन्तः भक्तिमार्गोत्कर्षार्थं वा, तेषामानुगुण्यं भगवता कर्तव्यमित्याह **तद्देवदेवेति**.

तद्देवदेव भवतश्चरणारविन्द-
सेवानुभावमिह पश्यतु लोक एषः ।
ये त्वां भजन्ति न भजन्त्युत वोभयेषां
निष्ठां प्रदर्शय विभो कुरुसृञ्जयानाम् ॥५॥

तथापि कस्यचिद्वधं सर्वात्मा न करिष्यतीत्याशङ्क्य सम्बोधनं हे देवदेवेति. अनेन दैत्यवधोऽभिप्रेत इति सूचितम्. **तत्** तस्मात् कारणात्. अस्योत्कर्षस्य केवलबहिर्मुखविषयत्वाद् अयुक्तकथनत्वमाशङ्क्य लोकप्रतीत्यर्थतामाह **भवतश्चरणारविन्दसेवानुभावमिह लोकः पश्यत्विति**. ननु राज्यवद्

---

१. निरूपयन्ति इति क-खपाठः - सम्पा.

राजसूयसिद्धावपि कथमेतद् भक्तस्यैव नान्यस्येति ज्ञायते तत्राह **ये त्वां भजन्तीति.** **ये** पाण्डवादय**स्त्वां भजन्ति** ये वा शिशुपाल-दुर्योधन-जरासन्धादयः **त्वां न भजन्ति तेषामुभयेषां निष्ठां** फलपर्यवसानं त्वमेव **दर्शय**— मरण-मानभङ्ग-वञ्चितत्वादयः विमुखेषु, कीर्ति-धन-धर्मादयः सेवकेष्विति. तान् सर्वान् सङ्क्षेपतो निर्दिशति **कुरुसृञ्जयानामिति.** सृञ्जयवंशः द्रुपदस्य अतस्तत्पक्षपातेन पुष्टा इति कुर्वाख्यातिं परित्यज्य पाण्डवाः सृञ्जयाख्यातिमेव मन्यन्ते. तेन[1] कौरवाः धार्तराष्ट्राः विमुखाः, सृञ्जयाः पाण्डवा भक्ता इति. अनेन स्वस्य मात्सर्याभिनिवेशः सूचितः ॥५॥

नन्वेतदल्पदेवानां परिच्छिन्नमतीनामेव कार्यं न ममेत्याशङ्क्य सत्यं, परं भक्तानुरोधेन कर्तव्यमिति प्रार्थयन्नाह **न ब्रह्मण** इति.

न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्
सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः ।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र ॥६॥

भगवान् स्वार्थं चेत् कुर्यात् तदैवं न कुर्यात्. अन्यार्थत्वे त्वन्येच्छानुसारेणैव कर्तव्यम्, अन्यथा भगवतः पुरुषार्थसाधकत्वं न स्यात्. प्रथमपक्षमङ्गीकृत्याह **तव ब्रह्मणः** सर्वसमस्य यद्यपि **स्वपरभेदमति**र्नास्ति तथापि **तव स्या**देव भक्तानुरोधादिति. **न** भवेदिति विध्यर्थता वा. स्वपरभेदमतिः त्रिविधानां भवति— ये देहात्मभावेन परिच्छिन्नाः, ततो भोगसिद्ध्यर्थं विषयेषु विषमदृष्टयः, ततो विषयसुखभोक्तारः. भगवांस्तु नैवंविध इति विशेषणत्रयं— **सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूते**रिति. अन्यार्थत्वे तु तत्त्वे एतादृशस्यापि विषमकार्यकर्तृत्वं सदृष्टान्तमाह **संसेवतामिति. सुरतरुः** स्वभावत एव तथा. तथा भगवानपि. भगवद्धर्माभिव्यक्तिरेव सर्वत्रेति स धर्मोऽस्मदर्थे प्रकटीकर्तव्य इति भावः.

लेखः

तद्देवदेवेत्यत्र तत्राहेति. निमित्तसप्तमीयमिति ज्ञानार्थं निष्ठां प्रदर्शयेति युधिष्ठिर आहेत्यर्थः ॥५॥

---

१. तेन इत्यत्र न इति खपाठः - सम्पा.

धर्मिणि तु दोषो न भविष्यति धर्मानुरोधे, अतः **सेवानुरूपमुदयोऽस्तु**. अतोऽत्र धर्मिसम्बन्धाभावान्न **विपर्ययः** ॥६॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

सम्यग्व्यवसितं राजन् भवता शत्रुकर्षण ।
कल्याणी येन ते कीर्तिर्लोकाननुभविष्यति ॥७॥

भगवांस्तु तेन स्वान्तरो दोषो निरूपित इति सन्तुष्टः सन् चिकीर्षितस्य गुणरूपत्वं वदन्नभिनन्दति **सम्यग्व्यवसितं राजन्निति**, प्रकारान्तरेण नेष्टं सिद्ध्यतीति. **राजन्निति** सम्बोधनात् राज्ञो बहिर्मुखता युक्तेति सूचितम्. तत्रापि स्वराज्यपरिपालनमात्रतायां तथा न भवेदिति विशेषणान्तरं **शत्रुकर्षणे**ति. एवं कृते धर्म-भगवत्प्रीत्यादेरभावात् यत्फलं तन्निर्दिशति **कल्याणी येन ते कीर्तिरि**ति. वध-जयादिनापि कीर्तिर्भवति, परं सा न कल्याणी. पुष्टा च भविष्यतीत्याह **लोकाननुभविष्यतीति**. "यशःश्रियामेव परिश्रमः" (भाग.पुरा. १२।१२।५३) इति पक्षो निरूपितः ॥७॥

अन्येनापि धर्मेण यशो भवति, तथापि राजसूय एव कर्तव्य इति प्रारिप्सितं स्तौति **ऋषीणामिति**.

ऋषीणां पितृदेवानां सुहृदामपि नः प्रभो ।
सर्वेषामपि भूतानामीप्सितः क्रतुराडयम् ॥८॥

राज्ञस्तथा स्वाध्यायनिष्ठताभावात् राजसूयेनैव **ऋषयः** प्रीता भवन्ति. राजसूयकर्तुरेव **पितर** इन्द्रसभायां तिष्ठन्ति, अन्ये तु यमसभायाम्. तथा **देवानां** साद्यस्क्रप्रयोगाद् विलम्बाभावाद् विशेषतृप्तिः. **सुहृदामपि** स्वकीयोत्कर्षहेतुत्वात्, तत्रापि **नो**ऽस्माकमेव, न दुर्योधनादीनाम्. **प्रभोः** कालस्यापि भूभारहरणहेतुत्वात्. उद्धतहननात् **सर्वेषामेव भूतानां क्रतुराड्** राजसूय **ईप्सितः**. तत्राप्ययं त्वया क्रियमाणः उत्तमप्रकारत्वाद्, नतु वरुणादिकृतः ॥८॥

अतः प्रथममेव आरम्भमकृत्वा स्वाधिकारं सम्पादयेत्याह **विजित्येति**.

विजित्य नृपतीन् सर्वान् कृत्वा च जगतीं वशे ।
सम्भृत्य सर्वसम्भारान् आहरस्व महाक्रतुम् ॥९॥

सर्वराजजयाभावे न राजसूयाधिकारः, सार्वभौमस्यैवाधिकारात्, यं च

लोका न मन्यन्ते तस्यापि नाधिकार इति. अत आह **कृत्वा च जगतीं सर्वामेव वशे**. ततो यज्ञसम्भाराः आदावेव साधनीयाः, अन्यथा यज्ञः सम्भृतो न भवतीति, तत्कालसम्भरणेन समारम्भे न सर्वः समारब्धो भवेदिति. यथा जनने हस्तपादादयः यद्यपि तदा नोपयुज्यन्ते तथाप्यविकलेनैव भाव्यं तथा सम्भाराः. तदनन्तर**माहरस्व** नित्यमेव भगवद्रूपं हृदयात् प्रतिमायामिव मूलस्थानात् स्वस्मिन्नाहरणं कर्तव्यमिति भावः. "तमाहरन् तेनायजन्त" (तैत्ति.सं. ७।१।४।१) इति पृथङ्निर्देशात् केचिदारम्भमाहरणमाहुः. तन्न श्रौतं किन्तु महातेजो वह्नेः स्वस्थानादाहरणमेव. महाप्रयत्नहेतुमाह **महाक्रतुमिति** ॥९॥

तत्र दिग्विजये साधनं बोधयति **एते ते भ्रातर** इति.

एते ते भ्रातरो राजन् लोकपालांशसम्भवाः ।
जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहं दुर्जयो योऽकृतात्मभिः ॥१०॥

तव **एते** भीमादिभ्रातरः **लोकपालानां** वाय्वादीनामंशैः **सम्भवो येषाम्**. अनेन देवानां मनुष्यजयः सुगम इति दिग्विजयो निःसन्दिग्धो निरूपितः. अनेनैव जगतीवशीकरणं च सिद्ध्यति. **राजन्निति** सम्बोधनं भ्रातॄणामपि सेवकत्वात् तज्जये स्वजय एवेति सूचयितुम्. यज्ञावेशस्तु मन्त्रादिना न भवति, भगवद्रूपत्वात्, स्वतन्त्रत्वाच्च भगवतः. परमन्येनैवोपायेन यदि भगवान् वशे भवति. सोऽपि तवास्तीत्याह **जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहमिति**. हृषीकेशो हि भगवान् हृषीकाणामत्यन्तजये जितो भवति तद्रूपः[1]. अनेनासिधाराव्रतं कृतमित्यन्यत्र प्रसिद्धम्— "सर्वालङ्करणोपेता भार्यैकशयने यदा । शेते संवत्सरं पूर्णं स्वयं [2]पूर्णस्तथाविधः ॥ मनसापि न तां वाञ्छेत्

लेखः

एते ते इत्यत्र **यज्ञावेशस्त्विति**. यज्ञो द्विविधो धर्मधर्मिभेदेन. तत्र क्रियाशक्तिरूप-यज्ञाभिव्यक्तिर्मन्त्रादिना भवति, धर्मिरूपाभिव्यक्तिस्तु भगवति वशीकृत एव भवतीत्यर्थः ॥१०॥

---

१. यज्ञरूप इत्यर्थः. २. पुष्टः इति क-खपाठः - सम्पा.

स्पृशन्नपि शिलामिव । असिधाराव्रतमिदं विष्णुप्रीतिकरं महद् ॥"
(. । ।) इति. इयमेव आत्मवत्ता मर्यादामार्गे. अनेनैव प्रकारेण भगवज्जयः. **अकृतात्मभिरजितान्तःकरणैः** ॥१०॥

कदाचिज्जयारम्भे भ्रातुः कस्यचिदभिभवे किं कर्तव्यमित्याशङ्कायामाह **न कश्चिदिति.**

न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया ।
विभूतिभिर्वाभिभवेद् देवोऽपि किमु पार्थिवः ॥११॥

अहमेव **परो** नियन्ता स्वामी यस्य तं कोऽप्यभिभवितुं न शक्तः. अभिभवस्त्रेधा भवति— विषयातिक्रमेण शरीरातिक्रमेण यशोऽतिक्रमेण च; ततो विशेषणत्रयं **तेजसा यशसा श्रियेति.** तेजोऽभिभवे तं बिभृयाद् मानयेद् वा. यशोऽभिभवे अकीर्त्या मृत एव. श्रियो अभिभवे मानभङ्गः. साधारणानां त्रयम्; राज्ञां विशेषमाह **विभूतिभिर्वेति.** यथा आरण्यके घोषयात्रायामभिभवार्थमुद्यमः. त्रैलोक्यजयाकाङ्क्षायां त्रिलोकीमपि जीयात्. तत्र देवस्यापि जयः प्राप्नोति. तादृशे **देवोऽपि** तं **नाभिभवितुं शक्त** इति वाक्यसम्भवः. **पार्थिवो** राजा पृथिवीविकारः कथं शक्त इति, मत्परत्वात् मज्जयव्यतिरेकेण न तज्जय इति ॥११॥

एवं भगवदाज्ञां प्राप्य तथा कृतवानित्याह **निशम्येति.**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

निशम्य भगवद्गीतं प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजः ।
भ्रातॄन् दिग्विजयेऽयुङ्क्त विष्णुतेजोपबृंहितान् ॥१२॥

गीतं भगवता सर्वेषां श्रुतिप्रियकरं प्रोक्तम्. **प्रीत्या उत्फुल्लं मुखाम्बुजं यस्य.** प्रीतिः सन्तोषः, चिकीर्षितं सेत्स्यतीति. भगवत्स्पर्शात् **विष्णुतेजोपबृंहिता भ्रातरः.** पालकं हि तत्तेजो दैत्यनाशकम् ॥१२॥

प्रत्येकं भगवता तेजःसमर्पितमिति ज्ञापयितुं विभागेन दिग्विजयार्थं प्रेषणमाह **सहदेवमिति.**

सहदेवं दक्षिणस्याम् आदिशत् सह सृञ्जयैः ।
दिशि प्रतीच्यां नकुलम् उदीच्यां सव्यसाचिनम् ॥
प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः केकयैः सह मद्रकैः ॥१३॥

दक्षिणस्यां दिशि जयार्थं **सृञ्जयैः** क्षत्रियविशेषैः **सह सहदेवमादिशत्**. स्वदेशात् प्रौढप्रकारेण दिग्विजयः. तथा **नकुलं प्रतीच्याम्**. अनन्तमुत्तरापथमिति तत्र समर्थोऽर्जुनः. प्राच्यां जरासन्धादयस्तिष्ठन्तीति सेनाधिक्यं, बलिष्ठस्य भीमस्य च प्रेषणम्. कनिष्ठक्रमेण विनियोगो धर्म्यः, उत्तमानामेवावशेषात् ॥१३॥

तेषां कार्यसिद्धिमाह **ते निर्जित्येति**.

ते निर्जित्य नृपान् वीरा आजह्रुर्दिग्भ्य ओजसा ।
अजातशत्रवे भूरि द्रविणं नृप यक्ष्यते ॥१४॥

ओजसा स्वपौरुषेण, नतु धर्मार्थं स्नेहेन वा तैर्दत्तम्. नन्वेवं सर्वद्रोहकर्तुः कथं यागाधिकार इत्याशङ्कायामाह **अजातशत्रव** इति. आज्ञयैव तथा कृतवान्, नतु तस्य हृदये कश्चिच्छत्रुरस्ति. भ्रातृणां वा वैषम्याभावाय. कृषीवलादिव राजभ्यो द्रव्यसमानयनं, स्वद्रव्येणैव याग इति. **यक्ष्यत अजातशत्रव** इति तादर्थ्यमुक्तम् ॥१४॥

श्रुत्वाऽजितं जरासन्धं नृपतेर्ध्यायतो हरिः ।
आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह ॥१५॥

तत्र ब्रह्मण्यं विष्णुतेजो नाभिभवतीति जरासन्धो न जितः. तस्याप्यजये यागो न भवेदिति **नृपतेर्ध्यानं** चिन्तारूपम्. पूर्वमेव भगवान् विनियुक्त इति तस्याप्यशक्यभावनया चिन्ता. तथापि तस्यापि दुःखनिवारको **हरिः** स्वस्मिन् तस्य लौकिको[1] भावो जात इति उपायमेवाह. तत्रापि **उद्धवो यमुपायमाह**, अन्यथा भगवान् कृत्रिमं वेषं न सम्पादयेत् ॥१५॥

लेखः

सहदेवमित्यत्र उत्तमानामेवेति, बलिष्ठानां जरासन्धादीनां कनिष्ठेभ्यस्त्रिभ्यः सकाशाद् **अवशेषाद्** भीमार्थं स्थापनादित्यर्थः ॥१३॥

श्रुत्वाऽजितमित्यत्र पूर्वमेवेति. भगवानस्माभिः पूर्वमेव यागार्थं विनियुक्तः. यदि जरासन्धवधोपायं जानीयात् तदैव वदेत्. अतो ज्ञायते भगवतोऽप्यशक्यो जरासन्ध इति चिन्तेत्यर्थः ॥१५॥

---

१. अलौकिकः इति क-ख-घपाठः - सम्पा.

भीमसेनोऽर्जुनः कृष्णो ब्रह्मलिङ्गधरास्त्रयः ।
जग्मुर्गिरिव्रजं तात बृहद्रथसुतो यतः ॥१६॥

अर्जुनस्य तदंशत्वाद्, नरनारायणयोर्धर्मावतारात् पूर्णत्वायार्जुनस्य गमनम्. अद्येदानीं भगवतोऽपि तथा वचनमाश्चर्यम्. भगवान् सर्वरूप इति ब्रह्मलिङ्गधरत्वं न दोषः. तथाऽर्जुनोऽपि, पूर्वजन्मनि तथाभावात्. अत एव वासनया संन्यासिवेषः पूर्वमपि कृतः. अत एवोद्धवो भीमस्यैव वेषमाह. अनुवादे त्रयाणां वेषः क्रमेण निरूप्यते, वेषान्तरे समानशीलत्वं नोपपद्यत इति. अतो नूतनत्वाद् **भीमसेनपुरःसराः गिरिव्रजं जग्मुः**. इदानीं राजगृहमिति प्रसिद्धम्. **यतो** यस्मात् कारणात् तत्र **बृहद्रथसुतो** जरासन्धः. **यत** इति सप्तम्यर्थे वा ॥१६॥

गतानां कृत्यमाह **तं गत्वेति.**

तं गत्वातिथ्यवेलायां गृहेषु गृहमेधिनम् ।
ब्रह्मण्यं समयाचेरन् राजन्या ब्रह्मलिङ्गिनः ॥१७॥

अतिथिवेला वैश्वदेवः अप्रत्याख्येयातिथिः. महाराजत्वात् कथमन्तःप्रवेश इत्याशङ्कायामाह **गृहमेधिनमिति**, सर्वथा गृहस्थन्यायेन स्थितम्. तत्र हेतुः **ब्रह्मण्यमिति**, अन्यथा ब्राह्मणाः पराङ्मुखाः गच्छेयुः. एतेऽपि **ब्रह्मलिङ्गिनः** प्रविष्टाः ॥१७॥

नटवद् याचनमपि कृतवन्तः सर्वथा अनृतत्वाभावाय **राजन्निति.**

॥ तिस्र उचुः ॥

राजन् विद्ध्यतिथीन् प्राप्तानर्थिनो दूरमागतान् ।
तन्नः प्रयच्छ भद्रं ते यद् वयं कामयामहे ॥१८॥

अतिथिशब्दो ग्रामब्राह्मणव्युदासार्थः. **दूरमागतानिति** बहुदानाय दयार्थं च. अस्मद्दाने कीर्तिरपि भविष्यतीति सूचितम्. अतः साधारण्येन वचनमाहुः **तन्नः प्रयच्छेति**. ब्राह्मणत्वज्ञापनाय मध्ये आशीः. मिथ्यावेश इति ब्राह्मणवाक्यस्याप्यफलत्वम्. वस्तुतस्तु मोक्षपर्यवसानाद् **भद्रमेव**. अथवा **ते भद्रं** प्राणादिरूपं **कामयामहे तत् प्रयच्छे**त्यर्थः ॥१८॥

ननु दानं धर्मत्वात् सुखार्थं भवति; तद् यस्मिन् दत्ते महद्दुःखं भवेद् वृत्तिर्वा विपद्येत न तद् देयमिति कथं सामान्येन प्रार्थनायां दानप्रतिज्ञासम्भव इत्याशङ्क्याह **किं दुर्मर्षं तितिक्षूणामिति.**

किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां किमकार्यमसाधुभिः ।
किं न देयं वदान्यानां कः परः समदर्शिनाम् ॥१९॥

ये **तितिक्षवः** सर्वातिक्रमसहनशीलाः, अन्यथा ब्रह्मण्यता न स्यात्. तथा चेत् **किं दुर्मर्षं** महद्दुःखमपि सोढव्यमित्यर्थः. नाप्येवं मन्तव्यम् "एते महद्दुःखं न दास्यन्ती"त्यभिप्रायेणाहुः **किमकार्यमसाधुभिरिति. असाधुभिर्वेषा**-न्तरस्थैः. साधवः सहजवेषा भवन्ति. **अश्च सासहितश्च** 'धूञ्' कम्पन इति धूर्वायुश्च त एते त्रयः. अथवा किमित्येवमस्मभ्यं दुःखं दीयत इति आशङ्कायामाहुः **किमकार्यमिति.** दुष्टैर्भवद्भिर्जीवद्भिः किमकर्तव्यम्. यज्ञविघातमपि करिष्यन्तीति मारणमुचितमिति भावः. ननु दानं शास्त्रसिद्धं, तद् येषामेव विधिर्भवति तान्येव दातुं शक्यन्ते नतु निषिद्धानि, "आत्मा च धर्मदासश्च धर्मपत्नी तथैव च सर्वस्वं च प्रपन्नश्च न देयानि विदुर्बुधाः" (. । ।) इति विशेषनिषेधात्, तत्राहुः **किं न देयं वदान्यानामिति. वदान्या** दध्यङ्शिबिप्रभृतयः. अयं साधारणानामेव विषयः नतु वदान्यविषयः. ते ह्यात्मानमेव प्रयच्छन्ति, कः सन्देहोऽन्येषु ! अनेन तस्य स्तुतिरपि कृता. तथापि शत्रुभ्यो न देयम्, अन्यथा नीतिशास्त्रं विरुध्येत, हीनाः शत्रवो मरणं प्रार्थयेयुरिति, तत्राहुः **कः परः समदर्शिनामिति. समदर्शिनां** सर्वत्र ब्रह्मदृष्टीनां **कः परः** शत्रुः, सर्वस्यैवात्मत्वात् ॥१९॥

तथापि देहाध्यासो दृढ इति देहव्यतिरिक्तं सर्वमेव दास्यामीत्याशङ्कायामाहुः **योऽनित्येन शरीरेणेति.**

योऽनित्येन शरीरेण सतां गेयं यशो ध्रुवम् ।
नाचिनोति स्वयं कल्पः स वाच्यः शोच्य एव सः ॥२०॥

अदाने अयशः नित्यं, शरीरमनित्यम्. दाने तु यशो नित्यं शरीरमपि नित्यमेव, यशसा नित्यं दिव्यं शरीरमिति, अयशसा नारकिशरीरम्. एवं तारतम्यं ज्ञात्वा **यः अनित्येन शरीरेण सतां गेयं** वैकुण्ठादिशरीरजनकं **यशः ध्रुवं** निश्चलं च यशो **नाचिनोति** सर्वतोऽपगच्छन्न सञ्चिनोति, यथा वस्त्राभासेन हीरकाबन्धनं वस्त्रनाशो भविष्यतीति शङ्कया, **स्वयं** समर्थो भूत्वा, **स वाच्यः** अस्मिन् लोके निन्द्यो भवति **शोच्यश्च** परलोके हीनशरीरप्राप्त्या. **एवकारेणो**त्तमशरीरशङ्कां वारयति. यतः **सोऽ**धुना यशःसंचयमकुर्वन् कथमन्यथा करिष्यति? न हि कदाचिदपि सोऽन्यथा

भवति ॥२०॥

ननु तथापि यत् कैश्चिदपि न दत्तं तत्कथं देयमिति शङ्कायामाहुः

हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उञ्छवृत्तिः शिबिर्बलिः ।

व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः ॥२१॥

हरिश्चन्द्र इति, स हि सर्वस्वमपि दत्वा चण्डालत्वमङ्गीकृतवान्. **रन्तिदेवः** पिपासया म्रियमाणः पुक्कसायापि जलं दत्तवान्. **तथोञ्छवृत्तिः** क्षुधा म्रियमाणः सर्वमेवान्नं दत्तवान्. **शिबिश्च** स्वमांसं दत्तवान् श्येनकपोतसंवादे. **बलिः** सर्वस्वं विष्णवे. **व्याधो** ब्राह्मणरक्षायां व्याघ्रेण भक्षितः. **कपोतः** चोररूपातिथिसन्तर्पणार्थं तदग्नौ स्वयं पतितः सभार्यः. एवं **बहव एवाध्रुवेण** शरीरेण **ध्रुवं** फलं **गताः** ॥२१॥

एवं दाने प्रोत्साहं प्राप्तः क एत एवं धर्मवक्तार इति तान् विचार्य निश्चित्य स्वमनस्याह **स्वैराकृतिभिरिति**. प्रथमेन विमर्शः, ततश्चतुर्भिर्वाक्यानि, ततो निश्चित्य प्रतिज्ञा.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

स्वैराकृतिभिस्तांस्तु प्रकोष्ठैर्ज्याहतैरपि ।

राजन्यबन्धून् विज्ञाय दृष्टपूर्वानचिन्तयत् ॥२२॥

स्वरा मेघगम्भीराः क्षत्रियाणामेव भवन्ति. **आकृतयः** आजानुबाहुरूपाः अन्तर्बहिर्धर्मास्तु क्षत्रियत्वनियामका उक्ताः. तत्कर्मपरत्वनियामकानाह **प्रकोष्ठैर्ज्याहतैरपीति**. त्रिभिर्धर्मैरव्यभिचारिभिः **राजन्यबन्धव** एत इति ज्ञातवान्. प्रायेण तैः सह युद्धमपि कृतमिति **दृष्टपूर्वत्वात्** क एते **इत्यचिन्तयत्,** कथं क्षत्रिया एवंवेषेण समागता इति ॥२२॥

राजन्यबन्धवो ह्येते ब्रह्मलिङ्गानि बिभ्रति ।

ददामि भिक्षितं तेभ्य आत्मानमपि दुस्त्यजम् ॥२३॥

स्वधर्मनिरतत्वाभावाद् **राजन्यबन्धुत्वं** मन्यते. बन्धुशब्दो वा अप्रौढक्षत्रिये. आत्मा अदेयः. क्षत्रियाश्चेत् स्वजात्यभिमानं परित्यज्य ब्राह्मणवेषेण मद्याचका जाताः तदा अहं क्षत्रियाणां मानरक्षार्थं दध्यङ्शिबिवद् **आत्मानं** शरीरमपि **ददामि,** तद् वस्तुतो **दुस्त्यजम्** ॥२३॥

बलेर्नु श्रूयते कीर्तिर्विततता दिक्ष्वकल्मषा ।

ऐश्वर्याद् भ्रंशितस्यापि विप्रव्याजेन विष्णुना ॥२४॥

कपटेन समागतस्य बलिरेव दातेति तस्य प्रशंसा स्वहृदये समागतां निरूपयति **बलेर्नु श्रूयते कीर्तिरिति**, दैत्यांशत्वाद् दैत्यकृतिरेव हृदये समायाति. **दिक्षु विततेति**, तादृशी **कीर्तिस्तस्याभिलषितेति** ज्ञापितम्. **अकल्मषा** शुद्धभावयुक्ता. आत्मदानमभिप्रेत्याह **ऐश्वर्याद् भ्रंशितस्यापि**. सङ्कल्पस्तु भ्रंशात् पूर्वमेव जातः, त्रैलोक्यपरिग्रहश्च. भ्रंशो बन्धनात्मकः. तत्राप्येवं **विष्णुर्ब्राह्मणरूपेणैव** समागतः, तेन मत्तुल्यता. अतस्तद्धर्माणामनुवादः ॥२४॥

एतदर्थमेव ज्ञात्वा दानमनुवदति **श्रियमिति**.

श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य विष्णवे द्विजरूपिणे ।
जानन्नपि महीं प्रादाद् वार्यमाणोऽपि दैत्यराट् ॥२५॥

'**जिहीर्षत इन्द्रस्ये**'ति वक्तव्ये सन्धिरार्षः. **इन्द्रस्यार्थे** राज्य**श्रियं जिहीर्षते विष्णवे जानन्नपि प्रादादिति** सम्बन्धः. शुक्राचार्येण **वार्यमाणोऽपीति**, यदि मां कश्चिद् वारयिष्यति तदापि दास्यामीत्येतदर्थमुक्तम्. **दैत्यराडिति**, राजधर्मः प्रजाभिरपि कर्तव्य इति निश्चयः ॥२५॥

ननु तथापि वाक्यात् तस्य तथा न निश्चयः, प्रतिज्ञा च पूर्वमेव तेन कृता; तव तु बलिनाशदर्शनात् प्रतिज्ञाभावाच्च कथं न निवृत्तिरित्याशङ्कायामाह **जीवतेति**.

जीवताऽब्राह्मणार्थाय कोऽन्वर्थः क्षत्रबन्धुना ।
देहेन पतमानेन नेहता विपुलं यशः ॥२६॥

अब्राह्मणार्थाय ब्राह्मणप्रयोजनाभावाय प्रयोजनान्तराय वा **जीवता क्षत्रबन्धुना** किम्? न किञ्चित् प्रयोजनमित्यर्थः. एवं जीवनवैफल्यमुक्त्वा देहवैफल्यमाह **देहेनेति**. स्वत एव **पतमानेन**, यस्योपचयस्तस्यापचय इति, **विपुलं यशो नेहता** न सम्पादयता. ब्राह्मणार्थप्राणत्वं तस्य स्वाभाविकं यशःसंचयनं त्वेतैरेवोपदिष्टं, बलिधर्मास्तु स्मारिताः ॥२६॥

एवं त्रिभिः कृत्वा दास्यामीति निश्चित्य प्रतिज्ञां कृतवानित्याह **इत्युदारमतिरिति**.

लेखः

बलेर्नु श्रूयत इत्यत्र **सङ्कल्पस्त्विति**. आत्मदानस्य बन्धनानन्तरं जातत्वेऽपि तत्सङ्कल्पः पूर्वमेव जात इत्यर्थः ॥२४॥

इत्युदारमतिः प्राह कृष्णार्जुनवृकोदरान् ।
हे विप्रा व्रियतां कामं ददाम्यात्मशिरोऽपि वः ॥२७॥

एवं बलिधर्माभिनिवेशेन **उदारमतिर्भूत्वा** प्रत्येकं तान् **व्रियतामित्याह.** दानसिद्ध्यर्थं तेषां ब्राह्मण्यं स्थापयति हे **विप्रा** इति. **कामं** स्वाभिलषितम्. कदाचिदेते मया सह युद्धे अशक्ताः मच्छिरः प्रार्थयिष्यन्ति चेत् तदपि देयमित्याह **ददाम्यात्मशिरोऽपीति. वो** युष्मभ्यं ब्राह्मणेभ्यः ॥२७॥

एवं सत्यप्रतिज्ञस्य प्रतिज्ञां श्रुत्वा कर्तव्यमूढयोः भीमार्जुनयोः सतोः भगवांस्तन्मनोरथं दूरीकर्तुं कापट्यं दूरीकृत्य सत्यमाह **युद्धं नो देहि** इति.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

युद्धं नो देहि राजेन्द्र द्वन्द्वशो यदि मन्यसे ।
युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता राजन्या नान्नकाङ्क्षिणः ॥२८॥

युद्धप्रार्थना क्षत्रियस्य नापकर्षहेतुः. **राजेन्द्रेति,** क्षत्रियमात्रस्य राजेन्द्रेण सह बलेन सह युद्धार्थमागमनमनुचितमिति सूचितम्. तेन युद्धप्रार्थना सर्वथायुक्तेति भावः. किञ्च युद्धविशेषं प्रार्थयितुमागता इत्याह **द्वन्द्वश** इति. एको भवा(/व!)न् त्वम्, अस्मासु चैकः त्रयाणां मध्ये कोऽपि. एतदपि न छलवाक्येनाङ्गीकारं कारयित्वा वदामः किन्तु **यदि मन्यसे** कथञ्चिद् द्वन्द्वयुद्धे श्रद्धा भवतीत्यर्थः, नतु निर्बन्धेनायमर्थः स्वीकर्तव्यः. अस्माकं तु युद्धस्वीकारे युद्धानन्तरं जयपराजयनिर्णयः अस्वीकारे तु प्रथमत एवेति उभयथापि समीचीनम्. इदमत्यन्तं स्वोत्कर्षख्यापकं वचनम्. किञ्च जगति द्वन्द्वयुद्धं कोऽपि कर्तुं न शक्त इति त्वत्समीपमागता इत्यभिप्रायेणाह **युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता** इति. देव-दैत्य-[१]रक्षसामन्यतर(/म!)त्वे भयान्नाङ्गीकरिष्यतीत्याशङ्क्याह **राजन्या** इति. तर्हि ब्राह्मणवेषः किमर्थं कृत इत्याशङ्क्याह **नान्नकाङ्क्षिण** इति. ब्राह्मणो भोजनप्रिय इति अन्नकाङ्क्षिणो ब्राह्मणा न भवामः. अन्नार्थं वा न ब्राह्मणवेषः किन्तु महान् क्षत्रियः अल्पेन सह युद्धं न करोति, ब्राह्मणेन तु सह तदिच्छापूर्त्यर्थमल्पेनापि करोतीति ब्राह्मणवेष इत्यर्थः ॥२८॥

यथा रूपमन्यथा तथा वागपि भविष्यतीत्याशङ्क्य क्षत्रियत्वसिद्ध्यर्थं स्वनामान्याह **असौ वृकोदर** इति.

---

१. राक्षसाणाम् इति गपाठः - सम्पा.

असौ वृकोदरः पार्थस्तस्य भ्रातार्जुनो ह्ययम् ।
अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहि ते रिपुम् ॥२९॥

वृको दशविधः प्राणः **उदरे** यस्येति बलं च सूचितम्. **पार्थ** इति स्वसम्बन्धार्थं कपटागमनार्थं वा, न त्वप्रयोजकत्वाय. **तस्यैव भ्राता पार्थः**[१] **अर्जुनोऽयं** द्वितीयः. **हि** युक्तश्चायमर्थः, आकृतिसाम्यात्. यदर्थमेतयोर्मातृनाम्ना निरूपणं तदाह **अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहीति**. तर्हि प्रसिद्धाः कथं वेषेण समागता इत्याशङ्क्याह **ते रिपुमिति**. रिपोः स्थाने कार्यपर्यन्तं वेषेणैव स्थातव्यमिति नीतिः ॥२९॥

एवं भगवता पार्थे निरूपिते अतिथिश्रद्धायां गतायां बालभावेनैते समागता इत्यवहेलेव तेषूत्पन्ना. तत आगमनमाश्चर्यमिव मत्वा प्रथमतो हास्यमुत्पन्नमित्याह.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवमावेदितो राजा जहासोच्चैः स्म मागधः ।
आह चामर्षितो मन्दा युद्धं तर्हि ददामि वः ॥३०॥

एवमावेदित इति, आवेदनं स्वरूपख्यापनम्. यतो **राजा** राज्यमत्तः. **उच्चैर्जहासेति** कथमेते अकस्माच्छत्रुगृहे पतिताः दैवगत्येति. ननु भगवन्तं दृष्ट्वा भक्तिः कथं नोत्पन्ना वस्तुसामर्थ्यात्? कथमवहेलेत्याशङ्कायामाह **मागध** इति, देशदोषान्न सद्बुद्धिः. तर्ह्युपेक्षा भवितुमर्हतीत्याशङ्क्याह **आह चेति**. पूर्वं भगवदतिक्रमं श्रुत्वा **अमर्षितः** ततः क्रोधेन मारयिष्यामीति विचार्य स्वप्रतिज्ञां च स्मृत्वा उभयथापि मारणं सम्भवतीति किमिति प्रतिज्ञा हातव्येति स्वस्य कार्यमुभयथापि समीचीनमेवेति तेषामेवोभयथाऽसमीचीनमिति ज्ञापयितुं **मन्दा** इति सम्बोधनमाह. अस्तु वा तेषां मन्दत्वं, स्वप्रतिज्ञां तु पूरयाम्येवेत्याशयेनाह **युद्धं तर्हि ददामि व** इति. **व** इति बहुवचनात् त्रयोऽपि भवन्त एकतो भवन्तु, अहमेकत इति सूचितम् ॥३०॥

तथापि द्वन्द्वतायां निर्बन्धो यदि तदाह **न त्वयेति**.

न त्वया भीरुणा योत्स्ये युधि विक्लवचेतसा ।
मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वा समुद्रं शरणं गतः ॥३१॥

---

१. पार्थिवः इति क-ख-गपाठः - सम्पा.

त्वया न योत्स्ये अभीरुणेति परमार्थः. व्याजेन **भीरुणेत्याह**. भीरुत्वे कथमेवमागमनमित्याशङ्क्याह **युधि विक्लवचेतसेति**. युद्धे चेत् स्थिरता बुद्धेर्भवेत् तदा क्षत्रियो युद्धसम्भवभूमिं परित्यज्य युद्धरहितभूमौ न गच्छेद् इत्याशयेनाह **मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वेति**. आपत्स्वपि स्वदेशो न त्याज्य इति ज्ञापयितुं **स्वपुरीमिति**. मध्ये समुद्रस्थितिः समुद्रशरणागतिः, दुर्गाश्रयवत् ॥३१॥

अर्जुनं च निराकरोति **अयमिति**.

अयं तु वयसाऽतुल्यो नातिसत्त्वो न मे समः ।
अर्जुनो न भवेद् योद्धा भीमस्तुल्यबलो मम ॥३२॥

अयं तु योद्धा भवति परन्तु **वयसा अतुल्यः**. वयोऽत्र बलहेतुभूतम्, अन्यथा भीमोऽपि वयसा न तुल्यः, भीमार्जुनयोर्वर्षत्रयव्यवधानात्. तदेव ज्ञापयितुमाह **नातिसत्त्व** इति. यादृशे लग्ने उत्पन्ने तादृशं बलं भवति तद् भीम-बलभद्र-मद्रराजादीनामेव, अत एव **न मे समः**. दैव्यं तु बलं ममापि ब्रह्मण्यत्वादधिकमेवेति न तन्मन्यते, कनिष्ठ इति. भीमस्यापि निराकरणे व्याजोत्तरत्वं भविष्यतीति तमङ्गीकरोति **भीमस्तुल्यबलो ममेति**. वस्तुतस्तु नर-नारायणौ परित्यज्य कालकन्यापुत्रत्वात् मुख्यप्राणं तुल्यं मन्यते, सोऽपि दैत्यप्राणरूप इति, "जीव जीव" (भाग.पुरा. ९।२२।८) इतिवाक्यात् ॥३२॥

एतेषां तु सर्वत्रैवाभ्यनुज्ञा, बलं तु भगवतः क्वापि सञ्चारणीयमिति तदङ्गीकारे जरासन्धकृत्यमाह **इत्युक्त्वेति**.

इत्युक्त्वा भीमसेनाय प्रादाय महतीं गदाम् ।
द्वितीयां स्वयमादाय निर्जगाम पुराद् बहिः ॥३३॥

द्वन्द्वयुद्धं शरीरबलनिमित्तकमिति गदायामेव शरीरबलं योजयितुं शक्यमिति निरायुधेन युद्धं न युक्तमिति तस्मै **महतीं गदां प्रादात्. द्वितीयां** तत्तुल्यां **स्वयमादाय** स्वरूपतः साधनतश्च फलरूपो भूत्वा. स्थानबलं स्वगृहे स्वस्याधिक्यमिति स्वपुरं परित्यज्य युद्धार्थं **पुराद् बहिर्निर्गतः** ॥३३॥

ततो युद्धप्रकारं लौकिकमाह **ततः समे खले** इति.

ततः समे खले वीरौ संयुक्तावितरेतरौ ।
जघ्नतुर्वज्रकल्पाभ्यां गदाभ्यां रणदुर्मदौ ॥३४॥

कोमला भूमिः **खल**शब्देनोच्यते. असहायसमागमने हेतुः **वीरौ** इति. **संयुक्तावितरेतरौ** इति समारम्भे तुल्यता निरूपिता. **वज्रकल्पाभ्यामिति** गदामाहात्म्यम्. **रणदुर्मदौ** इति तयोः ॥३४॥

मण्डलानि विचित्राणि सव्यं दक्षिणमेव च ।
चरतोः शुशुभे युद्धं नटयोरिव रङ्गिणोः ॥३५॥

मण्डलानि गदायुद्धे प्रोक्तानि **सव्यं** यथा भवति **दक्षिणं** यथा भवति. एवेत्युभयोरवधारणम्. **च**काराद् उभयोरुभयं कदाचित्. एवं **चरतोर्युद्धं शुशुभे** द्रष्टृणां तद् युद्धं सुखदं जातमित्याह **नटयोरिवे**ति. युद्धाभास एवायमनुकरणमिति शङ्कायामाह **रङ्गिणोरि**ति. रङ्गोऽनयोर्वर्तत इति युद्धे रसयुक्तौ, न त्वाभासावित्यर्थः ॥३५॥

लोकानां रसजननान्यथानुपपत्त्या आभास एव भविष्यतीत्याशङ्क्य युद्धे शब्दं वर्णयति **ततश्चटचटाशब्द** इति.

ततश्चटचटाशब्दो वज्रनिष्पेषसन्निभः ।
गदयोः क्षिप्तयोरेष दन्तयोरिव दन्तिनोः ॥३६॥

वज्रनिष्पेषो वज्रपातस्तत्**सन्निभः** तत्सदृशः अन्योन्यं **क्षिप्तयोर्गदयोरेषः**. शब्दादपि महद्भयं सम्भवति सर्वेषां, तेषां प्रहारेऽपि न तदिति माहात्म्यम्. **गदयोः** परित्यागशङ्काभावाय अपरित्यागाय वा दृष्टान्तः **दन्तयोरिव दन्तिनोरि**ति ॥३६॥

गदयोरेवान्योन्यं प्रहारो नतु देहयोरिति शङ्कां वारयितुं प्रहारं वर्णयति **ते वै गदे** इति.

ते वै गदे भुजजवेन निपात्यमाने
अन्योन्यतोंस-कटि-पाद-करोरु-जत्रून् ।
चूर्णीबभूवतुरुपेत्य यथार्कशाखे
संयुद्ध्यतोर्द्विरदयोरिव तीव्रमन्वोः ॥३७॥

गदापेक्षया देहोऽत्यन्तं कठिन इति देहस्पर्शे गदानाश उच्यते. **भुजजवे**नान्येनान्यस्योपरि **निपात्यमाने अंसकटिपादकरोरुजत्रून्** षडङ्गान्यु**पेत्य चूर्णीबभूवतुः**. देहगदयोस्तारतम्यार्थं दृष्टान्तमाह **यथार्कशाखे** हस्तिभ्यां निक्षिप्ते यथार्कवृक्षशाखे. तदभावे युद्धाभावो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **संयुद्ध्यतो**रिति. साधनमवयवा एवेति दृष्टान्तः **द्विरदयोरि**वेति. नन्ववयवस्य

कथं साधनत्वं, प्रहारे स्वस्यापि व्यथासम्भवादित्याशङ्क्याह **तीव्रमन्वोरिति.** तीव्रो मनुर्मन्युर्ययोः ॥३७॥

एवं गदायुद्धमुपसंहृत्य मुष्टियुद्धमाह **इत्थमिति.**

इत्थं तयोः प्रहतयोर्गदयोर्नृवीरौ
क्रुद्धौ स्वमुष्टिभिरयःसदृशैरपिष्टाम् ।
शब्दस्तयोः प्रहरतोरिभयोरिवासीन्
निर्घातवज्रपरुषस्तलताडनोत्थः ॥३८॥

तयोर्गदयोः प्रहतयोः सत्योः तथापि **नृवीरौ क्रुद्धौ** सन्तौ **अयःसदृशैर्मुष्टिभिः अपिष्टाम्** अन्योन्यशरीरं पेषयामासतुः. तत्रापि पूर्ववच्छब्दमाह **शब्दस्तयोरिति. तयोर्देहयोः** सम्बन्धी **शब्दः इभयोरिव** गर्जनरूपो जातः. वीररसेन तयोरेव वा वाक् शब्दः उभयोरपीत्येके. अन्योऽपि तत्र शब्दो जात इत्याह **निर्घातवज्रपरुषस्तलताडनोत्थ** इति. **निर्घातो** निरभ्रविद्युत्पातः तादृशपातयुक्तो **वज्रः** ततोऽपि यः **परुषः तलताडनं** चपेटः तेनोत्थानं **यस्य.** अनेन महाप्रहारो निरूपितः ॥३८॥

उपसंहरति **तयोरेवमिति.**

तयोरेवं प्रहरतोः समशिक्षाबलौजसोः ।
निर्विशेषमभूद् युद्धमक्षीणजवयोर्नृप ॥३९॥

समतायां हेतूनाह **समशिक्षाबलौजसोरिति.** युद्धे पराक्रमो बलं शिक्षा च हेतवः ; तत्तुल्यत्वाद् युद्धे विशेषाभावः. आवृत्त्यान्यबलक्षये युद्धे विशेषो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **अक्षीणजवयोरिति. नृपेति** सम्बोधनं विश्वासाय. आवृत्त्या जरासन्धस्य क्षीणता भविष्यतीत्यभिप्रेत्य आवृत्तिः कृता. तज्जरया निर्मितोऽयमिति सर्वस्माद् बलं समाहृत्य जरास्मै प्रयच्छतीति न कदाचिदप्यस्य बलक्षयः. आसन्यत्वाद् भीमस्य नास्त्येव ॥३९॥

एवं तुल्यत्वे प्रयोजनं न सिद्ध्यतीति भगवान् भीममधिकबलं कृतवानित्याह **शत्रोरिति.**

शत्रोर्जन्मकृती विद्वान् जीवितं च जराकृतम् ।
पार्थमाप्याययत् स्वेन तेजसाचिन्तयद्धरिः ॥४०॥

शत्रोर्जरासन्धस्य सिद्धफलाच्छकलभूताद् **जन्म** शकलभूतस्यैव. शकलयोश्चाक्षयत्वं जराकृतसन्धानेनैव **च जीवितं,** शकलयोः स्वरूपतो

नाशाभावात् विश्लेषादेव मरणम्. अतिबलादेव च विश्लेषः सम्भवतीति **पार्थं स्वेन तेजसा आप्याययत्** स्वकालशक्तिं तत्र स्थापितवानित्यर्थः, कालकन्यापेक्षया कालशक्तेराधिक्यात्. ततस्तस्य वधोपायम् **अचिन्तयत्** यतः सतां दुःखहर्ता ॥४०॥

सञ्चिन्त्यारिवधोपायं भीमस्यामोघदर्शनः ।
दर्शयामास विटपं पाटयन्निव सञ्ज्ञया ॥४१॥

ततो विश्लेषमेवोपायं विनिश्चित्य **भीमस्य दर्शयामास.** चिन्तनमन्यथा न भवतीति ज्ञापनार्थमाह **अमोघदर्शन** इति. भीमस्य वा ज्ञानार्थं विशेषेण दर्शनम्. स्वयं भीमसम्मुखो भूत्वा **विटपं** कस्यचिच्छाखां मध्ये **विपाटयन् सञ्ज्ञया** अभिज्ञानेन पाटयामास, एवमयं पाटनीय इति ॥४१॥

तद्विज्ञाय महासत्त्वो भीमः प्रहरतां वरः ।
गृहीत्वा पादयोः शत्रुं पातयामास भूतले ॥४२॥

एवं भगवत्कृपया ज्ञानक्रियाशक्तियुक्तः **प्रहरतां** मध्ये (**वरः!**) श्रेष्ठः मल्लयुद्धमिषेण तं भूमौ **पातयामास** पूर्ववदेव, यथा तस्य शङ्का नोदेति. नन्वेवं मारणमनुचितमित्याशङ्क्याह **शत्रुमिति,** शत्रुः शातयिता यथाकथञ्चिद् वध्यः. **पादयोर्गृहीत्वा** पातने विकलता च जाता ॥४२॥

ततो मारणप्रकारमाह **एकं पादमिति.**

एकं पादं पदाक्रम्य दोर्भ्यामन्यं प्रगृह्य सः ।
गुदतः पाटयामास शाखामिव महागजः ॥४३॥

पादौ त्वश्लिष्टौ एव अतो **गुदतः पाटयामास.** पूर्वं तस्मिन् ब्राह्मणबुद्धिर्जातेति कालशक्त्या गृहीत इति न प्रयत्नं कमपि कृतवानिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **शाखामिवेति.** अनायासे दृष्टान्तो **महागज** इति ॥४३॥

ततस्तस्य वधः सर्वजनीनो जात इत्याह **एकपादेति.**

एक - पादोरु - वृषण - कटि - पृष्ठ - स्तनांसके ।
एकबाह्वक्षिभ्रूकर्णे शकले ददृशुः प्रजाः ॥४४॥

एकपादः पादादिर्यस्य. **पादः ऊरुः वृषणः कटिः पृष्ठस्तनमंसः कं** चेत्यष्टाङ्गानि द्वन्द्वरूपाणि भिन्नानि जातानि. द्वादशाङ्गेष्वप्यपराणि चत्वार्याह **बाहुरक्षिर्भ्रूः कर्णश्च एको ययोः.** एतादृशे **शकले** सर्वा एव **प्रजा ददृशुः** ॥४४॥

ततो यज्जातं तदाह **हाहाकार** इति.

हाहाकारो महानासीन्निहते मगधेश्वरे ।
पूजयामासतुर्भीमं परिरभ्य जयाच्युतौ ॥४५॥

महान् सर्वैः कृतत्वात्. बद्धानामपि यथा श्रवणं भवति भगवान् तथा सम्पादितवान्. **मगधेश्वरमरणानन्तरमेव** तथा भवतीति बोधयितुं तदानन्तर्यमनूदितम्. ततो भीमात् तेजो ग्रहीतुं व्याजेनालिङ्गनं प्रशंसां च कृतवानित्याह **पूजयामासतुर्भीममिति**. अर्जुनोऽपि भगवदंश इति द्वयोर्निरूपणम्. स्तोत्रेण स्मये जाते तेजोऽपगच्छतीति स्तुतिः. **जयोऽर्जुनः अच्युतश्च**; उभयोर्गुणस्तस्मिन्न गच्छतीति तथापदम् ॥४५॥

सहदेवं तत्तनयं भगवान् भूतभावनः ।
अभ्यषिञ्चदमेयात्मा मगधानां पतिं विभुः ॥
मोचयामास राजन्यान् संरुद्धा मागधेन ये ॥४६॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥

ततः अराजकराज्ये स्थितिरयुक्तेति अन्यस्तस्मिन् देशे स्थापयितुमयुक्त इति अनुकूलस्तत्पुत्र इति **सहदेवं तत्तनयं** तत्रत्यानां **भूतानामनुकम्पार्थमभ्यषिञ्चत्,** यतो **भगवान्** सर्वसमः. ननु शत्रुं हत्वा तद्राज्यं स्वयं ग्राह्यं, कथं तत्तनयाय दत्तवानित्याशङ्कायामाह **अमेयात्मेति**. भगवान् हितमहितं वा करोतीति न कस्यापि मेयः आत्मा यस्य. **मगधानां** स्वभावतोऽपि स **पतिर्भवति**; तस्य विपरीतत्वेऽपि न काचित् क्षतिरिति ज्ञापयितुमाह **विभुरिति**. यदर्थमेतावत्कृतं तदाह **मोचयामासेति**. ननु येन निमित्तेन ते धृताः तदपगमाभावे कथं मोचनमित्याशङ्क्याह **मागधेन संरुद्धा** इति. मागधस्यैव मृतत्वाद् हेत्वपगमः सुतरामेव जात इत्यर्थः ॥४६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे त्रयोविंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥

॥ तृतीयः स्कन्धादितः सप्ततितमोऽध्यायः ॥

चतुर्विंशे विमुक्तानां ज्ञानेनाज्ञानमोचनम् ।
विषयात्मसमृद्धिं च प्राह कृष्ण इतीर्यते ॥(१)॥
स्वधर्मैश्चेन्न पुष्टाः स्युर्निरोधस्तर्ह्यनर्थकः ।
अतः स्वासक्तिसिद्ध्यर्थं ज्ञान-राज्ये ददौ हरिः ॥(२)॥

पूर्वाध्यायान्ते निरुद्धा राजानो मोचिता इत्युक्तम्. तेषां मुक्तानां भक्त्याधिक्येन पूर्ववत् स्थितिर्निरूप्यते. तत्र प्रथमं निरोधस्थानाद् निर्गमनमाह **अयुते द्वे** इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अयुते द्वे शतान्यष्टौ लीलया युधि निर्जिताः ।
ते निर्गता गिरिद्रोण्या मलिना मलवाससः ॥१॥

एकविंशतिसाहस्रे वधस्तेषां हि सम्मतः ।
ततः शतद्वयन्यूनास्तेन पूर्वं न मारिताः ॥(३)॥

एतज्ज्ञापयितुं सङ्ख्यामाह **अयुते द्वे शतान्यष्टाविति**. उलूखलबन्धनवदत्रापि शतद्वयन्यूनता. एतावतामेकत्र कथं स्थितिरित्यत्र हेतुमाह **लीलया युधि निर्जिता** इति. **गिरिद्रोण्याः** सकाशात् **निर्गताः मलिना** असंस्कृतदेहाः **मलवाससो**ऽप्रक्षालितवाससः —अनेन बहिःस्थितिरधमा निरूपिता ॥१॥

लेखः

कारिकायां **ज्ञानेनेति**. श्रियैश्वर्यमदोन्नाहदर्शनरूपेण **स्वज्ञानेन** हेतुना **तेषामज्ञानमोचनं प्राह विषयैरयत्नप्राप्तैरात्मनः समृद्धिः** कर्तव्या इति **च प्राहे**त्यर्थः (१).

अयुते द्वे इत्यत्र **उलूखलेति**. यथोलूखलप्रसङ्गे निसर्गेश्वरत्व-निसर्गदासत्व-रूपधर्मद्वयस्य बन्ध्य-बन्धक-निष्ठस्य प्रतिबन्धकत्वाद् रज्जुः द्व्यङ्गुलं न्यूना जातेत्युक्तं तथात्रापि बन्ध्यानां भगवदीयत्वेन बन्धकस्य चासुरत्वेन उभयनिष्ठधर्मद्वयस्य प्रतिबन्धकत्वाद् शतद्वयन्यूनता. न हि भगवदीया असुरकृतप्रमथनाथमखे हता भवन्तीत्यर्थः ॥१॥

अन्तःस्थितिं निरूपयति.

क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः संरोधपरिकर्शिताः ।
ददृशुस्ते घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥२॥

क्षुत्क्षामाः रोगाद्यभावेऽपि भक्ष्याभावात् कृशाः. अन्तःसन्तोषाभावात् **शुष्कवदनाः**. इन्द्रियाणां पीडामाह **संरोधपरिकर्शिता** इति. परितः कर्शिताः क्लिष्टाः सर्वेन्द्रियेषु जातक्लेशाः. एवं बाह्याभ्यन्तरभेदेन परमापदमापन्नाः तत्क्षणादेव सर्वनिवृत्त्यर्थं भगवन्तं दृष्टवन्त इत्याह **ददृशुस्ते घनश्याममिति**. यादृशमात्मानं भगवान् प्रदर्शितवान् द्वादशलक्षणोपेतं तादृशमनुवर्णयति **घनश्यामादिभिः** पदैः. मनसो हि द्वादश वृत्तयः क्लिष्टा इति सर्वक्लेशनिवृत्त्यर्थं द्वादशधर्मप्राकट्यम्. तत्र शुष्काणामाप्यायनार्थं **घनवत् श्याममिति**. नीलमेघो ह्याप्यायकः. अनेन देहक्लेशो निवारितः. वाक्क्लेशव्यावृत्त्यर्थमाह **पीतकौशेयवाससमिति**. पीतं वासो हि वेदात्मकं, तत्रापि स्वकर्मबद्ध-जीवकोशनाशेन प्रादुर्भूतम्, निवृत्तिबोधिका श्रुतिरिति यावत्. अनेन ज्ञानसहिता वागाविर्भवतीति सूचितम् ॥२॥

पद्महस्तं गदाशङ्ख-रथाङ्गैरुपलक्षितम् ।
किरीटहारकटक-कटिसूत्राङ्गदार्चितम् ॥३॥

ततो वसनक्लेशाभावाय अपामोषधीनां च रसरूपं **पद्मं हस्ते** प्रदर्शनार्थं यस्य. ततो ममेत्यहङ्कारस्त्रिविध इति तन्निवृत्त्यर्थं **गदा-शङ्ख-रथाङ्गैः उपलक्षितं** स्त्री-पुं-नपुंसकहेति प्रयोगेण त्रिविधानामपि छेदनम्. एतावन्त एव हि ममताविषयाः. उपलक्षणत्वं तु सकृदेव निराकरणात् पुनः प्रयोजनाभावं ज्ञापयति. **किरीटादिभिः** पञ्चविधैरलङ्कारैः पूजितश्चक्षुःक्लेशाभावाय, पञ्चविधं हि रूपमिति नील-श्वेत-पीत-रक्त-चित्रभेदात्. अन्येषामत्रैवान्तर्भावः ॥३॥

श्रीवत्साङ्कं चतुर्बाहुं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥४॥

लेखः

घनश्याममित्यत्र देहक्लेश इति, अहंतया स्वीकृतस्य देहस्य क्लेश इत्यर्थः ॥२॥

श्रीवत्साङ्कमिति पादक्लेशाभावः. ब्राह्मणपादक्लेशस्तत्रैव निवारितः. **चतुर्बाहुमिति** हस्तयोः क्रियाया द्विगुणीकरणात्. **पद्मगर्भवदरुणे ईक्षणे यस्येति** मनसः क्लेशाभावः नासिकयोर्वा. **चारु प्रसन्नं वदनं यस्येति** सर्वकामनापूर्त्या कामक्लेशनिवृत्तिः. **स्फुरन्मकरकुण्डलमिति** श्रोत्रस्य ॥४॥

भ्राजद्वरमणिग्रीवं निवीतं वनमालया ।
पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ॥५॥

भ्राजत्प्रकाशमानो यो **मणिः** स **ग्रीवायां यस्येति** ज्ञानक्रिययोर्मध्यस्थेन जीवोत्क्रमक्लेशो निवारितः. **निवीतं वनमालयेति** व्यापिकया कीर्त्या त्वक्स्पर्शक्लेशो निवारितः. एतादृशं भगवन्तं दृष्ट्वा सर्वेन्द्रियाण्यहमहमिकतया रूपरसगन्धस्पर्शार्थं प्रवृत्तानि इति वदन् तेषां भगवति सर्वभावप्रवृत्तिमाह **पिबन्त इव चक्षुर्भ्यामिति**. चक्षुषा हि रूपलावण्यामृतं पीयते. दर्शनं बहिःस्थितावेव, पानमन्तःप्रवेशनमिति विशेषः. उभाभ्यां पानं द्विहस्तभोजनवद् अत्यासक्तिं बालभावं वा बोधयति. रसग्रहणार्थमाह **लिहन्त इव जिह्वयेति**. गौर्वत्समिव तथाभूतं भगवन्तं दृष्ट्वा तेषां तथाभावो जात इत्यर्थः ॥५॥

गन्धानुभवार्थमाह.

जिघ्रन्त इव नासाभ्यां रम्भन्त इव बाहुभिः ।
प्रणेमुर्हतपाप्मानो मूर्धभिः पादयोर्नृपाः ॥६॥

जिघ्रन्त इव नासाभ्यामिति पूर्ववद् व्याख्येयम्. स्पर्शार्थमाह **रम्भन्त इव बाहुभिरिति**. रम्भणमालिङ्गनं परिरम्भ इति यावत्. अत्र बहुवचनं नानाविधस्पर्शग्रहणार्थम् अवयवगतमभिप्रेतं चतुर्भुजत्वलक्षणं सारूप्यदानं वा बोधयति. एवं लौकिकभावेन भगवन्तमात्मसात्कृत्वा ततस्तृप्ताः सन्तः क्लेशनाशे ज्ञानोदये विदितभगवदैश्वर्याः "नमो नम इत्येतावत्सदुपशिक्षितम्" (भाग.पुरा. ५।३।४) इति शास्त्रानुसारेण कर्तव्यान्तराभावात् स्नेहपूर्वकं नमस्कारं कृतवन्त

लेखः

भ्राजद्वरेत्यत्र जीवोत्क्रमेति. चैत्यतत्त्वस्य ग्रीवायां स्थापितत्वात् तस्योत्क्रमे क्लेशो न भविष्यति. सङ्घाते प्रविष्टस्य जीवस्वरूपस्याशुद्धत्वेन मलरूपत्वात् तदुत्क्रमस्य मलविमोकत्वेन विसर्गरूपत्वमिति भावः ॥५॥

इत्याह **प्रणेमुरि**ति. **प्र**शब्देन स्नेहं बोधयति, नमो नम इति वीप्सया स एवाभिप्रेत इति. नन्वेतादृशी बुद्धिः कथमेतेषां सञ्जाता, तादृशा एवेति न मन्तव्यं निरुद्धत्वादित्याशङ्क्याह **हतपाप्मान** इति. दर्शनेन भोग-स्मरणाभ्यां च त्रिविधमपि पापं नष्टं, ततः शुद्धाः सन्तः स्वस्य ज्ञानरूपमात्मानं परब्रह्मण्यक्षरे भगवच्चरणारविन्दे योजयन्त इवान्तर्याम्यवतारभेदेन उभयत्राप्यन्तर्बहिःसायुज्यार्थं **पादयोः मूर्धभि**रित्युक्तम्. **नृपा** इति विचक्षणाः. अनेनैव राज्यभोगार्थाभावः सूचितः ॥६॥

ननु क्लेशाभावार्थं कथं न नमस्कृत इत्याशङ्क्याह

कृष्णसन्दर्शनाह्लाद - ध्वस्तसंरोधनक्लमाः ।
प्रशशंसुर्हृषीकेशं गीर्भिः प्राञ्जलयो नृपाः ॥७॥

कृष्णसन्दर्शनाह्लादध्वस्तसंरोधनक्लमा इति, सदानन्दस्यान्तःप्रवेशरूपेण दर्शनेन जातानन्देन सूर्योदये तम इव **ध्वस्तः संरोधनक्लमः** ग्लानिर्येषाम्. एवं सर्वभावेन सिद्धसमस्तपुरुषार्थाः एतादृशस्थितिदार्ढ्यार्थं भगवत्प्रेरणयैव भगवत्सन्तोषार्थं भगवत्स्तोत्रं कृतवन्त इत्याह **प्रशशंसु**रिति. भगवत्प्रेरिता वाक् यथासुखं तं स्तौति. तेषां न कापि चिन्तेति बोधयति **हृषीकेश**मिति. **प्राञ्जलय** इति चित्तशरीरसावधानता. नीतिज्ञानार्थमाह **नृपा** इति. सम्बोधनपक्षेऽपि तथोचितत्वं बोधयति ॥७॥

सगुणास्ते महात्मानो गुणातीतं हरिं मुदा ।
नवभिः श्लोकयामासुर्निर्गुणत्वाय सर्वशः ॥(४)॥
प्रार्थना मत्सराभावो गतराज्यानुमोदनम् ।
युक्तिस्तत्र स्वदोषोक्तिः स्वभाग्यस्याभिनन्दनम्[१] ॥(५)॥
वैराग्यमुपदेशस्य प्रार्थना स्वाधिकारिता ।
क्रमान्निरूपिता ह्यर्था यतस्तान् सुष्ठ्वबोधयत् ॥(६)॥

आदौ प्रार्थयितुं नमस्यन्ति **नमस्त** इति.

॥ राजान ऊचुः ॥

नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय ।
प्रपन्नान् पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान् घोरसंसृतेः ॥८॥

१. स्वराज्यस्याभिनन्दनम्.

तुभ्यं नमः. प्रार्थितदानसामर्थ्यार्थमाह **देवदेवेश** इति, देवानामपि देवाः कालादयस्तेषामपि नियन्तेति. विद्यमानेऽपि सामर्थ्ये परदुःखप्रहाणेच्छा मृग्यत इति तामाह **प्रपन्नार्तिहरेति**. अनुभवसिद्धश्चायमर्थः. भक्तार्थं व्यापृतावपि भगवतो न काचित् क्षतिरित्याह **अव्ययेति**. प्रपन्नानामेवार्तिं हरतीति तस्य स्वभावमुक्त्वा स्वस्य प्रपत्तिमाहुः **प्रपन्नान् पाहि नः कृष्णेति**. रक्षणस्थानं निर्दिशन्त इवाहुः **निर्विण्णान् घोरसंसृतेरिति**. घोरत्वमनुभूतमेव. जन्म-मरणपरम्परा संसृतिः ॥८॥

एवं पालनं प्रार्थयित्वा पूर्वं भगवता कृतं मोचनं लौकिकं चेत् फलत्वेन मन्यन्ते तदा दुःखहानिवत् सुखमपि भगवान् लौकिकमेव दास्यतीति तन्निषेधार्थं दुःखदातरि मात्सर्याभावमाहुः **नैनं नाथान्वसूयाम** इति.

नैनं नाथान्वसूयामो मागधं मधुसूदन ।
अनुग्रहो यद् भवतो राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो ॥९॥

एनं हतं पातितं जरासन्धम्. ननु त्वदर्थमेवायं मारितः ; कथमेवमुच्यत इत्याशङ्कायामाह हे **नाथेति**. नाथत्वादेव कृतं, न त्वस्मत्प्रेरणयेत्यर्थः. असूया = दोषारोपेण दर्शनं निर्दुष्टानस्मान् दोषयुक्तानकरोदिति, दुष्टोऽयमिति. किञ्च **मागधोऽयं**, देशदोषादस्याप्येवं बुद्धिः. तव च नायं पराक्रमः यतस्त्वं **मधुसूदनः**. असूयाभावे हेतुं स्पष्टयन्ति **अनुग्रहो यद् भवत** इति. **राज्ञां राज्यच्युतिः** सन्निपातिनामिव सन्निपातनिवृत्तिः **भवतोऽनुग्रहः**. न ह्यनुग्रहसम्पादकः असूयार्हो भवति. नन्विष्टसाधनं राज्यं, तस्मिन् गते कथमिष्टं भविष्यतीत्याशङ्कायामाहुः **विभो** इति ॥९॥

राज्यस्यानर्थहेतुत्वमाहुः **राज्यैश्वर्येति**.

राज्यैश्वर्यमदोनद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः ।
त्वन्मायामोहितो नित्या मन्यते सम्पदोऽचलाः ॥१०॥

राज्ये यदैश्वर्यं ईश्वरोऽहं यथासुखं करिष्यामीति, यो **मदः** तेन **उन्नद्धो** मत्तः यत् स्वस्य **श्रेयो** धर्मादिकं तन्न जानाति कदापि न

लेखः

नमस्त इत्यत्र **रक्षणस्थानमिति**. स्थीयतेऽनेनेति स्थानं, रक्षणस्य स्थितिहेतुर्निर्वेद इत्यर्थः ॥८॥

प्राप्नोति वा. नच तस्य कामदशा सेति धर्मादिकं नास्त्येवेति मन्तव्यं, यतो **नृपः** प्रजारक्षाधर्मवान्. तदपि न करोतीति तात्पर्यम्. नन्वर्थोऽपि श्रेयो भवति, तत्सम्पादनं करोतीति कथमेवमुच्यत इत्यत आहुः **त्वन्मायामोहित** इति. सत्यं, सम्पदः श्रेयो भवति, परं समूलाश्चेत्. तासां मूलं धर्मादिः. तदभावे अमूलाः सत्यः क्षणान्निवर्तन्ते. एतादृशी सम्पदः भगवन्मायामोहितः **नित्या एव मन्यते अचलाश्च**. अल्पनाशश्चलनं, सर्वनाशोऽनित्यता. तस्मान्मोहजनकत्वात् निर्मूलाः सम्पदः न समीचीनाः ॥१०॥

किञ्च सम्पदां सर्वथा दुष्टत्वं नास्ति किन्तु निर्मूलानामेवेति निरूप्य सर्वथा दुष्टत्वं दृष्टान्तेनाहुः **मृगतृष्णामिति**.

मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम् ।
एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते ॥११॥

दृष्टिमात्रेण सम्पदात्वं, वस्तुतस्त्वर्थशून्यत्वाद् आपदात्वमेव, यथा मरुमरीचिकायां जलबुद्धिः. प्रत्युत ग्रीष्मे धावनं कारयन्ती अनर्थहेतुरेव. तथापि **बाला** विवेकशून्याः युक्त्या बाधितजलदेशेऽपि तां **जलाशयमेव मन्यन्ते. एवमयुक्ता**स्त्वच्चरणारविन्दयोगरहिताः **वैकारिकीं** नानाविकाररूपां बाधितार्थामपि **मायां वस्तु चक्षते.** नह्यात्मनि विकल्पो नानाविधत्वं वा भवति, तथापि विकारजातं वस्तुत्वेन मन्यमानः मायामोहित एव भवति ॥११॥

ननु भ्रान्तानामेव सम्पदोऽनर्थहेतवः, न युष्माकमित्याशङ्कायामाहुः **वयं पुरेति**.

वयं पुरा श्रीमदनष्टबुद्धयो
जिगीषयास्या इतरेतरस्पृधः ।
घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो
मृत्युं पुरस्त्वावगणय्य दुर्मदाः ॥१२॥

श्रीमदेन नष्टा बुद्धिर्येषां, वयं तु सुतरामेव पुरैव नष्टाः, यतः **अस्याः** पृथिव्याः **जिगीषया इतरेतरस्पृधो** जाताः. स्पर्धा ह्यात्मनो मुख्यो नाशहेतुः. न केवलं समानशीलेषु स्पर्धैव दोषः किन्तु तदीयाः **प्रजाः अतिनिर्घृणाः** सन्तः **घ्नन्तो** जाताः, **स्वा** अपि प्रजा वृथादण्डादिभिः.

प्रभो इति सम्बोधनं तेषामप्रभुत्वं सूचयति. ननु राज्यदानसमय एव भगवता राज्यस्थिताः सर्व एव तेभ्यो दत्ता इति स्वकीया यथासुखं कुर्वन्तु, को दोष इति चेत्, तत्राहुः **त्वां मृत्युं पुरःस्थितमवगणय्ये**[१]ति. स हि मृत्युर्भगवान् किमयं करिष्यतीत्यग्रे निलीय तिष्ठति. अन्यथाकृते मारयिष्यतीति ज्ञात्वापि तमवगणय्य स्थिताः. एवं मतिविभ्रमे हेतुः **दुर्मदा** इति ॥१२॥

तर्हि भगवान् किमुपेक्षां कृतवान् मारितवान् वेत्याशङ्कायामाहुः **त एवेति.**

त एव कृष्णाय गभीररंहसा
दुरन्तवीर्येण विचालिताः श्रियः ।
कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया
विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मराम ते ॥१३॥

कृष्णेति स्नेहात् संवादेन जातधाष्ट्र्यानां सम्बोधनम्. **अद्ये**ति नैतत् परोक्षम्. किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह **गभीररंहसा** गभीररयेण **कालेन श्रियः** सकाशाद् **विचालिताः**. कालस्य सामर्थ्ये तत्र द्वेषाभावे च हेतुः **भवतस्तन्वे**ति. कालं वञ्चयितुं देशान्तरगमनं वारयति **गभीररंहसे**ति. प्रतीकारं वारयति **दुरन्तवीर्येणे**ति. ननु मम तन्वेति कथं निश्चितं, तत्राहुः यतो राज्यभ्रंशानन्तरं **भवतोऽनुकम्पया विनष्टदर्पाः** गतदोषाः सन्तः **चरणौ स्मराम ते** महान्तं गुणं प्राप्ताः. यदि भगवानेव तथा न कुर्यात् तदा राज्यभ्रंशे सुतरामेव सद्बुद्धिर्न स्यात्. भगवांस्त्वतिकृपालुः अनर्थात् त्याजयित्वा परमार्थे योजितवानिति कार्यानुरोधात् कालस्य तव शरीरत्वमध्यवसीयते ॥१३॥

ननु दोषसहितानामेव राज्यमनर्थहेतुः, यथा ज्वरसहितानामन्नम्. अतः साम्प्रतं दोषस्य निवृत्तत्वात् राज्यं गृह्णन्त्वित्याशङ्कायामाहुः **अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितमिति.**

अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं
देहेन शश्वत् पतता रुजां भुवा ।
उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो

१. अविगणय्य इति क-ख-ग-घ-संपाठः -सम्पा.

क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचकम् ॥१४॥

अनेन इहामुत्रदोषप्रदर्शनपूर्वकं वैराग्यं निरूप्यते. **अथो** दोषगमनानन्तरं **राज्यं न स्पृहयामहे**. राज्यस्य स्वरूपतो दोषमाह **मृगतृष्णिरूपितमिति**, अर्थशून्यमिति यावत्. अस्य करणं त्वतिदुष्टमित्याह **देहेनोपासितव्यमिति**. न हि राज्यमात्मना सेव्यं किन्तु देहेनैव. देहस्तु विद्यमानदशायाम्. अग्रे च दुष्टमिति दोषद्वयमाह **शश्वत् पतता** सर्वदा मृत्युग्रस्तेन **रुजां भुवा** रोगोत्पत्तिस्थानेन. अतः स्वतः परिकरतश्च दुष्टत्वाद् वयं **न स्पृहयामहे**. एवमैहिकफले दोष उक्तः. पारलौकिकेऽप्याह **क्रियाफलं च प्रेत्य न स्पृहयामह** इति, क्रिया यागादिस्तस्य फलं स्वर्गादिः, तदपि प्रेत्यैव = मृत्वैव प्राप्तव्यम्. लोका जातिभ्रंशप्राप्यमपि न मन्यन्ते, कथं मृत्युप्राप्यं बुधो मन्यते? तत्रापि **कर्णमात्ररोचकं** दूरात् समीचीनमिति श्रूयते, नतु समीचीनं, स्पर्धासूयाभयादीनां तत्रैवाधिक्यात् ॥१४॥

एवमैहिकामुष्मिकफलवैराग्यं निरूप्य ज्ञानोपदेशे स्वयमधिकारी इति ज्ञापयित्वा प्रार्थयन्ते **तन्नः समादिशोपायमिति**.

तन्नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः ।
मतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥१५॥

चरणस्मरणेनैवैतावद्दूरे समागतमिति निरन्तरस्मरणहेतुमेव प्रार्थयन्ते. उपायश्चेद् ज्ञायते तदैव साध्यं स्वाधीनं भवति [१]अन्यथा **येनोपायेन ते चरणाब्जविषयिका मतिर्न विरमेत्**. स्वतो मतिस्थापनमशक्यमिति वक्तुं तद्विघातकं निर्दिशति **अपि संसरतामिह** इति. संसृतिरेव जनन-मरणरूपा भगवच्चरणस्मरणविस्मारिका. तर्हि तदभाव एव प्रार्थनीयः स्यात्, कथं स्मरणोपायप्रार्थना तत्राहुः **अपीति**. संसरणं त्वभीष्टं, भगवदीयमार्गोपयोगित्वादिति भावः ॥१५॥

लेखः

तन्नः समादिशेत्यत्र भगवच्चरणेति. भगवच्चरणस्मरणे जायमाने सति विस्मारिका चरणस्येति शेषः ॥१५॥

---

१. भवति अतो यथा इति मुद्रितपाठः. भवति नान्यथा इति खपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

एवं प्रार्थयित्वा भगवतः षड्गुणख्यापकानि नामान्यनूद्य नमस्यन्ति.

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥१६॥

कृष्णायेति सदात्मकत्वात् कालरूपत्वाद् वा वैराग्यहेतुः. **वासुदेवो** ज्ञानहेतुः, शुद्धसत्त्वं वसुदेव इति. हरिः श्रीहेतुः, बाह्यं दुःखं श्रियैव गच्छतीति. **परमात्मा** यशोहेतुः, सर्वोत्कर्ष एव यशःकारणम्. **प्रणतानां क्लेशनाशो** हेतुः वीर्यकार्यम्. **गोविन्द** इन्द्रत्वादीश्वरः. आदरे वीप्सा. आदरेण नमनं सर्वकार्यसाधकमिति सूचितम् ॥१६॥

ततो यज्जातं तदाह **संस्तूयमानो भगवानिति.**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

संस्तूयमानो भगवान् राजभिर्मुक्तबन्धनैः ।
तानाह करुणस्तात शरण्यः श्लक्ष्णया गिरा ॥१७॥

महान् स्तुतिप्रियो भवत्येव, अत उक्तं **भगवानिति.** महद्भिः स्तुतस्तुष्यतीति ज्ञापयितुं **राजभिरिति.** मोचनेन गतार्थतां वारयति **मुक्तबन्धनैरिति.** सकृत्प्राप्तफलैर्वा. धार्ष्ट्ये क्रोधमकृत्वा वरदाने हेतुः **करुण** इति. **तातेति** परीक्षित्सम्बोधनमप्रतारणाय. **शरण्य** इति स तस्य सहजो धर्म इति. **श्लक्ष्णा** वाणी श्रवणमात्रेण सुखदात्रीति शब्दोऽपि पञ्चमो विषयो निरूपितः ॥१७॥

जिज्ञासार्ती तदधिकारे द्वयमस्तीति[1] वै हरिः ।
सात्त्विकेभ्यो मुख्यशास्त्रं सगुणं प्राह योग्यतः ॥(७)॥

लेखः

संस्तूयमान इत्यत्र **शब्दोपीति.** "पिबन्त इव चक्षुर्भ्याम्" इतिश्लोके रूप-रस-गन्ध-स्पर्शा निरूपिताः, अत्र शब्दोऽपि निरूपित इत्य**पि**शब्दः ॥१७॥

कारिकायां **सगुणमिति** षड्गुणप्रतिपादकमित्यर्थः (७).

---

१. "द्वयं चास्ति वै हरिः" इत्येवं छन्दोरूपं निर्वहेत् - सम्पा.

स्वकीयान् षड्गुणान् प्राह षड्भिः सर्वत्र दुर्लभान् ।
भक्तिदानं बुद्धिशंसा राज्यदोषः कृपाकृतिः[१] ॥(८)॥
ऋणत्रयं निराकृत्य तत्र चिन्ता विरागता ।
एवं धर्मैर्हरिप्राप्तिरिति वाक्यार्थसङ्ग्रहः ॥(९)॥

जरासन्धवधेन तेषां शरीराणि मोचयित्वा स्तुत्या तुष्ट आत्मनो मोचयति **अद्यप्रभृतीति** षड्भिः.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अद्यप्रभृति वो भूपा मय्यात्मन्यखिलेश्वरे ।
सुदृढा जायतां भक्तिर्बाढमाशंसितं यथा ॥१८॥

आदौ तैर्यत् प्रार्थितं, स्मृतिविच्छेदो मा भवत्विति, तत्रोत्तरमाह **अद्यप्रभृति वो** युष्माकं **मयि सुदृढा भक्तिर्जायतामिति**. अत्यन्तस्नेह एव नित्यं स्मरणमिति सिद्धान्तः. प्रयोजनसाधकत्वं त्वौपाधिकं संस्मरणहेतुः. तदप्याह **मयि आत्मनि अखिलेश्वर** इति, अन्तर्बहिरावश्यकसेव्य इति. **भूपा** इति सम्बोधनं तारतम्यज्ञानार्थम्. **बाढं** यथेष्टं; इदं **यथावदाशंसितमेव** दत्तं, न त्वपूर्वम् ॥१८॥

तर्हि आशंसायां दोषो भविष्यतीत्याशङ्क्य साध्वाशंसितमित्याह.

दिष्ट्या व्यवसितं भूपा भवन्त ऋतभाषिणः ।
श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं पश्य उन्मादकं नृणाम् ॥१९॥

दिष्ट्या व्यवसितं भूपा इति, एतादृशो व्यवसायो न साधशरणानां भवति निरन्तर[२]स्मरणोपायप्रार्थनाविषयः. किञ्च **भवन्त ऋतभाषिणः** राज्यस्यानर्थहेतुत्वभाषणं भवतामन्तःकरणपूर्वकं सत्यमेव. यतः अहमपि **श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं नृणामुन्मादकमेव पश्ये**. श्रीसहितं यदैश्वर्यं तेन यो मदोन्नाहः मदबन्धनं सर्वदा मदस्थितिः तत् नृणामुन्मादकं भ्रान्तिं जनयतीत्यर्थः. अत्र प्रमाणमहं **पश्य** इति ॥१९॥

अतएव बहवो मया तस्मान्मदात् त्याजिता इत्याह **हैहय** इति.

---

१. क्रियाकृतिः इति क-ग-घ-संपाठः -सम्पा. २. निरन्तरमेव इति कपाठः -सम्पा.

हैहयो नहुषो वेनो रावणो नरकोऽपरे ।
श्रीमदाद् भ्रंशिताः स्थानाद् देवदैत्यनरेश्वराः ॥२०॥

यद्यद्यैव एत एव त्याजिताः स्युः तदा अविवेकदशायां मात्सर्यमपि भवेत्; पूर्वमप्येवम्भावे तु "न दुःखं पञ्चभिः सह" (. । ।) इतिवन्न दोषः सम्भवति, सुतरां ते चेन्महान्तः. अतस्तेषां महत्त्वसिद्ध्यर्थं नामानि गृह्णाति. **हैहयः** सहस्रार्जुनः **नहुषः** ययातिपिता परशुरामेण इन्द्राण्या च भ्रंशितौ. **वेनो** ब्राह्मणैः **रावणो** रामेण **नरको** मयैव. **अपरे** चैवम्भूताः हिरण्यकशिपुप्रभृतयः शतशः सन्ति. **श्रीमदात् स्थानाच्च** च्यावितः, राज्यं शरीरं च दूरीकृतमिति. **देवा** नहुषादयः **दैत्या** हिरण्यकशिपुप्रभृतयः **नरेश्वरा** अर्जुनादयश्चेति त्रिगुणा अपि स्थानभ्रष्टाः क्रियन्ते ॥२०॥

अतो मदे सति स्थानभ्रंशो भविष्यतीति निश्चित्य मदं परित्यज्य मदुक्तं कुरुतेत्याह **भवन्त** इति.

भवन्त एतद्विज्ञाय देहाद्युत्पाद्यमन्तवत् ।
मां यजन्तोऽध्वरैर्युक्ताः प्रजा धर्मेण रक्षथ ॥२१॥

एतत् पूर्वोक्तं भ्रंशरूपम् अनुभव-युक्तिभ्यां **विशेषतो ज्ञात्वा.** देहादौ वैराग्यं कर्तव्यमिति वदन् प्रथमं देहदोषमाह. **देहादि** देहराज्यादिकम् **उत्पाद्यं** केनचिदुत्पाद्यते, नतु नित्यं सहजम्. अतएव **अन्तवद्** नश्वरमेतज्ज्ञात्वा देहरक्षायां शिथिलप्रयत्नाः सन्तः तेन स्वत एव दैववशाद् विद्यमानेना**ध्वरै**र्यागै**र्मां यजन्तः धर्मेण प्रजा रक्षथ.** राज्ञः प्रजापालनं यज्ञाश्च धर्माः ॥२१॥

साधारणं धर्ममाह **वितन्वन्तः प्रजातन्तू**निति.

वितन्वन्तः प्रजातन्तून् सुखं दुःखं भवाभवौ ।
प्राप्तं प्राप्तं च सेवन्तो मच्चित्ता विचरिष्यथ ॥२२॥

गृहस्थस्यैवैष धर्मः सर्वत्रैव पुरुषार्थसिद्धिरिति वक्तुं नाश्रमान्तरमुपदिशति. **प्रजातन्तून्** सन्ततिपरम्परां **वितन्वन्तः** विशेषेण सम्पादयन्तः. तदनन्तरं **सुखं दुःखं भव** उद्भवः **अभवो** हानिः —एतच्चतुष्टयं साध्यसाधनरूपं दैववशात् **प्राप्तं प्राप्तम्**. सकृत्क्लेशं प्राप्य निवृत्ते रोगे पुनरागते पूर्वानुभूतदुःखभयात् तन्निराकरणार्थं यत्नो न कर्तव्य इति सूचयितुं वीप्सा. **चकारा**दन्यान्यपि सुखदुःखसाधनानि प्राप्तानि. सहने साधनं **मच्चित्ता** इति. "कृष्णोऽस्ति

मम, किमनेन समीचीनेनासमीचीनेन वे''ति निश्चित्य यथाप्राप्तार्थानुभवः कर्तव्य इत्यर्थः ॥२२॥

एवं कृते यद् भविष्यति फलं तत्साधनसहितं निर्दिशति **उदासीना** इति.

उदासीनाश्च देहादावात्मरामा धृतव्रताः ।
मय्यावेश्य मनः सम्यङ् मामन्ते ब्रह्म यास्यथ ॥२३॥

स्वेषु धनबन्ध्वादिषु देहधर्मादिषु **च उदासीना** भवन्तु मा भवन्त्विति रागद्वेषरहिताः. न केवलं बहिर्मुखताभाव एव प्रयोजकः **किन्त्वात्मरमणमपि**. एतदुभयसिद्ध्यर्थं **धृतभगवद्व्रताः**. एवं साधनैर्यावज्जीवं **मयि सम्यङ् मन आवेश्य अन्ते** मरणसमये **ब्रह्मस्वरूपं मां यास्यथ** गमिष्यथ. मध्ये देहनाशार्थं प्रयत्ने देहे बीजं तिष्ठेद् अतो देहान्तस्यैव प्रतीक्षा कर्तव्या. मत्स्मरणमेव कर्तुं शक्यं, कार्यसाधकं च. ततश्च मत्प्राप्तिरेव भविष्यति. मम ब्रह्मत्वात् तत्फलं मोक्ष एवेति फलं तत्स्तुतिश्चोक्ता ॥२३॥

एवं निरभिमानस्थितिं प्रेमभक्तिं निरन्तरस्मरणमन्ते मोक्षं च तेभ्यो दत्वा कृतार्थानपि लोकपुरस्कारार्थं लौकिक्या परिचर्यया संस्कृतान् कृतवानित्याह **इत्यादिश्येति** त्रिभिः.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्यादिश्य नृपान् कृष्णो भगवान् भुवनेश्वरः ।
तेषां न्ययुङ्क्त पुरुषान् स्त्रियोमज्जनकर्मणि ॥२४॥

यतः **कृष्णः** सदानन्दः भक्तसुखार्थमेव गृहीतावतारः. साधनसम्पत्त्यर्थमाह भुवनानामीश्वर इति. **तेषां** प्रथमं **मज्जनकर्मणि** स्नानकर्मणि **पुरुषान् स्त्रियश्च न्ययुङ्क्त**. श्रमापनोदः पुरुषैः सौष्ठवं स्त्रीभिरित्युभयविनियोगः. अमज्जनकर्मणि मज्जनकर्मणि वा, येषु कर्मसु कृतेषु मज्जनममज्जनं वा प्राप्नोतीति, श्मश्रुकर्मोन्मर्दनादिषु मज्जनं तिलकादिष्वमज्जनमिति ॥२४॥

लेखः

उदासीनाश्चेत्यत्र मध्य इति. प्रयत्नेन देहनाशे देहस्य बीजं देहहेतुभूतं कर्म तिष्ठेदेव, तदा जन्मान्तरं स्यादेवेत्यर्थः ॥२३॥

सपर्यां कारयामास सहदेवेन भारत ।
नरदेवोचितैर्वस्त्रैर्भूषणैः स्रग्विलेपनैः ॥२५॥

ततस्ते राजानो गृहे समागता इति **सहदेवेन** जरासन्धपुत्रेण कृत्वा तेषां **सपर्यां** पूजां विधिवत् **कारयामास**. **भारते**ति धर्मकर्मणि विश्वासार्थम्. पूजायां प्रकारमाह **नरदेवोचितै**रिति. उत्कृष्टैः कञ्चुकोष्णीषादिभि**र्भूषणैः** कुण्डलादिभिः **स्रग्भि**श्चन्दनादिभिः ॥२५॥

भोजयित्वा वरान्नेन सुस्नातान् समलङ्कृतान् ।
भोगैश्च विविधैर्युक्तांस्ताम्बूलाद्यैर्नृपोचितैः ॥२६॥

ततो **वरान्नेन** पक्वेन **भोजयित्वा** पुनः सायं **सुस्नातान् समलङ्कृतान् विविधैर्भोगै**र्नृत्यगीतादिभि**र्युक्तान्** चकार. नृपभोगे प्रथमं ताम्बूलमिति, अन्नवस्त्राणां सर्वसाधारणत्वाद् अवान्तरभेद एव भवति. तत्रापि **नृपोचितैः** ॥२६॥

भगवत्संस्कृतांस्तान् वर्णयति **ते पूजिता** इति.

ते पूजिता मुकुन्देन राजानो मृष्टकुण्डलाः ।
विरेजुर्मोचिताः क्लेशात् प्रावृडन्ते यथा ग्रहाः ॥२७॥

पूर्वमन्यद्वारा संस्कृता अपि वाक्यैरुत्तमपदार्थदानैश्च **मुकुन्देन** पुनः **पूजिताः** सर्व एव **राजानः मृष्टकुण्डलाः** रत्नोज्ज्वलकुण्डलाः सन्तः राज्यलक्षणं प्राप्य **विशेषेण रेजुः** पूर्वावस्थापेक्षयापि. तत्र हेतुः **क्लेशाद्विमोचिता** इति. क्लेशभोगानन्तरं पुनः संस्कारे अधिका कान्तिर्भवति. अत्र दृष्टान्तमाह **प्रावृडन्ते यथा ग्रहा** इति. पूर्वापेक्षयापि मेघापगमे ग्रहाः शुक्रादयः सोज्ज्वला भवन्ति. वृष्ट्या मेघगत्या च मध्ये स्थिताः भूरेणवः अपगच्छन्तीति मलिनानां व्यवधायकत्वाभावाद् ग्रहा उज्ज्वला भवन्ति. एवं पुरुषा अपि भोगेन पापनाशात् संस्कारेण बहिर्मालिन्याभावाच्च भूषणैरत्युज्ज्वला भवन्तीत्यर्थः ॥२७॥

लेखः

ते पूजिता इत्यत्र **सोज्ज्वला** इति. शुक्लादिवदुज्ज्वलशब्दोऽपि गुणगुणिनोर्वाचकः. तथा चोज्ज्वलरूपयुक्ता इत्यर्थः ॥२७॥

ततो भगवान् स्वसङ्गे समानेष्यतीति शङ्कां वारयितुमाह **रथान् सदश्वानिति.**

रथान् सदश्वानारोप्य मणिकाञ्चनभूषितान् ।
प्रीणय्य सूनृतैर्वाक्यैः स्वदेशान् प्रत्ययापयत् ॥२८॥

सर्वे रथारूढाः कृताः उत्तमाश्चाश्वा रथेषु योजिताः. ते च रथाः **मणिकाञ्चनादिभिः भूषिताः**. ततः **सूनृतैरपि वाक्यैः** तान् नृपान् **प्रीणय्य.** एवं कायवाङ्मनोभिः तान् सर्वात्मना सुखिनः कृत्वा **स्वदेशान्** तत्तद्देशान् **प्रत्ययापयत्** प्रस्थापितवान्. प्रत्यापत्तिः निरोधे आवश्यकी. सा च गृहस्थितिपर्यन्ता, अन्यथा सामिकृता स्यात् ॥२८॥

एवं भगवत्पुरस्कृतानां स्वदेशगमनमाह **त एवमिति.**

त एवं मोक्षिताः कृच्छ्राद् कृष्णेन सुमहात्मना ।
ययुस्तमेव ध्यायन्तः कृतानि च जगत्पतेः ॥२९॥

लोके ये मोक्ष्यन्ते तेभ्यः प्रत्युत किञ्चिद् गृहीत्वा अगृहीत्वा वा शृङ्खलादिभ्यः केवलं पृथक्क्रियन्ते, न त्वेवं सर्वसुखसाधनैः संयुज्यन्ते. एते **त्वेवं मोक्षिताः**, तत्रापि **कृच्छ्राद्,** किञ्चिद्विलम्बे प्रमथनाथाय छिन्ना भवेयुरिति. यतः **कृष्णेन** सदानन्देन. मोक्षे मोचकधर्मानुप्रवेशादेवमित्यर्थः. महात्मा परं स्वोपकारव्यतिरेकेणैव परं मुञ्चति, अयं तु **सुमहात्मेति** स्वतः सर्वदानं [१]युक्तम्. अत**स्तमेव ध्यायन्तो ययुः** भगवत्**कृतानि** च सम्माननादीनि. एतच्च स्मरणं तेषां युक्तमेव, भगवान् भर्तेत्यावश्यकत्वात्, न त्वनेनापि कृतनिष्क्रिया इति ज्ञापयन्नाह **जगत्पतेरिति** ॥२९॥

स्वगृहं गताः आश्चर्याभिनिविष्टेभ्यः स्वगृहस्थेभ्यो जगुरित्याह **जगदुः प्रकृतिभ्यस्त** इति.

लेखः

त एवमित्यत्र महात्मेति परमिति द्वयम्. तत्रैकं परं त्वित्यर्थे एकं परं शत्रुमित्यर्थे ॥२९॥

---

१. सर्वानन्दयुक्तम् इति कपाठः - सम्पा.

जगदुः प्रकृतिभ्यस्ते महापुरुषचेष्टितम् ।
यथान्वशासद् भगवांस्तथा चक्रुरतन्द्रिताः ॥३०॥

एवमेव हि महापुरुषचेष्टितं भवतीति **महापुरुषस्य** भगवतश्**चेष्टितम्**. ततो निरभिमानतयैव पालनं कृतवन्त इत्याह **यथान्वशासदिति** ॥३०॥

एवं तेषां जीवन्मुक्तावस्थां निरूप्य जरासन्धवधस्य[1] [2]मुक्त्युपयोगित्वमुक्त्वा भक्तिधर्मोपयोगित्वं वक्तुम् इन्द्रप्रस्थं प्रत्यागमनमुच्यते **जरासन्धं घातयित्वे**त्यादिपञ्चभिः.

जरासन्धं घातयित्वा भीमसेनेन केशवः ।
पार्थाभ्यां संयुतः प्रायात् सहदेवेन पूजितः ॥३१॥

भीमसेनेन करणेन जरासन्धहननम्. ब्रह्म-महादेवयोः तद्रक्षाभावे हेतुः **केशव** इति, कश्च ईशश्च तयोर्मोक्षदातृत्वादुपजीव्य इति. ततः अक्षताभ्यां **पार्थाभ्यां संयुतः** सन् पितृवधमस्मृत्वापि **सहदेवेन** देवांशेन **पूजितः प्रायात्** पूर्ववद् द्वेषं परित्यज्य प्रकर्षेण निर्गत इत्यर्थः ॥३१॥

एवं समागत्य दूरादेव स्वागमनं ख्यापितवन्त इत्याह **गत्वा ते खाण्डवप्रस्थ**मिति.

गत्वा ते खाण्डवप्रस्थं शङ्खान् दध्मुर्जितारयः ।
हर्षयन्तः स्वसुहृदो दुहृदां चासुखावहाः ॥३२॥

इन्द्रप्रस्थनिकटे खाण्डवदाहानन्तरं तत्र नगरं निर्मितमस्ति. भगवता

लेखः

जरासन्धमित्यस्याभासे जरासन्धस्येति, जरासन्धवधस्येत्यर्थः. व्याख्याने **भीमसेनेन करणेनेति**. "बलपार्थभीमव्याजाह्वयेन" (भाग.पुरा. २।७।३५) इतिवाक्याद् भगवदावेशेन कार्यसाधनस्योक्तत्वाच्च करणत्वमेव युक्तम्. तथाच **घातयित्वेति** निवृत्तप्रेषणाद्धन्तेर्हेतुमण्णिच्. **ब्रह्ममहादेवयोरिति**. ब्रह्मण्यत्वात् महादेवोपासकत्वाच्चोभयोः रक्षासम्भावना ॥३१॥

---

१. जरासन्धस्येति लेखकृतां पाठः –सम्पा. २. मुक्त्युपयोगिताम् इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

कौतुकातिशययुक्तं तत्र **गत्वा** इन्द्रप्रस्थस्थज्ञापनार्थं **शङ्खान् दध्मुः** ''पाञ्चजन्यं हृषीकेशः'' (भ.गीता १।१५) इतिश्लोकोक्तान्. यतो **जितारयः** उत्साहेन वादितवन्तः. तस्य वादनस्य **स्वसुहृदां** हर्षजननं प्रयोजनं **दुहृदां** दुःखजननं च. प्रायेण रात्रौ समागताः ॥३२॥

यदर्थं वादितवन्तः तज्जातमित्याह **तच्छ्रुत्वेति.**

तच्छ्रुत्वा प्रीतमनस इन्द्रप्रस्थनिवासिनः ।
मेनिरे मागधं शान्तं राजा चाप्तमनोरथः ॥३३॥

इन्द्रप्रस्थनिवासिनः सर्वे **प्रीतमनसो** जाताः. शब्दं श्रुत्वैव **मागधं शान्तं मेनिरे. राजा च प्राप्तमनोरथो** जातः ॥३३॥

एवमानन्दयुक्तेषु पुरवासिसु पश्चान्नयनानन्दं दातुं समागता इत्याह **अभिवन्द्याथ राजानमिति.**

अभिवन्द्याथ राजानं भीमार्जुन-जनार्दनाः ।
सर्वमाश्रावयाञ्चक्रुरात्मना यदनुष्ठितम् ॥३४॥

त्रयोऽपि क्रमेण प्रस्तावनानुसारेण वृत्तान्त**माश्रावयाञ्चक्रुः. आत्मना** भगवता स्वेन वा. यद्यप्यर्जुनेन कृतं न स्पष्टं तथापि शस्त्रयुद्धादिसम्प्राप्तौ रक्षा तेनैव कृतेति ज्ञातव्यम्, अनुष्ठितस्य साधारण्येन निरूपणात् ॥३४॥

एवं श्रावणे युधिष्ठिरस्य भगवति [१]भक्तिर्जातेत्याह **निशम्येति.**

निशम्य धर्मराजस्तत् केशवेनानुकम्पितम् ।
आनन्दाश्रुकणान् मुञ्चन् प्रेम्णा नोवाच किञ्चन ॥३५॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे सप्ततितमोऽध्यायः ॥

यतो **धर्मराजः** अधिकारी. एतत्सर्वं **केशवेनानुकम्पितं** कृपया कृतमिति ज्ञातवान्, नतु स्वभ्रातृपौरुषमिति. ततः प्रेमातिशयाद**ानन्दाश्रुकणान् मुञ्चन्** वाक्स्तम्भे जाते प्रशंसाभिनन्दनादिकं किमपि नोक्तवानित्यर्थः ॥३५॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे चतुर्विंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति सप्ततितमोऽध्यायः ॥

---

१. मतिः इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

॥ चतुर्थः स्कन्धादितो एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥

पञ्चविंशे निरुद्धस्य राज्ञो धर्मो निरूप्यते ।
प्रतिबन्धविहीनस्य प्रेमगद्गदचेतसः ॥(१)॥
आधिदैविकयज्ञोऽपि धर्मेऽत्र विनिरूप्यते ।
तत्रापि बाधकं कृष्णो न्यवारयदितीर्यते ॥(२)॥
मोचनादेव राज्ञां हि तत्सेवाऽत्र निरूपिता ।
ब्रह्मण्यत्वान्मागधस्य ब्राह्मणेष्वत्र संशयः ॥(३)॥
अतः सर्वेऽत्र ऋषयो निरूप्यन्ते स्वनामतः ।
आधिदैविकयज्ञस्य सर्वोऽप्युत्कर्ष उच्यते ॥(४)॥
आध्यात्मिकस्तु तच्छेषः प्रधानार्थो यतः परः ॥

पूर्वाध्यायान्ते भक्त्यानन्दपूर्णो जात इति निरूपितम्. इदानीं तादृशस्य मनोरथसिद्धिर्निरूप्यते. आदौ स भक्तो जात इति वक्तुं पूर्वमाज्ञापनेन भक्तविरुद्धकारी भूत्वा साम्प्रतं तत्परिहारं कृतवानिति निरूप्यते पञ्चभिः. तत्र दोषपरिहारार्थं प्रथममुद्यममाह **एवं युधिष्ठिर** इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं युधिष्ठिरो राजा जरासन्धवधं विभोः ।
कृष्णस्य चानुभावं तं श्रुत्वा प्रीतस्तमब्रवीत् ॥१॥

स्वधर्मनिष्ठो महान् भगवदुपकारं श्रुत्वा ज्ञातभगवन्माहात्म्यः **विभोः** स्वामिनः **कृष्णस्य** भक्तिरूपं स्वस्मिंश्चानुभावं ज्ञात्वा नारदादिमुखतस्तन्निर्धारं च **श्रुत्वा** कृतार्थता जातेति **प्रीतः** सन् पूर्वकृतस्वापराधनिवृत्त्यर्थं **तं** भगवन्तं प्रति किञ्चिद् **अब्रवीदि**त्यर्थः ॥१॥

आदौ भगवन्माहात्म्यमाह **ये स्युरि**ति.

लेखः

कारिकायाम् **आधिदैविकेति**, **आधिदैविकयज्ञो** भगवत्पूजा, तस्यां बाधकः शिशुपाल इत्यर्थः (२).

॥ युधिष्ठिर उवाच ॥

ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवः सर्वे लोकाः सहेश्वराः ।
वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा शिरसैवानुशासनम् ॥२॥

त्रैलोक्यगुरवः त्रैलोक्ये उपदेष्टारः आज्ञापकाः ब्रह्मादयः वेदोक्तऋषयो वा **सर्वे** च **लोकाः** प्राणिनो भूराद्यभिमानिदेवा वा **सहेश्वरा** इन्द्रादिसहिताः —एवं वेदलोकपराः भगवतः **अनुशासनं** स्वस्यानधिकारित्वेन[१] **दुर्लभं लब्ध्वा शिरसा वहन्ति** अत्यादरेण कुर्वन्तीत्यर्थः ॥२॥

किमतो यद्येवं तदाह **स भवानरविन्दाक्ष** इति.

स भवानरविन्दाक्षो दीनानामीशमानिनाम् ।
धत्तेऽनुशासनं भूमंस्तदत्यन्तविडम्बनम् ॥३॥

स एव सर्वेश्वरः पुरुषोत्तमो **भवान्** भक्तानुकम्पार्थम**रविन्दाक्षः** दृष्ट्यैवाप्यायनकर्ता जातः. एतादृशः **दीनानां** शोच्यानां तत्रापि **ईशमानिनां** दोषयुक्ताना**मनुशासनं** स्वयं **धत्ते तत्** कपटमानुषलीलाप्रदर्शनापेक्षयापि **अत्यन्तविडम्बन**मनुकरणम् ॥३॥

हीनानुशासनकरणस्य अयुक्तत्वं[२] स्थापयित्वा अयुक्तं करोतीत्यप्ययुक्त-मिति भूम्नोऽपि तद्युक्तमिति निरूपयति.

न ह्येकस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।
कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च यथा रवेः ॥४॥

न ह्येकस्येति. यदि बहवो भवन्त्यात्मानः तदा गौणप्रधानभावे अन्यधर्माश्रयणं निषिद्धं भवति, एकत्वे तु– जघन्यस्याप्यधमाङ्गस्य उत्तमाङ्गं सेवां करोतीति, यथा पादप्रक्षालनं हस्तेन क्रियते तदा न विरोध इति –भगवत एव जगत्येकस्य सत्त्वान्न विरोधः. युक्तिस्तु हिशब्दवाच्या निरूपिता. किञ्च यत्र द्वैतमिव भवति तत्रान्योन्यस्य हीनभावं मन्यते, अद्वितीयो भगवानेव सर्वत्र जगति वर्तत इति न भगवति किञ्चिद्दूषणमित्याह **अद्वितीयस्ये**ति. किञ्च जीवानामयं धर्मः यत् कार्यप्रेरणं कार्यकारणं चेति, नतु ब्रह्मणः शुद्धस्य. लीलयान्यधर्मस्वीकारे तु क उत्कर्षापकर्ष इत्याह **ब्रह्मण** इति. किञ्च सर्वेषां नियन्ता भगवान् परमात्मा प्रेरकः सर्वानिव

---

१. स्वस्याधिकारित्वेन इति गपाठः - सम्पा. २. युक्तत्वम् इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

यथासुखं सर्वत्र प्रेरयति, तत्र किमुत्कृष्टमपकृष्टं वा, सर्वस्यापि भगवदधिष्ठितत्वाविशेषात्. अन्यधर्मसम्बन्धेऽपि न काचित् क्षतिः. यथा आकाशे अभ्रतमःप्रकाशाः तद्वद् भगवतीत्याशयेनाह **परमात्मन** इति. अतएव **कर्मभिः** स्वकीयैः कर्मरूपस्य परमकाष्ठापन्नस्य निर्लेपस्य **तेजो** न वा **वर्धते** न वा **ह्रसते**. अलौकिकत्वाद् दृष्टान्तमाह **यथा रवेरिति**. उच्चनीचस्थाने किरणानां सम्बन्धेऽपि न काचिन्न्यूनता, सर्वग्रहसम्बन्धे वा न क्वाप्युदयास्तमयौ ॥४॥

नन्वेवं सति कथं भगवान् सर्वेश्वरत्वमेव मन्यते, न हीनभावं? तथा सति जीवानामपकर्षबुद्ध्या नाशो भविष्यतीति चेत्, तर्हि प्रकृतेऽपि तथेत्याशङ्कायामाह **न वै तेऽजित** इति.

न वै तेऽजित भक्तानां ममाहमिति माधव ।
त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वैकृता ॥५॥

हे **अजित** कस्याप्यवश, **ते भक्तानां ममाहमिति** स्वाभिमानः कदाचिदपि स्वोत्कर्षख्यापको न भवति. उत्कर्षस्तु जीवानां पाञ्चभौतिकदेहयुक्तानां लक्ष्मीकृत एव भवति. तस्यास्तु त्वमेव **धवः** अतस्त्वयि को वाभिमानो भविष्यतीति भावः. किञ्च त्वद्भक्तानां न कस्मिंश्चिदपि त्रिविधाद्वैतयुक्तानां द्रव्यादिभेदार्थं **त्वं तवेति च** बुद्धिर्न भवति. "यो यच्छ्रद्धः स एव सः" (भ.गीता १७।३) इति शास्त्रार्थानुसारेण त्वद्रूपा एव भवन्तीति तेषां सर्वात्मकता नित्यं स्फुरतीति न **नानाधीर्भेदबुद्धिर्भवति**. ननु सर्वेषामेव बुद्धिरयुक्ता, को विशेषो भक्तानामिति चेत्, तत्राह **पशूनामिवेति**. अयुक्तापि बहिर्मुखानां भवतीति नानाबुद्धेर्भगवद्विषयत्वे न कोऽपि विशेष इत्याशङ्क्याह **वैकृतेति**. विकारविषयिणी सा, न हि वस्तुतो नानात्वमिति भावः ॥५॥

एवं स्वापराधं भगवतः सर्वात्मकत्वादिधर्मेणानुसन्धानतः परिहृत्य निष्प्रत्यूहः सन् अभिप्रेतं राजसूयमारब्धवानित्याह **इत्युक्त्वेति**.

लेखः

न वै तेऽजितेत्यत्र त्रिविधाद्वैतेति, "भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतम्" (भाग.पुरा. ७।१५।६२) इति त्रैविध्यं सप्तमस्कन्धान्तिमेऽध्याये स्फुटम् ॥५॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्युक्त्वा याज्ञिये काले वव्रे युक्तान् स ऋत्विजः ।
कृष्णानुमोदितः पार्थो ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः ॥६॥

कालस्य प्राधान्याद् **याज्ञिये काल** इत्युक्तम्. राजसूयस्यापि द्वादशाहप्रकृतित्वाद् माघे मास्येवारम्भः सांवत्सरिकाणामपि स एव कालः. **युक्तान् ऋत्विजः** परम्परया प्राप्तान् अनिषिद्धान् वा प्रायेण सर्वानेव स्थविरान् विद्यातपोवृद्धान् अध्वर्य्वादिभावेन **वव्रे**. विघ्नशङ्कां वारयति **कृष्णानुमोदित** इति. **पार्थ** इति भगवतः साहाय्यं निश्चितं सूचितम्. **ब्राह्मणानिति**, ब्राह्मणानामेवार्त्विज्यं सर्वक्रतुष्विति विद्यातपोवृद्धक्षत्रिय-व्युदासः. **ब्रह्मवादिन** इति ब्राह्मणानामयमुत्कर्षः ॥६॥

तान् गणयति **द्वैपायन** इत्यादिना.

द्वैपायनो भरद्वाजः सुमन्तुर्गौतमोऽसितः ।
वसिष्ठश्च्यवनः कण्वो मैत्रेयः कवषस्त्रितः ॥७॥
विश्वामित्रो वामदेवः सुमतिर्जैमिनिः क्रतुः ।
पैलः पराशरो गर्गो वैशम्पायन एव च ॥८॥
अथर्वा कश्यपो धौम्यो रामो भार्गव आसुरिः ।
वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीरसेनोऽकृतव्रणः ॥९॥

त्रिंशदृषयोऽत्र गणिताः **अकृतव्रणान्ताः**, यद्यप्यत्र बहवो ब्राह्मणा मृग्यन्ते तथापि उत्तमा एतावन्त एवेति. सप्तदश ऋत्विजः, दश चमसिनः, एकधनिनस्त्रय इति दश दश उत्कर्षादिभावापन्ना वा उपलक्षणविधया गणिताः. एकादश प्रथमश्लोकोक्ताः ब्राह्मणा एव ब्रह्मविदः, विश्वामित्रादयो नव मध्यमाः, अथर्वादयो दश, नव वा, **रामो भार्गव** एक इति. एते सर्वे महोपाख्यानाः ॥७-८-९॥

अन्येऽपि राजानः ब्राह्मणाश्च समाहूता इत्याहुः **उपहूतास्तथा चान्ये** इति.

उपहूतास्तथा चान्ये द्रोणभीष्मकृपादयः ।
धृतराष्ट्रः सहसुतो विदुरश्च महामतिः ॥१०॥

भीष्मादयो बन्धुश्रेष्ठाः **द्रोणादयो** गुरवः **कृपादयो**ऽपि मान्याः. सर्वमैत्री

कृतेति ज्ञापनार्थं धृतराष्ट्रादीनामाकारणमाह **धृतराष्ट्रः सहसुत** इति दुर्योधनादिसहितः. **विदुरश्चापि** शूद्रयोनिरपि **महामतिरि**ति बीजप्राधान्येन स्मार्तज्ञानपूर्णत्वात् समाकारणमुचितम् ॥१०॥

किं बहुना, चत्वारो वर्णा जगति विद्यमानाः समाहूता इत्याह **ब्राह्मणा** इति.

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा यज्ञदिदृक्षवः ।
तत्रेयुः सर्वराजानो राज्ञां प्रकृतयो नृप ॥११॥

यज्ञदिदृक्षायुक्ताः, श्रद्धया अत्राधिकारो निरूपितः. न केवलमाकारणमात्रं किन्तु सर्वे समागता इत्याह **तत्रेयुरि**ति. अन्येषां स्त्रियः समायास्यन्त्येव, राज्ञां नायास्यन्तीति तासां कथनं **राज्ञां प्रकृतय** इति. **नृपे**ति सम्बोधनं सादरम् ॥११॥

ततस्ते देवयजनं ब्राह्मणाः स्वर्णलाङ्गलैः ।
कृष्ट्वा तत्र यथाम्नायं दीक्षयाञ्चक्रिरे नृपम् ॥१२॥

राजसूयः साग्निचित्यो भवतीति "इयं वा अग्नेरतिदाहादबिभेद्" (तैत्ति.सं. ५।२।१०।२) इत्युपाख्यानेन कर्षणं विहितम्. **ततो देवयजनं** देवा इज्यन्ते अस्मिन् स्थान इति तत्स्थानं **ब्राह्मणाः** स्वयं **स्वर्णलाङ्गलैः** षड्गवैर्द्वादशगवैर्वा **कृष्ट्वा** उप्त्वा च **तत्रै**व **यथाम्नायम्** आम्नातानुसारेण **दीक्षयाञ्चक्रिरे** दीक्षां चक्रुरित्यर्थः. 'अभ्युत्सादयामि'त्यादिवद् अस्यापि 'आम्'प्रत्ययश्छान्दसः ॥१२॥

यज्ञे पदार्थसमृद्धिमाह **हैमा** इति.

हैमाः किलोपकरणा वरुणस्य यथा पुरा ।
इन्द्रादयो लोकपाला विरिञ्चिशिवसंयुताः ॥१३॥

किलेति लोकोऽत्र प्रमाणम्. **वरुणो** निधिपतिरिति सोऽत्र दृष्टान्तीक्रियते. **पुरे**ति तस्यापीदानीं दुर्लभ इति सर्वोत्कर्षः. देवादयो **लोकपालाः** द्वीपान्तरस्था राजानश्च नागता भविष्यन्तीति तेषामाकारणमागमनं चाह **इन्द्रादय** इति. **विरिञ्चिशिवाभ्यां संयुताः** ॥१३॥

सगणाः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः ।
मुनयो यक्षरक्षांसि खगाः किन्नरचारणाः ॥१४॥

सगणाः सेवकसहिताः आदित्यविश्वादयो वा गणदेवाः. **सिद्धगन्धर्वाद-यश्च. मुनयोऽधिकारिणः** सप्तर्षिरूपाः. **यक्षरक्षांसि** कुबेर-पुलस्ति-विभीषणादयः. **खगा** गरुडादयः. **किन्नराश्चारणाश्च** ॥१४॥

राजानश्च समाहूता राजपत्न्यश्च सर्वशः ।
राजसूयं समीयुः स्म राज्ञः पाण्डुसुतस्य वै ॥१५॥

ततो द्वीपान्तरस्था **राजानश्च समाहूताः** चकाराद् ब्राह्मणा वैश्यादयश्च. **राजपत्न्यश्च सर्वश** इति अगम्यस्थानेभ्योऽपि, यतो **राजसूयं समीयुः**. **स्मेति** प्रमाणम्. **राज्ञः पाण्डुसुतस्येति** महतां क्रियत इति तत्रागमनं न लज्जायै ॥१५॥

ननु सर्वेषां निशङ्कमागमने को हेतुरित्याशङ्क्य तमाह **मेनिरे कृष्णभक्तस्येति**.

मेनिरे कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः ।
अयाजयन् महाराजं याजका देववर्चसः ॥
राजसूयेन विधिवत् प्राचेतसमिवामराः ॥१६॥

अन्यस्य देशादिशुद्धिर्न भवतीति **सूपपन्नत्वम्**. अत एवातिसमृद्धिमपि दृष्ट्वा **अविस्मिताः**. ततो **याजका** ऋत्विजः **राजसूयेन महाराजमयाजयन्**. **देववर्चसः** इति तेषां यज्ञाभिव्यक्तिसामर्थ्यं सूचितम्. **विधिवदिति** नानुकल्पः कस्मिन्नप्यंशे. पूर्ववदेव दृष्टान्तः **प्राचेतसमिवामरा** इति ॥१६॥

सुत्येऽहन्यवनीपालो याजकान् सदसस्पतीन् ।
अपूजयन् महाभागान् यथावत् सुसमाहितः ॥१७॥

ततो मुख्ये **सुत्येऽहनि** "माध्यंदिनसवने दक्षिणा नीयन्ते" (तैत्ति.सं. ६।१।६।३) इति "यावन्तो वै सदस्यास्ते सर्वे दक्षिण्याः" (. । ।) इति च दक्षिणादानप्रस्तावे सुत्येऽहनि राजा **याजकान्** ऋत्विजः, **सदस्पतीन्** सभ्यान्, अन्यानपि **महाभागान् अपूजयत्**. **यथावदा**त्रेयादिपूजाप्रकारेण. **सुसमाहित** इति क्रोधलोभादिरहितः ॥१७॥

अत्राधिदैविकपूजार्थं मुख्योऽयमेव याग इति विचार आरभ्यते **सदस्येत्यादि ऋत्विग्भ्य** इत्यन्तेन.

सदस्याग्र्यार्हणार्हं वै विमृशन्तः सभासदः ।

नाध्यगच्छन्ननैकान्त्यात् सहदेवस्तदाब्रवीत् ॥१८॥

सदस्याग्र्यार्हा बहुदक्षिणे यागे सुप्रसिद्धाः. यथा याज्ञवल्क्याय गोसहस्ररूपा दत्ता, ब्राह्मणेषु ब्रह्मविदेव तदर्हतीति. यद्यत्र परब्रह्म न भवति मूर्तिं धृत्वा तत्र जीवानां मध्ये तदभिज्ञोऽपि महान् भवति. यत्र पुनर्भगवानेवाविलुप्तमहिमा मूर्तीः परिगृह्य तिष्ठति तत्र किं पूर्वन्यायेन अनुकल्प एव कर्तव्यः आहोस्विद् भगवते देयमिति? अनुकल्पेनापि समारम्भे तेनैव समाप्तिः कर्तव्येति सर्वयागेषु ऋषिभिरनुकल्प एव समारब्धः. तस्मादत्रापि ब्रह्मविदां मध्ये केनाप्यतिशयेन यो महान् भवति स एव पूजामर्हतीति केचित्. तथा सति व्यासो वसिष्ठो वा भवति. यज्ञानां सर्वत्र संस्थितेः उक्तत्वात् प्रक्रियान्तरे मुख्ये सम्भवति गौणकल्पनाया अन्याय्यत्वात् भगवानेवार्हतीत्यन्ये. एवमपि व्यासस्योभयरूपत्वात् कुलवृद्धत्वात् पितामहत्वाच्च स एवार्हतीत्यपरे. सर्वधर्माभिज्ञः भीष्मस्ततोऽपि ज्येष्ठ इति स एवार्हतीति केचित्. तस्यापि गुरुः परशुराम इत्यन्ये. सर्वत्र च नानाविधा युक्तयः प्रसरन्ति. तत्र साधको हेतुः कोऽप्यव्यभिचारी नास्ति. ब्रह्मवित्त्वं भगवत्त्वं मान्यत्वं श्रेष्ठत्वम् अन्यद् वा साक्षात्परब्रह्मत्वं सर्वकलापूर्णत्वं सच्चिदानन्दविग्र-हत्वं कृष्णस्य भगवतः कश्चिदेव जानाति. अतोंऽशत्वमेव साधारणमिति न सर्वेषां प्रथमतः सम्मतिः. तत्र श्रेष्ठत्वं **विमृशन्तः** सर्व एव **सभासदः** कमपि सर्वोत्कृष्टं **नाध्यगच्छन्**. तत्र हेतुः हेतोर**नैकान्त्या**दिति. तत्र **सहदेवः** साक्षात्पूर्णपरब्रह्मत्वं सर्वदोषरहितं हेतुं मन्यमानः कृष्णे भगवति तत्साधयितु**मब्रवीत्**. स हि ज्ञानकलावतारः सर्वज्ञो द्वादशवार्षिकमेष्यं जानाति, तथाप्यपृष्टो न वदति. अत्र तु जिज्ञासायां सर्व एव पृष्टा भवन्तीति भगवत्प्रेरणया **अब्रवीत्** ॥१८॥

॥ सहदेव उवाच ॥

अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यं भगवान् सात्वतां पतिः ।
एष वै देवताः सर्वा देशकालधनादयः ॥१९॥

आदौ साध्यं निर्दिशति **अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्य**मिति. तत्र हेतु**र्भगवा**निति. भगवत्त्वं व्यासादिष्वप्यस्तीत्याशङ्क्याह **सात्वतां पति**रिति. अन्ये हि कार्यार्थं भगवदंशपुरुषनिर्मित-प्रपञ्चैकदेशार्थसिद्ध्यर्थं केनचिदंशेनावतीर्णाः, कृष्णस्तु

वैष्णवानां पतिरिति, कालगृहे समागतान् कालं वञ्चयित्वानेतुमागत इति, मर्यादारक्षार्थं पतित्वात् समागतः. अतो भगवदिच्छयैव कालसम्बन्धिनो न तं जानन्ति. तस्मादयमव्यभिचारी हेतुः — पूर्णभगवत्त्वमिति. ननु तथापि प्रकरणानुरोधेन पदार्थनिर्णयः कर्तव्यः, प्रकरणमत्र देवानां प्रीतिः – "यक्ष्ये विभूतीः" (भाग.पुरा. १०।६७।३) इतिवाक्यात्, न हि यत् सेवकेभ्यो देयं तत् स्वामिने दातुं शक्यते, लोकाः स्वामिदर्शनेऽपि न सेवकेभ्यः प्रयच्छन्ति – इत्याशङ्कायामाह **एष वै देवताः सर्वा** इति. यदि सर्वे देवाः प्रीणनीयाः तदा स्थानापेक्षया स्वरूपमुत्तममिति "यावतीर्वै देवताः" (तैत्ति.आर. २।१५।१), "यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना" (भाग.पुरा. ५।१८।१२) इतिवाक्यानुरोधं परित्यज्य साक्षात्सर्वदेवतारूपं भगवन्तमेव पूजयन्त्वित्यर्थः. **वै** निश्चयेनेति उपचारव्यावृत्तिरुक्ता ; यथा "अग्निः सर्वा देवताः" (तैत्ति.सं. ६।९।२।१), "आपो वै सर्वा देवताः" (तैत्ति.सं. ५।७।९।३) इति तत्र तत्रोपाख्याने सर्वदेवत्वं तेषां गौणभावत्वेन निरूपितम्. यथा "देवासुराः संयत्ताः आसन् ते देवा बिभ्यतोऽग्निं प्राविशन् तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवता" (यजु.सं. ५।३।११।१) इति. तथाग्निरपि अपः प्राविशत्, "स निलायत सोऽपः प्राविशद्" (. । ।) इति. एवं केनचिन्निमित्तेनैव सर्वेषां सर्वदेवतारूपत्वं गौणमेव. स्वभावत एव भगवान् सर्वदेवतारूपः. "कदाचित् सर्वमात्मैव भवति" (त.दी.नि. १।३७) इति पक्षे त एव देवा अत्र पूज्याः, "इन्द्रादयो बाहवः" (भाग.पुरा. २।१।२९) इत्यादिवाक्याद् वा आधिदैविका एव यज्ञभाज इति. ननु तथापि कस्मिंश्चिद्देशे कस्मिंश्चित्काले तत्र प्रवर्तमानस्य यागस्य ऋषीणां तदधीनत्वात् तद्देशतत्कालाभिमानिनी देवतैव प्रकरणवशात् पूजामर्हतीत्याशङ्क्याह **देशकालेति**. ननु तथापि योग्यं योग्येन सम्बध्यत इति प्राकृता धनादयः पदार्थाः कथं साक्षाद्भगवते दातुं शक्याः, लोकेऽपि विप्राय गुरवे स्वामिने न हि शूद्रः स्वकन्यां प्रयच्छति किन्तु शूद्रायैवाधमायापि

लेखः

अर्हति ह्यच्युत इत्यत्र **गौणभावत्वेनेति**, गौणो भावो येषां तादृशत्वेनेत्यर्थः ॥१९॥

दातुं वाञ्छतीत्याशङ्क्याह **धनादय** इति. **आदि**शब्देन वस्त्राभरणानि गवादयश्चोच्यन्ते ॥१९॥

यदात्मकमिदं विश्वं क्रतवश्च यदात्मकाः ।
अग्निराहुतयो मन्त्राः साङ्ख्यं योगश्च यत्परः ॥२०॥

एवं ब्रह्मत्वमङ्गीकृत्य तस्मिन् दानं समर्पितं ब्रह्मत्वं तु साधयति **यदात्मकमिदं विश्वमिति**. विश्वस्यैतदात्मकत्वे यशोदा प्रमाणम्. न केवलं लौकिकात्मत्वे ब्रह्मत्वमिति वेदार्थरूपत्वमप्याह **क्रतवश्च यदात्मका** इति. क्रतूनां तदात्मकत्वे वराहावतार एव प्रमाणम्. सर्वयज्ञस्वरूपत्वं प्रकटयन् तेन रूपेण प्रादुर्भूतो भगवान्. सर्वमग्नौ हूयत इति अग्निप्रीतिः कर्तव्येति प्रकरणपक्षेऽप्याह **अग्निरिति**. अयमेवाग्निः, "ब्रह्मा तर्हि अग्निः" (तैत्ति.ब्रा. २।१।१०।३) इतिश्रुतेः. तादृश एव च होमः. [१]यज्ञत्वाय आहुतीनां भगवत्त्वमाह **आहुतय** इति. मन्त्राभिमानिनी देवता प्रकरणवशान्मुख्येत्याशङ्क्याह **मन्त्रा** इति. तथापि शास्त्रानुसारेण यो महान् भवति स एव ग्राह्यो, न युक्त्या किञ्चित् कर्तव्यमित्याशङ्कायामाह **साङ्ख्यं योगश्च यत्पर** इति. वेदादीनि पञ्चशास्त्राणि. तत्र ब्रह्मत्वे यज्ञत्वे च सिद्धे वेदार्थः सिद्धः. साङ्ख्यस्य त्वत्रैव तात्पर्यम् ; एतस्यैव सर्वात्मत्वं स्नेहान्निश्चितम्. योगस्यापि– ध्यानमूर्तिरयमेवेति आत्मेति च, एतदर्थमेव चित्तवृत्तिरोधमिति "आत्मन्येव वशं नयेद्" (भ.गीता ६।२६) इतिवाक्यात् –तात्पर्यम्. चकारात् पशुपतिमतस्याप्यत्रैव, स्कन्दपुराणे महादेवेन स्कन्दं प्रत्युक्तत्वात् "परमो विष्णुरेवैकस्तज्ज्ञानं परमं मतं, शास्त्राणां निर्णयस्त्वेषस्तदन्यन्मोहनाय

लेखः

यदात्मकमित्यत्र स्नेहान्निश्चितमिति. "न पुत्रः पुत्राय प्रियो भवती" (बृह.उप. २।४।५) त्यात्मन एव स्नेहविषयत्वेन सर्वस्नेहविषयत्वात् सर्वात्मकत्वम्. असुराणामासुरब्रह्मविद्यायां देहात्मवादस्य स्थापितत्वात् तान् प्रति भगवत आत्मत्वेनास्फुरणान्न स्नेह इति भावः. **चित्तवृत्तिरोधमिति** कुर्यादिति शेषः ॥२०॥

---

१. योग्यत्वाय इति मुद्रित-सं-घपाठः. गृहीतस्तु क-ख-गपाठानुरोधात् - सम्पा.

हि'' (.   । ।) इति. वैष्णवसिद्धान्ते तु न सन्देह एव. अतः सर्वशास्त्राणामत्रैव तात्पर्यमित्यर्थः ॥२०॥

ननु तथापि ब्रह्मलक्षणाभावे कथं ब्रह्मत्वमिति चेत्, तत्राह **एक एवाद्वितीयोऽसाविति.**

एक एवाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत् ।
आत्मनात्माश्रयः सभ्याः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥२१॥

वेदान्तेषु एकं ब्रह्म, अद्वितीयं ब्रह्मेति क्वचिद् ब्रह्मलक्षणम्. क्वचित् निर्णयशास्त्रे विश्वं ब्रह्मेति, अतएव 'विश्वमि'ति प्रथमनाम. किञ्च ''स आत्मानं स्वयमकुरुत'' (तैत्ति.उप. २।७) इतिश्रुतेः यो ह्यात्मानं स्वयं करोति स आत्मा ब्रह्मेति, यस्त्वात्माश्रयः स ब्रह्मेति. ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' (तैत्ति.उप. ३।१) इत्यादिश्रुतिभिः सृष्टिप्रलयकर्ता ब्रह्मैव. यस्तु सर्वान्तर्यामी सर्वप्रेरकः स ब्रह्मेति, ''अन्तरो यमयति'' (बृह.उप. ३।७।३) इतिश्रुतेः. एवं बहुवाक्यानुरोधेन सर्वमेव धर्मजातं भगवद्गतमित्यनुवदति **एक एवायं**; महतां दृष्टिरत्र प्रमाणम्. ते हि सर्वत्र कृष्णमेव पश्यन्ति. **अद्वितीयश्च**, ''ज्योतींषि विष्णुः'' (विष्णु.पुरा. १२।३७) इत्यादिवाक्यात्. तेषामनुभवोऽपि प्रमाणं, सोऽन्यो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **असाविति.** ''सर्वेषामेव भूतानां पिता माता स माधवः, तमेव शरणं यात शरण्यं कौरवर्षभाः'' (महाभारत १।८९।५५) इति मार्कण्डेयवाक्यात् पर्णपुटे तेनायमेव दृष्ट इत्यभिज्ञानाच्च. किञ्च **ऐतदात्म्यमिदं जगद्,** दुर्वाससा आरण्यके पर्वणि निर्धारितम्, अन्यथा शाकान्नमुष्टिभक्षणेन कथं ते तृप्ता भवेयुः? किञ्च अयमेव**आत्मनात्माश्रयो** भूत्वा **जगद्** आत्मस्वरूपं **सृजत्यवति हन्ति,** स्वयं त्व**जः**. अत्र प्रमाणं **सभ्या** इति सम्बोधनं सम्मत्यर्थम् ॥२१॥

विविधानीह कर्माणि जनयन् यदवेक्षया ।
ईहते यदयं सर्वः श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥२२॥

किञ्च **इहै**व जगति **विविधानि कर्माणि जनयन्** यो वर्तते. सर्वकर्माण्ययमेवोत्पादयति, ''योऽन्तःप्रविश्य मम वाचम्'' (भाग.पुरा. ४।९।६) इतिवाक्यानुसारेण. अत्रापि प्रमाणं **सभ्या** इत्येव. किञ्च साक्षी चायं, यतः **सर्वो**ऽपि लोकोऽस्मदादिः **धर्मादिलक्षणं श्रेय ईहते यदवेक्षयैव.**

न हि भगवदवेक्षाभावे श्रेयः सिद्ध्यति. अत्र वयमेव प्रमाणम् ॥२२॥

तस्मात् कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम् ।
एवं चेत् सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत् ॥२३॥

तस्मात् साक्षात् पूर्णपरब्रह्मत्वात् सर्वानुपपत्त्यभावाच्च **कृष्णायैव दीयतां परमार्हणम्.** तथाप्यस्मदपेक्षया कनिष्ठः मातुलेयः कथं दानमर्हतीत्याशङ्कायामाह **महत** इति. विश्वरूपप्रदर्शनात् "पिता माता" (महाभारत १।८९।५५) इतिवाक्याच्च महत्त्वं सिद्धम्, मोहार्थमेव च तस्याल्पत्वमिति. परन्त्वल्पार्हणं न देयं किन्तु **परमार्हणम्.** नन्वेवं कृते को विशेषः अलौकिकं च भवति? अतो व्यासादिरेव कश्चित् पूजार्हो भवत्वित्याशङ्कायामाह **एवं चेदिति.** अत्र बहवः एव समानास्तिष्ठन्ति ; सर्व एवैकदा पूजयितुमशक्याः, तत एकपूजायामन्यद्रोहो भवतीति प्रत्यक्षविरोधः "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते" (बृह.उप. १।४।१०) इतिश्रुतिविरोधश्च. अतस्तादृशाय देयं यस्मिन् दाने सर्व एव तृप्ता भवन्ति, सोऽयमेवेत्याह **एवं चेत् सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेदिति** ॥२३॥

सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायानन्यदर्शिने ।
देयं शान्ताय पूर्णाय दत्तस्यानन्त्यमिच्छता ॥२४॥

तत्र हेतुः **सर्वभूतात्मभूतायेति,** सर्वभूतभूतः आत्मभूतश्च. वेदव्यासव्यावृत्त्यर्थं **कृष्णायेत्येकवचनकथनम्.** ननु तथापि गृहीतावतारः कदाचिदपि आत्मानं परिच्छिन्नं मन्येत तदा दोषाद् दानमनुचितं स्यादित्याशङ्क्याह **अनन्यदर्शिन** इति. न तस्य क्वचिदप्यन्यदर्शनमस्ति किन्तु सर्वमात्मत्वेनैव पश्यतीत्यर्थः. प्रसङ्गाद् दोषान्तरमपि वारयति **शान्ताय पूर्णायेति.** शान्तो दानपात्रं पूर्णश्च. लोलुपता क्रोधश्च दोषौ. एवं निर्दोषपूर्णगुणपात्रे दाने अनन्तं फलं भवति ॥२४॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत् तूष्णीं कृष्णानुभाववित् ।
तच्छ्रुत्वा तुष्टुवुः सर्वे साधु साध्विति सत्तमाः ॥२५॥

एवं युधिष्ठिरमुक्त्वा स्वयमुद्यममकृत्वा **तूष्णीम्भूतः,** अन्यथा पूजार्थं स्वयमेव बलात् सामग्रीं सम्पादयेत्. तत्र हेतुः **कृष्णानुभावविदिति,** स्वयमेव

भगवदनुभावः सर्वेषां हृदयं प्रेरयिष्यति यद्यभिप्रेतोऽर्थो भविष्यति. अत्र भगवद्धर्माः प्रकटा भवन्तीति भगवदिच्छायां सन्देहात् तूष्णीम्भावः. ततो भगवदिच्छया तद्वाक्यं सर्वसम्मतं जातमित्याह **तच्छुत्वेति**. **सर्व** एव सोऽर्थः सर्वयुक्तिसह इति **साधु साध्वित्युक्त्वा** भगवन्तं सहदेवं **तुष्टुवुः**. दैत्यांशानां स्तोत्रं तेषां नाशप्रतिबन्धकमिति तत्र भगवदिच्छाभावात् **सत्तमा** एव तथोक्तवन्तः ॥२५॥

ततः सर्वसम्मतिं ज्ञात्वा शापादिभयं परित्यज्य भगवत्पूजार्थं प्रवृत्त इत्याह.

श्रुत्वा द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा हार्दं सभासदाम् ।
समर्हयद् हृषीकेशं प्रीतः प्रणयविह्वलः ॥२६॥

श्रुत्वा द्विजेरितमिति, सर्वैरेव द्विजैरीरितम्. राजत्वात् तेषां भावमपि जानाति, तदाह **ज्ञात्वा हार्दं सभासदामिति**. अत्र वादिनामविवादं मन्यन्ते सभासदः. तत (**हृषीकेशं!**) इन्द्रियप्रेरकमन्तर्यामिणं तत्प्रेरितः सन् **समर्हयत्**. **प्रीत** इत्यन्तःकरणेन पूजनम्, **प्रणयविह्वल** इतीन्द्रियैः. शरीरेण तु पूजयत्येव ॥२६॥

तत्पूजाप्रकारमाह.

तत्पादाववनिज्यापः शिरसा लोकपावनीः ।
सभार्यः सानुगामात्यः सकुटुम्बोऽवहन् मुदा ॥२७॥

तत्पादाववनिज्येति, चरणोदकधारणमतिश्रद्धाबोधकम्, अन्यथा "अश्रद्धया" (तैत्ति.उप. १।११।३) इति दानं व्यर्थं स्यात्. अतः **अपः लोकपावनीः शिरसा अवहत्**. **सभार्य** इति सम्पूर्णः **सानुगामात्य** इति सेवकामात्यसहितः **सकुटुम्बश्च** — अनेन सर्वेषां श्रद्धा सम्मतिश्चोक्ता ॥२७॥

ततः पीताम्बरादिभिः पूजनमाह.

वासोभिः पीतकौशेयैर्भूषणैश्च महाधनैः ।
अर्हयित्वाश्रुपूर्णाक्षो नाशकत् समवेक्षितुम् ॥२८॥

वासोभिरिति, योग्यत्वाय **पीतकौशेयैः** पीतपट्टवस्त्रै**र्महाधनैर्भूषणैश्च** पूजनं, हर्षश्चान्तरस्थः. भक्त्या पूजनं नाङ्गविकलं भवतीति ज्ञापयितुमाह

अर्हयित्वेति. अश्रुभिः पूर्णे अक्षिणी यस्येति भगवद्दर्शनेन चक्षुः तेजःप्रसवसहितं जातमित्यर्थः. ततो यथाभिलषितमपि न द्रष्टुं शक्त इत्याह **नाशकत् समवेक्षितुमिति.** दर्शनोपभोगेनापि तन्न व्ययितमिति तस्याधिदैविकसमाराधनं पूर्णमेव स्थितमिति सूचितम् ॥२८॥

अयमुत्तमाधिदैविको धर्मो भवतीति ज्ञापयितुं सर्वसभाजनमाह **इत्थं सभाजितमिति.** कायवाङ्मनोभिः स्तोत्रं मात्सर्याभावश्चोच्यते.

इत्थं सभाजितं वीक्ष्य सर्वे प्राञ्जलयो जनाः ।
नमो जयेति नेमुस्तं निपेतुः पुष्पवृष्टयः ॥२९॥

प्राञ्जलय इति कायिको व्यापारः, **नेमुरिति** मानसः, **जयेति** वाचनिकः. मात्सर्याभावश्च न केवलं तत्रत्यानां किन्तु दिविष्ठानामपीति ज्ञापयितुमाह **निपेतुः पुष्पवृष्टय** इति. अयं धर्मः सर्वोत्तमो जात इति ज्ञापनार्थम् ॥२९॥

दैत्यांशस्यानभिनन्दनं, प्रद्वेषो, निन्दा च, भगवतश्चाभिप्रेतोऽर्थ इति स्वतस्तन्मारणं सर्वात्मकत्वात्, तस्यापि भोगार्थं बाधकांशं निराकृत्य सायुज्यमपि निरूप्यते. तत्रादौ तद्दर्शनेन दैत्यक्षोभमाह **इत्थं निशम्येति.**

इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठा-
दुत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः ।
उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी
संश्रावयन् भगवते परुषाण्यभीतः ॥३०॥

सर्वेषामनुमोदनं स्तोत्रं च **निशम्य (दमस्य!)** विपरीतमदस्य दुष्टमदस्य यो **घोषः** सर्वलोकेषु [१]बम्बारवः तदात्मको दमघोषः **तत्सुतः** बीजयोनिदोषेण दुष्टः. स्वतोऽपि उपविष्टश्चेद् ब्रूयात् तदा सर्वोऽपि न श्रोष्यतीति **स्वपीठादुत्थाय.**

लेखः

वासोभिरित्यत्र तेजःप्रसवसहितमिति, तेजसः सकाशात् प्रसवो यस्य तादृशं जलं, तत्सहितं चक्षुर्जातमित्यर्थः, चक्षुषस्तेजोंऽशत्वादिति भावः ॥२८॥

---

१. गमनार्थकः 'बम्ब'धातुः - सम्पा.

भगवता स्वधर्मप्राकट्ये कृते सिंहासने भगवद्धर्मः प्रकटो जात इति स तत उत्थापित इति वस्तुस्थितिः. तस्यानधिकारं सूचयति **कृष्णगुणवर्णनेन जातो मन्युर्यस्येति**. स एव दैत्यांशो ज्ञेयः यो भगवत्सम्बन्धिनमर्थं श्रुत्वा न सहते, सन्तप्तश्च भवति, प्रतिकूलं च वदति. ततश्च दैत्यसन्धानं यज्ञे न युक्तमिति भगवत्प्रेरणयैव तस्यातथावचनम्, अन्यथा वध्यो न भवति. देवा मनुष्याः पितर एकत्र, असुरा रक्षांसि पिशाचाश्चैकत्र. "अपाहता असुरा रक्षांसि पिशाचा वेदिषदः" (. । ।) इति मन्त्रलिङ्गात् सर्वथा निराकार्याः असुरादयः. तत्रायं बन्धुवेषेण गुप्त इति अशक्यवधो भवति ; तदर्थमेतावन्निरूप्यते. **उत्क्षिप्य बाहुमिति** क्रियाशक्तिः स्वस्य महती इति सूचयति. **इदं** वक्ष्यमाणमाह. **सदसीति** तस्यापराधः सर्वजनीनो भवत्विति ज्ञापितम्. **सदसि सर्वानेव भगवते परुषाणि** अभीक्ष्णशः **श्रावयन्निति** सर्वेषामेव शत्रुरयमिति ज्ञापितम्. **अभीत** इति **सर्वेषामशक्यवधः** ॥३०॥

तादृशस्य सर्वोपालम्भवाक्यमाह **ईशो दुरत्ययः काल** इति. सदसस्पतयो हि सभायां युक्तायुक्तं विचारयन्ति अतस्तान् प्रति उपालम्भ उचितः, यद्दैत्यांशः समीपे स्थितोऽपि न निवार्यत इति.

॥ शिशुपाल उवाच ॥

ईशो दुरत्ययः काल इति सत्यवती श्रुतिः ।
वृद्धानामपि यद्बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते ॥३१॥

यदत्रानुचितं जायते धर्मस्थाने तत्र हेतुः **काल** एव. स हि कदाचिद् धर्ममङ्गीकरोति कदाचिदधर्ममिति द्विःस्वभावः. सच **ईशः** कस्याप्यनुल्लङ्घ्य इति कालमाहात्म्यवादिनी **श्रुतिः सत्यैव** "स कालो यद्वशे लोक" (भाग.पुरा. १।९।१४) इति. कः कालस्य त्वया विपरीतो धर्मो दृष्ट इत्याकाङ्क्षायामाह **वृद्धानामपि यद्बुद्धिरिति**. उभयथापि सभासदो वृद्धाः. निन्दापक्षे सहदेवो बालः, स्तुतिपक्षे शिशुपालः. नाम्ना शिशुश्चासौ पालश्चेति

लेखः

इत्थं निशम्येत्यस्याभासे स्वतस्तन्मारणमिति. शिशुपालाद्धेतोरेव शिशुपालमारणं निरूप्यते, नतु भगवतः. तत्र हेतुः **सर्वात्मकत्वादिति**. तस्याप्यात्मा तदुद्यमाभावे कथं मारयेदित्यर्थः ॥३०॥

पलसमूहः पालः मांसराशिः, नतु कश्चित् तत्र धर्महेतुरिन्द्रियवर्गो जीवो वा तिष्ठतीति पलाशानामेव योग्यः. कालस्यैतद् विपरीतं यदेतद्वाक्येनापि वृद्धानामपि बुद्धिः भेदं प्राप्स्यतीति. स्वस्यानुगुणः काल इति एकोऽपि सभायां तथा विरुद्धं वदामीति ज्ञापितवान्. एतद् द्वितीयं सभासदां दूषणम् ॥३१॥

पुनः स्ववाक्यश्रवणार्थं तान् स्तौति **यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा** इति.

यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा मा मन्ध्वं बालभाषितम् ।
सदसस्पतयः सर्वे कृष्णो यत्सम्मतोऽर्हणे ॥३२॥

"न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता" (याज्ञ.स्मृ.आ. २००) इति पात्रस्वरूपं ये जानन्ति ते **पात्रविदः**. तेषां **श्रेष्ठाः** पात्रसूक्ष्मविदः. अतएव **बालभाषितं** मम सहदेवस्य **माङ्गीकुरुत**. बालवाक्येन पात्रनिर्द्धारो न कर्तव्यः किन्तु स्वबुद्ध्यैव कर्तव्यः. यतो **यूयं सदसस्पतयः** सभायां निवृत्तिप्रवृत्तिहेतवः तादृशा एव **सर्वे** भवन्त इत्यपि स्तुतिः. तादृशानामनुचितांशमाह **कृष्ण** इति. 'कृष्ण'शब्दो दुष्टमुखान्निर्गतः मालिन्ययोगान्मलिनमेव वक्ति, तथैव शिशुपालाभिप्रायश्च. ततो योगात् तादृशः शिशुपाल एव भवति, तादृशोऽयम्. **यद्** यस्माद् **अर्हण**[1]समीपे **सम्मतः** तिष्ठत्विति सम्मतः. इदं सभासदामनुचितमित्यर्थः, यतो यज्ञे कालविलम्बो भविष्यति ॥३२॥

ननु भवानपि क्षत्रियः सन्निहितबन्धुः, ततश्च समीपस्थितौ को[2] दोष इति चेत्, तत्राह **तपो विद्याव्रतधरानिति**.

तपोविद्याव्रतधरान् ज्ञानविध्वस्तकल्मषान् ।
परमर्षीन् ब्रह्मनिष्ठान् लोकपालैश्च पूजितान् ॥३३॥
सदसस्पतीनतिव्रज्य गोपालः कुलपांसनः ।
यथा काकः पुरोडाशं सपर्यां कथमर्हति ? ॥३४॥

निन्दापक्षे लोकप्रसिद्ध एवार्थः. तपोविद्ययोः पात्रलक्षण एव साधनं स्पष्टम्. व्रतस्यापि हेतुत्वम् "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" (वसि.स्मृ. ६।३). 'व्रत'शब्दो नियमवाचकः. किं बहुना, भगवद्व्रतपर्यन्तं व्रतधारकाः

१. अर्हणे समीपे इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा. २. को हेतुः इति सं-क-ग-घपाठः - सम्पा.

अत्र सन्ति. पात्रगुणानुक्त्वा दोषाभावमाह **ज्ञानविध्वस्तकल्मषानिति.** "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि" (भ.गीता ४।३७) इतिवाक्यात् सर्वापेक्षया ज्ञानं पापनिवर्तकम्. एतावत्साधारणब्राह्मणेष्वपि सम्भवति, यूयं तु **परमर्षयः** मन्त्रद्रष्टारः. अनेन पूर्वकाण्डप्रवर्तकत्वमुक्तम्. तत्रापि **ब्रह्मनिष्ठाः** उत्तरकाण्डस्य प्रवर्तकाः. लोके च तथात्वेन सम्मता इत्याह **लोकपालैश्च पूजितानिति,** लोकपालानामपि फलं दातुं शक्ताः.

एतादृशान् **सदसस्पतीन् अतिव्रज्येति** अतिक्रमदोषोऽप्युक्तः. तेषामेव समीपे स्थितिरुचिता न ममेति तत्र हेतुत्वेन स्वदूषणान्याह **गोपाल** इति, **कुलपांसन** इति, **यथा काक** इति च. पञ्च गुणाः सदसस्पतिषु, त्रयो दोषाः स्वस्य. इन्द्रियपालकः भूपालको वा क्षत्रियाधमः, "दशवेश्यासमो नृपः" (मनु.स्मृ. १०।८५।४।२५) इति दोषश्रवणात्. तत्रापि **कुलपांसनः** कुलाधमः, येन चैद्यवंशः सर्वोऽपि निन्दितः. ते तु आसहस्रात् पङ्क्तिं पुनन्ति. किञ्च **यथा काकः पुरोडाशं** "यदि कृष्णशकुनिः उपरि अतिपतेदि" (. । ।)ति सामीप्येऽपि दोषश्रवणात्. स बहिःस्थितमेव बलिमर्हति, नतु वेद्यां स्थितं पुरोडाशं, तत्सामीप्येऽपि हविषो नाशात्. तथा अहं **सपर्यां** पूजां सामीप्येन **कथमर्हा**मि ? निन्दायां तु बाल्येऽन्यायवृत्तित्वं, पश्चात् परस्त्रीहरणादिनाऽकीर्तिजनकत्वम्. यथा वा अकाकः पुरोडाशं नार्हति. कं सुखमकं दुःखम् ; उभयरहितः अकाकः शुकादितुल्यः. स यथा पुरोडाशं = कर्ममार्गं नार्हति तथा अहमपि सपर्यां नार्हामीत्यर्थः. वेदरक्षकः **कुलपान्** कुलपवित्रकरणदक्षान् कुलरक्षकान् वा **अंसेन नयतीति** सत्परिपालकत्वं निरूपितम्. भौतिककर्माध्यक्षत्वं च नार्हतीति भगवत्परत्वेऽपि केचिद् योजयन्ति ; तत् शब्ददुष्टत्वाद् उपेक्ष्यम् ॥३३-३४॥

पुनः स्वनिन्दार्थं दूषणान्तरमाह **ययातिनेति.**

ययातिनैषां हि कुलं शप्तं सद्भिर्बहिष्कृतम् ।
वृथापानरतं शश्वत् सपर्यां कथमर्हति ? ॥३५॥

ययातिना हि चत्वारः पुत्रा निन्दिताः, एकः पूरुः स्तुतः. अथवा **ययातिना एषां** पाण्डवानां **कुलं शप्तं** यत् पुत्रवयसा मातुः सम्भोगः कृतः. स **कथं** परम्परयापि दोषसम्बन्धात् कथं पूतो भवेत् ? अत **एषां**

गृहे **कथं** भगवान् **सपर्यामर्हति? सद्भिश्च** तेन वा हेत्वन्तरेण वा विगर्हितं, **शश्वद् वृथापानरतं** च. एवमेतत्साधारणदूषणम्, तद् ययातिवंशोद्भवः सपर्यां समीपं वा कथमर्हति? ॥३५॥

कुलनिन्दां कृत्वा कुलोद्भवं निन्दति **वर्णाश्रमेति.**

वर्णाश्रमकुलापेतः सर्वधर्मबहिष्कृतः ।
स्वैरवर्ती गुणैर्हीनः सपर्यां कथमर्हति? ॥३६॥

वर्णा, आश्रमाश्च चत्वारः, **कुलं** क्षत्रियत्वजातिः —एतत् त्रितयेना**प्यपेतः**. भगवानेव वर्णाश्रमकुलरूप इति तदपेतः शिशुपाल इति तस्य तथात्वम्. **सर्वैरेव धर्मै**र्भगवद्वैमुख्याद् **बहिष्कृतः**. ततः **स्वैरवर्ती** स्वैर्बन्धुभिः सह वर्तनशीलोऽपि न भवति, अन्यथा स्नेहमेव [१]कुर्यात्. अतएव **गुणैः** तपस्यादिभिर्वि**हीनः सपर्यां** समीपं वा **कथमर्हतीत्यर्थः**. केचिद्— भगवत्पक्षेऽपि गुणातीत इति वर्णाश्रमकुलरहितत्वं देहाभावात्, धर्मराहित्यं इन्द्रियाभावात्, स्वैरवर्तित्वं स्वेच्छावर्तित्वं, तेनान्तःकरणाभावश्चेति तेन —त्रितयरहितः त्रितयसहितयोग्यसपर्यां कथमर्हतीत्याहुः ॥३६॥

कुल-स्वरूप-निन्दे निरूप्य व्यवहारतो निन्दामाह **ब्रह्मर्षिसेवितानिति.**

ब्रह्मर्षिसेवितान् देशान् हित्वैतेऽब्रह्मवर्चसम् ।
समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्ते दस्यवः प्रजाः ॥३७॥

ननु को दोषो भवत्सु इत्याशङ्कायामाह **एते** वयं **ब्रह्मर्षिसेवितान्** कुरुक्षेत्रादिदेशान् विद्याद्यर्थमनाश्रित्य **अब्रह्मवर्चसं समुद्रं** मुद्रासहितं पाखण्डमाश्रित्य **दस्यवो** भूत्वा **प्रजा बाधन्त** इति. अथवा भगवत्सान्निध्यात् तान् स्तौति **एते** ऋषयः **ब्रह्मर्षिसेवितान् देशान्** ज्ञानकर्मादिसहितान् परित्यज्य **ब्रह्मणोऽपि वर्चो** दीप्तिर्यस्मात् तादृशं **समुद्रं** मुद्रासहितं भगवन्तं चक्रपाणिं **दुर्गमाश्रित्य अदस्यवो** भूत्वा इन्द्रियादिद्वारा कस्यापि विषयस्य ग्रहणमकृत्वा **प्रकर्षेण जाताः** इन्द्रियवृत्तीर्बलिष्ठाः **बाधन्त** इति भगवदाश्रयत्वादेव भवन्तः कृतार्था इति तेषां स्तुतिः. समुद्रस्याब्रह्मवर्चस्त्वं प्रदरत्वात् शप्तत्वात्, "सिन्धोस्तटं चन्द्रभागाम्" (भाग.पुरा. १२।१।३९) इतिवाक्यानुसारेण

---

१. न कुर्याद् इति सं-क-ग-घपाठः - सम्पा.

अब्रह्मवर्चस्विस्थित्या वा. वस्तुतस्तु भगवन्मोहितः क्रीडार्थं स्वीकृतान् इव अन्यधर्मान् स्वीकृत्य निन्दतीति स्वकीयस्योपालम्भ इव महत्वख्यापका स्तुतिरेव भवति ॥३७॥

ततो यज्जातं तदाह **एवमादीनीति.**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवमादीन्यभद्राणि बभाषे नष्टमङ्गलः ।
नोवाच किञ्चिद् भगवान् यथा सिंहः शिवारुतम् ॥३८॥

अभद्राण्यमङ्गलवाक्यानि ; अन्तर्मङ्गलस्य नष्टत्वात् "यद्धि मनसा ध्यायति" (तैत्ति.संहि. २।५।११।५) इतिवाक्याच्च अमङ्गलवाक्यान्येवोक्तवान्. तदा **भगवानप्येतच्छ्रुत्वा न किञ्चिदुवाच** प्रतीकारार्थं कायिकं वाचिकं वा न सम्पादितवान्. तूष्णीम्भावो वधानुकल्प इति केचित्, अवगणनायाः कृतत्वात्, "वधानुकल्पः स्वद्रोहे" (त.दी.नि. ३।१०।२१४) इति. वस्तुतस्तु धर्मे तद्वाक्यानां बाधकत्वाभावात् कुबुद्धिरयमित्युपेक्षितः. ननु वाग्बाणाः बाणापेक्षया परुषाः इति कथमुपेक्षेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **यथा सिंह** इति. न हि शृगालशब्दे सिंहसमीपेऽपि जायमाने सिंहनिन्दारूपोऽर्थोऽस्ति. अभिमानेन कल्पयित्वा तं च सदृशीकृत्यान्य एव शृगालः शब्दं करोति, नतु सिंहः सिंहतुल्यो वा. **सिंहपदेन** मारको निरूप्यते वर्णविपर्ययाद् (हिंस!) अतो मारयिष्याम्येवैनं किं वाचनेनेति तूष्णींस्थितः. नापि तदुक्ता धर्मा भगवति सन्ति येन मर्मभेदः स्यात्. नापि निन्दितानर्थान् भगवान् परिगृह्णाति येन निन्दके क्रोधः स्यात्. अतो भ्रान्तवाक्यादुपेक्ष्यमेव ॥३८॥

भगवन्निन्दनं श्रुत्वा दुःसहं तत् सभासदः ।
कर्णौ पिधाय निर्जग्मुः शपन्तश्चेदिपं रुषा ॥३९॥

अन्ये पुनर्बहिर्मुखाः भगवन्निन्दनमेतदिति मत्वा तच्च स्वस्य निरुद्धत्वान्न श्रोतव्यमिति शापं दत्वा गतवन्त इत्याह **भगवन्निन्दनं श्रुत्वेति.** तत्तु **दुःसहं** कर्णयोरपि कठिनं निन्दासहितं **सभायां ये स्थिताः** ते **कर्णौ** स्वस्य **पिधाय चेदिपं** शिशुपालं **रुषा शपन्तो निर्जग्मुः** ॥३९॥

एवंकरणे[1] धर्म इत्याह **निन्दां भगवतः शृण्वन्निति.**

निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा ।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः स्वकृताच्च्युतः ॥४०॥

अपकर्षवाक्यं **निन्दा.** येनैव वाक्येन भगवत्यपकर्षप्रतीतिर्भवति तन्न श्रोतव्यम्. तथा भगवद्भक्तस्य जनस्य अपकर्षप्रतीतिर्भवति, जनस्येति साधारणस्यापि. ततः कर्णौ पिधाय **नापयाति सोऽपि स्वकृताच्च्युतः सन्नधो याति.** भगवदुत्कर्षज्ञानार्थं हि सर्वोऽपि प्रयत्नः ; तदपकर्षे हृद्यागते विपरीतं जातमिति स्वकृतस्य धर्मस्य वृथानाशात् स्वयं विपरीतज्ञानादधो याति ॥४०॥

इदमशक्तविषयं, शक्तानां तु धर्मः चतुर्थे प्रतिपादितः "छिन्द्यात् प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चेज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत् स धर्मः" (भाग.पुरा. ४।४।१७) इति. पाण्डवास्तु मर्तुं मारयितुं च समर्था इति तन्मारणार्थं प्रवृत्ता इति.

ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धा मत्स्य-कैकय-सृञ्जयाः ।
उदायुधाः समुत्तस्थुः शिशुपालजिघांसया ॥४१॥

ततः पाण्डुसुता इति पितृनाम्ना शूरत्वाय व्यपदेशः. आदौ **क्रुद्धाः**, अन्यथा मातृभगिनीपुत्रत्वात् स्नेहः प्रतिबन्धको भवेत्. **मत्स्या** विराटवंशोद्भवाः **कैकयाश्च** भरतपूर्वजाः वैष्णवाः **सृञ्जयाः** द्रुपदवंशजाः —एते चतुर्विधा अपि **उदायुधाः समुत्तस्थुः**. स्वमरणसन्देहं वारयति **शिशुपालजिघांसयेति** ॥४१॥

ततश्चैद्यस्त्वसम्भ्रान्तो जगृहे खड्गचर्मणी ।
भर्त्सयन् कृष्णपक्षीयान् राज्ञः सदसि भारत ॥४२॥

शिशुपालोऽपि क्रियाशक्तौ सर्वाधिक इति "जिघांसन्तं जिघांसीयाद्" (वसि.स्मृ. ३) इति पाण्डववधार्थ**मसम्भ्रान्तो** भूत्वा **खड्गचर्मणी जगृहे.** ततोऽन्यैः अनुचितं क्रियत इत्युक्तः तान् **निर्भर्त्सयन् कृष्णपक्षीया** एत इति साक्षाद्वधसाधनं गृहीतवान् स्वस्य च रक्षासाधनम्. **राज्ञः सदसि** इति नात्र ब्राह्मणशापशङ्केति सूचितम्. **भारतेति** विश्वासार्थम् ॥४२॥

---

१. करणम् इति सं-क-ग-घपाठः - सम्पा.

ततो भगवान्– एनं तदपेक्षया बलिष्ठं मत्वा, अमोघवीर्यं च स्वार्थं यतन्त इति, "भक्तद्रोहे वधः स्मृतः" (त.दी.नि. ३।१०।२१४) इति शास्त्रं पुरस्कृत्य –स्वयं मारणार्थं प्रवृत्त इत्याह **तावदुत्थायेति**.

तावदुत्थाय भगवान् स्वान् निवार्य स्वयं रुषा ।
शिरः क्षुरान्तचक्रेण चिच्छेदापततो रिपोः ॥४३॥

भगवत्त्वात् स्वस्य पूर्णा शक्तिः, अतएव **स्वान्** भक्तान् **निवार्य स्वयं चक्रेण शिरश्चिच्छेद**. सोऽपि भक्तः ; कथमेवं कृतवानित्याशङ्कायामाह **रुषेति**, भगवद्रोषधर्मेण स मारितः, भगवद्भक्तेषु तस्य रोषजननात्. तत्रापि **शिरश्चिच्छेद** येन मार्गेण सा वाङ् निर्गच्छति. अलौकिकेन भगवत्सामर्थ्येन स मारित इति शङ्काव्यावृत्त्यर्थमाह **क्षुरान्तेति**, क्षुरान्तवत् तीक्ष्णेन. तथा सति लोके भगवन्माहात्म्यं न स्यात्. साधनोत्कर्षस्तु कर्तुर्नापकर्षं सम्पादयति. **आपततो रिपोरिति** तस्यापराधो वधहेतुरुक्तः ॥४३॥

शब्दः कोलाहलोऽप्यासीद् शिशुपाले हते महान् ।
तस्यानुयायिनो भूपा दुद्रुवुर्जीवितैषिणः ॥४४॥

ततस्तद्वधे महान् **शब्दो** जातः **कोलाहल**श्च सर्वैः कृतः. **शिशुपाले हत** इति निमित्तम्, अनायासेन तन्मारणं चोक्तम्. ततस्तत्पक्षपातिनः दैत्यांशाः सर्व एव जीवरक्षार्थं युद्धमकृत्वैव जीवनार्थं **दुद्रुवुः** ॥४४॥

एवं धर्मार्थं तस्य वधं निरूप्य स चेज्जीवो न मुक्तो भवेत् तदा स्मशानत्वं तस्य स्थानस्य भवेदिति तद्दोषपरिहारार्थं मुक्तिमाह **चैद्यदेहोत्थितं**

लेखः

चैद्यदेहोत्थितमित्यस्याभासे स्मशानत्वमिति. स्मशानत्वसम्भावनाया उक्तत्वाद्दाहोऽपि तत्रैव कृत इति ज्ञायते. सुषुप्तावपि जीवस्य राहित्यात् प्राणस्थित्यैव शरीरस्य शुद्ध्यशुद्धिविचार इत्यशुचित्वाद् निःप्राणशरीरदाहे स्थानस्य स्मशानत्वम्. अन्यथा प्रज्वलिताग्नौ पुरुषदाहे गृहस्य स्मशानत्वं स्यात्. अत्र जीवस्य सायुज्यात् प्राणेन्द्रियादीनामत्रैव स्थितत्वात् सप्राणस्यैव शरीरस्य दाहः. अतस्तन्मुक्त्युक्त्या "इहैव समवलीयन्ते" (बृह.उप. ४।४।६) इति श्रुत्या प्राणस्य शरीरे स्थितिसूचनात् स्थानस्य स्मशानत्वशङ्का निरस्तेति भावः ॥४५॥

ज्योतिरिति.

चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत् ।
पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता ॥४५॥

हृदये स्थितं जीवाख्यं **तज्ज्योतिः** भगवदिच्छया सहजक्रियायुक्तं **वासुदेवं** मोक्षदातारमुपाविशद् भगवत्पादयोः प्रविष्टं वैकुण्ठात्मकम्. तत्पुन"लोकाय अन्तिकमि" (. । ।) त्यादिपदैः व्यापिवैकुण्ठस्यैव निरूपणम्. अन्यथा कृत्रिमवैकुण्ठात् त्याजनं व्यर्थं स्यात्, "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य" (. । ।) इति न्यायात्. एतदन्यथानुपपत्त्यैव आराग्रजीवपक्ष एव मुख्य इत्यङ्गीकर्तव्यम्. सात्त्विकशरीरांशशेषेणेति मतमसङ्गतं, **ज्योतिरिति** वाक्यात्. अन्यत्रात्मज्योतिःप्रकाराच्च "गृहीत्वैतानि संयाति" (भ.-गीता १५।८) इतिवाक्यात् तस्य सहजक्रियापि सिद्धा. केवलजीवस्य यथैतादृशं रूपं सिद्ध्यति तथोपपादितं निबन्धे. **पश्यतां सर्वभूतानामिति** सायुज्ये प्रमाणमुक्तं जीवस्वरूपनिर्धारश्च. प्रवेशः सर्वैर्न दृष्ट इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **उल्केवेति**, निर्गमन-प्रवेशनयोः तस्यादर्शनं **खाद्** आकाशा**च्च्युता** ॥४५॥

एवं निःशङ्कप्रवेशमुक्त्वा भगवन्निन्दाकर्तुः कथं सायुज्यमिति शङ्कां वारयति **जन्मत्रयेति.**

जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरम्भया धिया ।
ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम् ॥४६॥

वैकुण्ठात् पतितस्य हिरण्यकशिपु-रावण-शिशुपाललक्षण-**जन्मत्रये अनुगुणित**मावर्तितं यद् **वैरम्** अपकारवधादिना तेन यः **संरम्भः** क्रोधसंरम्भः तद्युक्तया **धिया** वैरबुद्ध्या तं भगवन्तं **ध्यायन् तन्मयतामेव यातः** तेन पेशस्कारिवद् भगवद्ध्यानेन भगवद्रूपो भूत्वा भगवति सायुज्यं प्राप्तवान्. अन्यथा जीवभावे भगवति स्थितजगत इव न सायुज्यं[१] स्यात्. तस्मादिदं (**भव!**) भगवद्रूपेण जन्म तत्र **कारणं भाव** एव निरन्तरस्मरणमेव. यमेवार्थं निरन्तरं स्मरति स एव भवति ॥४६॥

---

१. सायुज्यता इति सं-क-ख-ग-घपाठः - सम्पा.

एवं प्रसङ्गात् दोषनिवृत्तिं मोक्षं च निरूप्य प्रारब्धं यागं शिष्टं निरूपयति **ऋत्विग्भ्य** इति.

ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो दक्षिणां विपुलामदात् ।
सर्वान् सम्पूज्य विधिवत् चक्रेऽवभृथमेकराट् ॥४७॥

ततो **ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां** ततः **सदस्येभ्यः** यावन्तो वै सदस्या इति सर्वेभ्य एव **विपुलां** वाञ्छितादप्यधिकाम**दात्**. ततः सवनत्रयानन्तरं साद्यस्क्रद्विरात्रसत्रानन्तरं **सर्वा**नेव देवान् यज्ञभागभुजः तत्तत्स्थाने **सम्पूज्य** लौकिकानपि दानमानादिभिः ततो**ऽवभृथ**स्नानं कृतवान्. **एकरा**डिति एकराज्यं तस्य सिद्धमिति यागफलस्यानुवादः ॥४७॥

एवं सफलं यागमनूद्य भगवतैवैतत्सर्वं कृतमिति भगवच्चरित्रमुक्त्वा उपसंहरन् भगवतः प्रयाणमाह **साधयित्वे**ति द्वाभ्याम्.

साधयित्वा क्रतुं राज्ञः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
उवास कतिचिन्मासान् सुहृद्भिरभियाचितः ॥४८॥
ततोऽनुज्ञाप्य राजानम् अनिच्छन्तमपीश्वरः ।
ययौ सभार्यः सामात्यः स्वपुरं देवकीसुतः ॥४९॥

राज्ञः क्रतुं राजसूयं **साधयित्वा कृष्णः** फलात्मापि साधनसाधनत्वेन स्वविनियोगं कारयित्वा सम्मोहनमुत्पाद्य यथा न ज्ञातं तथा योगं साधयित्वा. योगेश्वराणामपीश्वरो दुर्ज्ञेयः, योगचर्या दुर्ज्ञेयेति. सिद्धेऽपि यागे ते स्वात्मानं न ज्ञास्यन्तीति निश्चित्य कौतुकार्थमज्ञैः **सुहृद्भिरभियाचितः** सन् **कतिचिन्मासानुवास**. ततो लीलान्तरं कर्तुं **राजानमनुज्ञाप्य** स्नेहवशाद**निच्छ-न्तमपि ईश्वर**त्वात् स्वातन्त्र्यमवलम्ब्य यथागतं **सभार्यः** सानुगा**मात्यः स्वपुरं ययौ**. ननु भगवत्कार्यं किमपि न सिद्धं ; महत्या सम्भृत्या किमित्यागतः किमिति गत इत्याशङ्कायामाह **देवकीसुत** इति. भक्तवात्सल्येन देवक्याश्च पुत्रो जातः तथेदमपि कृतवानित्यर्थः ॥४८-४९॥

उपसंहरति **वर्णितं तदुपाख्यानमिति.**

वर्णितं तदुपाख्यानं मया ते बहुविस्तरम् ।
वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात् पुनः पुनः ॥५०॥

नन्वत्र शिशुपालस्य स्वरूपं न सम्यगुक्तं, तदकथने कथा न रसवतीत्याशङ्क्याह **मया** पूर्वमेव **वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात् पुनः पुनर्जा**तमिति **बहुविस्तरं** यथा भवति तथा **तस्य** शिशुपाल**स्योपाख्यानं मया वर्णितं** तृतीये सप्तमे च ॥५०॥

ततो राज्ञः सर्वपापक्षये महती शोभा जातेत्याह **राजसूयावभृथ्येने**ति.

राजसूयावभृथ्येन स्नातो राजा युधिष्ठिरः ।
ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये शुशुभे सुरराडिव ॥५१॥

राजसूयस्य आवभृथ्यमवभृथकर्म तत्र **स्नातो राजा** सर्वपापक्षये जाते **ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये** सर्वेभ्यः अधिकं **शुशुभे**. समानजातीयोऽपि ब्राह्मणाद् हीनोऽपि सर्वोत्कर्षेण भात इत्यत्र दृष्टान्तमाह **सुरराट्** देवेन्द्र **इ**वेति ॥५१॥

राजसूयस्य साङ्गस्य फलमनूद्य प्रत्यापत्तिं वदन् सर्वेषां राज्ञां प्रतियानमाह **राज्ञा सभाजिता** इति.

राज्ञा सभाजिताः सर्वे सुर-मानव-खेचराः ।
कृष्णं क्रतुं च शंसन्तः स्वधामानि ययुर्मुदा ॥५२॥
दुर्योधनमृते पापं कलिं कुरुकुलामयम् ।
यो न सेहे श्रियं स्फीतां दृष्ट्वा पाण्डुसुतस्य ताम् ॥५३॥

सर्वे सुरादयः सभाजिताः सात्त्विका राजसास्तामसाश्च (**कृष्णं क्रतुं!**) आधिदैविकमाध्यात्मं **च** उभयसमाराधनमध्ये अंशत्वेन प्रसङ्गाच्च स्वयं प्रीणिताः **मुदा स्वधामानि ययुः** ॥५२॥

राजसूयस्य फलं स्वाराज्यं सर्वसन्तोषं चोक्त्वा भूभारहरणमपि तस्य प्रयोजनमिति तस्यापि बीजं तत्र जातमिति निरूपयति **दुर्योधनमृते पापमिति.** दैत्यांशाः पूर्वमेव निराकृताः. अयं सन्निहितबन्धुत्वेन छन्नः अन्तःस्थितः, तथापि फले सिद्धे स्वदोषं प्रकटितवान्. ततो मानभङ्गं प्राप्य विमना

गतः. यतः स **पापरूपः कलेरवतारः**. तादृशः कथं बन्धुरिति चेत् तत्राह **कुरुकुलस्यामयमिति**. ब्रह्मकल्पाद् एतत्पर्यन्तं कुरुवंशे यावत् पापमभूत् तदेवैकीभूतं दुर्योधनरूपेणाविर्भूतम् ; अतस्तस्य बन्धुत्वं पापत्वं चाविरुद्धमित्यर्थः. **आमयो** रोगः प्राणिनां सहजः धात्वन्नवैषम्येण नित्यं भवति, स कदाचित् प्रवृद्धः 'रोग'व्यपदेशं प्राप्नोति. तथायमपि पापरूप इति भावः. तस्योद्बोधे किं निमित्तमित्याकाङ्क्षायामाह **यो न सेहे श्रियं स्फीतामिति**. धर्मफलम् अधर्मो न सहते, यथा आमयो गुरुभोजनम्. दृष्टादृष्टोपायाभ्यां **पाण्डुसुतस्य श्रीः स्फीता** जाता, तादृशीं प्रसिद्धां **न सेहे** इति **कुरुकुले** रोगत्वम् ॥५३॥

एतदुपाख्यानश्रवणस्य फलमाह.

य इदं कीर्तयेद् विष्णोः कर्म चैद्यवधादिकम् ।
राज्ञां मोक्षं वितानं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥५४॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥

य इदं कीर्तयेदिति प्रत्यहं पठेत्. किमित्येतत् पठिष्यतीत्याशङ्कायामाह **विष्णोः कर्मेति**. **इदं** तु राजसूयाख्यं राज्ञः कर्म ; कथं भगवत्कर्मेत्यत आह **चैद्यवधादिकमिति,** शिशुपालवधः आदिर्यस्य. ततःप्रभृति सर्वं भगवत्कर्मैव. तर्हि तावदेव श्रोतव्यमित्याशङ्क्याह **राज्ञां मोक्षं विगानं चेति**. त्रयमेतत् तामसं राजसं सात्त्विकं चेति एतत्कीर्तनेन श्रवणेन च **सर्वपापैः प्रमुच्यत** इति श्रवणादिफलं निरूपयन् तस्य धर्मस्योत्तमत्वमाह. यथा स्वरूपत उत्तमत्वं वर्ण्यते तथा दृष्टफलसाधकत्वेनापि माहात्म्यमिति फलोक्तिः ॥५४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे पञ्चविंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥

॥ पञ्चमः स्कन्धादितः द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥

षड्विंशे राजसूयस्य भूभारहरणे यथा ।
कारणत्वं तदर्थं हि मानभङ्गो निरूप्यते ॥(१)॥
यथान्यद् भगवत्कर्म मुख्यं कंसवधादिकम् ।
राजसूयकृतिस्तद्वद् भूभारहृतिकारणम् ॥(२)॥
स्वातन्त्र्ये तु हरेरत्र गौणतेति निरूपणम् ।
हरेः कथायां तस्यात्र न युक्तमिति निश्चयः ॥(३)॥
लौकिक्येव समृद्धिर्हि तस्याभिमतिकारणम् ।
अतः सैवात्र पूर्वोक्तादधिका वर्ण्यते स्फुटा ॥(४)॥
तस्माद् भाषा लौकिकीयं भावादङ्गं न सर्वथा ।
न विरोधस्ततः पूर्वैर्नाग्रिमैरपि वाचकैः ॥(५)॥

एवं पूर्वाध्यायान्ते "दुर्योधनमृते पापम्" इत्युक्तम्. तत्र राजा विस्तारं पृच्छति **अजातशत्रोरिति** द्वाभ्याम्. स्वयं सर्वं सावधानतया श्रूयत इति ज्ञापयितुं सार्धेन पूर्वोक्तमनुवदति.

॥ राजोवाच ॥

अजातशत्रोस्तां दृष्ट्वा राजसूयमहोदयाम् ।
सर्वे मुमुदिरे ब्रह्मन् नृदेवा ये समागताः ॥१॥
दुर्योधनं वर्जयित्वा राजानः ऋषयः सुराः ।
इति श्रुतं नो भगवंस्तत्र कारणमुच्यताम् ॥२॥

अजातशत्रोरिति वैरे कारणाभावः. **ताम**लौकिकीं **राजसूयेन महानुदयो यस्या** इति तां समृद्धिं **दृष्ट्वा.** पुल्लिङ्गपाठो वा. तस्य सर्वाह्लादकत्वमाह **सर्वे मुमुदिर** इति. ब्रह्मवादिनो वाक्यं सत्यमिति (**ब्रह्मन्!**) सम्बोधनम्. सात्त्विका राजसा एव निरूपिताः **नृदेवा** इति नरश्च देवाश्चेति. **राजानो ऋषयः सुराश्च** इति त्रिविधा लोकान्तरस्थाः. **इति श्रुतमिति** श्रुतं समर्थनीयमिति त्वत्त एव च श्रुतमस्ति **नोऽ**स्माभिः सर्वैरेव. **भगवन्निति** ज्ञानार्थं प्रशंसा. दुर्योधनस्य बन्धोरपि कथं न मुत् तस्य सन्तोषाभावे कारणमुच्यतामित्यर्थः ॥१-२॥

लौकिकसम्पत्तिमाह.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

पितामहस्य ते यज्ञे राजसूये महात्मनः ।
बान्धवा परिचर्यायां तस्यासन् प्रेमबन्धनाः ॥३॥

पितामहस्येति सम्बन्धेन श्रवणप्रोत्साहो निरूप्यते. **महात्मन** इति महानुभावत्वाद् अन्येषां परिचर्यायां न काचन लज्जा. अतएव **बान्धवाः परिचर्यायां तस्यासन्.** यज्ञे बहूनि कार्याणि, तत्र प्रतिनियतकार्यकर्तृत्वं सर्वेषां वक्तुं सामान्यतो निरूप्यते ॥३॥

विशेषतो निरूपयति **भीमो महानसाध्यक्ष** इति.

भीमो महानसाध्यक्षो धनाध्यक्षः सुयोधनः ।
सहदेवस्तु पूजायां नकुलो द्रव्यसाधने ॥४॥

स एव तत्र नियुज्यते यो यस्मिन् कर्मणि महत्येव प्रीतो भवति. तत्र बहुभक्षकत्वाद् **भीम** एव **महानसाध्यक्षः** कृतः. स हि बहु पाचयति. तथा **धनाध्यक्षः** धनरक्षकः दुर्योधनः. स हि पद्महस्तः यमर्थं स्पृशति सोऽक्षयो भवति. **सहदेवो** ज्ञानवान् ब्राह्मणादि**पूजायां** नियुक्तः. **नकुलस्तु** अश्विनीकुमारपुत्र इति द्रव्याणां गुणदोषाभिज्ञत्वाद् **द्रव्यसाधने** द्रव्याणां विनियोगार्थं परीक्षायां नियुक्तः ॥४॥

सतां शुश्रूषणे जिष्णुः कृष्णः पादावनेजने ।
परिवेषणे द्रुपदजा कर्णो दाने महात्मनः ॥५॥

तथा **सतां** सेवायां **जिष्णुरर्जुनः.** सह्युपासितवृद्धः सेवां जानाति. **कृष्णः पादावनेजन** इति, भगवतः अनङ्गत्वे दुर्योधनदृष्टौ सर्वोत्तमत्वं न स्फुरिष्यतीति ब्रह्मण्यत्वात् तत्र विनियोगो वर्ण्यते. इदमेव हि भगवत आधिक्यं भृगुपरीक्षायां निरूपयिष्यते. **परिवेषणे द्रुपदजा** द्रौपदी अमृतहस्ता. **कर्णो दाने** अत्युदारत्वात्. **महात्मन** इति, बहुदानेऽपि राज्ञः सन्तोष एवेत्येतदर्थमुक्तम् ॥५॥

युयुधानो विकर्णश्च हार्दिक्यो विदुरादयः ।
बाह्लीकपुत्रा भूर्याद्या ये च सन्तर्दनादयः ॥६॥

युयुधानादयः सर्व एव नानाकर्मसु वैषम्याभावार्थं नियुक्ताः. **युयुधानः** सात्यकिः यादवोऽप्यर्जुनशिष्यः. **विकर्णादयोऽपि** बान्धवाः. **बाह्लीकः**

शन्तनोर्भ्राता, तस्य **पुत्रा भूरि** भूरिश्रवआदयः. **सन्तर्दनादयश्च** गोत्रजाः. सर्वेषां कथनं सम्भ्रमार्थम् ॥६॥

निरूपिता महायज्ञे नानाकर्मसु ते तदा ।
प्रवर्तन्ते स्म राजेन्द्र राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ॥७॥

महायज्ञोऽयमिति आकरण-प्रेषण-द्रव्यसमानयनादि-**नानाकर्मसु** नियुक्ताः सन्तः **प्रवर्तन्ते स्म**. राजसूयस्य परमधर्मत्वात् तत्कर्तुर्मनःप्रीतिं सर्व एव कर्तुं प्रवृत्ताः. एवमारम्भे सर्वेषां बन्धूनां विनियोगलक्षणः महान् सम्भ्रम उक्तः ॥७॥

अन्ते तु महानेव सम्भ्रमो जात इति वक्तुं मध्ये वैदिकं संक्षेपेणाह **ऋत्विक्सदस्ये**ति.

ऋत्विक्-सदस्य-बहुवित्सु सुहृत्तमेषु
स्विष्टेषु सूनृत-समर्हण-दक्षिणाभिः ।
चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे
चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनं द्युनद्याम् ॥८॥

ऋत्विजः सदस्या बहुविदश्च विहितदानेन सन्तर्पिताः, **सुहृत्तमास्तु** लौकिकदानेन. **स्विष्टाः** इच्छापूरणेन प्रीणिताः. **सूनृतं** वाचा तर्पणं **समर्हणं** कायिकं **दक्षिणा** द्रव्यकृता ; मानसं त्वेभिरेव ज्ञायते. एवं मित्राणां सन्तोषं कृत्वा अमित्राणां च नाशव्याजेनेष्टं कृतवानित्याह **चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्ट** इति. **चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपन**मिति, लौकिकोत्सवोऽवभृथे भवति. **द्युनदी** यमुनैव, देवरूपित्वाद्, इयमपि सूर्यमण्डलादेव समागतेति. वैदिक-विरोधाभावे गङ्गायां वा गताः. अनेनालौकिसामर्थ्यं च द्योतितम् ॥८॥

लेखः

ऋत्विक्सदस्येत्यत्र प्रीणिता इति. **स्विष्टेष्विति** यजधातोः कर्मणि क्तान्तम्. तथाच यज देवपूजायां, देवपूजा देवत्वेन प्रीणनमेवेति भावः. **वैदिकविरोधाभाव** इति. दीक्षितस्य दीक्षितविमिताद् गमनं "गर्भो वा एष दीक्षितः" (. । ।) इत्यादिना निषिद्धम्. तथापि गङ्गाया लसच्छ्रीतुलसी-विमिश्रकृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुसाहित्यात् तत्र गमनमुचितमेवेति भगवन्मार्गमनुसृत्य तद्विरोधाभावे सतीत्यर्थः. **अनेनेति,** गङ्गापर्यन्तं तावत् सम्भृत्यागमनकथनेनेत्यर्थः ॥८॥

तत्र मृदङ्गादिवाद्यानां वादनमाह **मृदङ्गेति.**

मृदङ्ग-शङ्ख-पणव-धुन्धुर्यानक-गोमुखाः ।
वादित्राणि विचित्राणि नेदुरावभृथोत्सवे ॥९॥

लौकिकोत्कर्षार्थमेव वादित्राणां सिद्धानामपि वर्णनम् ॥९॥

अवभृथनिमित्तमाश्रित्य लौकिके उत्सवे उत्सवकार्यं सर्वमेवाह **नर्तक्यो ननृतुरिति.**

नर्तक्यो ननृतुर्हृष्टा गायका यूथशो जगुः ।
वीणावेणुतलोन्नादस्तेषां स दिवमस्पृशत् ॥१०॥

हृष्टाः उत्सवासक्ताः. **यूथशः** समूहशः. **वीणा वेणवश्च तलस्तालः** हस्ततलोन्नादो वा. **दिवमस्पृशदिति** लौकिकोक्तिः ॥१०॥

एवं निर्गमने सम्भ्रममुक्त्वा सर्वेषां राज्ञां युधिष्ठिरेण सह निर्गमनप्रकारमाह.

चित्र-ध्वज-पताकाग्र्यैरिभेन्द्र - स्यन्दनार्वभिः ।
स्वलङ्कृतैर्भटैर्भूपा निर्ययू रुक्ममालिनः ॥११॥

चित्रध्वजेति, गरुडादिचिह्निता **ध्वजाः** जयपत्राङ्किताः **पताकाः.** आश्चर्यहेतुत्वं चित्रत्वं ध्वजानां पताकानां च. **अग्र्याः** श्रेष्ठाः **इभेन्द्राः स्यन्दनानि च अर्वाणश्च** अश्वाः एते **स्वलङ्कृता भटाश्च.** चतुरङ्गाणां अलङ्करणमुक्तम्. तैः सह **भूपा निर्ययुः. रुक्मा**लङ्करणसमूहयुक्ताः. **रुक्मं** सुवर्णम् ॥११॥

यदु-सृञ्जय-काम्बोज-कुरु-केकय-कोसलाः ।
कम्पयन्तो भुवं सैन्यैर्यजमानपुरःसराः ॥१२॥

यदुसृञ्जयादयः क्षत्रियावान्तरभेदाः तत्तत्कुलाभिमानयुक्ता अपि सह **निर्ययुरित्युत्कर्षः.** स्वस्व**सैन्यैर्भुवं कम्पयन्तः. यजमानो** युधिष्ठिरः **पुरःसरो** येषाम् ॥१२॥

एवं केवललौकिकपराणां निर्गमनमुक्त्वा अलौकिकानामपि सह निर्गमनमाह.

सदस्यर्त्विग्-द्विजश्रेष्ठा ब्रह्मघोषेण भूयसा ।
देवर्षि-पितृ-गन्धर्वास्तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः ॥१३॥

सदस्येति त्रिविधा अपि ब्राह्मणाः **ब्रह्मघोषेण** सह निर्गताः. **भूयसेति,**

वाद्यापेक्षया ब्रह्मघोषस्यैव निकटे जायमानत्वाद् भूयस्त्वम्. अलौकिकपङ्क्तौ देवानामप्यागमनमाह **देवर्षीति**. देवादय उपरि गच्छन्तः पुष्पवृष्टिं स्तोत्रं च कृतवन्तः ॥१३॥

ततः कामकलाभिः गच्छतामुत्सवमाह **स्वलङ्कृता** इति.

स्वलङ्कृता नरा नार्यो गन्धस्रग्भूषणाम्बरैः ।
विलिम्पन्तो मिथो हृष्टाः विजह्रुर्विविधै रसैः ॥१४॥

गन्धादिभिः स्वलङ्कृताः विविधै रसैर्विलिम्पन्तः तैल-गोरसादिभिर्**हृष्टाः** सन्तः कामकलाभिर्**विजह्रुः**. याभिः सह लीलोपयुज्यते तास्ते च विजह्रुरिति विमर्शः ॥१४॥

साधारणीनां भेदेनाह **तैलगोरसेति**. इदमर्धं देहलीप्रदीपवत्.

तैल - गोरस - गन्धोद - हरिद्रा - सान्द्र - कुङ्कुमैः ।
पुम्भिर्लिप्ताः प्रलिम्पन्त्यो विजह्रुर्वारयोषितः ॥१५॥

पुम्भिर्विटैः **प्रकर्षेण लिप्ताः** स्वयमपि **लिम्पन्त्यः**. **वारयोषितः** वेश्याः, वराणां समूहो वारं तस्य योषित इति. धर्ममध्येऽपि लौकिकभाषात्वात् तथावर्णनं न दोषः ॥१५॥

ततो राजपत्नीनां निर्गमन-विहरणमाह.

गुप्ता नृभिर्निरगमन्नुपलब्धुमेतद्
देव्यो यथा दिवि विमानवरैर्नृदेव्यः ।
ता मातुलेयसखिभिः परिषिच्यमानाः
सव्रीडहासविकसद्वदना विरेजुः ॥१६॥

गुप्ता नृभिरिति, शस्त्रपाणिभिः पदातिभिर्गुप्ताः. **एतद**वभृथाख्यं कर्म. **देव्यः** राजस्त्रियः नरयानैर्निर्गताः. नरयानानां तासां चोत्तमत्वं दृष्टान्तेनाह **विमानवरैर्नृदेव्य** इति. तासामपि लेपनादिलीलामाह **ता मातुलेयसखिभिरिति**. मातुलेयैः सखिभिश्च परिषिच्यमानाः. मातुलेया एव वा सखायः. मातुलेयस्य "भगवतः सखीभिः" (बृहद्वैष्णवतोषिणी) इत्यपव्याख्यानं, सर्वराज्ञां स्त्रीणां प्रक्रान्तत्वात् मातुलेयपदं च तासामेव मातुलेयं गमयति, न भर्तुर्मातुलेयम्. "ता देवरानुत सखीनि"त्यग्रे विरोधश्च. मातुलेयकन्यापरिणये ज्येष्ठस्य कनिष्ठा देवरा मातुलेयाश्च भवन्ति. **मातुलेयपदं** पैतृष्वस्रेयस्याप्युपलक्षणम्. देवरैः

सह सखीनां परिहासविलासः लौकिकः सर्वदेशप्रसिद्धो न निषिद्धः. यथा राजभोग्याः पदार्थाः सर्वेषामुपयुज्यन्ते तथा स्त्रीणामपि बाह्या लीलाः सम्बन्धिनामपि युज्यन्ते. **मातुलेय**पदेन धर्म्यो विवाहो निराकृतः. धर्मविवाहवतीनां तु सुतरां पतिव्रतानां तु विलासा एव न भवन्ति, सुतरामन्यैः सह. तस्मात् सुष्ठूक्तं **मातुलेयैः सखिभिश्चे**ति. तथापि संवृता इति **सव्रीडहासविकसद्वदना** इति पूर्वोक्ताभ्यो विशेषः. परिषेचनं तु जलमध्ये, नतु मध्येमार्गं, तत्रैव कमलानीव **विरेजुः** ॥१६॥

ता अपि प्रतियोगिनां सेचनं चक्रुरित्याह **ता देवरा**निति.

ता देवरानुत सखीन् सिषिचुर्दृतीभिः
क्लिन्नाम्बरा विवृतगात्रकुचोरुमध्याः ।
औत्सुक्यमुक्तकबराश्च्यवमानमाल्याः
क्षोभं दधुर्मलधियां रुचिरैर्विहारैः ॥१७॥

त एव मातुलपुत्रा **देवराः**. **उते**ति सखीनां भिन्नत्वाय. **दृतयः** वंशचर्मकृताः. स्वयं च **ताः क्लिन्नाम्बराः** सूक्ष्मवस्त्रपरिधानाद् **विवृतगात्राः**. रसस्थानानामपि दर्शनार्थं विशेषतो निरूपणं **कुचोरुमध्या** इति. शृङ्गारस्थानत्वाय तासां तथा वर्णनम्. **मध्यं** नाभिस्थानम्. क्रीडौत्सुक्येन **मुक्तं कबरं यासाम्**. अतएव **च्यवमानमाल्याः**. तासां दर्शनेन कन्दर्पाविर्भावो भवतीति तेन प्रकारेण विशेषो वर्णितः. दोषजनकत्वं व्यवस्थया परिहरति **मलधियामि**ति, अजितान्तःकरणानामेव तद्दर्शनेन क्षोभः. अनेन कीर्तनश्रवणादावपि दोषः परिहृतः. **रुचिरै**रिति रसाभासव्यतिरिक्तैः ॥१७॥

ततो युधिष्ठिरस्य निर्गमनमाह.

स सम्राड्रथमारूढः सदश्वं रुक्ममालिनम् ।
व्यरोचत स्वपत्नीभिः क्रियाभिः क्रतुराडिव ॥१८॥

स सम्राडिति, साम्राज्यं कर्मणा तेनैव प्राप्तमिति **रथ**विशेषणम्. **सदश्वं रुक्ममालिन**मिति **सत्**पदेन दान्तत्वमपि गम्यते. सुवर्णालङ्कारोपेतम्.

लेखः

स सम्राडित्यत्र **सत्पदेने**ति. सन्तोऽश्वाः गजदन्तनिर्मितरथ एव योग्या भवन्तीति भावः ॥१८॥

स्वपत्नीभिः असाधारणीभिः ; पूर्ववैलक्षण्यार्थमुक्तम्. तस्यालौकिकत्वमाह **क्रियाभिः क्रतुराडिवेति**. प्रकरणेन प्राप्तं लौकिकत्वं परिहियते. क्रतुराडपि योगजदृष्ट्या दृश्यते. अभिव्यक्तिदशायां तु सर्वैरेव **क्रियाभिर्नित्याभिः** ॥१८॥

पत्नीसंयाजावभृथ्यैः चरित्वा ते तमृत्विजः ।
आचान्तं स्नापयाञ्चक्रुर्गङ्गायां सह कृष्णया ॥१९॥

ऋत्विजां वा यागा नानाशाखासु प्रकारभेदेन भवन्तीति पत्नीसंयाजान्ताः संस्थाः साम्प्रतं प्रचरन्ति, सहस्रान्ता वा. तस्मिन् पक्षे स्वतन्त्रतया **पत्नीसंयाजाः** पृथगेव क्रियन्ते जाघन्यादिद्रव्यैः[१]. आवभृथ्याश्च इष्टयः **आवभृथ्यैः** कर्मभिः. **चरित्वा** चरणं कृतिः. ततस्ते एव **ऋत्विजः आचान्तं** कर्मसमाप्त्यनन्तरं **स्नापयाञ्चक्रुः** अभिषेकविधिना. अभिषेको मुख्ययैवेति **सह कृष्णयेत्युक्तं**, "मुख्याभिषेक्त्री" (. । ।) इतिवाक्यात्. **गङ्गायामिति** अप्स्ववगाह्याभिषेकः ॥१९॥

देवदुन्दुभयो नेदुर्नरदुन्दुभिभिः समम् ।
मुमुचुः पुष्पवर्षाणि देवर्षिपितृमानवाः ॥२०॥

तस्य यागकृतिः सर्वसम्मता जातेति ज्ञापयितुं **देवदुन्दुभीनां** वादनम्. **नरदुन्दुभयः** लौकिकाः. अभिलषितसमये नरदुन्दुभिवादनं तदैव देवदुन्दुभीनामपीति देवा इच्छानुसारिणो जाता इति ज्ञापयितुं सहभावो निरूपितः. देवत्वसम्पादक-कर्मापेक्षयापि राजसूयो महानिति ज्ञापयितुं **मुमुचुः पुष्पवर्षाणीत्याह** ॥२०॥

सस्नुस्तत्र ततः सर्वे वर्णाश्रमयुता जनाः ।
महापातक्यपि यतः सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ॥२१॥

ततो राजसन्निधौ **सर्व** एव **सस्नुः**. पतित-पाखण्डानां तत्र प्रवेशाभावाय **वर्णाश्रमयुता जना** इत्युक्तम्. माहात्म्यमाह **महापातक्यपीति**, **सद्यः** स्नानानन्तरमेव अकस्मात् समागतः अभ्यनुज्ञया स्नाति चेत् ॥२१॥

लेखः

पत्नीत्यत्र ऋत्विजां वेति क्रियाभिरिति पूर्वानुवृत्तिः ॥१९॥

---

१. द्रष्ट. "जाघनी चैकदेशत्वाद" (पूर्वमी.सूत्र ३।३।१०।२०) - सम्पा.

ततो राज्ञः लौकिकोत्कर्षार्थमलङ्करणमाह **अथेति.**

अथ राजाऽहते क्षौमे परिधाय स्वलङ्कृतः ।
ऋत्विक्-सदस्य-ब्रह्मादीन् आनर्चाभरणाम्बरैः ॥२२॥

एतावत्कालं त्वनलङ्कृतः, नियमे न्यस्तभूषणत्वात्. **अहते** नूतने **क्षौमे** "सौम्यं वै क्षौमम्" (. । ।) इति सोमेन वरदत्ते इव **परिधाय स्वलङ्कृतो** जातः. ततोऽन्यानपि ऋत्विगादीन् स्वसमानवेषान् कृतवान् ॥२२॥

बन्धु-ज्ञाति-नृपान् मित्र-सुहृदोऽन्यांश्च सर्वशः ।
अभीक्ष्णं पूजयामास नारायणपरो नृपः ॥२३॥

यथायोग्यं **बन्धु-ज्ञाति-नृपान् मित्रान् सुहृदश्च अन्यांश्च** समागतान् सर्वप्रकारेण. पूजायामत्र कालो न नियामकः किन्तु पुरुषा एवेति ज्ञापयितुम**भीक्ष्ण**मित्युक्तम्. **पूजयामासे**ति विधिरुक्तः न तु लौकिकम्. अनेनास्मिन् प्रकरणे राज्ञः केवलस्य वैदिकी चेष्टा, अन्येषां तु लौकिक्येवेति. ननु विहिताः परिच्छिन्ना एव भवन्ति यागाङ्गभूताः ; किमिति सर्वानेव पूजयामासेत्याकाङ्क्षायामाह **नारायणपर** इति. तस्य भगवत्पूजायामेव तात्पर्यम् ; तेन तदात्मकाः सर्व[1] इति श्रद्धया सर्वपूजनम्. **नृपत्वात्** समृद्धिः ॥२३॥

राजपूजितानां सर्वेषां शोभामाह.

सर्वे जनाः सुररुचो मणिकुण्डलस्रग्-
उष्णीष-कञ्चुक-दुकूल-महार्घ्यहाराः ।
नार्यश्च कुण्डलयुगालकवृन्दपुष्ट-
वक्त्रश्रियः कनकमेखलया विरेजुः ॥२४॥

सर्वे जना इति, अन्तर्बहिश्च दोषा निवृत्ताः, इच्छापूरणादाभरणैश्च कान्त्या **सुररुचो** जाताः. तत्र हेतुभूतं विशेषणं **मणिकुण्डले**ति. **मणियुक्ते कुण्डले स्रजः उष्णीषं कञ्चुकं दुकूलं** मध्यबन्धनं **महार्घ्यश्च हारो** येषाम्. **नार्यश्च** तथालङ्कृताः. चकारेण तद्धर्मोक्तिः. विशेषमाह

---

१. सर्व एव इति कपाठः - सम्पा.

कुण्डलयुगेनालकवृन्देन च पुष्टा वक्त्रश्रीर्यासाम्. सुतरां **कनकमेखलया विरेजुः**. एतदन्ता लौकिकी शोभा ॥२४॥

अथ भिन्नप्रक्रमेण समागतानां निर्गमनमाह **अथर्त्विज** इति.

अथर्त्विजो महाशालाः सदस्या ब्रह्मवादिनः ।
ब्रह्म-क्षत्रिय-विट्-शूद्रा राजानो ये समागताः ॥२५॥

अग्रे वक्ष्यमाणमानभङ्गः ; प्रत्यापत्तिपर्यन्तं मध्ये केनाप्यंशेन न्यूनतायां तेनैव दुष्टानां सन्तोष इति न मात्सर्यं पुष्टं भवेदिति प्रत्यापत्तिपर्यन्तं वर्णना. **महाशालाः** श्रोत्रियाः, तेषामेवार्त्विज्यम्. **सदस्यास्तु ब्रह्मवादिनः**, त एव सर्वज्ञाः. एवमुभये अपेक्षितधर्मयुक्ता निरूपिताः. अन्ये विप्रादयः, तेषामागमनमेव प्रयोजकं, तदाह **ये समागता** इति ॥२५॥

तथा देवादीनामपि.

देवर्षि-पितृ-भूतानि लोकपालाः सहानुगाः ।
पूजितास्तमनुज्ञाप्य स्वधामानि ययुर्नृप ॥२६॥

ते सर्वे **पूजिताः** सन्तः मुदा **स्वधामानि ययुः**. **नृपे**ति सम्बोधनं समाप्तौ सन्तोषाय ॥२६॥

तेषां मानसं कायिकं चोक्त्वा वाचनिकमाह **हरिदासस्ये**ति.

हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम् ।
नैवातृप्यन् प्रशंसन्तः पिबन् मर्त्योऽमृतं यथा ॥२७॥

राजर्षेः स्वधर्मनिरतस्य **हरिदासस्य** च प्रमाण-प्रमेयबलपुष्टस्य. तत्रापि **राजसूयस्य** तत्रापि **महोदयम्**. अतएव **प्रशंसन्तः** स्वयमेव **नैवातृप्यन्**. अन्येच्छया वर्णनायां तदिच्छापूर्तौ निवृत्तिरपि भवेद्, इदं तु स्वार्थमेवेति निरन्तरं प्रशंसा. प्रतिक्षणं तु रुच्याधिक्याय दृष्टान्तमाह— **मर्त्यो** मरणधर्मा **अमृतं** स्वादिष्टं मरणनिवर्तकं चेति अनुभव-पर्यवसानाभ्यामुत्कृष्टान्न निवर्तते. अत्रापि तदासक्त्या वर्णनायां "यो यच्छ्रद्धः" (भ.गीता १७।३) इतिन्यायेन राजतुल्यत्वसम्पादकत्वाद् अनिवृत्तिर्युक्तेत्यर्थः ॥२७॥

लौकिकं बन्धुषु विशेषतो वक्तव्यमिति साधारणतुल्यत्वे न शोभेति साधारणेषु गतेषु बन्धून् स्थापयामासेत्याह **तत** इति, भगवदिच्छैवैषा यतोऽनर्थोऽग्रे भविष्यतीति.

ततो युधिष्ठिरो राजा सुहृत्-सम्बन्धि-बान्धवान् ।
प्रेम्णा निवासयामास कृष्णं च त्यागकातरः ॥२८॥

सुहृदो मित्राणि **सम्बन्धिनो** विवाह्याः **बान्धवाः** गोत्रिणः. **प्रेम्णेति.** यागसमये बान्धवाः परिचर्यायामेव व्यापृताः न सुखेन भोगं प्राप्तवन्तः अतः सम्मर्दे निवृत्ते सहभोगेच्छया स्नेहेन तेषां स्थापनमित्यर्थः. **कृष्णं चेति** विशेषार्थमुक्तम्. बहुकालं स्थापनं सूचयति **त्यागकातर** इति ॥२८॥

सर्वे बान्धवा अविशेषात् तत्र स्थिताः, भगवतस्तु कार्यान्तरमप्यस्तीति कदाचिदस्थितिमाशङ्क्याह **भगवानेवेति.**

भगवानेव तत्राङ्ग न्यवासीत् तत्प्रियङ्करः ।
प्रस्थाप्य यदुवीरांश्च साम्बादींश्च कुशस्थलीम् ॥२९॥

अङ्गेत्यप्रतारणे. **तत्रैवावात्सीदि**ति एवकारेण सभार्यस्य वसतिर्निरूपिता. कार्यन्तरार्थं स्वप्रतिनिधितया अन्यान् प्रस्थापितवानित्याह **प्रस्थाप्येति.** भगवति विद्यमाने रक्षा विलासश्च द्वारकायां भवेत्. तत्रैकेन द्वयं न सिद्ध्यतीति रक्षार्थं **यदुवीरान्** विलासार्थं **साम्बादींश्च** प्रस्थापितवान्. तच्च स्वभावतः सभयं स्थानमाह **कुशस्थलीमिति.** कुशो दैत्य इति तस्यां भूमौ दैत्योपद्रवसम्भवः ॥२९॥

यागपूर्वं मध्ये अन्ते च यावदभीप्सितं तावद् राज्ञो जातमिति राजकृत्यमुपसंहरति **इत्थं राजेति.**

इत्थं राजा धर्मसुतो मनोरथमहार्णवम् ।
सुदुस्तरं समुत्तीर्य कृष्णेनासीद् गतज्वरः ॥३०॥

राजेति स्वधर्मवत्त्वम्. **धर्मसुत** इति बीजशुद्धिः. **मनोरथ एव महानर्णवः** महत्वात् प्रतिबन्धकनक्रसद्भावाच्च. अतएव **सुदुस्तरमन्यैः** स्वस्यापि. परं **कृष्णेन समुत्तीर्य गतमानसज्वर आसीत्.** यथा वैष्णवधर्मैः ज्वरादिकं समुद्रे निक्षिप्य उत्तीर्णो विज्वरो भवतीत्यर्थः ॥३०॥

अतः परं भूभारहरणाख्यं भगवच्चरित्रं वक्तुं दुर्योधनमानभङ्गमाह **एकदेति.**

एकदान्तःपुरे तस्य वीक्ष्य दुर्योधनः श्रियम् ।
अतप्यद् राजसूयस्य महित्वं चाच्युतात्मनः ॥३१॥

दुर्योधनादिष्वपि भीष्मादयो ज्येष्ठा गृहे गताः. यैर्यागे कर्माणि कृतानि त एव स्थिताः. पूर्वं यागावेशात् न मात्सर्योत्पत्तिः, पश्चात् तु सहजदोषाविर्भावात् मात्सर्यं जातमित्याह— **तस्यान्तःपुरे श्रियं** स्त्रीरूपां धनरूपां च **दृष्ट्वा** वैदिकोत्कर्षं राजसूयं च दृष्ट्वा **अच्युतात्मन** इति भक्त्यतिशयं च दृष्ट्वा मार्गत्रयसम्पत्तौ, स्वस्यापि युधिष्ठिरतुल्यत्वं मन्यमानः त्रितयमध्ये एकस्याप्यभावाद्, **अतप्यत्** ॥३१॥

तत्र धनकृतां श्रियं वर्णयति **यस्मिन्निति.**

यस्मिन् नरेन्द्र-दितिजेन्द्र-सुरेन्द्र-लक्ष्मी-
र्नाना विभान्ति किल विश्वसृजोपक्लृप्ताः ।
ताभिः पतिं (/पतीन्!) द्रुपदराजसुतोपतस्थे
यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् ॥३२॥

नरेन्द्राः मनुष्यराजानः, तेषां सम्पत्तिर्मानुषी. **दितिजेन्द्रा** दैत्यश्रेष्ठाः, तेषां सम्पत्तिरासुरी मायाप्रचुरा. **सुरेन्द्राः** देवश्रेष्ठाः, तेषां सम्पत्तिरलौकिकी विचित्रा. ताः सर्वा अपि **नाना**विधाः, ताः सर्वा एव राज्ञोऽन्तःपुरे **विभान्ति. किले**ति प्रमाणम्. ननु प्रतिनियताः कथं मनुष्ये सर्वा जाता इत्याशङ्क्याह **विश्वसृजोपक्लृप्ता** इति, भगवता नूतना रचिताः. तेन तत्तदपेक्षयाप्युत्कर्ष उक्तः. **ताभिः** समृद्धिभिः सह स्व**पतिं (/पतीन्!) द्रुपदराजसुता उपतस्थे.** ततः किमत आह **यस्यां विषक्तहृदय** इति. सर्वोत्कर्षोऽयमर्थः यथाकथञ्चित् प्राप्तः यथा पञ्चभिर्भुज्यते तथास्माभिरपि भोक्तव्यम् इति तस्येच्छा. अतस्तस्यां **विषक्तहृदयः कुरुराट्** तदतिशयसर्वविषययुक्तः **अतप्यत्** परमं कामसन्तापं प्राप्तवान् ॥३२॥

एवमाद्यन्तौ दोषौ वर्णितौ, मोहं वर्णयितुं भगवत्सम्बन्धिलीलां तत्र वर्णयति **यस्मिन्निति.**

यस्मिंस्तदा मधुपतेर्महिषीसहस्रं
श्रोणीभरेण शनकैः क्वणदङ्घ्रिशोभम् ।
मध्ये सुचारुकुचकुङ्कुमशोणहारं
श्रीमन्मुखं चपलकुण्डलकुन्तलाढ्यम् ॥३३॥

तदा तद्दर्शनसमये **मधुपते**र्भगवतः व्यामोहकस्य कोटिकन्दर्परूपस्य

महिषीसहस्रं वीक्ष्य इति पूर्वेणैव सम्बन्धः. भगवतोऽपि कामपूरकत्वेन बाहुल्याच्च मोहकत्वं निरूपितम्. मोहककरणमिव विशेषणमाह **श्रोणीभरेणे**ति. नितम्बभारेण **शनकैः क्वणन्तावङ्घ्री** नूपुरादिभिः शोभा यस्य. नूपुरदर्शनं तच्छब्दो वा व्यामोहक इत्यर्थः. **मध्ये सुचारु यत् कुचकुङ्कुमम्** — अनेन प्रकारविशेषेण समर्पितं कुचकुङ्कुमं निरूपितम्. मकरिकापत्रमध्ये कुङ्कुमं निरूपितमिति अतिसूक्ष्मवस्त्रव्यवधानं रसजनकमेव, न दृष्टिप्रतिबन्धकं ; तेन मोहार्थं वर्णनमुपपद्यते. तेन यः **शोणो हारः** कमलपत्राणीव तन्मध्ये **श्रीमन्मुखं** कार्यविशे भावार्थं वा **चपलकुण्डलकुन्तलैः आढ्यम्. मध्ये सुचार्वि**ति भिन्नं वा, प्रान्तस्त्रिय अपेक्षयापि मध्यस्त्रीणां रुक्मिण्यादीनामत्युत्कृष्टत्वात् ॥३३॥

एवं स्त्रीणां मोहहेतुत्वमुक्त्वा नर-देवकृतमोहहेतुं सम्पाद्य दैत्यकृतं स्थानतो मोहहेतुमाह **सभायामि**ति.

सभायां मयक्लृप्तायां क्वापि धर्मसुतोऽधिराट् ।
वृतोऽनुगैर्बन्धुभिश्च कृष्णेनापि स्वचक्षुषा ॥३४॥

मयेन विशेषत एतदर्थमेव **क्लृप्ता सभा. क्वापि** कालस्यापि तथारूपे. **धर्मसुतः** अर्थादधर्मभङ्गं करिष्यतीति सूचितम्. **अधिराडि**ति सामर्थ्यम्. **वृतोऽनुगैर्बन्धुभिश्चे**ति सहायः क्रियामयः. ज्ञानक्रियारूपं सहायमाह **कृष्णेनापि स्वचक्षुषे**ति. अनेन दुर्योधनापेक्षयापि भगवतः सन्मानना, भगवत्कृतमेव प्रमाणमिति च, सूचितम् ॥३४॥

तस्य दुर्योधनप्रदर्शनार्थं विशेषतः सिंहासनस्थितिमाह **आसीन** इति.

आसीनः काञ्चने साक्षादासने भगवानिव ।
पारमेष्ठ्यश्रिया पुष्टः स्तूयमानश्च बन्धुभिः ॥३५॥

सुवर्णसिंहासने सर्वोत्कर्षं प्राप्य **भगवानिव आसीनो** जातः. **साक्षादासन** इति आसनशक्तिस्तत्रैव स्थापिता. यागफलरूप**पारमेष्ठ्यश्रियापि पुष्टः. बन्धुभिः स्तूयमान** इति मानोन्नतिः ॥३५॥

एवंविधे समये दुर्योधनः समागत इत्याह **तत्रे**ति.

तत्र दुर्योधनो मानी परीतो भ्रातृभिर्नृप ।
किरीटमाली न्यविशद् असिहस्तः क्षिपन् रुषा ॥३६॥

सोऽभिमानी मां सेवकं कर्तुम् अक्षपीडां वा जनयितुं स्थापयतीति **भ्रातृभिः** सहितः असम्मतं युद्धं वा करिष्यामीति वा निश्चित्य **क्षिपन्** इतस्ततः सर्वान् **किरीटमाली** भूत्वा **असिहस्तः** प्रायेण कञ्चिन्मारयितुमिव **न्यविशत्**. रुषेति लौकिकन्यायेनापि तस्यादर्शनहेतुरुक्तः ॥३६॥

ततस्तत्र पदार्थेषु भ्रमो जात इत्याह **स्थलेऽभ्यगृह्णादिति**.

स्थलेऽभ्यगृह्णाद् वस्त्रान्तं जलं मत्वा स्थलेऽपतत् ।
जले च स्थलवद् भ्रान्त्या मयमायाविमोहितः ॥३७॥

काचादिभिः कृत्वा तथा कृतवान्. ततः **स्थल** एव जलबुद्ध्या **वस्त्रान्तं** स्वभावादभ्यगृह्णात्. तत्र हेतुः **जलं मत्वेति**. न केवलं वस्त्रग्रहणमात्रं किन्त्वेतन्निम्नस्थानमिति **जले** प्रविशन्निव **स्थल एवापतत्**. एवं **जले च स्थलबुद्ध्या सवस्त्र एव** प्रविष्टः निम्नत्वात् पतितः. तत्र हेतुः **स्थलवद्भ्रान्त्येति**. यथा स्थले पूर्वं जलभ्रमो जातः एवमत्रापि स्थले जात इत्यर्थः. तत्राप्रत्याख्येयहेतुमाह **मयमायाविमोहित** इति. यो हि दुष्टः साभिमानः क्रोधेन तं देशं प्रविशति तस्य भ्रमो भवतीति काचिन्माया देवतारूपा तस्यां सभायां मयेन स्थापिता. सा तथैव विरुद्धं भ्रामयतीति मायया विमोहितः ॥३७॥

ततो यज्जातं तदाह **जहासेति**.

जहास भीमस्तं दृष्ट्वा स्त्रियो नृपतयोऽपरे ।
निवार्यमाणा अप्यङ्ग राज्ञा कृष्णानुमोदिताः ॥३८॥

तमन्धमिव दृष्ट्वा भीमस्तत्प्रतिकूलैकस्वमावः **स्त्रियः** सर्वाः स्वभावतः **अपरे नृपतयः** ये न दुर्योधनसम्बन्धिनः. ननु राजसभायां हास्यमनुचितमिति चेत्, तत्राह **निवार्यमाणा अपीति**. **राज्ञा निवार्यमाणा अपि** स्वतोऽनुचितस्य का वार्ता ! तत्र हेतुः **कृष्णानुमोदिता** इति, अन्तःकरणे बहिश्च, एतदर्थमेवैतावानुद्यम इति ॥३८॥

ततो यज्जातं तदाह **स व्रीडित** इति.

स व्रीडितोऽवाग्वदनो रुषा ज्वलन्
निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गजाह्वयम् ।
हाहेति शब्दः सुमहानभूत् सताम्

अजातशत्रुर्विमना इवाभवत् ॥

बभूव तूर्ष्णीं भगवान् भुवो भरं

समुज्जिहीर्षुर्भ्रमति स्म यद्दृशा ॥३९॥

अवाग्वदनो बहिः ततोऽपमानेन जातो महान् रोषः तेन **ज्वलन्निव** तस्मात् स्थानाद् भीमभर्त्सनमकृत्वैव **तूर्ष्णीं निष्क्रम्य** तूर्ष्णीं राजानं "गमिष्यामी"त्यननुज्ञाप्य **गजाह्वयमेव प्रययौ** यमुनामुत्तीर्य गत एव. ततो महान् बन्धुरेवं गत इति **हाहेति शब्दः सुमहानभूत्,** सोऽपि **सतामेव** भूतानुकम्पिनाम्. राजा च **अजातशत्रु**त्वाद् **विमना अभवत्. इवे**ति भगवदनुमोदनात् किञ्चिदस्तीति ज्ञातवान्. भगवांस्तु नोपहासं न वा विषादं किमपि कृतवानित्याह **बभूव तूर्ष्णीमि**ति. पुनः सन्माननायां भूभारहरणं न भवेत्, तन्मारणे वा पाण्डवानां गर्वो न गच्छेदिति भगवान् सर्वसमः तूर्ष्णीमास. यतो **भुवो भारं जिहीर्षुः**. नन्वेवं कृते कथं भूभारहरणं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **यद्** यस्मात् कारणाद् भगवान् **दृशा** ज्ञानचक्षुषा ज्ञानेनैव सह **भ्रमति** साध्यसाधनभावः सर्वोऽपि तस्य प्रत्यक्ष इत्यर्थः. **स्मे**ति सर्वलोकवेदप्रसिद्धिरत्र प्रमाणं निरूपितम् ॥३९॥

उक्तमुपसंहरति **एतत्तेऽभिहितमि**ति.

एतत्तेऽभिहितं राजन् यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ।

दुर्योधनस्य दौरात्म्यं राजसूये महाक्रतौ ॥४०॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥

राजन्निति स्नेहात् महत्सम्बोधनम्. एतस्य चरित्रस्य निरोधोपयोगित्वं नास्तीति शङ्काव्युदासार्थं त्वया पृष्टं चेत् तदोक्तमित्याह **यत्पृष्टोऽहमिह त्वये**ति. त्वया मानभङ्गे हेतुः पृष्टः तत्र **दुर्योधनस्य दौरात्म्यमेव** मानभङ्गहेतुरित्युत्तरं दौरात्म्यं च निरूपितमभिमानरूपम्. तच्च **राजसूये** समागतस्य कर्तुमनुचितं; न हि धर्मार्थमागतोऽभिमानं करोति. तत्रापि **महाक्रतौ** निरभिमानतयैव तत्र गन्तुमुचितमित्यर्थः ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे षड्विंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥

॥ षष्ठः स्कन्धादितः त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥

सात्त्विकानां निरोधस्तु षड्भिरेवं निरूपितः ।
साधनांशः फलांशस्तु षड्भिरग्रे निरूप्यते ॥(१)॥
फलं तु त्रिविधं प्रोक्तं शत्रुनाशो यशस्तथा ।
अलौकिकी तथा सम्पद् द्वाभ्यां द्वाभ्यां निरूप्यते ॥(२)॥
बन्धूनां च तथांशस्य मित्रस्येति पृथक् पृथक् ।
बन्धूनां कृष्णसद्भावाद् नान्यत्रेच्छा कथञ्चन ॥(३)॥
सहागतस्य त्वंशस्य कीर्तिरेवेप्सिता भुवि ।
मित्रस्य लक्ष्मीवैमुख्यात् सम्पत्तिर्वाञ्छिता क्वचित् ॥(४)॥
परोक्षे दारदृष्टो[1] हि मित्रत्वमुपयाति हि ।
अत्रादौ द्वारकास्थानां बन्धूनां च तथा क्वचित् ॥(५)॥
अनिवार्यं दुःखमुक्तं द्वितीयेन निवार्यते ।
सप्तविंशे तथाध्याये यादवानां महद्भयम् ॥(६)॥
महादेवादिपुष्टेभ्यः शाल्वादिभ्यो निरूप्यते ।
अप्रत्याख्येयतासिद्ध्यै प्रद्युम्नाय जयो महान् ॥(७)॥
निरूपितः समस्तानां यतः स्यात्तु महद्भयम् ॥

स्वतन्त्रतया फलप्रकरणमारभते[2] **अथेति.**

लेखः

कारिकायां भगवन्मित्रस्य लक्ष्मीवैमुख्ये हेतुमाहुः **परोक्षे** इति. भगवतो दाराः लक्ष्मीः ; भगवत्परोक्षे लक्ष्म्यां **दृष्टौ** सत्यां **मित्रत्वमुपयाति.** "परोक्षे दारदर्शनम्" (.   । ।   ) इति नीतिवाक्यसम्मत्यर्थं **हि**शब्दः. अतो भगवत्सम्मुखः सन् तद्दत्तां सम्पत्तिरूपां लक्ष्मीं गृहीतवानित्यर्थः. **तत्रादावि**ति एतत्प्रकरणादावित्यर्थः. **द्वितीयेने**ति इतो द्वितीयाध्यायेनेत्यर्थः (५-६).

---

१. दारदृष्टौ इति लेखपाठः - सम्पा.

२. साधनप्रकरणे अप्राकरणिकतयेव, यतो वक्ष्यति अग्रे (श्लो. १ सुबो.) "अत्रापि फलं भगवदनुभवः साधनत्वेन मन्यते" इति. तथाच साधनप्रकरणान्तरीयकं फलप्रकरणम् इति अभिप्रायः - सम्पा.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं महत् ।
क्रीडानरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हतः ॥१॥

तदैव निरुद्धानां भगवत्परता भवति. एतच्चरित्रमुत्तममिति श्रवणार्थं विशेषेण प्रेरयति **अन्यदपि कृष्णस्य शृण्विति**. यतः **अद्भुतं कर्मेति**. अस्माच्चरित्राद् भगवतोऽद्भुतानि कर्माणि बहूनि भवन्ति. इदं च चरित्रमद्भुतम्. तदेवाद्भुतं यदन्यार्थमारब्धमन्यार्थं भवति. अतएव विश्वमेवाद्भुतं चरित्रमिति भगवच्छास्त्रम्. धर्मार्थं प्रयत्नं कुर्वन् अधर्मं करोति, अर्थार्थमनर्थम्, एवं पुरुषार्थान्तरेऽपि. किं बहुना, सुखार्थं यतमानो दुःखं प्राप्नोति. एवं सर्वाश्रमादिधर्मेषु भगवदनुसन्धानव्यतिरेकेषु बोद्धव्यम्. अत्रापि फलं भगवदनुभवः साधनत्वेन मन्यते[1], तथा सर्व एव भगवत्सम्बन्धी पदार्थः. इदं रहस्यं सर्वदैव भगवदीयैरनुसन्धेयम्. अतो यद्यपि सर्वमेवाद्भुतं तथापीदं **महत्**. तस्याद्भुतत्वमुपपादयति **क्रीडानरशरीरस्येति**. क्रीडार्थं नरशरीरमङ्गीकृतं, यत्र क्रीडासम्भावनापि नास्ति, नराणां सुखस्यैव नरकत्वात्. तत्किमित्याकाङ्क्षायां निर्दिशति **यथा सौभपतिर्हत** इति. मायिकं पुरं **सौभ**शब्देनोच्यते, तस्य **पतिः** शाल्वः. स चेत् प्रयत्नं न कुर्याद्, जीवेद् वा कियत्कालं दुर्योधनादिवत्. अयं तु शीघ्रमेव हतः ॥१॥

लेखः

अथेत्यत्र तदैवेति, एतादृग्भये सत्येवेत्यर्थः. **अत एवेति**, यतो विश्वस्मिन् जीवेनान्यार्थमारब्धमन्यार्थं भवत्यत एवेत्यर्थः. तदेव विवृण्वन्ति **धर्मार्थमिति**. **अत्रापीति**, विपरीतफलेऽपि जगति **फल**रूपो **भगवतः अनुभवः** साक्षात्कारो **वरसाधनत्वेन** वर्तत इति जीवो **मन्यते**. वरं याचितुं भगवत्साक्षात्कारः सम्पादनीयः. तथा फलरूपः सर्व एव भगवद्भजनोपयोगी पुष्पादिपदार्थः प्रीताद् भगवतः फलं याचयितुं फलसाधनत्वेन सम्पादनीय इति मन्यत इत्यर्थः. **इदं रहस्यमिति**, भगवदनुसन्धानव्यतिरेकेषु विपरीतमेव भवतीदं रहस्यमित्यर्थः. मूले **महदद्भुतमित्युक्तं** तस्यार्थ एतदन्तेनोक्तः ॥१॥

---

१. तत्कालीनैः इति शेषः इति संपाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

तस्य हननार्थमुपाख्यानमाह **शिशुपालसख** इति.

शिशुपालसखः शाल्वो रुक्मिण्युद्वाह आगतः ।
यदुभिर्निर्जितः सङ्ख्ये जरासन्धादयस्तथा ॥२॥

शपथपूर्विका तेन सह मैत्री; **शिशुपालसखि**त्वेनैव प्रसिद्धः **शाल्वः**. अतएव **रुक्मिण्युद्वाहे आगते** उपस्थिते **आगतो** वा **यदुभिर्निर्जितः**. **आगतं** वा **सङ्ख्यं(/ये!)** युद्धे तदा **यदुभिर्निर्जितः**. न केवलमेकः किन्तु **जरासन्धादयो**ऽपि **तथा** मित्राणि निर्जिताश्च ॥२॥

शाल्वः प्रतिज्ञामकरोच्छृण्वतां सर्वभूभुजाम् ।
अयादवीं क्ष्मां करिष्ये पौरुषं मम पश्यत ॥३॥

एवं सर्वेष्वेव तथाभूतेषु सर्वहितान्वेषी यादवानां मारणं विचारितवान्. ततस्तत्सिद्ध्यर्थं **शाल्वः प्रतिज्ञामकरोत्**. क्लेशेऽप्यनिवृत्त्यर्थं **सर्वभूभुजां शृण्वतामकरोत्**. प्रतिज्ञामाह **अयादवीं क्ष्मां करिष्य** इति. यस्यां क्ष्मायां यादवा न तिष्ठन्ति इति सबीजनिर्हरणमर्थः. किं ब्रह्मशापेनेव[१] नेत्याह **पौरुषं मम पश्यतेति. पश्यते**ति पौरुषं स्वकीयं साक्षात्पश्यतेति ॥३॥

ततोऽन्यानप्याह.

इति मूढः प्रतिज्ञाय देवं पशुपतिं प्रभुम् ।
आराधयामास नृप पांसुमुष्टिं सकृद् ग्रसन् ॥४॥

इत्युक्त्वा मूढः असाध्यसाधनार्थं प्रवृत्तः, भूमिर्यादवोपजीविनी कथं यादवरहिता स्वरूपं लप्स्यत इति. तथापि मौढ्यात् **प्रतिज्ञाय** तत्राप्यसमर्थं **देवं** सेवितवान्. यतः स **पशूनामेव पतिः**, तत्रापि **प्रभुः** न त्वन्तर्यामी. यदि पुरुषोत्तममन्तर्यामिणं वा भजेद्, भक्तो ज्ञानी वा भवेत्. तदा जगज्जननसामर्थ्यं विश्वोपसंहारसामर्थ्यं वा भवेत् विश्वामित्रस्येव. तद् बहुकालसाध्यमिति मत्वा क्षिप्रप्रसादं स्वस्य पशुत्वात् **प्रभुमाराधयामास**. तत्राराधनप्रकारः **पांसुमुष्टिं**

लेखः

इत्युक्त्वेत्यत्र **यादवोपजीविनी**ति. भूमिदुःखे निवेदिते तद्रक्षार्थं यदुष्वंशावतरणाद् ज्ञापनस्य स्कन्धादौ निरूपितत्वाद् भूमिर्यादवोपजीविकेत्यर्थः ॥४॥

१. किं ब्रह्मशापेन इत्याह इति गपाठः - सम्पा.

सकृद् ग्रसन्निति. भगवद्वैमुख्यात् स्वहस्तेनैव स्वमुखे धूलिप्रक्षेपः ॥४॥

ततो यज्जातं तदाह **संवत्सरान्त** इति.

संवत्सरान्ते भगवानाशुतोष उमापतिः ।
वरेण छन्दयामास शाल्वं शरणमागतम् ॥५॥

महादेवः कालप्रेष्यः, संवत्सरात्मकस्तु कालः. शाल्वो दुर्वृत्तः भगवद्विरोधार्थं यतते, अस्मांश्च प्रार्थयते. तत्राद्भुतकर्मत्वाद् भगवदभिप्रायो न ज्ञायते किमस्मा एष वरो देयो न वेति. तदर्थं संवत्सरप्रतीक्षा कृता. यदि संवत्सरेणायं मार्यते तदा स्वामिहितकर्त्रा संवत्सरेणैव कार्यं सिद्धम्. अथ यदि क्लेशमेव दत्वा जीवयिष्यति तदा मयापि क्लेशदानार्थमेव वरो देय इति विचार्य संवत्सरं तूष्णीं स्थितः. नन्वग्रेऽपि कथं न स्थितः? तत्राह **आशुतोष** इति, स परमदयालुः अल्पमप्यन्यस्य क्लेशं न सहते. तथाप्यस्थाने यत्नं करोतीति तावद्विलम्बं कृतवान्. ननु तथापि स्वामिद्रोही उपेक्षणीय एव, किमिति वरो दत्त इत्याकाङ्क्षायामाह **उमापतिरिति.** उमापि तपः कुर्वाणा मया उपेक्षिता, सा पश्चात्तपसा पुष्टा सती गले पतिता तथायमपि भविष्यतीति विचार्य ततो विघ्नार्थमेव **वरेण छन्दयामास** "वरं ब्रूही"त्युक्तवान्. ननु तस्य को धर्मः येन वरार्थं छन्दयामास? तपस्तु नास्त्येव, भगवद्वैमुख्यात्. नहि नारकिणो रोगिणो वा तपः कुर्वन्ति किन्तु कर्मानुभव एव तेषां तादृशः. तस्मादुपेक्षणीय एवेत्याशङ्कायामाह **शरणमागतमिति,** शरण्योपेक्षादोषभियेति ॥५॥

ततस्तस्यान्तर्यामिणैव बुद्धिनाशो जात इति यत्किञ्चित् प्रार्थयते **देवासुरेति.**

देवासुर-मनुष्याणां गन्धर्वोरग-रक्षसाम् ।
अभेद्यं कामगं वव्रे स यानं वृष्णिभीषणम् ॥६॥

देवासुरमनुष्याः त्रिगुणप्रधानाः **गन्धर्वोरगराक्षसाः** मिश्रगुणप्रधानाः —एवं षड्भिः सर्व एव सगुणाः परिगृहीताः. तेषां सर्वेषामेवा**भेद्यं** अस्मदधीनं च **कामगमन्यथा** समुद्रवदस्मत्पुरुषार्थाय न स्यात्. किञ्च यदर्थस्तु प्रयासः तदर्थं किञ्चिद् याचनीयमिति तस्य यानस्यापरं धर्मं प्रार्थयते **वृष्णिभीषणमिति,** वृष्णीनां भयजनकम् ॥६॥

महादेवोऽपि भगवति न किञ्चिद् बाधकमिति "तथे"त्यङ्गीकृतवान्. वरमात्रसिद्धो नित्यो भविष्यतीति अनित्यत्वे कृतकत्वं प्रयोजकमिति मयं प्रति आज्ञां दत्तवानित्याह **तथेति गिरिशादिष्ट** इति.

तथेति गिरिशादिष्टो मयः परपुरञ्जयः ।
पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात् सौभमयस्मयम् ॥७॥

परपुरञ्जय इति शत्रूणां पुरजयशीलः. स हि जानाति पुरं जेयमजेयं च, अतो यथा अजेयं तथा करिष्यतीत्यर्थः. अतस्तादृशं **पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात्**. तस्य नाम-स्वरूपे आह **सौभमयस्मयमि**ति. सुष्ठु भा येषां ते सुभाः, तेषां सम्बन्धि पुरं सौभम् उत्कृष्टलोहनिर्मितं दृढं भवति ॥७॥

ततः कृतार्थो भूत्वा युद्धार्थं द्वारकां समागत इत्याह **स लब्ध्वेति**.

स लब्ध्वा कामगं यानं तमोधाम दुरासदम् ।
ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिकृतं स्मरन् ॥८॥

कामगम् इच्छामात्रेणैवेष्टदेशप्रापकं **तमोधाम** अन्धकारप्रचुरं; तस्मिन्नन्धकारस्तिष्ठतीति स न दृश्यते. **दुरासदं** च केनापि प्राप्तुमशक्यम्. एवं प्राप्तदेववरस्य भगवद्विरोध एव फलमिति **द्वारवतीमेव ययौ. वृष्णिकृतं वैरं** रुक्मिणीहरणात्मकं शिशुपालवधात्मकं च पूर्वं दृष्टं श्रुतं च **स्मरन्** ॥८॥

ततो वैरेण यत्कृतवांस्तदाह **निरुध्येति**.

निरुध्य सेनया शाल्वो महत्या भरतर्षभ ।
पुरीं बभञ्जोपवनान्युद्यानानि च सर्वशः ॥९॥

सौभमात्रं तु तस्य वरप्राप्तं, सेना तु स्वाभाविक्यधिका. अतस्तदा या (/ तया!) **पुरीं निरुध्य उद्यानोपवनानि सर्वशो बभञ्ज** ॥९॥

ततो दुर्गमध्येऽप्युपद्रवं कृतवानित्याह **सगोपुराणि द्वाराणीति**.

सगोपुराणि द्वाराणि प्राकाराट्टालतोलिकाः ।
विहारान् सविमानाग्र्यान् निपेतु शस्त्रवृष्टयः ॥१०॥

गोपुरद्वारसहितानि द्वाराण्यालक्ष्य शस्त्रवृष्टयो निपेतुरिति सम्बन्धः; **बभञ्जेति** केचित्. **प्राकारा अट्टालास्तोलिकाश्च**. प्राकारस्था एवैताः

तोलिकाश्छिद्रपङ्क्तयः, यत्र स्थितैः पाषाणाः क्षिप्यन्ते. **प्रतोलिका** वा शोभास्थानानि. **विहारान्** विश्रामस्थानानि, तानि **विमानाग्र्यसहितानि**. तेषां भञ्जनार्थं तत्र स्थितपुरुषाणां पीडार्थं वा **शस्त्रवृष्ट्यो निपेतुः**. साधारणमेतद् युद्धम् ॥१०॥

दैत्ययुद्धमाह.

शिला द्रुमाश्चाशनयः सर्पाः प्रासारशर्कराः ।
प्रचण्डश्चक्रवातोऽभूद् रजसाच्छादिता दिशः ॥११॥

शिला द्रुमा इति, पाषाणा वृक्षाश्च बहिरुत्पाटिताः अन्तः प्रक्षिप्ताः. **अशनयोऽपि**; तस्य वरप्राप्त्या आसुरमायया अशनयोऽपि तदधीनाः. तथा **सर्पाश्च**. **प्रासारशर्कराः** प्रकृष्य आसाररूपाः शर्कराः; सूक्ष्मपाषाणवृष्टिं कृतवन्तः. शिला द्रुमास्तामसाः अशनयः सात्त्विकाः सर्प-प्रासारशर्करा राजसाः —एवं त्रैविध्येन सर्व एव प्रकार उक्तः. ततः कृत्रिममाह **प्रचण्डश्चक्रवातोऽभू**दिति. भ्रमं जनयतीति भिन्नतया च निरूपितम्. चक्रवातो वात्या **रजसा** रेणुसमूहेन **दिशः आच्छादिताः**. एवं प्राकारतन्मध्यस्थितानां क्रियाविघातकं ज्ञानविघातकं च कृतवन्त इत्यर्थः ॥११॥

तेषामुपद्रवेण जातं फलमाह.

इत्यर्द्यमाना सौभेन कृष्णस्य नगरी भृशम् ।
नाभ्यपद्यत शं राजंस्त्रिपुरेण यथा मही ॥१२॥

इत्यर्द्यमाना इति, **सौभे**नाधमेन पीड्यमाना, अतदर्हा यतः **कृष्णनगरी** अतिसुकुमारी, **शं नाभ्यपद्यत**. निरोधत्वाद् न भक्तिमार्गविरुद्धं वर्णनम्. **राजन्**निति विश्वासार्थम्. पीडाया इयत्तां वक्तुं दृष्टान्तमाह **त्रिपुरेण यथा मही**ति ॥१२॥

एवं महादेवप्रीत्यर्थं तस्योत्कर्षमुक्त्वा– सर्वथा भग्नोपाय एव भगवत्परो भवतीति उपायान्तरं दूरीकर्तुं– प्रद्युम्नादीनां रक्षार्थं युद्धमाह **प्रद्युम्ने**ति.

प्रद्युम्नो भगवान् वीक्ष्य बाध्यमाना निजाः प्रजाः ।
मा भैष्टेत्यभ्ययाद् वीरो रथारूढो महायशाः ॥१३॥

तस्य प्रथमतो गमने हेतुर्**भगवा**निति. भगवत्त्वात् स्वरूपज्ञानमुपायज्ञानं च. **निजाः प्रजा** इति रक्षाभिनिवेशार्थमुक्तम्. आदौ मनसा रक्षां विचारितवान्,

ततो वचनेनाप्याह **मा भैष्टेत्यभ्ययाद्** मुखतो "मा भैष्टे"त्युक्त्वा पश्चाद् रथेन युद्धदेशमभ्ययादित्यर्थः ॥१३॥

सात्यकिश्चारुदेष्णश्च साम्बोऽक्रूरः सहानुजः ।
हार्दिक्यो भानुविन्दश्च गदश्च शुक-सारणौ ॥१४॥

तथा **सात्यकिरपि. चारुदेष्णः** प्रद्युम्नभ्राता, **अक्रूरो** भ्रातृसहितः, **हार्दिक्यादयो** यादवाः, **गदादयो** भ्रातरः, **शुक-सारणौ** दूतौ परं भ्रातरौ ॥१४॥

अपरे च महेष्वासा रथयूथपयूथपाः ।
निर्ययुर्दंशिता गुप्ता रथेभाश्वपदातिभिः ॥१५॥

अपरे च यादवाः **महेष्वासाः** धनुर्धरा **रथयूथपानामपि यूथपाः दंशिताः** रथादिभिर्वेष्टिता **निर्ययुः**. फलप्रकरणत्वाद् लौकिकी भाषा. फलं सर्वत्रानुभवसिद्धत्वाद् लौकिकमेव. अतः स्वतो महान्तः साधनसहिता युद्धार्थं निर्गता इति स्वतः प्रतीकारार्थं प्रवृत्तिः. तद् भगवान् दूरीकरिष्यति. लौकिकी भाषेयमिति न पूर्वविरोधः. बलभद्रो विद्यमानोऽपि महादेवप्रेरितोऽयमित्युपेक्षित इति केचित्. क्वचिदन्यत्र गत इति च ॥१५॥

तत उभयोः शूरत्वख्यापनाय युद्धं वर्णयति **ततः प्रववृते युद्धमिति.**

ततः प्रववृते युद्धं शाल्वानां यदुभिः सह ।
यथासुराणां विबुधैस्तुमुलं लोमहर्षणम् ॥१६॥

शाल्वानामिति बहुवचनं प्राणभृन्न्यायेन (पूर्वमी.सूत्र १।४।१२।२३-२६) प्रधानव्यपदेशन्यायेन[1] वा. उभयेषां युद्धे दार्ढ्यमाह **यथासुराणां विबुधैरिति.** असुराणां यथा देवैस्तुमुलमधिकं **लोमहर्षणं** प्रचण्डप्रहारयुक्तं, यस्मिन् श्रुते रोमाञ्चो भवति ॥१६॥

ततो मायया तैर्या बिभीषिका प्रदर्शिता तां प्रद्युम्नो निवारितवानित्याह **ताश्च सौभपतेर्माया** इति.

ताश्च सौभपतेर्माया दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः ।
क्षणेन नाशयामास नैशं तम इवोष्णगुः ॥१७॥

दिव्यास्त्रैराग्नेयादिभिः नारायणास्त्रेण पाशुपतेन वा. मूले छेदमकृत्वा

१. प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः - सम्पा.

अर्धप्राकृतबुद्ध्या युद्धं करोतीति अपरितोषेणाह **रुक्मिणीसुत** इति. यदर्थं कृतवान् तज्जातमित्याह **क्षणेन नाशयामासेति. नैशं तमो** रात्रेः सम्बन्ध्यन्धकारः सूर्यस्य सहजनिराकार्यः. तेन निरायासेन निराकरणमुक्तम् ॥१७॥

ततो विशेषयुद्धमाह.

विव्याध पञ्चविंशत्या स्वर्णपुङ्खैरयोमुखैः ।
शाल्वस्य ध्वजिनीपालं शरैः सन्नतपर्वभिः ॥१८॥

विव्याध पञ्चविंशत्येति, पञ्चविंशतितत्त्वात्मकाः सर्वे सर्वभावेन विद्धा इति ज्ञापयितुम्. **शाल्वस्य ध्वजिनीपालं** सेनापतिं **शरैर्विव्याध. सुवर्णपुङ्खैरिति** प्रत्यञ्चातः शीघ्रनिर्गमनार्थम्, **अयोमुखैरिति** उत्तमवेधार्थम्. मध्ये शराः **सन्नतपर्वाणः** ॥१८॥

शतेनाताडयच्छाल्वम् एकैकेनास्य सैनिकान् ।
दशभिर्दशभिर्नेतॄन् वाहनानि त्रिभिस्त्रिभिः ॥१९॥

ततः **शतेन शाल्वमताडयत्, एकैकेन चास्य सैनिकान्, दशभिः** सारथीन्, अश्वां**स्त्रिभिस्त्रिभिः** ॥१९॥

एवमेकेन सर्वेषां प्रहारः अत्याश्चर्यत्वात् शत्रुभिरपि स्तुत इत्याह **तत्तस्येति.**

तत्तस्य चाद्भुतं कर्म प्रद्युम्नस्य महात्मनः ।
दृष्ट्वा तं पूजयामासुः सर्वे स्वपरसैनिकाः ॥२०॥

अद्भुतमाश्चर्यकरम्. मन्त्रसामर्थ्यात् पितृसामर्थ्याद् वा एतदिति पक्षं वारयति **महात्मन** इति. स्वयमेव महानुभावः अत एवाश्चर्यम्. **स्वस्य परस्य** शत्रोश्च **सैनिकाः** ॥२०॥

ततः शाल्वः स्वयं युद्धं करिष्यतीति वक्तुं तस्य स्वरूपमाह **बहुरूपैकरूपमिति.**

बहुरूपैकरूपं तद् दृश्यते न च दृश्यते ।
मायामयं मयकृतं दुर्विभाव्यं परैरभूत् ॥२१॥

कदाचिद् **बहुरूप**मनेकरूपं **दृश्यते** कदाचि**देकरूपं**, कदाचिद् **दृश्यते** कदाचिद् **न दृश्यते** इति प्रमाणप्रमेययोरपि वैलक्षण्यमुक्तम्. तत्र हेतुः **मायामयमिति.** तर्हि दिव्यास्त्रेण नाशं यास्यतीत्यत आह **मयकृतमिति.**

तर्ह्यन्यैस्तादृशैः सूक्ष्मेक्षिकया तन्नाशोपायो ज्ञातो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **परैरन्यैर्दुर्विभाव्यं** तर्कितुमशक्यमभूदित्यर्थः ॥२१॥

तस्य देशोऽपि दुर्लक्ष्य इत्याह **क्वचिद् भूमाविति.**

क्वचिद् भूमौ क्वचिद् व्योम्नि गिरिमूर्ध्नि जले क्वचित् ।

अलातचक्रवद् भ्राम्यत् सौभं तद्दुरवस्थितम् ॥२२॥

लक्ष्यं दृष्ट्वा पश्चाद् शस्त्रप्रयोगः. तत् स्थिरे चरे च भवति. चरे च लक्ष्यभूमिः ज्ञातुं शक्या भवति. अस्य तु सर्वमेवाशक्यमिति क्षणमात्रव्यवधानेऽपि विरुद्धदेशान् वर्णयति. आकाश-भूम्योरतिव्यवधानम्, एवं गिरिमस्तक-जलयोरपि. **अलातचक्रवद् भ्राम्यत्** च भवति. तेनाविद्यमानस्थलेऽपि दृश्यत इति तन्निराकरणार्थं न शस्त्रप्रयोगः कर्तुं शक्यः. केनचिन्मन्त्रादिना तथात्वे तत्प्रतीकारेण प्रतिकर्तव्य इति शङ्कां वारयति **तत्सौभं** स्वभावत एव **दुरवस्थितमिति** ॥२२॥

एवं माहात्म्यमुक्त्वा तादृशमपि यादवैः निराक्रियत इत्याह **यत्र यत्रेति.**

यत्र यत्रोपलक्ष्येत ससौभः सहसैनिकः ।

शाल्वस्ततस्ततोऽमुञ्चन् शरान् सात्वतयूथपाः ॥२३॥

उपलक्षणविधयापि यत्र प्रतीयेत **ससौभः** [1]**शाल्वः सैनिकसहितश्च ततः सात्वतयूथपाः शरानमुञ्चन्. तत** इति तस्माद् देशात् शाल्वस्य गमनं सूचयति, अन्यथा "तत्र तत्रे"त्युक्तं स्यात् ॥२३॥

एवं सर्वतः शरप्रक्षेपे सूक्ष्मोऽपि गन्तव्यदेशो रुद्ध इति सौभं सैनिकाश्च शाल्वस्य पीडिता जाता इत्याह **शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शैरिति.**

शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शैराशीविषदुरासदैः ।

पात्यमानपुरानीकः शाल्वोऽमुह्यत् परेरितैः ॥२४॥

स्पर्शे अग्न्यर्काभ्यां तुल्यता, पर्यवसाने आशीविषतुल्यता. अत एव **दुरासदैः** अप्रतीकार्यैः **शरैः पात्यमानं पुरमनीकाः** सैनिकाश्च यस्य एतादृशः **शाल्वः अमुह्यत्.** तर्हि पलायनं तेषां प्रार्थना वा कर्तव्येति तत्राह **परेरितैः.** शत्रुप्रेरिता एते बाणाः अतः शत्रुजयो मरणं वा उपायः नान्य इति

१. सशाल्वः इति मुद्रित-सं-घपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

मोहं प्राप्तवान् ॥२४॥

एवं यादवानां पौरुषमुक्त्वा शाल्वस्य सैनिकानामपि पौरुषमाह तुल्यत्वाय **शाल्वानीकप-शस्त्रौघैरि**ति.

शाल्वानीकप-शस्त्रौघैर्वृष्णिवीरा भृशार्दिताः ।
न तत्यजू रणं स्वं स्वं लोकद्वयजिगीषवः ॥२५॥

शाल्वस्याप्यनीकपाः सेनारक्षकाः तेषां च **शस्त्रौघाः** तैः सर्वशः पीडिता अपि **वृष्णिवीराः स्वं स्वं रणं न तत्यजुः**. अनेन भागक्लृप्त्या युद्धं जायत इति लक्ष्यते. अपरित्यागे हेतुः **लोकद्वयजिगीषव** इति. जये मरणे वा इहलोके कीर्तिः परलोके स्वर्ग इति अतो लोकद्वयजयार्थमपरित्यागः ॥२५॥

एवं साधारणयुद्धमुक्त्वा प्रधानयुद्धमाह **शाल्वामात्य** इति.

शाल्वामात्यो द्युमान्नाम प्रद्युम्नं प्राक् प्रपीडितः ।
आसाद्य गदया मौर्व्या व्याहत्य व्यनदद् बली ॥२६॥

अमात्यो मुख्यमन्त्री शाल्वतुल्यः, **नाम्ना द्युमान्** कान्तियुक्तश्च पूर्वं **प्रद्युम्नात् पीडितः** सन् **आसाद्य** निकटे आगत्य **मौर्व्या** कृष्णलोहनिर्मितया तृणविशेषबद्धया वा **गदया व्याहत्य** ताडयित्वा **व्यनदत्** शब्दं कृतवान् “जितं जितमि”ति. यतो **बली**. गदायां बलं प्रधानं, तेन महती पीडा जातेति सूचितम् ॥२६॥

ततो यज्जातं तदाह **तं द्युमदि**ति.

तं द्युमद्गदया शीर्णवक्षस्थलमरिन्दमम् ।
अपोवाह रणात् सूतो धर्मविद् दारुकात्मजः ॥२७॥

शरीरस्यैव महती पीडा जाता. यः कश्चनात्रापकर्षः स सर्वोऽपि महादेवसन्माननार्थः. **द्युमतः** प्रसिद्धस्य **गदया शीर्णं वक्षस्थलं** **यस्ये**ति. स्वभावतोऽप्यप्रयोजकत्वं वारयति **अरिन्दमम**िति. तदा रणस्थानात् तस्य **सूतः अपोवाह** दूरे नीतवान्. सोऽपि शत्रुपक्षपातीति शङ्काव्युदासार्थमाह **दारुकात्मज** इति. तस्य भयान्नयनं वारयति **धर्मवि**दिति ॥२७॥

ततः किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह **लब्धसञ्ज्ञो मुहूर्तेने**ति.

लब्धसञ्ज्ञो मुहूर्तेन कार्ष्णिः सारथिमब्रवीत् ।

अहो असाध्विदं सूत यद् रणान्मेऽपसर्पणम् ॥२८॥

मुहूर्तमात्रं मूर्च्छितः, प्रद्युम्नस्य रुक्मिणीपुत्रत्वात् मातुलादिपक्षपाताद् वा. ततो भगवदनुग्रहाद् मुहूर्तानन्तरं **लब्धसञ्ज्ञः**. यतः **कार्ष्णिः** कृष्णपुत्रः. अग्रे सारथिं दृष्ट्वा अनभिप्रेतं पलायनमिति बोधयन्न**ब्रवीत्**. **अहो** इति तस्य तिरस्कारवचनम्. **इदं** **ममापसर्पणमत्यन्तमसाधु** सर्वत्र निन्दितम्. **सूते**ति सम्बोधनं परिज्ञानार्थम् ॥२८॥

ननु लोके पलायमाना अपि शूरा दृश्यन्ते तत्राह **न यदूनां कुले जात** इति.

न यदूनां कुले जातः श्रूयते रणविच्युतः ।
विना मां क्लीबचित्तेन सूतेन प्राप्तकल्मषम् ॥२९॥

रणविच्युत इति, रणस्थानादपसरणं न श्रुतपूर्वम्. मरणं वा जयो वेति न तृतीयः पक्षः. नन्वद्य चेज्जातः तदापि व्याप्तिर्भग्नैवेत्याशङ्क्याह **विना मां क्लीबचित्तेन सूतेने**ति. अहमेवैकः, सोऽपि सूतेन तथा जातः. सूतोऽपि अद्यैव तथा ज्ञातः **क्लीबचित्त** इति. अतः **प्राप्तकल्मषो**ऽहम् ॥२९॥

ननु किमेतावता? तत्राह **किं नु वक्ष्य** इति.

किं नु वक्ष्येऽभिसङ्गम्य पितरौ राम-केशवौ ।
युद्धाद् धर्म्यादपक्रान्तः पृष्टस्तत्रात्मनः क्षमम् ॥३०॥

पितरौ रामकेशवावभिसङ्गम्य, नु इति वितर्के, **किं वक्ष्ये?** वचने प्रकारः कोऽपि नास्तीति. ननु प्रहार एव वर्तते, तत्राह **युद्धाद् धर्म्यादपक्रान्त** इति. धर्मादनपेतं युद्धम् अतस्तस्मादपक्रमः अधर्मो भवति. तर्हि तूष्णीं स्थातव्यमिति चेत्, तत्राह **पृष्ट** इति. तर्हि अशक्तिर्वक्तव्येति चेद्, **आत्मनः क्षमम**िति. न हि मया अशक्तिर्वक्तुं शक्या ॥३०॥

किञ्च सूतदोषेऽप्युक्ते कदाचित् पित्रा अङ्गीकर्तव्यं, न तु भ्रातृपत्नीभिः हास्यस्वभावाभिरित्याह **व्यक्तं मे कथयिष्यन्ती**ति.

व्यक्तं मे कथयिष्यन्ति हसन्त्यो भ्रातृजामयः ।
क्लैब्यं कथं कथं वीर तवान्यैः कथ्यतां मृधे ॥३१॥

उक्तेऽप्युपाये विपरीतं ज्ञात्वा **हसन्त्यो** भविष्यन्ति, यतो **भ्रातृजामयः** कुलस्त्रियः. एवं च वक्ष्यन्तीत्याह **क्लैब्यं कथं कथं वीरे**ति. हे **वीर,**

विपरीतार्थं सम्बोधनम्, **अन्यैः सह ते क्लैब्यं कथं कथमिति** श्रवणादरे वीप्सा. **क्लैब्यं** वा **कथयिष्यन्ति**. हानिकथनेऽप्युपहासः **अन्यैः सह कथं कथमिति** ॥३१॥

एवमुपालब्धस्य सूतस्य वचनं **धर्मं विजानतेति**.

॥ सारथिरुवाच ॥

धर्मं विजानताऽऽयुष्मन् कृतमेतन्मया विभो ।

सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद् रथिनं सारथिं रथी ॥३२॥

धर्मस्वरूपमग्रे वक्तव्यम्. तर्हि मरणमस्तु, किमित्यपसरणमिति चेत्, तत्राह **आयुष्मन्निति**. आयुर्वर्तते, एवं सत्युपेक्षा महद्दोषाय. अत **आयुर्धर्मं च विजानता मयैतत्कृतम्**. धर्ममाह **सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेदिति**. ममाप्येवम्भावे त्वया रक्षणीय इत्युपदेशार्थं वचनम् ॥३२॥

इदं त्वया कुतोऽवगतमित्याशङ्क्याह **एतद् विदित्वा तु भवानिति**.

एतद् विदित्वा तु भवान् मयाऽपोवाहितो रणात् ।

उपस्पृष्टः परेणेति मूर्च्छितो गदया हतः ॥३३॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥

तुशब्दः अज्ञानादागमनं वारयति. एतद्धर्मं ज्ञात्वैव **भवान् रणादपोवाहितः**. किं मम जातमित्याकाङ्क्षायामाह **उपस्पृष्टः परेणेतीति**. इत्यमुना प्रकारेण हृदयविदारणरूपेण **परेणोपस्पृष्टः** शत्रुणा ताडितः. ताडनमाह **गदया हतः** ततो **मूर्च्छित** इति. एतत् कृच्छ्रगमनम्, अतो धर्म-कीर्तिविरोधे धर्मो रक्षणीय इति सिद्धान्तः ॥३३॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे सप्तविंशाध्यायविवरणम् ॥

लेखः

एतद् विदित्वेत्यस्याभासे इदं त्वयेति. मम कृच्छ्रगमनं त्वया कथं ज्ञातमित्यर्थः ॥३३॥

॥ इति त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥

॥ सप्तमः स्कन्धादितः चतुर्सप्ततितमोऽध्यायः ॥

अष्टाविंशेऽतिपीडायां भगवत्स्मरणे कृते ।
तद्दुःखवारणं कृष्णश्चकारेति निरूप्यते ॥(१)॥
द्युमतोऽपि वधं कृष्णश्चेत् कुर्यात् स्वयमागतः ।
तदा प्रद्युम्नदुःखस्य न निवृत्तिर्भवेत् क्वचित् ॥(२)॥
अतः प्रद्युम्नहस्तेन मारणं तस्य रूप्यते ।
भक्तानां दुःखदानं तु न युक्तमिति वै हरिः ॥(३)॥
मतान्तरेणाशक्यत्वं बोधयामास वाक्यतः ।
अन्यथा श्रीशुको लीलां तादृशीं नैव वर्णयेत् ॥(४)॥
तादृग्लीलान्तरमिव वर्णितां वा न दूषयेत् ।
एवं सिद्धान्तमज्ञात्वा लोको भ्राम्यति सर्वथा ॥(५)॥
कल्पान्तरे तथा चक्रे सूक्ष्मांशस्यावतारतः ।
निरोधे यदि नो ब्रूयात् सिद्धान्तो हि विरुध्यते ॥(६)॥

लेखः

कारिकायां **भक्तानामिति**. अतिभयाद् निरोधसिद्धेरुक्तत्वात् निरोधार्थमशक्यत्वं बोधनीयम्. तथा सति **भक्तानां** माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहयुक्तानां माहात्म्यविरोधाद् दुःखं स्यात्. तत् तु न **युक्तमिति**हेतोर्**हरिर्मतान्तरेण** शुकातिरिक्तमत-सिद्धेनांशावतरणेन "कथं राममसम्भ्रान्तमि" (श्लो. २४) ति **वाक्यतः** शाल्वस्य **अशक्यत्वं बोधयामास**. तथा च जातापीयं लीला अंशावतारे प्रदर्शनार्था, नतु वस्तुतो भगवति पूर्णे ते भावाः सन्ति. तथा सति शुकः स्वमतेनैव वदेदिति ज्ञात्वा भक्तानां दुःखं न भवेत्. पूर्णे भगवत्येवं नास्तीत्यंशावतारलीलां निरोधार्थमुक्तवान्. यत्र भगवतोऽपि क्वचिदवतारे एवं भावस्तत्रान्येषां का वार्तेति सर्वाशक्यत्वज्ञाने सर्वथा शरणागतिर्भवतीति निरोधसिद्धिः (३-५).

सिद्धान्तो हीति. अस्मिन् स्कन्धे निरोधः साधनीयः तदर्थं भक्तिविरुद्धा अपि कामादिभावाः निरूपणीया इति सिद्धान्त इत्यर्थः. **शास्त्रार्थे** इति. आनन्दरूपस्य दुःखहर्तुर्लीला स्वयमप्युभयविधः शास्त्रार्थः. इयं तु लीला भक्तानां दुःखहेतुरिति दोष इत्यर्थः (६-७).

शास्त्रार्थे दोषनाशाय निराकरणमुच्यते ।
अतः स्कन्धार्थ-शास्त्रार्थौ पक्षाभ्यामिह रूपितौ ॥(७)॥

पूर्वाध्यायान्ते द्युमतोत्कर्षे पश्चात्तापो निरूपितः. प्रद्युम्नस्य तदानीं द्युमद्वधार्थं प्रवृत्तिरुच्यते **स तूपस्पृश्येति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

स तूपस्पृश्य सलिलं दंशितो धृतकार्मुकः ।
नय मां द्युमतः पार्श्वं वीरस्येत्याह सारथिम् ॥१॥

मूर्च्छानन्तरं तथा कर्तव्यमिति सलिलोपस्पर्शनम् = आचमनं स्नानमित्येके. ततः पुनः **दंशितो** बद्धकवचः ; नारायणकवचादिना, लौकिकेन च. ततो **धृतकार्मुकः**. अनेन पूर्वं कवचरहित एव स्वपौरुषाभिमानाद् गत इति लक्ष्यते. अत एव गर्वनाशार्थं भङ्गोऽपि. ततः **मां द्युमतः पार्श्वं नयेति** सूतं प्रति वचनम्. शत्रोः प्रशंसामाह **वीरस्येति** ॥१॥

विधमन्तं स्वसैन्यानि द्युमन्तं रुक्मिणीसुतः ।
प्रतिहत्य प्रत्यविध्यन् नाराचैरष्टभिः स्मयन् ॥२॥

स तु वञ्चितः सन् लज्जया आक्रोशेन मारित इति दोषव्यावृत्त्यर्थमाह **विधमन्तं स्वसैन्यानीति**. स्वबलघातकत्वान्मारणीय एवेत्यर्थः. तथाप्याक्रोशेन मारणादाह **रुक्मिणीसुत** इति. **प्रतिहत्य** अन्विष्य भर्त्सयित्वा वा **अष्टभिर्नाराचैः प्रत्यविध्यत्** ससामग्रीकं नाशितवानेवेत्यर्थः. **स्मयन्निति** अधुनास्य बलं द्रष्टव्यमित्यर्थः ॥२॥

अष्टबाणानां विनियोगमाह **चतुर्भिश्चतुरो वाहानिति**.

चतुर्भिश्चतुरो वाहान् सूतमेकेन चाहनत् ।
द्वाभ्यां धनुश्च केतुं च शरेणान्येन वै शिरः ॥३॥

द्युमतः शिरः **अन्येनाष्टमेन**. यानारुह्य येन प्रेरितो येन करणेन येन लब्धप्रतिष्ठः तत्सर्वमच्छिनत् ॥३॥

ततोऽन्येऽपि प्रधाने मारिते तद्बलं मारितवन्त इत्याह **गदसात्यकिसाम्बाद्या** इति.

गद-सात्यकि-साम्बाद्या जघ्नुः सौभपतेर्बलम् ।
पेतुः समुद्रे सौभेयाः सर्वे सञ्छिन्नकन्धराः ॥४॥

गदया प्रद्युम्नो मारित इति स्वबलेन तत्सैन्यं मारितवन्तः. गदायामेव शौर्यं बलं च व्यापृतं भवति. ततः **सौभेयाः सर्वे** अन्तरिक्षे युद्धार्थमागताः पलायमाना वा **समुद्रे** पतिताः **सञ्छिन्नकन्धराः** सन्तः ॥४॥

एवं भगवत्प्रतीक्षार्थं यादव-शाल्वानां जयापजयरहितानां युद्धानुवृत्तिमाह **एवं यदूनामिति.**

एवं यदूनां शाल्वानां निघ्नतामितरेतरम् ।
युद्धं त्रिणवरात्रं तद् अभूत् तुमुलमुल्बणम् ॥५॥

इतरेतरं निघ्नतामिति समता. **त्रिणवरात्रं** सप्तविंशत्यहोरात्रम्. **तुमुलमत्याक्रोशयुक्तमुल्बणं** क्रूरं च ॥५॥

एवं यादवानां दुरत्ययं व्यसनं गतानां महद्दुःखं निरूप्य भगवत एवमुपेक्षाऽयुक्तेति दोषपरिहारार्थं मतान्तरमारभते **इन्द्रप्रस्थं गत** इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इन्द्रप्रस्थं गतः कृष्ण आहूतो धर्मसूनुना ।
राजसूयेऽथ निर्वृत्ते शिशुपाले च संस्थिते ॥६॥

मतान्तरे पूर्वोक्तन्यायेन न[१] गमनागमनेनापि सम्भ्रमस्तथा. तदर्थं तत्रत्यां कथामेवाह **धर्मसूनुना आहूतः** स्वयमेकाकी **इन्द्रप्रस्थं गतः,** पश्चाद् बलभद्रोऽप्याहूतः. मानभङ्गस्तु तस्मिन् काले नास्ति. विद्यमानोऽपि प्रकारान्तरेण[२] वा भविष्यति. अतः बलभद्रसद्भावोऽपि न दोषाय. ततो **राजसूये (अथ!) निर्वृत्ते** भिन्नप्रक्रमेण समाप्ते **शिशुपाले च** मृते तदनन्तरमेव ॥६॥

कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य मुनींश्च ससुतां पृथाम् ।
निमित्तान्यतिघोराणि पश्यन् द्वारवतीं ययौ ॥७॥

कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य पुत्रसहितां पितृभगिनीं च पृष्ट्वा अपशकुनेषु जायमानेषु द्वारकाऽस्वास्थ्यज्ञापकेषु प्राप्तशङ्क इव **घोराणि निमित्तानि पश्यन् द्वारवतीं ययौ** ॥७॥

मध्ये गच्छतश्चिन्तामाह **आह चेति.**

आह चाहमिहायात आर्यमिश्राभिसङ्गतः ।
राजन्याश्चैद्यपक्षीया नूनं हन्युः पुरीं मम ॥८॥

---

१. न इति क-ख-गपाठे नोपलभ्यते - सम्पा. २. प्रकारान्तरे इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

प्रथमतः **अहमिह** इन्द्रप्रस्थे समागतः पश्चा**दार्यमिश्रेण** बलभद्रेण **अभिसङ्गतो** मिलितः ; सहैव वा आगमनम्. ततो रक्षार्थमवतीर्णांशद्वयमपि द्वारकायां नास्तीति **चैद्यपक्षीया राजन्या** दैत्याः **नूनं मे पुरीं हन्युः** ॥८॥

निमित्तदर्शनं चिन्ताभङ्गश्चेति निरूप्यते ।
मतान्तरे दोषभावं मोहका वर्णयन्ति हि ॥(८)॥

ततो यज्जातं तदाह **वीक्ष्य तत्कदनमिति.**

वीक्ष्य तत्कदनं स्वानां निरूप्य पुररक्षणम् ।
सौभं च शाल्वराजं च दारुकं प्राह केशवः ॥९॥

अहोरात्रं युद्धक्लेशं **वीक्ष्य पुररक्षणम**र्थाद् बलभद्रं **निरूप्य.** यथाकथञ्चित् कथाया अनुवादात् नात्रासमर्पकतादोषः नापि क्रियायाः क्रियान्तरोल्लङ्घनदोषः. **सौभं च** निरीक्ष्य **शाल्वराजं च** निरीक्ष्य स्वसारथिं **दारुकं** प्रति **प्राह.** स्वतःसमर्थस्य सूतप्रेरणमयुक्तमित्याशङ्क्याह **केशव** इति. यथा ब्रह्म-शिवौ प्रेरयति तथैनमपीत्यर्थः ॥९॥

तस्मिन् कल्पे सारथिः प्राकृत इति सम्बोधयति **रथं प्रापयेति.**

रथं प्रापय मे सूत शाल्वस्यान्तिकमाशु वै ।
सम्भ्रमस्ते न कर्तव्यो मायावी सौभराडयम् ॥१०॥

सम्भ्रमो भयं **ते** त्वया. यतः **सौभराड् मायावी**ति तस्य स्तुतिः ॥१०॥

इत्युक्तश्चोदयामास रथमास्थाय दारुकः ।
विशन्तं ददृशुः सर्वे स्वे परे चारुणानुजम् ॥११॥

पूर्वं प्रेरणायां दारुको विकलः स्थित इति एवं भगवता उक्तः भगवन्तं मानयामास ; तथैव करिष्यामीति भयं त्यक्त्वा प्रवृत्त इत्यर्थः. **रथं** सम्य**गास्थाय.** यतो दारूणां शिरोरूपः सुखरूपो वा अतस्तदिच्छानुसारेण दारूणां चलनमुक्तम्. ततो रथस्य शीघ्रगत्या रेणुभिराच्छादने रथमदृष्ट्वैव **सर्वे** एव **स्वे परे चारुणानुजं** गरुडमेव **विशन्तं ददृशुः** ॥११॥

ततः शाल्वेनैव कृष्णो दृष्ट इत्याह **शाल्वश्चेति.**

शाल्वश्च कृष्णमालोक्य हतप्रायबलेश्वरः ।
प्राहिणोत् कृष्णसूताय शक्तिं भीमरवां मृधे ॥१२॥

हतप्रायबलस्येश्वरः सोऽपि निरन्तरयुद्धेन क्लिष्टः. ततः क्रोधेन सूतेन रथः शीघ्रमानीत इति **कृष्णसूताय भीमरवां शक्तिं प्राहिणोत्. मृधे** युद्धे सावधानदशायाम् ॥१२॥

ततस्तन्निराकरणमाह **तामापतन्तीमिति.**

तामापतन्तीं नभसि महोल्कामिव रंहसा ।
भासयन्तीं दिशः शौरिः सायकैः शतधाच्छिनत् ॥१३॥

दर्शनेनापि भयजनकत्वायाह **महोल्कामिवेति. रंहसा आपतन्तीमिति** प्रतीकारान्तरं निराकृतम्. **भासयन्तीं दिश** इति तस्या माहात्म्यं फलावश्यकत्वाय. ततो भगवान् **सायकैः** बहुभिरेव **शतधा अच्छिनत्** ॥१३॥

ततः प्रहारकर्तुरपि प्रहारं कृतवानित्याह **तं चेति.**

तं च षोडशभिर्विद्ध्वा बाणैः सौभं च खे भ्रमत् ।
अविध्यच्छरसन्दोहैः खं सूर्य इव रश्मिभिः ॥१४॥

षोडशभिर्बाणैरष्टाङ्गेषु द्वाभ्यां द्वाभ्यां वेधः. **सौभं च षोडशभिः खे भ्रमदेव,** नतु स्थितम्. आदौ **तं विद्ध्वा** रक्षाया अभावे **सौभं च अविध्यत्.** तत्र तु **शरसन्दोहा** एव बहव एव उपर्यधश्च. वेधार्थं दृष्टान्तः **खं सूर्य इवेति.** अनेनाकाशस्य पीडाभाव इव सौभस्यापि पीडाभावो निरूपितः. महादेवप्रशंसेयम् ॥१४॥

ततो महादेवभक्त्या सौभातिक्रमे कृते शाल्वोऽप्यतिक्रमं कृतवानित्याह **शाल्वः शौरेरिति.**

शाल्वः शौरेस्तु दोः सव्यं सशार्ङ्गं शार्ङ्गधन्वनः ।
बिभेद न्यपतद्धस्ताच्छार्ङ्गमासीत् तदद्भुतम् ॥१५॥

तुशब्दः सिद्धान्तं वारयति. **सव्यं दोः** वामं बाहुं सायुधं च. यतोऽयं **शार्ङ्गधन्वेति** प्रसिद्धः. एवं प्रसिद्धहेतुसहितं महापराक्रमसहितं निराकृतवानिति महादेवप्रशंसा, **हस्तात् न्यपतदित्यपि** ॥१५॥

हाहाकारो महानासीद् भूतानां तत्र पश्यताम् ।
विनद्य सौभराडुच्चैरिदमाह जनार्दनम् ॥१६॥

(तत्र पराक्रमसहितं) (?) **तत्र पश्यतां भूतानाम्** अभूतपूर्वत्वाद् **हाहाकारः.** एवं कायिकनिराकरणमुक्त्वा वाचनिकमाह **विनद्येति,** "जितं

जितमि''ति विनदनमुक्त्वा. ततः **सौभराट्** सौभे विराजमानः **जनार्दनमविद्याया** अपि नाशकम् ॥१६॥

भ्रान्तः सन्निदमाह **यत्त्वयेति** द्वाभ्याम्. तस्य वाक्यं निरूप्यते.

॥ शाल्व उवाच ॥

यत्त्वयाऽमूढ नः सख्युर्भ्रातुर्भार्या हृतेक्षताम् ।
प्रमत्तः स सभामध्ये त्वया व्यापादितः सखा ॥१७॥
तं त्वाद्य निशितैर्बाणैरपराजितमानिनम् ।
नयाम्यपुनरावृत्तिं यदि तिष्ठेर्ममाग्रतः ॥१८॥

अमूढेति छेदः. **नः सख्युः** शिशुपालस्य तव **भ्रातुः** भ्रातृरूपसख्युर्वा **ईक्षताम**स्माकं सतामेवाकिञ्चित्कराणामग्रे **हृता.** अनेन स्वाभाविकशौर्यात् तव महच्छौर्यमिति स्तुतिरुक्ता. न केवलं तद्भार्या आत्मसात्कृता किन्तु सोऽपीत्याह **प्रमत्तः स सभामध्य** इति. **सोऽपि** समर्थः तथापि प्रमत्तत्वात् सभायां **त्वया व्यापादितः** नतु युद्धे, अतः **स सखेति** हेत्वर्थं पुनः कथनम्. ततः स्वकर्तव्यमाह **तं त्वेति. निशितैरिति** स्वपौरुषख्यापनम् ॥१७-१८॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

वृथा त्वं कत्थसे मन्द न पश्यस्यन्तिकेऽन्तकम् ।
पौरुषं दर्शयन्ति स्म शूरा न बहुभाषिणः ॥१९॥

भगवांस्तु वाक्येन शब्दातिक्रमं निवारयति **वृथा त्वं कत्थस** इति, अर्थस्य बाधितत्वात्. अत एव **मन्द**त्वम्. प्रत्युत विपरीतं तवास्तीत्याह **न पश्यसीति, अन्तिके** मच्चाग्रे **तवान्तको**ऽस्तीति. इदमप्ययुक्तमिति जयापजययोः अव्यवस्थेति शूराणां स्वप्रशंसाकथनमयुक्तमिति तमुपदिशति **पौरुषं दर्शयन्ति स्मे**ति. **पौरुषं** पुरुषशरीरबलं **शूराः** क्षत्रियाः. ब्राह्मणानां तु वाग्बलमेव भवति इति तद्व्युदासः ॥१९॥

एवमुक्त्वा स्ववाक्यसत्यत्वाय भगवान् स्वपौरुषं दर्शयामास **इत्युक्त्वेति.**

लेखः

वृथा त्वं कत्थस इत्यत्र **मच्चाग्र** इति. **मदिति** पञ्चम्यन्तं; त्वं मामतिवदसि मत्तश्चाग्रे तवान्तको वर्तते इत्यर्थः ॥१९॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्युक्त्वा भगवान् शाल्वं गदया भीमवेगया ।
तताड जत्रौ संरब्धः स चकम्पे वमन्नसृक् ॥
गदायां सन्निवृत्तायां शाल्वस्त्वन्तरधीयत ॥२०॥

यतो **भगवान्** समर्थः. **भीमवेगये**त्यलौकिकं सामर्थ्यं निराकृतम्. **जत्रौ** कण्ठमालास्थिनि. **संरब्धः** क्रोधेन क्रियावेशमात्रं वा. ततः **सः** शाल्वः **असृग्वमन् चकम्पे.** ततस्तस्य लोहितं दृष्ट्वा कृतकार्या गदा निवृत्ता. तस्यां **निवृत्तायां** प्रहारान्तरेण मरणं भविष्यतीति निश्चित्य असुरत्वाद् भगवद्रूपां मायां प्रार्थयितु**मन्तरधीयत.** तुशब्देन महादेवपक्षो निवारितः ॥२०॥

ततो भगवद्रूप-मायाकृत्यमाह.

ततो मुहूर्त आगत्य पुरुषः शिरसाच्युतम् ।
देवक्या प्रहितोऽस्मीति नत्वा प्राह वचो रुदन् ॥२१॥

ततो मुहूर्त इति. मुहूर्तानन्तरं कश्चित् पुरुषः समागतः. इदं मानसनिराकरणम्, तेन मनसा प्रार्थितेनेश्वरेण क्रियत इति भगवतोऽपि मनस्येव काचित्प्रतिभा सैव. स पुरुषो मायिकः तथापि भगवदीय इति भगवत्समीपागमनेऽपि न तस्य नाशः. सोऽपि व्यामोहार्थ**मच्युत**मव्यामुग्धं "**देवक्या** अहं **प्रहित**" इति आत्मानं निवेद्य पश्चाद् भगवन्तं **नत्वा** **रुदन्** **वचः** **प्राह**. देवक्यन्तरङ्गत्वख्यापनाय रोदनम् ॥२१॥

कृष्ण कृष्ण महाबाहो पिता ते पितृवत्सल ।
बद्ध्वापनीतः शाल्वेन सौनिकेन यथा पशुः ॥२२॥

तस्य वाक्यं **कृष्ण कृष्णे**ति, दुःखे वीप्सा. **महाबाहो** इति क्रियाशक्तिसामर्थ्यम्. वाच्यमाह **पिता त** इति. **पितृवत्सले**ति अभिमानार्थं सम्बोधनम्. **बद्ध्वा अपनीत** इति महत्यपमानना. स्वयमेव त्यक्ष्यतीति शङ्काभावाय दृष्टान्तमाह **सौनिकेने**ति. सूनायां प्रसिद्धः मारक एव अतो मारणार्थं नीतवानित्यर्थः ॥२२॥

निराकरणकार्यं भगवति भातमित्याह **निशम्य विप्रियमि**ति.

निशम्य विप्रियं कृष्णो मानुषीं प्रकृतिं गतः ।
विमनस्को घृणी स्नेहाद् बभाषे प्राकृतो यथा ॥२३॥

मानुषीं मनुष्यस्वभावमङ्गीकृतवान्. ततस्तत्स्वभावात् **विमनस्कः घृणी** पितरि कृपावांश्च. ततः **स्नेहाद्** वक्ष्यमाणं **बभाषे** ॥२३॥

"मनः पूर्वरूपं[१] वागुत्तररूपम्" (ऐत.उप. १।१।२) इति श्रुतेः, "तस्य यजुरेव शिरः" (तैत्ति.उप. २।३) इति मानसपुरुषस्य शब्दप्रकृतिकत्वात् शोकशब्दाभावे मानसपीडा पूर्णा नोक्ता भवतीति शब्दोऽपि निरूप्यते **कथं राममिति.**

कथं राममसम्भ्रान्तं जित्वाजेयं सुरासुरैः ।
शाल्वेनाल्पीयसा नीतः पिता मे बलवान् विधिः ॥२४॥

रामो रक्षार्थं नियुक्तः स **चासम्भ्रान्तः** अतिसावधानः समयविशेषात्. अतिक्रमस्तु तस्याशक्य इत्याह **सुरासुरैरजेयमिति.** अयं सर्वोत्तमो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **शाल्वेनाल्पीयसा नीत** इति. **मे पितेति** भाग्यं वा तस्य कथं न रक्षकं जातमित्यर्थः. सर्वातिक्रमस्य दृष्टत्वाद् नित्येच्छो **विधिरेव बलवान्** ॥२४॥

न केवलं नयनमात्रं, तदा मानसः क्लेशः सन्दिग्धोऽपि भवेत्, किन्त्वनर्थान्तरमपीत्याह **इति ब्रुवाण** इति.

इति ब्रुवाणे गोविन्दे सौभराट् प्रत्युपस्थितः ।
वसुदेवमिवानीय कृष्णं चेदमुवाच सः ॥२५॥

प्रत्युपस्थितः आभिमुख्येन समायातः. ततो **वसुदेवमिव** मायिकं कञ्चन पुरुषं समानीय **कृष्णमिदं** वक्ष्यमाणमु**वाच.** यतः **स** उपासितमायारूपभगवान् ॥२५॥

तस्य वाक्यम् **एष ते जनिता तात** इति.

एष ते जनिता तातो यदर्थमिह जीवसि ।
वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुम् ईशश्चेत् पाहि बालिश ॥२६॥

भगवत्त्वादिन्द्रियप्रवृत्तिः; अजनिता अतात इति तु वस्तुस्थितिः. कृतेऽपि भूभारहरणे स्थितिः पित्रर्थेति मन्यते. यद्यप्यन्येषां स्थितिर्बहुकार्यार्था तथापि पितृभक्तस्य एतदेव कार्यमिति प्रकृते क्लेशाधिक्याय आरोपन्यायेन पितृभक्तत्वं वदन् स्वतः पीडां कर्तुमशक्तः तदभावे स्वत एव पीडितो

१. पूर्वम् इति मुद्रितपाठः - सम्पा.

भविष्यतीति तथोक्तवान्. अधिकक्लेशार्थमाह **वधिष्ये** इति. क्रिया तु कर्तव्यैवेति प्रतिज्ञाहान्यर्थम् **ईशश्चेत् पाहीत्युक्तवान्.** स्वबुद्ध्या सम्बोधनं **(बालिश !)** बालिनोऽपि शं यस्मादिति स्वयमेव द्वेषिणामप्युपकारं करोषीति मारणेनास्मान् कृतार्थान् कुर्विति प्रार्थना. मतान्तरभाषेति पदार्थो नात्राभिप्रेत इति न पदानाम् अर्थान्तरं वर्ण्यते ॥२६॥

एवं निर्भर्त्स्य मायावी खड्गेनानकदुन्दुभेः ।
उत्कृत्य शिर आदाय खस्थं सौभं समाविशत् ॥२७॥

निर्भर्त्सनम् अभिमानप्रच्यावनम्. तथाकरणे बलं **मायावीति.** "मायेत्यसुरा" (मुद्ग.उप. ३।२) इतिश्रुतेः "तं यथा यथोपासते तद्धैतान् भूत्वावति" (मुद्ग.उप. ३।२) इति च भगवतेव. भगवान् एवं क्रीडतीति न काप्यनुपपत्तिः. अतो भगवदावेशात् लीलाप्रदर्शक इव **आनकदुन्दुभेः शिरः खड्गेनोत्कृत्य** पुनर्योजनाभावाय **खस्थम्** आकाशस्थितं **सौभं** मूलाश्रयं **समाविशत्** ॥२७॥

ततो मुहूर्तं प्रकृतावुपप्लुतः स्वबोध आस्ते स्वजनानुषङ्गतः ।
महानुभावस्तदबुध्यदासुरीं मायां स शाल्वप्रसृतां मयोदिताम् ॥२८॥

एतन्मुहूर्तमात्रम्. तृतीयेऽपि मुहूर्ते भगवान् इममर्थं चिन्तयन् तूष्णीं स्थितः. अनेन बलभद्ररक्षाभावशङ्कापि निवारिता. तदनन्तरं मुहूर्तमात्रं **प्रकृतावेवोपप्लुतः** सन् पश्चान्मानुषीं प्रकृतिं परित्यज्य अन्यप्रबोधाभावेऽपि **स्वबोध** एव **आस्ते** स्वज्ञानशक्तिं प्रकटीकृतवान्. अत्रापि क्रियाव्यवहितेन सम्बन्धः — **स्वजनानुषङ्गतः प्रकृतावुपप्लुत** इति, अस्वजनानुषङ्गतो वा. तस्य स्वजनानुषङ्गो नास्तीति मोहाभावाद् जिज्ञासया स्वबोधे स्थितिर्जातेत्यर्थः. ननु तथाप्युपदेशाभावे कथं ज्ञाननिष्ठा? तदाह **महानुभाव** इति. तदा **तामासुरीं मायामबुध्यद्** इदं ममैव रूपान्तरमिति, आत्मजिज्ञासायामेव आत्मावबोध इति. अनेन तस्मिन्नपि कल्पे भगवतः शुद्धब्रह्मत्वमित्युक्तम्. अज्ञत्वादिलीला सर्वावतारेष्विति न काप्यनुपपत्तिः. परमुपक्रान्ते भागवते कृष्णो नैवंविध इति अत्रापि साधारण्येन योजयतां दूषणमग्रे वक्तव्यम्. सा माया कुत उत्पन्ना किं निष्ठेति तद्द्वयं निर्दिशति **शाल्वप्रसृतां मयोदितामिति,** शाल्वे व्याप्तां मयेन च निरूपिताम् ॥२८॥

ततो बोधेन तद्रूपे उपसंहृते तत्कार्याणां लयो जात इत्याह **न तत्र दूतमिति.**

न तत्र दूतं न पितुः कलेवरं प्रबुद्ध आजौ समपश्यदच्युतः ।
स्वाप्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं सौभस्थमालोक्य निहन्तुमुद्यतः ॥२९॥

अनेनापि भगवत्त्वमेव साधितम्, अन्यथा मायिकोपसंहारे हेत्वभावः. **दूतः पितुः** शरीरं च पूर्वं दृश्यमानमपि **प्रबुद्धः** सन् पश्चादाजौ युद्धस्थाने **न समपश्यत्,** यतोऽय**मच्युतः**. रूपान्तरस्थितः तथैवेति ज्ञापयितुं गूढोऽर्थोऽयमिति दृष्टान्तमाह **स्वाप्नं यथेति.** स्वप्नेऽपि स्वयमेव स्थितः परं रूपान्तरेणेति रूपान्तरस्वीकारे तस्यादर्शनं युक्तम्. **चकारेण** मायामनोरथादिकमपि सङ्गृह्यते. ततः **अम्बरचारिणं रिपुं सौभस्थमालोक्य** मारणपापेन महादेवभगवतोः उपेक्षणाद् रक्षकाभावाद् **निहन्तुमुद्यत** —इति पूर्वपक्षः ॥२९॥

सिद्धान्तमाह **एवमिति.**

एवं वदन्ति राजर्षे मुनयः केचनान्विताः ।
यत् स्ववाचो विरुध्येरन् नूनं ते न स्मरन्त्युत ॥३०॥

अस्य पूर्वपक्षत्वं युक्तिबाधेन[१] वक्तव्यमेव, प्रमाणबाधेनापि निरूप्यते. **एवं मुनयो वदन्तीति** मननेन सञ्जातं यदार्षज्ञानं तेनोत्प्रेक्षया एव ज्ञात्वा वदन्ति. मूलविरोधे आर्षज्ञानमप्रमाणमिति शास्त्रमर्यादा, उपजीव्यविरोधात्. यथा प्रमाणबोधितधर्मेणैव आर्षज्ञानं वृत्तमिति प्रमाणविरोधेन निरूपितानि साङ्ख्यादिमतान्यप्रमाणानि. एवं भगवदनुभावकृपाव्यतिरेकेण प्रमेयबलं विना आर्षज्ञानं न भवतीति तेन ज्ञानेन भगवति दोषदर्शनं स्वजन्मनि मातृव्यभिचारदर्शनमिव सर्वथा बाधितविषयत्वादुपेक्ष्यम्. तथापि धृष्टा निर्लज्जा ये वदन्ति मूलभूतेऽपि भगवति दोषान् तानुपहसति **मुनयो वदन्ती**ति. **ऋषय** इत्यपि तथा. **राजर्षे** इति सम्बोधनं स्वपक्ष-परपक्षाभिनिवेशयोः विश्वासोपहासौ बोधयति. एतेषां मध्ये **केचनैवान्विताः** युक्तवादिनः. सर्वनिराकरणे अर्धनिराकरणं प्ररोचनार्थम्. **नान्विता** इति पदच्छेदे सर्वनिराकरणं वा. उपहासे युक्तिमाह **यत् स्ववाचो विरुध्येरन्**निति. ते किं कल्पान्तरव्यवस्थां

१. युक्तिबोधेन इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु क-ख-ग-घपाठानुसारेण - सम्पा.

योगबलेन ज्ञात्वा वदन्ति आहोस्विद् इदानीन्तनभगवद्व्यवस्थाम्? आद्ये नास्माकं कापि क्षतिः. द्वितीये तु "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" (भाग.पुरा. १।३।२८) इति शास्त्रपर्यालोचनया तदनुगुणा एव धर्मा वक्तव्या इति विरुद्धकथनात् ते **नूनं न स्मरन्ति.** अपि च तादृशार्षज्ञानेन **उत** अपि पूर्वमपि स्मृतमप्रमाणमेव ॥३०॥

ननु सर्वेष्ववतारेषु अवतारधर्माः प्रवर्तन्ते, अन्यथा वसुदेवसुतत्वादयोऽपि बाधितार्था इति न वक्तव्याः स्युः. तस्मादवतीर्णस्य दोषवर्णनं न बाधितमिति शङ्कायामाह **क्व शोकमोहौ स्नेहो** वेति.

क्व शोकमोहौ स्नेहो वा भयं वा येऽज्ञसम्भवाः ।
क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्यसुरेडितः ॥३१॥

अयमवतारः नावतारान्तरवत् केनचिदंशेन अज्ञानशक्तिसहितो वा किन्तु साक्षात्पुरुषोत्तमस्यैव पूर्णशक्तिमतः. ततश्च तत्र पूर्णरूपे प्रथमतो हीनभाव एव बोधयितुमनुचितः, भक्तोत्कर्षबोधनाभावात्. तत्रापि पित्रर्थं **शोकः मोहश्च.** मायिके पितृत्वबुद्धिस्तस्मिंश्च **स्नेह** इति. वेत्यनादरे. तदनुगुणं वचनं च "पिता मे बलवान् विधिः" इत्यादि. एते कथं न भवन्तीत्याह **अज्ञसम्भवा** इति. अज्ञानगृहीत एव चैतन्ये एतेऽन्तःकरणस्य धर्मा सम्भवन्ति. प्रकृतेऽप्येवमेवास्त्विति चेत्, तत्राह **क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्य** इति. भगवति सर्वदा त्रयं सिद्धं— सर्वलीलास्वपि **अखण्डितं विज्ञान**मात्मानुभवः, **ज्ञानं** सर्ववस्तूनाम्, **ऐश्वर्यं**; पूतनासुपयःपानप्रभृति सर्वत्र त्रयाणां निरूपणात्. यत्राज्ञानं बाल्ये सर्वजनीनं तत्र यदि नास्ति तदा कथमिदानीं जीवानामपि विवेकदशायां तत् सम्भवेत्! न च लोकास्तथैव बोध्यन्त इति पक्षः, लोकानामपि भगवान्निरतिशयैश्वर्य इति बुद्धिः. यतः **सुरैरनुक्षणमीडितः.** उपलक्षणमेतत्, पारिजातहरण-गोवर्द्धनोद्धरण-कालियदमनादीनि पामराणामपि माहात्म्यज्ञापकानि भगवच्चरित्राणि सन्ति. अतः सर्वथास्मिन्नवतारे केनाप्यंशेनाज्ञानादिकथनं बाधितविषयमेव ॥३१॥

किञ्च. यद्यस्मिन्नवतारे कोऽप्यंशः अज्ञानकृतः प्रदर्शनार्थो वा भवेत् तदायमवतार एव न भवेत्. मोक्षदानमेवास्यावतारस्य प्रयोजनं, अन्यत्तु गौणमेव, "नृणां निःश्रेयसार्थाय" (भाग.पुरा. १०।२६।१४) इतिवाक्यात्.

अन्यथा कामादिभिर्भजने मोक्षो न स्यात्. "भक्तियोगविधानार्थम्" (भाग.पुरा. १।८।२०) इत्यपि पक्षे माहात्म्यविघटकत्वादिदं चरित्रमसमञ्जसमित्यभिप्रेत्याह **यत्पादसेवोर्जितयात्मविद्ययेति**.

यत्पादसेवोर्जितयात्मविद्यया हिन्वन्त्यनाद्यात्मविपर्ययग्रहम् ।
लभन्त आत्मानमनन्तमीश्वरं कुतो नु मोहः परमस्य सद्गतेः ॥३२॥

यस्य पादसेवया ऊर्जिता आत्मविद्या भवति. ब्रह्मविच्चरणसेवया उत्पन्ना भगवच्चरणसेवया पुष्टा भवति. बीजभाव-देहभावयोर्लोके महान् विशेषः. तथा गुरोर्भगवतः सकाशाच्च जायमानज्ञानविशेषः. एवं यत्र चरणसेवकानामन्येषामेवं भवति यत्र च गुरोरपि मोहो निवार्यते तत्र कथं भगवन्मोहसम्भवः? किञ्च न केवलं तेषां ज्ञानमेवोत्पद्यते किन्तु तेन ज्ञानेन **अनाद्यात्मविपर्ययग्रहं हिन्वन्ति** नाशयन्ति. अनादिर्योऽयमात्माग्रहः ततो विपर्ययः देहादिबुद्धिः तत्र योऽयमाग्रहः; समूलकमज्ञानकार्यं नश्यतीत्यर्थः. न केवलं तावन्मात्रं किन्त्वज्ञाननिवृत्यनन्तरम् **आत्मानं** भगवन्तमपि **लभन्ते**. ननु स्वात्मालब्ध एव को विशेष इति चेत्, तत्राह **अनन्तमीश्वरमिति**. अपरिच्छेद ऐश्वर्ये आत्मना आत्मन्येव. तच्च ऐश्वर्यं तत्रैवेति सर्ववादिसम्मतं, परिच्छेदस्तु केषाञ्चिन्मते आविद्यकः. उभयथापि विशिष्टात्मा सायुज्य एव प्राप्तो भवति. ततश्चैकस्मिन्नेव जन्मनि चरणसेवामात्रेण निषिद्धप्रकारेणापि अविद्यानिवर्तकं ज्ञानम् अनुपदमेव सायुज्यं च ज्ञानमार्गेऽपि जन्मकोटिभिः साध्यं कथं लभन्ते? अतस्तेषामस्मिन्नप्यवतारे अज्ञानादिवर्णनं शास्त्रान्तरकरण-ज्ञानवदुपेक्ष्यमेव. ननु प्रदर्शनार्थं शिव-तद्भक्तमाहात्म्यकथनार्थं वा तथा लीलाप्रदर्शनं भविष्यतीति चेत्, तत्राह **परमस्य सद्गतेरिति**. कालादेरपि परस्य को महादेव-तद्भक्तानुरोधः? सतां गतेश्च कथं मोहप्रवर्तकत्वम्? सन्त एव न मोहं प्रदर्शयन्ति, कुतस्तेषामपि गतिः! अवतारान्तरेऽपि भक्तैः सह लीलायामेव पराजयादिवर्णनं "मद्भक्तपूजाभ्यधिका" (भाग.पुरा. ११।१९।२१) इति प्रदर्शनार्थम्. तस्मात् प्रकृते मोहहेतोः कस्याप्यभावाद् नु इति निश्चये. न कुतो मोहः ॥३२॥

तर्हि अत्र शाल्वयुद्धे किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह **तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसेति**.

तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसा शाल्वं शरैः शौरिरमोघविक्रमः ।
विध्वाच्छिनद् वर्म धनुः शिरोमणिं सौभं च शत्रोर्गदया रुरोज ह ॥३३॥

अत्र केचित् मोहदर्शनप्रभृति सर्वमेव बाधितं किन्तु गृह एव विद्यमाने भगवति तस्मिन्नागते **शस्त्रपूगैः प्रहरन्तं** मारितवानित्याहुः. अन्ये तु इन्द्रप्रस्थादेवागत्य स्वसैन्यं शस्त्रैः प्रहरन्तं दृष्ट्वा मारितवानिति. अपरे तु बाहुवेधादिमोहप्रदर्शनं जातमेव; केवलं भगवति मोह एव निषिद्धः नत्वन्य इति पश्चान्मोहाभाव एव पुनरागत्य शस्त्रैः प्रहरन्तमिति. तत्र मतान्तरत्वात् कल्पान्तरे सर्वमेव यथार्थम्. भगवति तु तस्य सर्वस्यापि सप्रकरणस्य मोहस्य निषिद्धत्वाद् अष्टाविंशे दिवसे केवलं स्वयमागत्य मारितवानिति एकः पक्षः. सभार्यो वा समागत्य वा मारितवानिति. **शस्त्रपूगैः** शस्त्रसमूहैः अवान्तरजातिभेदापन्नैः नानाशस्त्रोद्भवैर्वा **ओजसा प्रहरन्तं शाल्वं शरैस्त्रिभिर्विध्वा तैरेवाच्छिनत् वर्म धनुः शिरोमणिं च.** पुनरन्यैर्बाणैः **सौभं** चकारात् तं च. ततो निकटं समागतं सौभं बाणप्रहारैरानीतं **गदया रुरोज** पीडां सम्पादितवान्. हेत्याश्चर्ये ॥३३॥

ततो यज्जातं तदाह **तत्कृष्णहस्तेरितयेति.**

तत्कृष्णहस्तेरितया विघूर्णितं पपात तोये गदया सहस्रधा ।
विसृज्य तद्भूतलमास्थितो गदामुद्यम्य शाल्वोऽच्युतमभ्यगाद् द्रुतम् ॥३४॥

प्रथमतः कालात्मा तत्रापि पूर्णा क्रियाशक्तिः तया च प्रेरिता गदा अत आध्यात्मिकादि-सर्वरक्षकाणां निवृत्तत्वात् **विघूर्णितं** सद् **गदया** सह **तोये सहस्रधा** भूत्वा **पपात.** गदयेत्यनुवादो वा. करणत्वं तु प्रहार एव. पुनर्हस्ते वा समागमनम्. ततः **शाल्वस्तद्विसृज्य भूतलमास्थितः** सन् **गदामुद्यम्य** भ्रान्तः सन् **अच्युतमभ्यगात्.** अच्युत एवायं, किं गमनेन पराक्रमेण वा! ॥३४॥

ततो यज्जातं तदाह **आधावत** इति.

आधावतः सगदं तस्य बाहुं भल्लेन छित्वाथ रथाङ्गमद्भुतम् ।
वधाय शाल्वस्य लयार्कसन्निभं बिभ्रद् बभौ सार्क इवोदयाचलः ॥३५॥

भल्लेन हस्तच्छेदः क्रियाशक्तेः पृथक्करणार्थः. ततो रथाङ्गेन मोक्षदानार्थमद्भुतं **रथाङ्गं लयार्कसन्निभं** दर्शनेनैव मृत्युभयजनकं **बिभ्रद्**

भगवान् **बभौ**. तावतैव सर्वेषां प्रातःकाल इव महत्सुखं जातमित्याह **सार्क इवोदयाचल** इति. किञ्चित्कालं शस्त्रं धृत्वा स्थितिः महादेवादिपरीक्षार्था, यद्यस्ति कश्चिदस्य रक्षकः तदा समायात्विति ॥३५॥

जहार तेनैव शिरः सकुण्डलं किरीटयुक्तं पुरमायिनो हरिः ।
वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरो बभूव हाहेति वचस्तदा नृणाम् ॥३६॥

ततः न कस्यापि समागमने **तेनैव शिरश्चिच्छेद**. अन्यार्थं चक्रं धृतमिति तुच्छत्वादस्य वधोऽन्येन भविष्यतीति **तेनैवे**त्युक्तम्. **सकुण्डलमि**ति सर्वदेवाधिष्ठितमपि. तत्रापि **पुरमायिनः** पुरलक्षणा माया[१] यस्य. एतादृशस्यापि वधे हेतुः **हरि**रिति, सर्वदुःखहर्ता, एतस्यैव च मोक्षार्थम्. किञ्च यद्ययं जीवेत् तदा सर्वोपद्रवं कुर्यादिति दृष्टान्तेनाह **वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दर** इति. **तदा** तदीयानां **नृणां हाहेति वचः** अभूत् ॥३६॥

तावतापि युद्धं न निवृत्तमिति वक्तुमाह **तस्मिन्निपतित** इति.

तस्मिन्निपतिते पापे सौभे च गदया हते ।
नेदुर्दुन्दुभयो राजन् दिवि देवगणेरिताः ॥
सखीनामपचितिं कुर्वन् दन्तवक्त्रो रुषाऽभ्यगात् ॥३७॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे चतुर्सप्ततितमोऽध्यायः ॥

भगवानक्लिष्टकर्मा तं न मारितवान् किन्तु **पापेनैव पतितः**, पापेन सायुज्याभावो वा. **सौभे च गदया हत** इति मायानिर्मितत्वात् कदाचित् स्थितिर्भवेत्, ततस्तस्मिन् प्रविश्य वान्यो युद्धं कुर्यात्. अतः प्रधानान्तरमपि सौभस्य पृथगनुवादः. तदा **दन्तवक्त्रः** पूर्वमृतानां सखा **स्वापचितिं कुर्वन् सखीनामर्थे रुषा** क्रोधेन युद्धार्थमाभिमुख्येन समागतः, अन्यैः सह युद्धेन क्लिष्टदशायां स्वस्य जयो भविष्यतीति ॥३७॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे अष्टाविंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति चतुर्सप्ततितमोऽध्यायः ॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमोत्तरार्ध-सात्त्विकसाधनप्रकरणं समाप्तम् ॥

१. मोहमाया इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धसुबोधिन्यामुत्तरार्धे चतुर्थे सात्त्विकप्रकरणे अवान्तरफलप्रकरणे

॥ प्रथमः स्कन्धादितः पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥

* * *

बलभद्रस्य सत्कीर्तिरध्यायद्वितयेन हि ।
निरूप्यते ऋषिप्रोक्ता येनासौ सुस्थिरीभवेत् ॥(१)॥
तीर्थाभिषेकाद् यज्ञाच्च ज्ञानस्याप्युपदेशतः ।
कीर्तिर्जातानुभावाच्च माध्यस्थ्याच्चेति वर्ण्यते ॥(२)॥
विजयोऽयं यथा रामस्ततोऽध्याये निरूपितः ।
रामस्य कीर्तिरूपे च तद्भ्राता च तथाविधः ॥(३)॥
अतो भगवतो भृत्यास्त्रय एकत्र रूपिताः ॥

तत्र प्रथमं भगवतः क्रियाशक्तिसमाप्त्यर्थं दन्तवक्त्रवधो निरूप्यते. दन्तवक्त्रस्यापि भगवत्सेवकत्वात् तन्मुक्तिश्च भगवत्कर्तव्येति अवतारप्रयोजन-

---

श्रीविठ्ठलेशरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

एकोनत्रिंशेऽध्याये कारिकायां **येनासाविति**, येन ऋषिकथनेनासौ कीर्तिः सुस्थिरीभवेदित्यर्थः. **माध्यस्थ्याच्चेति**, भीमदुर्योधनयोर्युध्यतोर्माध्यस्थ्येन "युवां तुल्यबलौ" इतिवाक्यमुक्तवान्, न तु जामातृत्वेन दुर्योधनपक्षं कृतवानित्यर्थः. **विजयोऽयमिति, अयं** दन्तवक्त्रो विजयपार्षदः. **यथा रामः** शेषरूपत्वाद् भगवद्भृत्यस्तथा दन्तवक्त्रोऽपि भृत्यः **ततो** हेतो **रामस्य कीर्तिनिरूपकेऽध्याये निरूपितः. तद्भ्राता** विदूरथोऽपि **तथाविधः** भृत्य एवेत्यर्थः. अस्य प्रसिद्ध्यभावेऽपि "ये च प्रलम्ब" (भाग.पुरा. २।७।३४) इतिश्लोके मुक्तपङ्क्तौ निरूपणात् तथात्वं ज्ञेयम्. रामस्य भक्तत्वात् तत्कीर्तिः "श्रियो हि परमा काष्ठा" (सुबो. १०।१८।का.२४) इतिन्यायेन भगवत्कीर्तिरिवेति भावः (१-३ १/२).

त्वेन निरूप्यते. पूर्वाध्यायान्ते दन्तवक्त्र समागत इत्युक्तं तत्किमर्थं केन[१] प्रकारेणेति विस्तरेण निरूप्यते.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

शिशुपालस्य शाल्वस्य पौण्ड्रकस्यापि दुर्मतिः ।
परलोकगतानां च कुर्वन् पारोक्ष्यसौहृदम् ॥१॥

यथा पत्नी भर्तृनिमित्तं प्रवृत्ता तन्मरणे स्वयमेव म्रियते तथा शिशुपालाद्यर्थं तन्मित्रम् अयमपि जानन् मरणार्थमेवाऽऽगतः. न ह्यस्मिन्मृते तेषामुपकारो भवति तथापि **दुर्मतित्वात्** तथा कृतवान्. तत्र शिशुपालो राजसः, दन्तवक्त्रस्तामसः, पौण्ड्रकः सात्त्विकः ; एवंविधा बहव एव **अपि**शब्देन संगृहीताः. पतिव्रता च दुर्गतिं प्राप्तानामुद्धारार्थं म्रियत[२] इति चेत्, तत्राह **परलोकगताना**मिति. तेषां भगवद्धस्तेन मरणात् परलोकः सिद्धः. चकारादगतानामपि मुक्तानां वा. सौहृदं हि तैर्ज्ञातं तेषां सुकृतं भवति. प्रकृते[३] तदभावेऽपि कृतवानित्याह **पारोक्ष्यसौहृद**मिति ॥१॥

एकः पदातिः संक्रुद्धो गदापाणिः प्रकम्पयन् ।
पद्भ्यामिलां महाराज महासत्त्वो व्यदृश्यत ॥२॥

मरणमेव चेद् वाञ्छितं किं सहायेनेत्य**एकः**, तत्रापि **पदातिः**. क्रोधाभावे[४] पलायनं च स्यादिति **संक्रुद्धः**. निकटे गदया युद्धं भवतीति शीघ्रं मरणपर्यवसायी. तथापि भगवान् न मारयिष्यतीत्याशङ्क्य मारणार्थ**मिलां**[५] **पद्भ्यां प्रकम्पयन्** इत्युक्तम्. **महाराजे**ति तादृशो हन्यत इति बोधितम्. **महासत्त्व** इति तस्य युद्धार्थं प्रवृत्तौ साहसम् ॥२॥

लेखः

एकः पदातिरित्यत्र **शीघ्र**मिति. मरणे पर्यवस्यति तादृशो दन्तवक्त्रः **व्यदृश्यत** इति मूलस्थक्रियया अन्वयः (/क्रियान्वयः !) ॥२॥

---

१. तेन इति क-ख-गपाठः - सम्पा. २. यतते इति क-गपाठः - सम्पा.

३. मत्कृतौ इति सं-क-ग-घपाठः - सम्पा. ४. क्रोधाभावेन इति गपाठः - सम्पा.

५. इमाम् इति क-ख-गपाठः - सम्पा.

ततो भगवान् धर्मयुद्धमेव कर्तव्यमिति स्वयमपि तथाविधो जात इत्याह **तं तथायान्तमालोक्येति.**

तं तथायान्तमालोक्य गदामादाय सत्वरः ।
अवप्लुत्य रथात् कृष्णः सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात् ॥३॥

सत्वर इति आगमनेन तस्य क्लेशाभावार्थमुक्तम्. **अवप्लुत्येति,** दर्शनानन्तरं न कोऽपि विलम्बः कृत इति वक्तुं रथादुत्प्लवनमुक्तम्. यतः **कृष्णः** कालरूपः अतः सर्वयादवमारणार्थं प्रवृत्तं **सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात्** प्रतिधानं कृतवान् ॥३॥

शीघ्रं भगवति समागते कदाचिद् भगवान् शाल्वस्य अयं पदातिः कश्चिदिति अवहेलया मुक्तिं न दद्यादिति स्वप्रयोजन-प्रवृत्ति-स्वरूपाणि निर्दिशति.

गदामुद्यम्य कारूषो मुकुन्दं प्राह दुर्मदः ।
दिष्ट्या दिष्ट्या भवानद्य मम दृष्टिपथं गतः ॥४॥

गदामुद्यम्य कारूष इति, स हि करूषदेशाधिपतिः **मुकुन्दं** मोक्षदातारं **गदामुद्यम्य** स्वाधिकारं प्रदर्शयन् द्वारपालकत्वं वा ख्यापयन्. उत्तमाधिकारी स्नेहेनैव सायुज्यं प्राप्तुं योग्यः; विरोधेन प्राप्तुमिच्छतीति **दुर्मदः**. अत एव विरुद्धमाह **दिष्ट्या दिष्ट्येति.** एतावानर्थः उभयत्रापि तुल्यः. **मम दृष्टिपथं गत** इति, यदेतन्मम भाग्येन यस्तु मनोरथप्रकारेणान्विष्यते स जात इति ॥४॥

आत्मानं स्थापयन्[१] भगवत्सम्बन्धमाह **त्वं मातुलेय** इति.

त्वं मातुलेयो नः कृष्ण मित्रध्रुङ् मां जिघांससि ।
अतस्त्वां गदयामन्द हनिष्ये वज्रकल्पया ॥५॥

नोऽस्माकं शिशुपालादीनां **मातुलेयः** सुतरां नोऽस्माकं **कृष्णेति** स्नेहात् सम्बोधनम्. **मित्रध्रुगित्युपालम्भः,** वस्तुतस्तु कृष्णमित्राणि द्रोग्धीति सर्वसखा शिक्षक इत्युक्तम्. अत एव **मां जिघांससि,** अहमपि कृष्णमित्रमिति. अपराधव्यतिरेकेण न मारयिष्यतीति प्रथममहमपराधं करिष्यामीत्याह **अतस्त्वां**

---

१. ख्यापयन् इति सं-क-ख-ग-घपाठः - सम्पा.

गदयेति. **अमन्दे**ति छेदः. हनिष्ये प्राप्स्यामि. **गदया** सुषुम्णया **वज्रकल्पया,** यथा वज्रेण वृत्रस्त्वां प्राप्तवान् ॥५॥

तर्ह्यानृण्यमुपैम्यज्ञ मित्राणां मित्रवत्सलः ।
बन्धुरूपमरिं हत्वा व्याधिं देहचरं यथा ॥६॥

एवं सति "तत्रानृणो भूतबलिं विधाय" (भाग.पुरा. ६।११।१८) इतिवत् **मित्राणामनृणो** भविष्यामि. यतोऽहं **मित्रवत्सलः**. त्वं वा अमित्रवत्सलः, दैत्येष्वपि कृपाकरणात्. **मित्रवत्सलो** वा, सर्वेषामेव मित्रत्वात्. किं कृत्वा अनृणो भविष्यसीत्याकाङ्क्षायामाह **बन्धुरूपमरिं** हत्वेति. बन्धुरूपो देहः, बन्धो रूपमिव रूपं यस्य, हितकर्तृत्वात्. वस्तुतस्त्वरिः, "सृष्ट्वास्य बीजम्" (भाग.पुरा. ११।९।२६) इतिन्यायात्. नन्वात्मतया स्वीकृतः कथं मारणीय इति चेत्, तत्र दृष्टान्तमाह **व्याधिं देहचरं यथे**ति. अयं स्तुतिपक्षो व्याख्यातः, निन्दापक्षस्तु स्पष्टः— बन्धुरूपं मातुलपुत्रत्वाद् , मारकत्वादरिम् ॥६॥

एवं रूक्षैस्तुदन् वाक्यैः कृष्णं तोत्रैरिव द्विपम् ।
गदया ताडयन् मूर्ध्नि सिंहवद् व्यनदच्च सः ॥७॥

निन्दायां रूक्षता. तुदन् मर्मभेदं कुर्वन्. **कृष्णं** तुदन्निति स्तुतौ स्वदोषं दूरीकुर्वन्. **तोत्रम्** अङ्कुशपृष्ठभागः, तेन यथा अग्रे गमनार्थं प्रेर्यते द्विपः एवं कृष्णोऽपि शीघ्रं कर्तुं मारयितुं मृत्युं वा दातुं प्रेर्यत इति. एवं वाक्यापराधं कृत्वा कायिकापराधं कृतवानित्याह **गदये**ति. **मूर्ध्नि** समीपे सुषुम्णया ब्रह्मरन्ध्रभेदनं वा. ततः **सिंहवद् व्यनदद्** आत्मानं कृतार्थं मन्यमानः, यतः **स** पूर्वोक्तप्रकारेण भक्तः शूरो वा, एतावता स्वकृतकृत्यता जातेति ॥७॥

गदया निहतो वाऽऽजौ न चचाल यदूद्वहः ।
कृष्णोऽपि तमहन् गुर्व्या कौमोदक्या स्तनान्तरे ॥८॥

गदया निहतो वा आजौ क्रोधो भवतीति प्रहारस्य क्रूरत्वं दर्शितम्. **यदूद्वह** इति यादवलीला स्वीकृतेति तथा वर्ण्यत इत्यर्थः. एवमपराधं तस्योक्त्वा ततोऽपराधशान्त्यर्थं भगवतः कृपामाह **कृष्णोऽपी**ति. **गुर्व्ये**ति साधनमाहात्म्यम्. **कौमोदक्ये**ति स्वकीयया प्रसिद्धया, तेन मोक्षः सुप्रसिद्धः.

तत्रापि **स्तनान्तरे,** यथा जीवस्य निर्गमने षट्चक्रभेदनक्लेशो न भवेत् ॥८॥

ततो यज्जातं तदाह **गाढनिर्भिन्नहृदय** इति.

गाढनिर्भिन्नहृदय उद्वमन् रुधिरं मुखात् ।
प्रसार्य केशबाह्वङ्घ्रीन् धरण्यां न्यपतत् व्यसुः ॥९॥

मुखतो रुधिरोद्वमनं वाक्पारुष्यदोषपरिहारार्थम्. ततो दयोत्पत्त्यर्थमिव **केशान् बाह्वङ्घ्रींश्च प्रसार्य धरण्यां** भगवच्चरणारविन्दे **विशिष्टासुर्विगतासुर्वा न्यपतत्.** आदौ तत्रैव समवनयनम्[१]. द्वितीये भोगापेक्षाभावात् प्राणानां परित्यागः ॥९॥

ततस्तस्य सायुज्यं जातमित्याह **ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिरिति.**

ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम् ।
पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवधे नृप ॥१०॥

आत्मज्योतिः **कृष्णं** भगवच्चरणारविन्दम्. अत्र सर्वे साक्षिण इत्याह **पश्यतामिति. यथा चैद्यवध** इति, चैद्यवधे तत्तेजः दश दिशो भासयद् भगवन्तं प्रविवेश एवमयमपीत्यर्थः ॥१०॥

तस्य सायुज्यं दृष्ट्वा तद्भ्राता विदूरथोऽपि तथा कर्तुं प्रवृत्त इत्याह **विदूरथस्त्विति.**

विदूरथस्तु तद्भ्राता भ्रातृशोकपरिप्लुतः ।
आगच्छदसिचर्मभ्याम् उच्छ्वसंस्तज्जिघांसया ॥११॥

अक्षरच्युतकालङ्कारः— **विदूरथ** इति विकटो भवति दूरादेव रथ इति माहात्म्यम्. **तद्भ्राता** दन्तवक्त्रभ्राता **भ्रातृशोकेन परितः प्लुतः** मग्नः सन् **असिचर्मभ्यामुच्छ्वसन्नागतः.** अनेन सर्प इव तस्य क्रोधो निरूपितः. **तज्जिघांसयेति** आगमनाभिप्रायः. भ्रान्तोऽपि प्रवर्तकः ॥११॥

लेखः

विदूरथस्त्वित्यत्र भ्रान्तोऽपीति. भ्रान्तत्वादुपेक्षणीयोऽपि सर्वान् युद्धार्थं प्रवर्तयत्यतो मारणीय इत्यर्थः ॥११॥

---

१. द्रष्ट. बृह.उप. ३।२।११ - सम्पा.

तस्य चापततः कृष्णश्चक्रेण क्षुरनेमिना ।
शिरो जहार राजेन्द्र सकिरीटं सकुण्डलम् ॥१२॥

ततः स भृत्यसम्बन्धीति **आपतत** एव प्रहारात् पूर्वमेव **चक्रेण शिरो जहार. क्षुरनेमिने**ति स्वालौकिकसामर्थ्याभावः. **जहार** दूरीकृतवान्. **सकुण्डलं सकिरीट**मिति देवाधिष्ठानं, तेन मुक्तियोग्यता निरूपिता ॥१२॥

मारितान् सात्त्विक-राजस-तामसान् उपसंहरति **एवं सौभ**मिति.

एवं सौभं च शाल्वं च दन्तवक्त्रं सहानुजम् ।
हत्वा दुर्विषहैरन्यैरीडितः सुरमानवैः ॥१३॥

चकारस्तत्सेनापरिग्रहार्थः. शाल्वे **च**कारः तन्मायादेवतावरनाशार्थः. **दन्तवक्त्रो** विदूरथसहितः **दुर्विषहैरन्यैः** शूरैः सह, तेऽपि मारिता इति. **हत्वा** स्थितः. **ईडित** इति क्रियाध्याहारोऽपि अर्थाद् भवति, **सुरमानवैश्च दुर्विषहैः अन्यै**रिति यादववाचकत्वं[१] वा ॥१३॥

मुनिभिः सिद्धगन्धर्वैर्विद्याधरमहोरगैः ।
अप्सरोभिः पितृगणैर्यक्षैः किन्नरचारणैः ॥१४॥
उपगीयमानविजयः कुसुमैरभिवर्षितः ।
वृतश्च वृष्णिप्रवरैर्विवेशालङ्कृतां पुरीम् ॥१५॥

तथा **मुनिप्रभृतिभि**रपि **कुसुमैरभिवर्षित** इत्यन्तं महती स्तुतिः भगवतो युद्धलीला समाप्यत इति सन्तोषात् कृता, श्रोतृणां युद्धलीलाभिनिवेशो भवत्विति. ततो भगवतः पुरप्रवेशमाह **वृतश्च वृष्णिप्रवरै**रिति. हत्वा स्तुतः विवेशेति तस्य क्रियात्रयं निरूपितं त्रिगुणम् ॥१४-१५॥

भगवतः क्रियालीलामुपसंहरन् दोषाभावमाह **एवं योगेश्वर** इति.

एवं योगेश्वरः कृष्णो भगवान् जगदीश्वरः ।
ईयते पशुदृष्टीनां निर्जितो जयतीति सः ॥१६॥

योगेश्वरत्वाद् ये योगभ्रष्टास्ते मोचिता इति एकं प्रयोजनं, **कृष्णत्वाद्** भूभारो हृत इत्यपरम्. **भगवा**निति सामर्थ्यं, **जगदीश्वर** इत्यावश्यकत्वम्.

---

१. स्थितः इति क्रियाध्याहारोऽपि अर्थाद् भवति. **ईडितः सुरमानवैः दुर्विषहैः अन्यैः यादवैः** इति आशयो भाति - सम्पा.

एवं क्रियाकरणे हेतूनुक्त्वा लौकिकबुद्ध्या प्राप्तान् हेतून् निन्दति **ईयते पशुदृष्टीनामिति.** पशुदृष्टिभि**र्निर्जितो भगवान् जयतीति ईयते** ज्ञायते, कदाचिन्निर्जितः कञ्चिज्जयतीति. एतदुभयमपि पूर्वापरानुसन्धानरहितानामेव. त एव पशवः. यतः **स** पुरुषोत्तमः नतु केनाप्यंशेन भावान्तरं प्राप्त इत्यर्थः. अत्र भगवतः शस्त्रसन्न्यासः पुराणान्तरे (पाद्मोत्तरखण्ड २५२।२१) निरूपितः स एवात्रोपसंहारेणापि सूचितः ॥१६॥

एवं भगवतः क्रियाशक्तिमुपसंहृत्य बलभद्रस्यापि कीर्तिसिद्ध्यर्थं धर्मक्रियामाह **श्रुत्वा युद्धोद्यममिति.**

श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पाण्डवैः ।
तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल ॥१७॥

यत्रानर्थपर्यवसानं तत्परित्याग एव आदौ धर्मः, तत्रापि तद्व्याजेन तीर्थाचरणं सुतरामेव. अतो **युद्धोद्यमं श्रुत्वा** भगवान् पाण्डवपक्षपातीति स्वस्य कौरवपक्षपाते अन्योन्यमेव विरोधो भवतीति **तीर्थाभिषेकव्याजेन** वस्तुतस्तीर्थयात्रा नाभिप्रेतेति निमित्ताभावात् तद्व्याजेनैव उभयो**र्मध्यस्थः प्रययौ** तीर्थदेशानेव. **किले**ति प्रमाणम्. जीववत् तस्य तीर्थाचरणं भगवत्त्वविरोधीति 'स्वतः' अनुक्त्वा **किले**त्युक्तं, हृदये व्याजेऽपि लोकप्रतीत्यर्थम् ॥१७॥

प्रभासे गत्वा सङ्कल्पं कृत्वा ततो निर्गत इत्याह **स्नात्वा प्रभास इति.**

स्नात्वा प्रभासे सन्तर्प्य देवर्षि-पितृ-मानवान् ।
सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंवृतः ॥१८॥

भगवता सात्त्विकप्रकरणे धर्मः कर्तव्यः. सच प्रवृत्त्यात्मकः. स धर्मो यज्ञस्तीर्थानि च. तदुक्तं "यज्ञास्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः" (त.दी.नि.२।२४८) इति. यज्ञाः कृताः तीर्थानि च पुनस्तत्समानानि च कृतानि. तत्र वसुदेवः जीवतीति न स्वतो यागकरणं सम्भवतीति, सुतरां राजसूयादिकरणं ; ततो भगवान् साहाय्यमेव कृतवान्. बलभद्रस्तु तीर्थयात्रां यज्ञसमानां मन्यत इति तामेव कर्तुं प्रवृत्तः. व्याजेन करणं धर्मो न भवतीति पश्चाद् भगवान् निमित्तं सम्पादयिष्यति, अन्यथा अनधिकारिणा कृतमकृतमिति धर्म एव न भवेत्. **प्रभासे** अग्निकुण्डे सङ्गमे वा **स्नात्वा**

ततो **देवर्षिपितृमानवान्** ब्राह्मणभोजनादिना **सन्तर्प्य सरस्वतीतीरे** तीर एव **प्रतिस्रोतं** यथा भवति तथा **ययौ**. **ब्राह्मणसंवृत** इति तत्पूर्त्यर्थं, ब्राह्मणाभ्यनुज्ञाव्यतिरेकेण तीर्थपूर्त्यभावात् ॥१८॥

पृथूदकं बिन्दुसरस्त्रितकूपं सुदर्शनम् ।
विशालं ब्रह्मतीर्थं च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम् ॥१९॥

यद्यपि प्रतिस्रोतोगमने क्रमेण पृथूदकादीनि तीर्थानि न सन्ति तथापि तीर्थमाहात्म्यं पुरस्कृत्य तेषां गणना. तस्मिन् कल्पे वा तथा सन्निवेशः. पृथूदकादीनि षट् तीर्थानि, सर्वत्र **प्राची सरस्वती**. एवं प्लक्षजाता सरस्वती यावत् ॥१९॥

यमुनामनु यान्येव गङ्गामनु च भारत ।
जगाम नैमिषं यत्र ऋषयः सत्रमासत ॥२०॥

ततो **यमुनां** प्राप्य अनुस्रोतन्यायेन प्रयागे समागतः. ततो **गङ्गामनु** हरिद्वारपर्यन्तं बद्रिकाश्रमपर्यन्तं वा गतः. ततः पुनः गोमतीतीरे **नैमिषपर्यन्तं** समागतः. तत्र विलम्बे कारणमाह **यत्र ऋषय** इति, **सत्रं** यत्किञ्चि**दासत** ॥२०॥

ततो यज्जातं तदाह **तमागतमभिप्रेत्येति**.

तमागतमभिप्रेत्य मुनयो दीर्घसत्रिणः ।
अभिनन्द्य यथान्यायं प्रणम्योत्थाय चार्चयन् ॥२१॥

मुनयः अग्रेऽस्माद् ज्ञानोपदेशो भविष्यतीत्येष्यज्ञानयुक्ताः. अतएव तदर्थं **दीर्घसत्रिणः**. तस्यागमन**मभिनन्द्य यथान्यायं** यथा क्षत्रियोत्तमे समागते कर्तुमुचितं तथा कृतवन्तः. ततो भगवद्बुद्ध्या **प्रणम्य उत्थाय च आर्चयन्** ॥२१॥

स हि व्याजेन प्रवृत्तः, मुख्यस्वाम्यभिप्रायाभावाद् भगवच्छास्त्रपर्यालोचनाभावाच्च. स्मृतिन्यायेन धर्ममप्यधर्मं ज्ञात्वा धर्मस्थाने अधर्मो न युक्त इति तेषां सत्कारफलसिद्ध्यर्थम् उपकारमिव कुर्वन् सूतनिराकरणार्थं तं दृष्टवानित्याह **सोऽर्चित** इति.

सोऽर्चितः सपरीवारः कृतासनपरिग्रहः ।
रोमहर्षणमासीनं महर्षेः शिष्यमैक्षत ॥२२॥

सपरीवारः ब्राह्मणसहितः. **कृतः आसनपरिग्रहो येन** ; स्थिरतायै उपदेशयोग्यत्वायाभिमानाय चोक्तम्. **रोमहर्षणः** सूतः ब्राह्मणानामग्रे उच्चासने स्थितः. न चायं बालः यतो **महर्षेः शिष्यः** ॥२२॥

एवमपि स्मृतिविरुद्धं करोतीति तस्मिन् क्रोधं कृतवानित्याह **अप्रत्युत्थायिनमिति.**

अप्रत्युत्थायिनं सूतमकृतप्रह्वणाञ्जलिम् ।
अध्यासीनं च तान् विप्रांश्चुकोपोद्वीक्ष्य माधवः ॥२३॥

वस्तुतो ब्राह्मणातिक्रम एव तस्य दण्डे हेतुः. तथापि ब्राह्मणैः केनचित्प्रकारेण तस्य दोषोऽङ्गीकृतः. तस्य मात्सर्याजनकत्वाद् अप्रत्युत्थानमेव हेतुं मन्यते. यद्यस्य महत्त्वं केनापि प्रकारेण जातं तथापि ब्राह्मणोत्तमादधिकं न[1] भवति. ब्राह्मणाश्चेदभ्युत्थानादिकं कृतवन्तः तत्रास्याभ्युत्थाने कः सन्देहः ? अतो नास्मिन् धर्मः, मार्गाभावात्. अतः पाषण्डे केनचिल्लोभादिना पुष्टः धर्माभासः गर्वजनकत्वाद् अपकार्येव जात इति तस्मिन् विद्यमानं धर्मं पाषण्डत्वेनाभिप्रेत्य क्रोधं कृतवान्. **सूत** इति जात्या हीनः. **न कृतः प्रह्वणार्थमञ्जलिर्येन** ; व्रतस्थेनाप्येतावत्कर्तव्यमिति द्वितीयो दोष उक्तः. तृतीयमाह **अध्यासीनं चेति,** आधिक्येनोच्चासनेन ब्राह्मणान् हीनान् कृत्वा आसीनः. ते च **विप्राः** विशेषेण पूरकाः सर्वसुहृदः अतस्तेषां तूष्णीम्भावो न दोषायेति ; स्वयं दण्डाधिकृत इति क्रोधोपपत्तिरुक्ता. **माधवो** मधुवंशोत्पन्नः ॥२३॥

तस्यालोचनमाह **कस्मादिति.**

कस्मादसाविमान् विप्रानध्यास्ते प्रतिलोमजः ।
धर्मपालांस्तथैवास्मान् वधमर्हति दुर्मतिः ॥२४॥

असाविति नास्मिन् तेजो दृश्यत इति ज्ञापितम्. **इमान् विप्रानिति** तेजोदर्शनम्. न चायमपि महान्, यतः **प्रतिलोमजः**. अनेन ज्ञानाधिक्यादुपविष्ट इति पक्षो निराकृतः. ''विप्राणामेव ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यम्'' (मनु स्मृ. २।१५५) इति भावः. किञ्च **धर्मपालांस्तथैवास्मानिति** ऐहिकभयमामुष्मिकभयं च नास्त्यस्मिन्

---

१. खपाठानुसारेण. मुद्रिते नास्ति - सम्पा.

इति द्वयं निरूपितम्. तत्र दण्डो वध एवेत्याह **वधमर्हतीति**. ननु बोधनीय एवायं, किमिति वधः क्रियत इत्याशङ्क्याह **दुर्मतिरि**ति. दुष्टबुद्धिः उक्तमपि न ग्रहीष्यति ॥२४॥

नन्वयमनुपासितवृद्धः बालवत् प्रबोधनीय एवेति चेत्, तत्राह **ऋषेर्भगवतो** भूत्वेति.

ऋषेर्भगवतो भूत्वा शिष्योऽधीत्य बहूनि च ।
सेतिहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः ॥२५॥

ऋषिर्मन्त्रदृष्टा, तस्य **शिष्यो**ऽप्यलौकिकार्थज्ञो भवितुमर्हति. तत्रापि **भगवतः** सानुभावस्य. न केवलं शिष्यत्वमात्रं किन्तु **बहून्यधीत्ये**ति. **च**कारादध्यापनाभ्यासौ. वेदाध्ययनं शङ्कितं भविष्यतीति तन्निराकरणार्थम् **इतिहासपुराणानी**त्याह. इतिहासश्रवणेन नीतिज्ञानं भवति ; तदभावे केवलधर्मेऽप्यनर्थः स्याद् गजेन्द्रवत्. पुराणाध्ययनात् साभिप्रायधर्मज्ञानम्. **धर्मशास्त्रैः** देश-काल-कुलादिधर्माः आधुनिका अपि सर्व एव ज्ञाता भवन्ति. **सर्वश** इति तत्तदभिप्रायोऽपि बहूनां मुखादवगतः ॥२५॥

ननु विद्यया कथमस्य गुणा नोत्पादिताः? कथमयमेतादृशो जात इत्याह

अदान्तस्याविनीतस्य वृथापण्डितमानिनः ।
न गुणाय भवन्ति स्म नटस्येवाजितात्मनः ॥२६॥

अदान्तस्येति. विद्या गुणोत्पादिका आश्रयदोषाभावे भवति. तत्र अजितेन्द्रियत्वं महानाश्रयदोषः. "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः" (कठ.उप. ४।१) इति सहजबहिर्मुखानि. विद्या ह्यन्तर्मुखं कर्तुमिच्छति, तदिन्द्रियाणां प्रतिबन्धे न भवतीति इन्द्रियजयो मृग्यते. किञ्च विद्याग्रहणे विद्याबाधकधर्माभावो हेतुः, "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि, असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्" (मुक्ति.उप. १।५१) इति. **अविनीतस्य** विद्या निर्वीर्येति न गुणजननसामर्थ्यम्. किञ्च **वृथापण्डितमानिन** इति. विद्या बुद्ध्या गृहीता सती स्वकार्यं करोति, तदभिमानात् तस्याग्रहणमेव. यस्तु पाठव्यतिरेकेणापि मन्यते "पण्डितोऽहमि"ति स प्रयोजनाभावात् स्वार्थं विद्यां न ग्रहीष्यत्येव, कथं विद्याफलं जनयेत्?

अतो न **गुणाय भवन्ति** पुराणादीनि. किञ्च **नटस्येवेति**. परप्रदर्शनार्थमेव यो विद्यां गृह्णाति तस्य न विद्यातः फलं, यथा नटस्य. किञ्च **अजितात्मनः** अन्तःकरणजयाभावे उत्पादिता अपि गुणाः तामसैर्भावैस्तिरोहिता भवन्ति. अतोऽस्य सर्वमेव वर्तत इति दोषपञ्चकसद्भावात् नास्मिन् विद्याफलम् ॥२६॥

नन्वस्य दोषेणायमेव नष्टो भवतु, किं तव? यथास्य विनयो धर्मः एवं तव क्षमापि, तदभावे तवापि दोष एवेत्याशङ्क्याह **एतदर्थ** इति.

एतदर्थो हि लोकेऽस्मिन्नवतारो मया कृतः ।
वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोऽधिकाः ॥२७॥

इदं नाधिकारिभिः कर्तुं शक्यम्, अन्यथाधिकारस्वीकारो व्यर्थः स्यात्. यथा परमहंसानां सर्वातिक्रमसहनं युक्तम् एवं राज्ञोऽपि चेत् तदा सर्वनाशः स्यात्. **एतदर्थमेव** मम **अवतारः** येन धर्मो रक्षितो भवति. अतस्तदेव मम कर्तव्यम्. धर्मे च प्रतिपक्षा निराकर्तव्याः. तत्राधर्मकारिभ्योऽपि **धर्मध्वजिनो** दुष्टाः, अन्यानपि नाशयन्तीति. तेषां दोषाधिक्यमाह **ते हि पातकिनोऽधिका** इति, ते अधिकाः पातकिनः. साक्षान्निषिद्धाचरणमधर्मः, तस्योत्कर्षो महापातकं ; तेभ्योऽपि धर्मध्वजिनः अधिकाः. "विधर्मः परधर्मश्च" (भाग.पुरा. ७।१५।१२) इतिवाक्ये एतन्निरूपितम्. उपधर्मास्ते तद्धर्मनिवृत्तीच्छायामपि न निवर्तन्ते, नापि प्रतीकारार्थमिच्छामपि कुर्वन्ति. अतोऽस्मिन् विद्यमाने अधर्मानुवृत्तिर्भविष्यतीति वधावश्यकता निरूपिता ॥२७॥

ततो यत्कृतवांस्तदाह **एतावदुक्त्वेति**.

एतावदुक्त्वा भगवान् निवृत्तोऽसद्वधादपि ।
भावित्वात् तं कुशाग्रेण करस्थेनाहनत् प्रभुः ॥२८॥

स हि सङ्कल्पमारभ्य **असद्वधादपि निवृत्तः**, व्रतिनो वध्यवधोऽपि निषिद्ध इति. तथापि क्षोभाधिक्यात् तथैव **भावित्वाद्** धर्मपरीक्षार्थं लौकिकं शस्त्रं परित्यज्य तत्रापि स्वहस्तस्थितं सूक्ष्ममेव कुशं मारणार्थं गृहीतवान्. हस्तस्थितौ तस्मिन् क्रियाशक्त्यध्यासः. मरणे तथा मारणे च हेतुः **प्रभुरिति** ॥२८॥

यद्यपि तन्मारणं धर्मः तथापि धर्मप्रवर्तकानां नाभिप्रेतः अतस्ते खिन्ना जाता इत्याह **हाहेति**.

हाहेतिवादिनः सर्वे मुनयः खिन्नमानसाः ।
ऊचुः सङ्कर्षणं देवमधर्मस्ते कृतः प्रभोः ॥२९॥

सर्व एव स्वाभिलषितनाशाद् **हाहेतिवादिनः**. ते हि भगवत्कथां शृण्वानाः तद्विघातो जात इति **खिन्नमानसा** जाताः. यतो **मुनयः**. श्रुतो हि भगवान् मन्तव्यो भवति. साक्षाद्गुरोः सकाशादध्ययनव्यापारे मननं बाधितं भवेत्, अतोऽयं प्रसङ्गाद् गृहे समागतः सर्वं श्रावयतीत्यनायासेनाभिलषितसिद्धिः. तन्नाशान्मनःखेदः. तथापि जात एवानर्थ इति तूष्णीं स्थातव्यं, किमित्युपालम्भः क्रियत इति? तत्राह **सङ्कर्षणमिति**. स ह्यन्यधर्ममन्यत्र प्रयोजयितुं शक्तः, द्रष्टृदृश्ययोर्मेलकत्वात्. तत्रापि **देवः** अलौकिकमपि योजयेत्. अतः स वक्तव्य एवेत्यूचुः ते त्वया **अधर्मः कृत** इति. अयमधर्मस्तवैव जातो, नास्माकमयमभिप्रायः. **प्रभोरिति** सामर्थ्यमेव त्वया प्रकटितं नतु ज्ञानमिति सूचितम् ॥२९॥

कथमधर्म इत्याशङ्कायामाह **अस्य ब्रह्मासनं दत्तमिति**.

अस्य ब्रह्मासनं दत्तमस्माभिर्यदुनन्दन ।
आयुश्चात्माक्लमं तावद् यावत्सत्रं समाप्यते ॥३०॥

अन्यस्मात् कथाश्रवणं दोषायेति **ब्रह्मासनं दत्तवन्तः**, यावदयमासने उपविश्य तिष्ठति तावद् ब्राह्मण एवेति. अत एवानेन नोत्थितम्. तैस्तु स्वब्रह्मत्वमत्र स्थापितमिति तेषामुत्थानेऽप्यस्यानुत्थानम्. न हि ब्राह्मणः क्षत्रियं मन्यते. धर्मस्तु अयुक्ते ब्रह्मत्वं स्थापितमिति वधे सानुकूलः. **अस्माभिरिति** स्वसामर्थ्यं ख्यापयति. **यदुनन्दनेति** ब्राह्मणहृदयानभिज्ञत्वम्. "पितापुत्रौ विजानीयाद्" (मनु. स्मृ. २।१३५) इतिवाक्यात् क्षत्रियः पुत्रो भवति. ततः पितुरभिप्रायाज्ञानं तव युक्तमिति गूढोऽभिप्रायः. किञ्च अस्मद्वाक्यमपि

लेखः

हाहेतिवादिन इत्यत्र **द्रष्टृदृश्ययोरिति**. द्रष्टा भगवान् दृश्यः प्रपञ्चः, संहारेण तयोर्मेलक इत्यर्थः ॥२९॥

त्वया नाशितमित्याह **आयुश्चेति**. यद्यपि ब्राह्मणानां कृतिः अन्यथापि भवेत् तथापि वाक् मृषा भवितुं नार्हति. **अस्माभिश्च** अल्पायुरयं ज्ञात्वा अस्मा **आयुर्दत्तम्. यावत्सत्रं समाप्यते तावदस्मदायुरत्र** तिष्ठति. अतोऽस्माकमायुषोऽपि क्षयो जातः. सूर्यो धर्मादिकरणदशायाम् आयुर्न गृह्णाति[1] इत्यवोचाम. किञ्च **आत्माक्लमं च** आत्मनो देहस्य क्लमाभावः. अतः स्वकीयदानमलौकिकदानं च स्वयं नष्टमित्याक्रोशो जातः ॥३०॥

तर्हि किं पर्यवसितं जातमित्याकाङ्क्षायामाहुः **अजानतैवाचरित** इति.

अजानतैवाचरितस्त्वया ब्रह्मवधो यथा ।
योगेश्वरस्य भवतो नाम्नायोऽपि नियामकः ॥३१॥

यथा ब्रह्मवधः तथास्य वध इति महापातकसमत्वम्. अज्ञानात् कृतमिति प्रायश्चित्तार्हता ; कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विवक्षितेति. तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह **योगेश्वरस्येति**. यो हि जीवः तस्यैव कर्मणा गुणदोषौ भवतः ; भवांस्तु **योगेश्वरो** ब्रह्म अतो **भवतो नियामक आम्नायोऽपि न** भवति. वेदेन हि सर्वार्थो नियम्यते अतो यद्यपि तव न वधदोषः. प्रकारान्तरेण धर्माभीप्सितमप्युक्तम् ॥३१॥

तथापि प्रायश्चित्तं कर्तव्यमित्याहुः **यदेतद् ब्रह्महत्याया** इति.

यदेतद् ब्रह्महत्यायाः पावनं लोकपावन ।
चरिष्यति भवाँल्लोकसङ्ग्रहोऽनन्यचोदितः ॥३२॥

एतादृशब्रह्महत्यायाः **पावनं** प्रायश्चित्तं तदा तव **लोकसङ्ग्रहः** नान्यथा. अन्यैश्चोक्तः लोकसङ्ग्रहो न भवति, अस्मद्विरोधात्. ननु मास्तु

लेखः

आयुश्चेत्यत्र. ननु स्वायुषोऽन्यत्र स्थापने एतेषां कथं जीवनमित्यत आहुः **सूर्यो धर्मादीति**. एकमायुर्वर्षेण सूर्यो गृह्णाति, पुण्यपापाभ्यां वृद्धिह्रासावपि भवतः. तथाच सत्रारम्भे यदायुस्तस्य सत्रकरणदशायां क्षयाभावात् तेन जीवनमिति भावः ॥३०॥ एकोनत्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

---

१. द्रष्ट. भाग.पुरा. २।३।१७ - सम्पा.

लोकसङ्ग्रह इति चेत्, तत्राहुः **लोकपावन** इति, लोकपावित्र्यार्थमेव त्वया समागतमिति. यथा वधाभावे त्वया अवतारवैयर्थ्यमुक्तं तथा प्रायश्चित्ताकरणेऽपि लोकोपकाराभावाद् अवतारवैयर्थ्यमिति भावः ॥३२॥

ऋषिप्रोक्तं प्रायश्चित्तं कर्तव्यमिति निश्चित्य पृच्छति **चरिष्य** इति.

॥ श्रीबलदेव उवाच ॥

चरिष्ये वधनिर्वेशं लोकानुग्रहकाम्यया ।
नियमः प्रथमे कल्पे यावान् स तु विधीयताम् ॥३३॥

वधनिर्वेशो वधप्रायश्चित्तम्. लोकपावनोपपत्तिमङ्गीकृत्याह **लोकानुग्रहकाम्यया** इति. ततश्चानुकल्पं परित्यज्य मुख्यकल्पमेव वदन्त्वित्याह **नियमः प्रथमे कल्प** इति. मुख्यकल्पे यावद्व्रतं तावद् वेदो न वदतीति सङ्कोचं परित्यज्य **स विधीयताम्** ॥३३॥

अथान्यदप्यभिलषितं भवतां करिष्यामीत्याह **दीर्घमायुरिति.**

दीर्घमायुर्यथैतस्य सत्त्वमिन्द्रियमेव च ।
आशंसितं यत्तद् ब्रूत साधये योगमायया ॥३४॥

यथैतस्य दीर्घमायुः सत्त्वं बलम् **इन्द्रिय**सामर्थ्यं **च** चकारादन्यदपि **यदेव** किञ्चिद् भवता**माशंसितं** चकारात् पूर्वमनाशंसितं च तत्सर्वं **योगमायया** साधयिष्यामि ॥३४॥

तदा सन्तुष्टा ऋषय ऊचुः परीक्षार्थं सन्दिहाना. विरुद्धद्वयमस्माभिर्वक्तव्यम्. तत्र यदि समाधानं ज्ञास्यति तदा अस्योक्तं भविष्यतीति तादृशमाहुः **अस्त्रस्येति.**

॥ ऋषय ऊचुः ॥

अस्त्रस्य तव वीर्यस्य मृत्योरस्माकमेव च ।
यथा भवेद् वचः सत्यं तथा राम विधीयताम् ॥३५॥

चत्वारोऽत्र व्यापृताः— अस्त्रं तव वीर्यं मृत्युर्वयं चेति. तत्र तस्य जीवने त्रयं बाधितं भवेद्, अजीवने तु वयं चकारात् तव वाक्यं च. **यथैत**च्चतुष्टयमपि **सत्यं भवेत् तथा राम विधीयता**मिति ॥३५॥

एकेनैव चतुर्णां दूषणानां निर्धारमाह.

॥ **श्रीबलदेव उवाच** ॥

आत्मा वै पुत्र उत्पन्न इति वेदानुशासनम् ।
तस्मादस्य भवेद् वक्ता आयुरिन्द्रियवीर्यवान् ॥३६॥

आत्मा वै पुत्र उत्पन्न इति, "अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादभिजायसे आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्" (शतपथ.ब्रा. १४।९।४।२६) इति. यद्यप्ययमनुकल्पः तथापि मुख्याभावे विधीयते, यतो **वेदानुशासनम्.** **तस्मादस्य** पुराणस्य **वक्ता आयुरिन्द्रियवीर्यवान्** अयमेव भवेत्. तदा अस्त्रस्य मम वीर्यस्य तस्मादस्य मृत्योश्च न बाधा भवति, सामान्यात् प्रतिनिधिस्तद्धर्मजः स्यादिति न्यायात्. अस्यापि तथाविधा भवत्विति बोधितम् ॥३६॥

किञ्च यद्यपीदं भवतां सर्वथा नाभिप्रेतं तथाप्येतत्प्रतिनिधित्वेन अन्यद् वक्तव्यमित्याह **किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा** इति.

किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा ब्रूताहं करवाण्यथ ।
अजानतस्त्वपचितिं यथा मे चिन्त्यतां बुधाः ॥३७॥

अथ तदनन्तरं शीघ्रमेव तत् **करवाणि.** तर्हि स्वेच्छयैव किञ्चित् कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह **अजानतस्त्वपचितिमिति.** विधाय **यथा** यथावत्. यतो भवन्तो **बुधाः** अतः **अपचितिम**पराधदूरीकरणोपायं **चिन्त्यतां** तदनूच्यतामित्यर्थः ॥३७॥

तदाहुः **इल्वलस्येति.**

॥ **ऋषय ऊचुः** ॥

इल्वलस्य सुतो घोरो बल्वलो नाम दानवः ।
स दूषयति नः सत्रमेत्य पर्वणि पर्वणि ॥३८॥

समानमेव निष्कृतिहेतुर्भवति ; इल्वलोऽपि ब्रह्मवेषधरो भवति. ऋषिवेषेणैव क्वचित् स्थित्वा "अगस्त्यायातिथये पेचे वातापिम्" (भाग.पुरा. ६।१८।१५) स **इल्वलः**, तस्य **सुतो बल्वलः.** स स्वभावतोऽपि वध्य इति ज्ञापयितुमाह **दानव** इति. किमतस्तत्राह **स दूषयति नः सत्रमिति.** **पर्वणि पर्वणि** पूर्णमास्यां सुत्यादिवसे ॥३८॥

एवं तस्यापराधमुक्त्वा कर्तव्यमाह

तं पापं जहि दाशार्ह तन्नः शुश्रूषणं परम् ।
पूय-शोणित-विण्मूत्र-सुरा-मांसाभिवर्षणम् ॥३९॥

तं पापं जहीति, पापत्वादवश्यं मारणीयः. **दाशार्हेति** स्वस्य शरणागतत्वं तस्य तत्पालकत्वं च बोधितम्. **तदेव नः शुश्रूषणम्,** अपेक्षितत्वाद् दुःखनिवारकत्वाच्च. यद्यपि पादसंवाहनादिकमपि भवति शुश्रूषणं तथापि **तत् परम्.** तस्य दूषणप्रकारमाहुः **पूयशोणितेति.** परशुश्रूषणत्वायैतदग्रे कथितं **पूयादिषण्णामभितो वर्षणं यस्मादिति** ॥३९॥

एवं स्वाभिलषितमुक्त्वा तत्करणेनास्मत्सन्तोषे सुगममेव प्रायश्चित्तं त्वया कर्तव्यमित्याह.

ततश्च भारतं वर्षं परीत्य सुसमाहितः ।
चरित्वा द्वादशान् मासांस्तीर्थस्नायी विशुध्यसे ॥४०॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥

ततश्च भारतं वर्षमिति. भारतवर्षस्य सम्पूर्णस्य परिभ्रमणं कर्तव्यम्. अयं मुख्यः कल्पः. तत्र प्रकारः **सुसमाहित** इति. **द्वादशान् मासान्** व्रतं **चरित्वेति** शूद्रहत्याव्रतमुपदिष्टम्. ततः वर्षपर्यन्तं तीर्थस्नानेनान्तिमेन वा **विशुध्यसे** शुद्धो भविष्यसि. यात्रा ब्रह्महत्यायाः प्रायश्चित्तं भवति, कालस्तु शूद्रहत्यायाः, अस्मत्सन्तोषो बल्वलवधेन, वाक्यादीनां सत्यता प्रतिनिधिस्थापनेनेति सर्वं यथास्थितं जातमिति विशुध्यसे ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे एकोनत्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥

॥ द्वितीयः स्कन्धादितः षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥

कीर्त्यभावे सुसंसिद्धे कीर्तिहेतून् बलः स्वयम् ।
त्रिंशत्तमे तथाध्याये चकारेति निरूप्यते ॥(१)॥

तत्र प्रथमं बल्वलवधार्थं कालप्रतीक्षा कृता. ततो बल्वलसमागमनमाह **ततः पर्वण्युपावृत्त** इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

ततः पर्वण्युपावृत्ते प्रचण्डः पांशुवर्षणः ।
भीमो वायुरभूद् राजन् पूयगन्धश्च सर्वतः ॥१॥

दानवा अदृश्या एवेति तत्कार्यमेव दृष्टं वर्णयति— **ततः प्रचण्डः पांशुवर्षणः** पांशुवृष्टिं वर्षन् भयानको वायुराविर्भूतः. एतत् तेषां प्रथमकार्यम्. **राजन्निति** सम्बोधनं महती सेना पश्चात् समायातीति ज्ञापनार्थम्. तत **पूयगन्धश्च सर्वतो** जातः, वृष्ट्यर्थं सुरा-मांसादीनामानयनात् ॥१॥

ततोऽमेध्यमयं वर्षं बल्वलेन विनिर्मितम् ।
अभवद् यज्ञशालायां सोऽन्वदृश्यत शूलधृक् ॥२॥

ततो यज्ञशालायाममेध्यमयं वर्षमभूत्. तेन स एवोपद्रव इति निश्चितम्. ततः **सोऽप्यन्वदृश्यत. शूलधृगिति** युद्धार्थं महादेवाल्लब्धवरत्वं ख्यापयितुम् ॥२॥

ततो बलदर्शनेन तस्य स्वरूपं वर्णयति **तं विलोक्येति.**

तं विलोक्य बृहत्कायं भिन्नाञ्जनचयोपमम् ।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीमुखम् ॥३॥

(बृहत्कायं!) आदौ मूर्तिस्थौल्यं दृष्ट्वापि भयजनकं बलाधिकं[१] च. वर्णेनापि तथात्वमाह **भिन्नाञ्जनचयोपममिति. अञ्जनचयो**ऽञ्जनपर्वतः,

---

लेखः

त्रिंशेऽध्याये कारिकायां **कीर्त्यभाव** इति. तीर्थयात्रा-भीमदुर्योधनमाध्यस्थ्य-यज्ञादयो धर्माः कीर्तिहेतवः. तथा च पूर्वाध्याये कीर्त्यभावः, एतदध्याये कीर्तिस्थापनमित्यर्थः (१). ॥ त्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

---

१. बलाधिकत्वम् इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

प्रसिद्धाञ्जनपर्वताद् **भिन्नश्चेन्मूर्तिमानञ्जनपर्वतो** भवति. तस्याधिदैविकः पृथक् पर्वतः स्थितः तदायं तत्तुल्यो भवति. एवं तस्मिन् तामसभावमुक्त्वा तथा सति जडो भविष्यतीत्याशङ्क्य तस्य स्वरूपे वर्णे च राजसं भावमाह **तप्तताम्रशिखाश्मश्रुमिति**. अग्नितप्तताम्रवच्छि**खाः** केशाः **श्मश्रूणि च यस्य तम्. दंष्ट्राभिः उग्रभृकुट्या** च सहितम्, **मुखं** च भ्रूकुटीसहितम्. मुखं दंष्ट्राभिरुग्रं वा. अयं सर्वथा वध्य एवेति ॥३॥

सस्मार मुसलं रामः परसैन्यविदारणम् ।
हलं च दैत्यदमनं ते तूर्णमुपतस्थतुः ॥४॥

स्वशस्त्रं **मुसललाङ्गलात्मकं** द्वारकायां स्थितं, पाताले वैकुण्ठे वा स्थितं, **सस्मार**. यतो **रामः** सर्वेषां रतिजनकः. पूर्ववद्विशेषणम्. **परसैन्यविदारणमिति**, शत्रुसेनाविनाशकं **हलं च** तादृशम्. चकारेण तद्धर्मानुत्कर्षः. स्मरणानन्तरमेव बलभद्र**मुपतस्थतुः** तत्समीपमागते ॥४॥

ततो लीलायाः कर्तव्याभावाद् एकेनैव प्रहारेण तं मारितवानित्याह **तमाकृष्येति**.

तमाकृष्य हलाग्रेण बल्वलं गगनेचरम् ।
मुसलेनाहनत् क्रुद्धो मूर्ध्नि ब्रह्मद्रुहं बलः ॥५॥

गगनेचरं दूरे वर्तमानमपि. भगवत्त्वेऽपि **क्रुद्ध**त्वाद् मारणम्. क्रोधे हेतुः **ब्रह्मद्रुहमिति**. **बल** इति सामर्थ्यम् ॥५॥

न तस्य पराक्रमः कोऽपि जात इति वक्तुं शीघ्रं तस्य पतनमेवोच्यते **सोऽपतदिति**.

सोऽपतद् भुवि निर्भिन्नललाटोऽसृक्समुत्सृजन् ।
मुञ्चन्नार्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः ॥६॥

भुवीति तस्यापि मुक्तिः. **निर्भिन्नललाटत्वं** प्रहारज्ञापकम्, **असृक् समुत्सृजन्निति** महाप्रहारः. प्रतीकाराकरणे[१] ज्ञापकः **आर्तस्वरं मुञ्चन्निति**. मुक्त्यर्थं स्वस्मिन् दया ख्यापिता. तादृशोऽपि हन्तव्य एवेति दृष्टान्तमाह **शैलो यथा वज्रहत** इति. **अरुणः** अरुणवर्णः पर्वतः ॥६॥

---

१. प्रतीकाराकरणज्ञापकः इति सं-क-ख-ग-घपाठः - सम्पा.

ततः इष्टस्य सिद्धत्वाद् मुनयः स्तोत्रादिकं कृतवन्त इत्याह **संस्तुत्येति.**

संस्तुत्य मुनयो रामं प्रयुज्याविततथाशिषः ।
अभ्यषिञ्चन् महाभागा वृत्रघ्नं विबुधा यथा ॥७॥

स्तोत्रं स्वसन्तोषख्यापकम्. ततः प्रीतानां सत्याशीर्दानम्. ततः सर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थम् **अभ्यषिञ्चन्,** कीर्त्यर्थं पापनिवृत्त्यर्थं वा. परमदयालुर्व्रतस्थः कथमेवं कृतवानित्याशङ्कां वारयितुं महत्या प्रार्थनया केवलं मारितवान् नतु स्वत एवेति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **वृत्रघ्नं विबुधा यथेति.** वृत्रे हते यथा देवा इन्द्राभिषेकं चक्रुरित्यर्थः. अनेन तस्य सर्वपापक्षयो निरूपितः ॥७॥

वैजयन्तीं ददुर्मालां श्रीधामाम्लानपङ्कजाम् ।
रामाय वाससी दिव्ये दिव्यान्याभरणानि च ॥८॥

ततः कीर्त्याद्युपचयार्थं **वैजयन्तीं मालां ददुः.** आपादलम्बिनी वैजयन्ती. **श्रीधामेति** स्थिरलक्ष्मीत्वम्, **अम्लानेति** दोषाभावः, **पङ्कजेति** गुणाः. ततो **रामाय** सर्वरमणरूपाय **दिव्ये वाससी दिव्यानि चाभरणानि** लौकिकशोभातिशयार्थं **ददुः** ॥८॥

अथ तैरभ्यनुज्ञातः कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः ।
स्नात्वा सरोवरमगाद् यतः सरयुरास्रवत् ॥९॥
अनुस्रोतेन सरयुं प्रयागमुपगम्य सः ।
स्नात्वा सन्तर्प्य देवादीन् जगाम पुलहाश्रमम् ॥१०॥

एवं लौकिकालौकिकशोभातिशयसंयुक्तः सन् तदाज्ञापालनार्थं **तैरभ्यनुज्ञातः** तीर्थयात्रार्थमाज्ञप्तः **ब्राह्मणैः** सह **कौशिकीं** नदीं ययौ. तत उत्तरभागे या कोटाग्रामादायाति सा कौशिकी. तत्र **स्नात्वा** तेनैव मार्गेण मानस**सरोवरमगात्.** तस्मात् सरोवराद् बह्व्यो नद्यः प्रसृताः ततः सरयुरपि प्रसृता. अतस्तत्सङ्गे **अनुस्रोतेन सरयुम**योध्यापर्यन्तमागत्य पश्चात् **प्रयागे** समागतः. 'सरयु'शब्दः 'सरयू'शब्दश्च. 'सर' इत्युदकनाम, सरो युनक्तीति. ततस्तीर्थराजः प्रयाग इति तत्र विशेषस्नानादिकमाह **स्नात्वा सन्तर्प्येति.** तत उत्तरभागे **पुलहाश्रमं** हरिक्षेत्रं गतः ॥९-१०॥

गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा विपाशां शोण आप्लुतः ।
गयां गत्वा पितॄनिष्ट्वा गङ्गासागरसङ्गमम् ॥११॥

गमनमध्य एव **गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा. विपाशा** काचित् क्षुद्रा पञ्चनद्यां प्रविष्टा हरिक्षेत्रनिकट एव. अन्या तु विपाशा काश्मीरदेशे. ततः शोणे समागतः गङ्गामुत्तीर्य. सोऽपि महानद इति **शोणे आप्लुत** इत्युक्तम्. ततो **गयां गत्वा** सामान्य**पितॄनिष्ट्वा** पितामह-पित्रादीन् वा. केवलगयाभिगमनं जीवत्पितृकस्य निषिद्धम्, यात्रायां तु न निषिद्धमिति विभागः. ततो **गङ्गासागरसङ्गमं** गतः. सर्वत्र स्नानतर्पणादि ॥११॥

उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ रामं दृष्ट्वाभिवाद्य च ।
सप्तगोदावरीं वेणां पम्पां भीमरथीं ततः ॥१२॥

ततो मध्ये तदानीं पुरुषोत्तमस्थानं स्थानमात्रं, न भगवानस्तीति तदनुक्त्वा **महेन्द्राद्रिं** गतः. तत्र परशुरामं **दृष्ट्वा अभिवाद्य च** ज्येष्ठत्वात् **ततः सप्तगोदावरीं** गतः, यत्र सप्तधा गोदावरी समुद्रं गता. ततः कृष्णवेण्यां तस्या अपि सङ्गमं गतः. ततो देशमध्ये समागत्य निवृत्तिसङ्गमे पाण्डुरङ्गे वा **भीमरथीं** गतः. **पम्पां** च सरः विद्यानगरसमीपे ॥१२॥

स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः श्रीशैलं गिरिशालयम् ।
द्रविडेषु महापुण्यं दृष्ट्वाद्रिं वेङ्कटं प्रभुः ॥१३॥

तत्रैव **स्कन्दं दृष्ट्वा** ततः **श्रीशैलं** गतः. अनेन देशमध्ये परिभ्रमणं कृत्वापि सर्वाणि तीर्थानि कृतानीत्युक्तम्. ततः पूर्वभागे श्रीशैले किमिति गतमित्याकाङ्क्षायामाह **गिरिशालयमिति**. तत्र महादेवं दृष्ट्वा **द्रविडदेशेषु** महापुण्यजनकं **वेङ्कटाद्रिं** भगवद्रूपं ददर्श. स हि पर्वत एव विष्णुरूपः यथा नारायणः ॥१३॥

कामकोष्णीं पुरीं काञ्चीं कावेरीं च सरिद्वराम् ।
श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं यत्र संनिहितो हरिः ॥१४॥

ततः **कामकोष्णीं** कामाक्षी 'शिवकाञ्ची'ति प्रसिद्धा. ततः **काञ्ची** पुण्यकोटिः ततः **कावेरी-श्रीरङ्गस्थाने**. तत्र श्रीरङ्गं च महापुण्यहेतुं ददर्श. सर्वायतनापेक्षया श्रीरङ्गे विशेषमाह **यत्र संनिहितो हरिरि**ति ॥१४॥

ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मथुरां तथा ।
समुद्रसेतुमगमन् महापातकनाशनम् ॥१५॥

ततः **ऋषभाद्रिः** तस्यैवापरभागे. तच्छिवक्षेत्रं विष्णुक्षेत्रं वेति सन्देहे निर्णयार्थमाह **हरेः क्षेत्रमिति**. ततो **दक्षिणमथुरां** गतः 'यामानमथुरे'ति प्रसिद्धाः. ततः **समुद्रसेतुमगमत्** सेतुबन्धे गतः. तस्य माहात्म्यमाह **महापातकनाशनमिति**, तदत्यन्तं पुण्यतममिति ॥१५॥

तत्रायुतमदाद् धेनूः ब्राह्मणेभ्यो हलायुधः ।
कृतमालां ताम्रपर्णीं मलयं च कुलाचलम् ॥१६॥

तत्र धेनूनामयुतं प्रादात्. तीर्थवासिभ्यो दानशङ्कां वारयितुमाह **ब्राह्मणेभ्य** इति. यद्यपि तत्स्थानं स्वकृतमेव ततश्च न ज्ञातवानिति ख्यापयितुं **हलायुध** इत्युक्तम्. ततः **कृतमाला** अग्रे दक्षिणसमुद्रसमीपे ततस्**ताम्रपर्णी,** तत्रैव **मलयः कुलाचलः** यत्रागस्त्यस्थानम् ॥१६॥

ततस्तत्रागत्य अगस्त्यनमस्कारं कृतवानित्याह.

तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च ।
योजितस्तेन चाशीर्भिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम् ॥
दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श सः ॥१७॥

तत्रागस्त्यमिति, समासीनं तपः कुर्वाणं स्थिरासनं वा भगवच्चिन्तकम्. नमस्कारः माहात्म्यख्यापकः. साष्टाङ्गम् अभिवादनं नामोच्चारणपूर्वकम्. चकारात् तस्य स्तोत्रमपि कृतवानिति ज्ञायते. **अतस्तेनाशीर्भिर्योजितः**. ततोऽप्य**नुज्ञातः** दक्षिणसमुद्रस्थानं गतः यत्र कन्याकुमारी तिष्ठति. ततस्तामपि दृष्टवानित्याह **तत्र कन्याख्यां दुर्गामिति**. लक्ष्म्यंशत्वं वारयितुं **दुर्गापदम्**. सा च **देवी** देवतारूपा ; पूर्वं मानुष्यपि देवतारूपा जाता ॥१७॥

ततः फाल्गुनमासाद्य पञ्चाप्सरसमुत्तमम् ।
विष्णुः संनिहितो यत्र स्नात्वास्पर्शद् गवायुतम् ॥१८॥

ततः फाल्गुनम् अनन्तशय्यां गतः. तत्रार्जुनस्य पञ्चाप्सरसां पादगृहीतानामुद्धारणात् तन्नाम्नैव तत् प्रसिद्धं जातम्. तदाह **पञ्चाप्सरसमिति**. **उत्तमं** स्थानमेव तत्. तस्य स्थानस्य माहात्म्यमाह **विष्णुः संनिहितो यत्रेति**. तत्रापि स्नात्वा सेताविव गवामयुतं दत्तवान् ॥१८॥

ततोऽतिव्रज्य भगवान् केरलान् स्तोक्य-गर्तकान् ।
गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सान्निध्यं तत्र धूर्जटेः ॥१९॥

ततोऽतिव्रज्य, शीघ्रं तद्देशोल्लङ्घनार्थमतिव्रजनम्. यतोऽयं **भगवान्.** तत्र देशे भेदत्रयमाह **केरलान् स्तोक्यान् गर्तकांश्चेति.** स एव 'मल्लिवार' इति प्रसिद्धः. ततोऽग्रे **गोकर्णाख्यं** रावणेन नीयमानो महादेवः तत्र स्थापितः नोद्धर्तुं शक्य आसीत् तत उत्पाट्यमानः गोकर्णाकृतिर्जातः. **तच्छिवक्षेत्रं, तत्र धूर्जटेः सान्निध्यं** सर्वदैव ॥१९॥

आर्यां द्वैपायनीं दृष्ट्वा शूर्पारकमगाद् बलः ।
तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यामुपस्पृश्याथ दण्डकम् ॥२०॥

तत **आर्यां** नदीं **द्वैपायनस्य** तपःसम्बन्धिनीम्. ततः **शूर्पारकस्थानं** कृष्णवेण्याम्. ततस्**तापी** नदी **पयोष्णी निर्विन्ध्या** च ततस्ततः. ततो **दण्डकारण्यं** प्रविष्टः ॥२०॥

प्रविश्य रेवामगमद् यत्र माहिष्मती पुरी ।
मनुतीर्थमुपस्पृश्य प्रभासं पुनरागमत् ॥२१॥

तत्र च **रेवां** नर्मदामगमत् यत्र मण्डपाचलनिकटे **माहिष्मती** नाम **पुरी** पूर्वं प्रसिद्धा. ततस्तीरे गच्छन् **मनुतीर्थमुपस्पृश्य** समुद्रसङ्गमपर्यन्तमागत्य **पुनः प्रभासमागमत्.** एवं मण्डलेन भारतवर्षस्य परिभ्रमणमुक्तम्. एतावतापि वर्षो न पूर्णः ॥२१॥

श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानं कुरु-पाण्डवसंयुगे ।
सर्वराजन्यनिधनं भारं मेने हृतं भुवः ॥२२॥

ततोऽप्यग्रे पुनर्भ्रमणार्थं गच्छन् कुरुक्षेत्रनिकटे गतः. तत्रत्यै**र्द्विजैः कथ्यमानं कुरुपाण्डवानां संयुगे** तत्सम्बन्धिनां **सर्वेषां राज्ञां निधनं श्रुत्वा भुवो भारं हृतं मेने** ॥२२॥

ततस्तत्रैव गदायुद्धमपि जायत इति श्रुत्वा – भूभारस्तु हृत एव, उद्देशान्तरं नास्तीति यथा पञ्चपाण्डवा जीवन्ति एवमेको दुर्योधनोऽपि जीवतां, किं मरणेनेति निश्चित्य विनशनप्रदक्षिणां कुर्वन् – तत्र समागत इत्याह **स भीमदुर्योधनयोरिति.**

स भीमदुर्योधनयोर्गदाभ्यां युध्यतोर्मृधे ।
वारयिष्यन् विनशनं जगाम यदुनन्दनः ॥२३॥

स रामः **भीमदुर्योधनयोः गदाभ्यां युध्यतोः** सतोः युद्धं **वारयिष्यन् विनशनं** कुरुक्षेत्रमागतः. इदानीमागमने पक्षपातशङ्का नास्तीति तस्यागमनम्. यतो **यदुनन्दनः** यदुरिव विचारितार्थकर्ता स्नेहादिना पक्षपातरहितः ॥२३॥

ततः सर्वेषां शङ्का जातेत्याह **युधिष्ठिरस्त्विति.**

युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा यमौ कृष्णार्जुनावपि ।
अभिवाद्याभवंस्तूर्ष्णीं किं विवक्षुरिहागतः ॥२४॥

तं रामम्. तुशब्देन साधारणानां विद्वेषिणां च सुखं जातमिति सूचितम्. युधिष्ठिरप्रभृतीनां तु ततोऽन्यथेति अन्यपक्षो व्यावर्तितः. **यमौ** नकुल-सहदेवौ. सर्व **एवाभिवाद्य तूष्णीमभवन्.** तेषामालोचनमाह **किं विवक्षुरिहागत** इति. क्रियाप्रयोजनं तु निवृत्तं, वाङ्मात्रमवशिष्यत इति तस्यैवोत्प्रेक्षा ॥२४॥

ततः स्वयमेव स्वान्तर्गतं[१] प्रकटीकृतवानित्याह.

गदापाणी उभौ दृष्ट्वा संरब्धौ विजयैषिणौ ।
मण्डलानि विचित्राणि चरन्ताविदमब्रवीत् ॥२५॥

गदापाणी उभाविति. युद्धार्थं हस्ते गदा उभयोरपि अन्तःसाधनमाह[२] **संरब्धाविति.** अनिवृत्त्यर्थं कामनामाह **विजयैषिणाविति.** तदर्थं यत्नमप्याह **मण्डलानि विचित्राणि चरन्ताविति.** नह्येवं प्रवृत्तौ कदाचित् स्वतो निवृत्तौ भवतः. तस्माद् ज्ञानेनैव निवृत्तिरिति ज्ञानोपदेशार्थमागतः **इदं** वक्ष्यमाण**मब्रवीत्** ॥२५॥

उभयोरादौ प्रशंसामाह **युवां तुल्यबलाविति.**

युवां तुल्यबलौ वीरौ हे राजन् हे वृकोदर ।
एकं प्राणाधिकं मन्ये उतैकं शिक्षयाधिकम् ॥२६॥

उभयोर्भिन्नतया सम्बोधनं **हे राजन् हे वृकोदरेति. राजन्निति**

---

१. स्वागतम् इति मुद्रित-क-गपाठः, स्वगतम् इति खपाठः ; गृहीतस्तु सं-घपाठानुसारेण - सम्पा.

२. अतः साधनम् इति मुद्रितपाठः ; गृहीतस्तु सं-ख-घपाठानुसारेण - सम्पा.

सम्बोधनादेकोऽपि जीवितः राज्यमेव प्राप्स्यतीति निश्चितम्. ननु "भीमश्च बलभद्रश्चे" (. । ।)ति वाक्यात् कथं भीमसमो दुर्योधन इति चेत्, तत्राह **एकं प्राणाधिकं मन्य** इति. **एकं** भीमं **प्राणेन** बलेन द्वितीयादधिकं **मन्ये**. अपरं राजानं भीमापेक्षया **शिक्षया** मयैव कृतया **अधिकं मन्ये** ॥२६॥

तर्ह्येवं सति किं भविष्यतीत्याशङ्कायामाह.

तस्मादेकतरस्येह युवयोः समवीर्ययोः ।
न लक्ष्यते जयोऽन्यो वा विरमत्वफलो रणः ॥२७॥

तस्मादेकतरस्येति, बलांशः शिक्षांशेन समो भविष्यतीति अतः **एकतरस्यापि युवयोर्मध्ये** अर्थात् समवीर्यता जातेति **जयः अन्यः** पराजयो वा **न लक्ष्यते**. अतो निष्फलः अयं क्लेशरूपो **रणः विरमतु**, निष्फलत्वात् ॥२७॥

न तद्वाक्यं जगृहतुर्बद्धवैरौ नृपार्थवत् ।
अनुस्मरन्तावन्योन्यं दुरुक्तं दुष्कृतानि च ॥२८॥
दिष्टं तदनुमन्वानो रामो द्वारवतीं ययौ ।
उग्रसेनादिभिः प्रीतैर्ज्ञातिभिः समुपागतः ॥२९॥

एवमुक्तावपि न निवृत्तावित्याह **न तद्वाक्यं जगृहतुरिति**, यतो **बद्धवैरौ**. यद्यप्यर्थवद् आन्तरमनिवर्तकं बाह्यो निवर्तक इति. ततो **रामः** तत् तेषामनिवर्तनं **दिष्टं** भाग्याधीनम् इति **मन्वानः** यथाभाग्यं भविष्यतीति स्वयं यात्रां कुर्वन्नेव **द्वारवतीं ययौ**. बलभद्रे बहुकाले गृहागते नष्टलब्धधना इव उग्रसेनादयः समागताः तं गृहे निन्युः ॥२८-२९॥

तं पुनर्नैमिषं प्राप्तमृषयोऽयाजयन् मुदा ।
क्रत्वङ्गं क्रतुभिः सर्वैर्निवृत्ताखिलविग्रहम् ॥३०॥

ततो यात्राया अनिवृत्तत्वात् **पुनर्नैमिषे** समागतः. एतावता वर्षः पूर्णः. ततः **ऋषयस्तं मुदा अयाजयन् सर्वैरेव क्रतुभि**रग्निहोत्रादिभिः. **क्रत्वङ्गमिति** पित्रादिषु जीवत्सु कथं सर्वे यागाः कृता इति शङ्का व्युदस्ता. यतोऽयं **क्रत्वङ्गः** क्रतवः अङ्गानि अङ्गेषु वा यस्येति **तमयाजयन्**. **क्रत्वङ्गं** वा भगवन्तम्. तस्मिन् पक्षे याजने रामः कर्म, यजने भगवानिति.

क्रतोरङ्गमिति यजमानं, "पुरुषस्य च कर्मार्थत्वाद्" (पूर्वमी.सूत्र ३।१।६) इति न्यायात्. "यक्ष्य" इति सङ्कल्पे कृते पश्चाद् याजितवन्त इत्यर्थः. नन्वयं भूतदयारहितः सङ्कर्षणः प्रलयकर्ता कथं यज्ञकर्ता, सर्वमैत्रीकरणानन्तरमेव यज्ञाधिकाराद्? अत आह **निवृत्ताखिलविग्रहमिति, निवृत्तः अखिलैः सह विग्रहः** कलहो यस्य ॥३०॥

तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं भगवान् व्यतरद् विभुः ।
येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः ॥३१॥

ततो दक्षिणात्वेन तेभ्यो ज्ञानं दत्तवानित्याह **तेभ्यो विशुद्धविज्ञानमिति**. "दक्षिणा ज्ञानसन्देशः" (भाग.पुरा. ११।१९।३९) इतिवाक्याद् "आत्मलाभान्न परं विद्यते" (आप.धर्मसूत्र १।८।२२।२) इतिश्रुतेश्च "आत्मदक्षिणं वै सत्रम्" (. । ।) इति च "आत्मानमेव दक्षिणां नीत्वा स्वर्गं लोकं यान्ति" (. । ।) इति च ज्ञानदक्षिणैव दक्षिणा. **विशुद्धं ज्ञानमनुभवरूपं** निरुपाधिकम्. ननु कर्मासक्तानां तेषां कथमकस्माद् ज्ञानमभूत्? तत्राह(१-३) **भगवान्(१) व्यतरद्(२) विभुरि(३)** ति, (१)भगवत्त्वात् तादृशज्ञानवत्त्वं वितरणं च. (२)वितरणे न हि दानपात्रापेक्षा. (३)विभुत्वात् सर्वसामर्थ्यम्. तस्मिन् ज्ञाने प्राप्ते तेषां काऽवस्था जातेत्याकाङ्क्षायामाह **येनैवात्मन्यदो विश्वमिति**, परोक्षमपि विश्वमात्मन्यपश्यन्. विश्वस्मिंश्चात्मानं, तदाह **आत्मानं विश्वगमिति** ॥३१॥

ततो दक्षिणादानानन्तरं यज्ञसमाप्तिं च कृतवन्त इत्याह.

स्वपत्न्यावभृथस्नातो ज्ञातिबन्धु-सुहृद्वृतः ।
रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुः सुवासाः सुष्ठ्वलङ्कृतः ॥३२॥

स्वपत्न्येति. रेवती रामस्य **पत्नी, तया सह अवभृथे स्नातः**. स्नान एव **ज्ञात्यादिभिर्वृतः**. पश्चाद् वा शोभार्थं निरूप्यते. शोभायां पत्नी च हेतुभूता जातेत्याह **रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुरिति**. अन्यथा दिवसे धूसरश्चन्द्रो न शोभते. तस्यावभृथादुत्तीर्णस्य परमशोभां प्राप्तस्य पश्चाल्लौकिकवस्त्राभरणानि प्रतिपत्त्यर्थं निरूप्यते **सुवासाः सुष्ठ्वलङ्कृत** इति ॥३२॥

उपसंहरति.

ईदृग्विधान्यसङ्ख्यानि बलस्य बलशालिनः ।
अनन्तस्याप्रमेयस्य मायामर्त्यस्य सन्ति हि ॥३३॥

ईदृग्विधानीति. यथा तीर्थयात्रात्मकमिदमेकं चरित्रं एवंविधा**न्यसङ्ख्यातानि** तस्य चरित्राणि. यतोऽयं **बलशाली**, बलकार्यं बह्वेव करिष्यतीति. न च तच्चरित्रं पराजयात्मकं यतोऽय**मनन्तः**. तर्हि कथं नोच्यत इति चेत्, तत्राह **अप्रमेयस्ये**ति. नन्वयमवतीर्ण इति देहग्रहणानन्तरं चरित्रं विचार्यते नतु परमार्थभूतस्य, अन्यथा सर्व एव तथा भवेदित्याशङ्क्याह **मायामर्त्यस्ये**ति. स्तुतिपरत्वं वारयति **सन्ती**ति. (**हि**!) युक्तश्चायमर्थः— अवतारो हि किञ्चित्कार्यार्थः केषाञ्चिद्धर्मं साधयेद् अन्येषामन्यद् अन्येषामन्य इति, अन्यथा अवतारवैयर्थ्यापत्तेः. तस्माद् ग्रन्थविस्तरभयात् परं न लिख्यन्ते किन्तु **सन्ति** ॥३३॥

बुद्धिरेकत्र स्थिरीभूता दृढा भवतीति बलभद्रचरित्रस्य श्रवणादेः भगवद्भजनोपयोगित्वमाह.

शृण्वन् गृणंश्च रामस्य कर्माण्यद्भुतकर्मणः ।
सायं प्रातरनन्तस्य विष्णोः स दयितो भवेत् ॥३४॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥

शृण्वन् गृणन्निति. श्रोतरि सति **गृणन्नि**त्यादि व्याख्येयम्. **गृणन्नि**त्युच्चरन् स्वयमेव. ननु भगवद्भक्तः किमिति श्रोष्यति भावान्तरापन्नस्य ? तत्राह **अद्भुतकर्मण** इति. अद्भुतत्वाच्छ्रवणम्. दुर्योधनादय एवं मन्यन्ते— यथा पाण्डवानां पक्षे कृष्णः एवमस्मत्पक्षे बलभद्र इति, ततो वयं तुल्या जेष्याम इति. इयं बुद्धिर्भूभारहरणार्थं बलभद्रेणैव सम्पाद्यते, यथार्थं वदन् तथैव साहाय्यं च कुर्वन्. तथापि मारयत्येव, कृष्णरामयोरेकभावादिति अद्भुतकर्मत्वम्. स्वतन्त्रतया श्रवणादौ तत्रैव भक्तिर्भविष्यतीति कर्माङ्गत्वार्थमाह **सायं प्रात**रिति. **अनन्तस्य** शेषस्य **विष्णोः** पुरुषोत्तमस्य. **सः** श्रवणादिकर्ता भगवतः प्रियो **भवेत्**. अयम् अस्मत्सेवकसेवक इति प्रपौत्रवत् प्रियः. एवमुपसंहृत्य फलकथनात् तच्चरित्रं समापितमिति सूचितम्. कीर्तिस्तस्य सर्वप्रकारेण स्थिरीकृता निरूपिता ॥३४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धे त्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥

॥ तृतीयः स्कन्धादितः सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥

सम्पत्तिर्भगवन्मित्रे द्वाभ्यामत्र निरूप्यते ।
लोकावगतहेतूनामभावात् केवले हरेः ॥(१)॥
एकत्रिंशे तथाध्याये कृष्णमित्रस्य सर्वथा ।
सम्पत्त्यभावो वाक्याच्च स्थाप्यते सविशेषतः ॥(२)॥
अङ्गत्वेन बलस्यात्र श्रुत्वा लीलां विचक्षणः ।
निर्विण्णो भगवल्लीलां विशेषेणात्र पृच्छति ॥(३)॥

पूर्वाध्याये बलभद्रलीलां श्रुत्वा भगवल्लीलायां जातस्पृहः पृच्छति **भगवन् यानि चान्यानीति** चतुर्भिः.

॥ राजोवाच ॥

भगवन् यानि चान्यानि मुकुन्दस्य महात्मनः ।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य श्रोतुमिच्छामहे प्रभो ॥१॥

भगवन्निति सम्बोधनं भगवच्चरित्रे श्रद्धां ज्ञानं च सूचयति. **यानि** प्रसिद्धानि चरित्राणि चकारादप्रसिद्धानि च **अन्यानि** ग्रन्थान्तरेषूक्तानि तत्सम्बन्धि चकारादनुक्तानि च. न चैवं चरित्रबाहुल्यं, नास्तीति च, शङ्कनीयं, यतो **मुकुन्दस्य**. चरित्रबाहुल्याभावे सर्वेषां मुक्तिर्न सिद्धा भवेद्, देशकालव्यवहितानां सर्वेषामेव चरित्रश्रवणादिनैव मोक्षसिद्धेः. मम त्वेतावती श्रद्धा— तानि सर्वाण्येव चरित्राणि श्रोतव्यानीति. न केवलं मोक्षार्थित्वेनैव किन्तु महत्त्वार्थिन आत्मार्थिनश्च. तत्रापि **वीर्याणि** पराक्रमरूपाणि, तत्रापि बाहुल्यमाह **अनन्तवीर्यस्येति**. **श्रोतुमिच्छामह** इति श्रवणेच्छा सर्वेषां निरूपिता. **प्रभो** इति, एतावता श्रवणेच्छापूर्तिर्नस्त्वयैव कर्तुं शक्या नान्येनेति ॥१॥

लेखः

एकत्रिंशे कारिकायां **केवलेति**. यत्र भगवता ऐश्वर्यादिकं न स्थापितं, केवलं मित्रत्वमेव स्थापितं, तादृशे **मित्रे लोकावगतानां** लक्ष्मी**हेतूनां** राज्यादीना**मभावादि**त्यर्थः (१). **सम्पत्त्यभाव** इति. **सम्पत्त्यभावः** "कथयाञ्चक्रतुः" इति श्लोकमारभ्य भगवद्**वाक्याद् विशेषतः स्थाप्यते**. तत्र सम्पत्त्यभावपूर्वकं गुरुशुश्रूषाया एव व्यवस्थापनात् सम्पत्त्यभाव एतदध्याये, अलौकिकतत्सम्पादनं द्वितीयाध्याये इति विभागः (२).

ननु श्रुतान्येव बहुचरित्राणि, पुनः कथमाकाङ्क्षेति चेत्, तत्राह.

को नु श्रुत्वाऽसकृद् ब्रह्मन्नुत्तमश्लोकसत्कथाः ।
विरमेत विशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणैः ॥२॥

को नु श्रुत्वेति, असकृद् वारंवारमपि **श्रुत्वा** श्रवणाद् **विरमेत! ब्रह्मन्नि**त्यस्मिन्नर्थे सर्वज्ञत्वात् सम्मतिरुक्ता. तत्राप्यु**त्तमश्लोकस्य सत्कथाः**. उत्तमैः श्लोक्यत इत्यविगानं, कथाश्च सद्रूपाः स्वतोऽपि पुरुषार्थपर्यवसायिन्यः. एवं सर्वप्रकारेणोत्तमाभ्यः को वा विरमेत! ननु सत्कथाः बह्व्य एव सन्ति बहूनां भगवतश्च, ततश्च श्रुतानामेवानुवृत्तिः कर्तव्या, किमपूर्वश्रवणेनेत्याशङ्कायामाह **विशेषज्ञ** इति. यदेकं चरित्रं श्रुतं तदा यावान् रसः तदपेक्षया द्वितीयचरित्रश्रवणे शतगुणः, ततस्तृतीयेऽपि ततः शतगुणाधिक्यम्. एवमुत्तरोत्तरं श्रोतृणां रसाधिक्यमनुभवसिद्धम्. अतो **विशेषज्ञः को वा विरमेत!** पूर्वचरित्रेणान्तःकरणमालिन्ये निवृत्ते उत्तरोत्तरमधिकचरित्रस्वरूपज्ञानाद् विशेषज्ञता युक्तैव. तत्र कदाचित् संसारे व्यापृतः अन्यधर्मैर्बन्द्या गृहीतः विरमेतापि ; यस्तु पुनर्विरक्तः स कथं तन्न गृह्णीयात्? वैराग्ये उपपत्तिमाह **विषण्णः काममार्गणैरि**ति. कामा नानाविधाः ; मार्गणत्वादन्तःस्थिताः भित्त्वा बहिर्निर्गच्छन्ति बहिःस्थिताश्चान्तःप्रविशन्तीति. तत उपायो जातः. यतोऽयं काममयः पुरुषः[१]. अतः सर्वतो भिन्नः सर्वानन्दहेतोश्चरित्रात् कथं विरमेतेत्यर्थः ॥२॥

एवं जीवस्य स्वतः भगवच्चरित्रादविरतिमुक्त्वा विरक्तौ न केवलमात्मन एव कामैर्नाशः किन्तु सर्वेन्द्रियाणामपि वैफल्यमिति वदन् इन्द्रियवत्त्वं भगवच्चरित्रादेवेत्याह **सा वागि**ति द्वाभ्याम्.

सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च ।
स्मरेद् वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥३॥

वाग् देवतारूपा. अनेनान्येषां दैत्यरूपा वागिति तेषामिन्द्रियाणां 'वागा'दिपदप्रयोगो भाक्तः. आभासा वा वागादयः, अन्यथा भगवतः सकाशादुत्पन्ना वागादयः कथमन्यपरा भवेयुः? अथवा "द्वया ह प्राजापत्या" (बृह.उप. १।३।१) इत्यत्र देवपक्ष एव "ते ह वाचमूचुः" (बृह.उप. १।३।२) इत्यादिना 'वाक्'शब्दव्यवहार उक्तः. असुराणां तु सर्वेन्द्रियाणामासुर-

१. द्रष्ट. बृह.उप. ४।४।५ - सम्पा.

त्वमेव, न वागादित्वम्. अथवा इन्द्रियाणां द्वेधा उत्पत्तिः श्रुतौ निरूपिता— "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" (मुण्ड.उप. २।१।३) इति, "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः" (कठ.उप. २।१।१) इत्यादि च. पुराणादिष्वहंकारादपि तेषामुत्पत्तिः. तत्र ये भगवद्योग्याः तेषां भगवदीयैव सामग्री ; तत्रैव वागादिव्यवहारः. ब्रह्मनिर्मितेऽहंकारनिर्मिते वा इन्द्रियवर्गे नायं व्यवहारः, राजस-तामसव्यवहारात्. अतः सात्त्विका निर्गुणा वा भगवदीया भवन्तीति भगवत्कृतेन्द्रियसम्बन्ध एव तेषाम्. तत्र परीक्षार्थमिदमारभ्यते **सा वागिति**. अभिप्रेता **वाक् सैव यया तस्य गुणान् गृणीते**. गृणनं नोच्चारणमात्रं किन्तु नितरां, "गृ निगरण" (. ।।) इत्यनुशासनात्. भगवतः कथामात्रं कदाचिदन्योऽपि वदेद्, उत्कर्षाधायकानां तु तेन प्रकारेण नितरां भक्तिपूर्वकमुच्चारणं भगवत्कृतवाच एवेति न क्वाप्यव्याप्त्यतिव्याप्ती. इदमेव चाभिज्ञापकम्, एवमग्रेऽपि ज्ञातव्यम्. **करौ**

लेखः

सा वागित्यत्र द्वेधोत्पत्तिरिति, साक्षाद्भगवतः अन्यद्वारा चेत्यर्थः. **तत्र य** इति. **ये भगवद्योग्याः** पुरुषास्तेषां तत्र द्विविधेन्द्रियमध्ये या **भगवदीया सामग्री तत्रैव वागादिव्यवहार** इत्यर्थः. **ब्रह्मे**ति. कालप्रकरणे "चतुर्थ ऐन्द्रिय सर्गः" (भाग.पुरा. ३।१०।१६) इत्यनेन कार्योपयोगित्वेनोक्तो **ब्रह्मनिर्मितः** राजसाहङ्काराज्जातोऽ**हङ्कारनिर्मित** इत्यर्थः. **अत** इति, इन्द्रियाणां मात्राणां च राजसतामसत्वाद् भगवदीयानां सात्त्विकनिर्गुणत्वाद् भगवदीयेषु तादृशेन्द्रियवर्गो न सम्भवतीति **तेषां भगवत्कृतेन्द्रियसम्बन्ध एव** भवतीत्यर्थः. **परीक्षार्थमि**ति. लौकिकेषु प्रसिद्धे एव व्यवहारः, एतेषु तु मध्ये का वाक् के च करादयः इति परीक्षार्थं तत्तल्लक्षणमारभ्यत इत्यर्थः. तत्र गुणकथने करणं वाक्, कर्मकृतौ करणं करौ —एवमग्रेऽपि लक्षणानि ज्ञेयानि. **अभिप्रेते**ति, **यया गुणान् गृणीते सैव वाक् तेनाभिप्रेता,** प्रसिद्धेर्नियामकत्वाभावात् करादीनामपि वाक्त्वं स्यात् तद्व्यावृत्त्यर्थमेवकार इति. **न क्वाप्यव्याप्त्यतिव्याप्ती** इति. ब्रह्माहङ्कारनिर्मितवाचो लक्ष्यत्वाभावादव्याप्तिर्न, निरन्तरकथनस्य लक्षणत्वादतिव्याप्तिश्च नेत्यर्थः. **इदमेव चे**ति चकाराल्लक्ष्यापि भगवत्कृतवागेवेत्यर्थः.

च तत्कर्मकरौ. कर्म लौकिकं परिचर्यात्मकं, भगवत्त्वेन ज्ञात्वा यज्ञकृतौ तदपि भवति. तच्छब्देन पुरुषोत्तमो वा, यज्ञस्तु पुरुषस्य कर्मेति न तत्रातिव्याप्तिः. चकाराद् बहिर्मुखानामपि सेवकसेवकानां करौ सङ्गृहीतौ. गुणानुवर्णनं तु न तेषामान्तरं शक्यं, बाह्यं तु प्रसङ्गाद् भवेदपि. **मनश्च** तत्र चकारः पूर्वकर्मसङ्ग्रहार्थः, न तु सेवकानाम्. **स्थिरजङ्गमेषु वसन्तं** भगवन्तं **स्मरेदि**ति. अनेन द्वितीयस्कन्धे सूक्ष्मधारणायां यदुक्तं "धारणया स्मरन्ति" (भाग.पुरा. २।२।८) इति तत्र विशेषो निरूप्यते **स्थिरजङ्गमेषु वसन्तमि**ति. तत्र तु स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे (भाग.पुरा. तत्रैव) इति. अन्यदपि रूपद्वयं सामान्यवचनात् सङ्गृह्यते — आधिदैविकमन्तर्यामिरूपं च. तत्राप्युत्तमत्वादिभेदः कल्पनीयः. उत्तमास्तु पूर्वोक्ताः. सर्वत्र भगवद्दर्शनं तु भगवत एव, तथानुगृहीतस्य वा, भवति. तादृशस्य स्मृतिर्निवर्तत एव, सर्वत्रानुभव एव. कर्णयोस्तु विशेषमाह **शृणोती**ति. **तत्पुण्यस्य** जीवहितकरणरूपस्य **कथाः** ; पुण्यजनिकास्तु प्रकरणविरोधान्न ग्राह्याः. **कर्ण** इत्येकवचनं वामाभिप्रायम् ; "उत्तरो देवहूः स्मृत" (भाग.पुरा. ४।२९।१२) इतिवाक्यम्. अथवा यः कर्णौ भक्तिजनिकां कथां शृणोति स सर्वसम्मत इति तं परित्यज्य योऽपि **पुण्यकथाः शृणोति स कर्णः** स एव कर्णः, पूर्वोक्तो वा ॥३॥

इन्द्रियाणां निरूप्य अङ्गानि निरूपयन् उत्तमाङ्गं निरूपयति.

लेखः

तदपि भवतीति, दैवकमपि कर्म लक्षणं भवतीत्यर्थः. **न तेषामि**ति, सेवकानां गुणानुवर्णनं न शक्यमित्यर्थः. **पूर्वोक्ता** इति, द्वितीयस्कन्धोक्तधारणावन्त इत्यर्थः. **तथानुगृहीतस्ये**ति, ज्ञानमार्गेऽनुगृहीतस्येत्यर्थः. **तत्पुण्यस्ये**ति, जीवानां हितकरणरूपं यद् भगवतः पुण्यं सच्चरित्रं तत्प्रतिपादिकाः कथा इत्यर्थः. **प्रकरणे**ति. प्रकरणं हि भगवदीयेन्द्रियवर्गस्य तस्य पुण्यजनकत्वेन कथाश्रवणं न युक्तं, कर्ममार्गीयत्वाभावादित्यर्थः. **उत्तर** इति, दक्षिणस्य पितृहूत्वमुक्तमित्यर्थः. **पुण्यकथा** इति, अस्मिन् पक्षे पुण्यजनिका कथा इत्येवार्थः. **पूर्वोक्तो** वेत्यनेन पुनस्तस्यानुवादः प्रथमपक्षस्यैव मुख्यत्वज्ञापनाय ॥३॥

शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेत्   तदेव यत् पश्यति तद्धि चक्षुः ।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां पादोदकं यानि वहन्ति नित्यम् ॥४॥

वहन्ति, शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेदिति. **उभयं** स्थावरजङ्गमात्मकं **लिङ्गं** यस्येति. अन्यत्तु भारात्मकत्वेन पूर्वमेव निरूपितम् ; तुशब्दस्तद् व्यावर्तयति. एतद् येन सम्भवति तदप्यैन्द्रियकार्यं तथापि फलदशायामुपयुज्यत इति तदाह **तदेव यत्पश्यती**ति. सर्वमेव जगत् तल्लिङ्गत्वेनैव यदा पश्यति तदैव चक्षुर्भवति. अत्रायं साधनक्रमोऽपि[१] निरूपितः — मार्गान्तरानुसारेणैव गुणोत्कीर्तनपर्यन्तमधिकारे सिद्धे पश्चात् कीर्तनं भगवदीयानां प्रथमं साधनम्, ततः सेवारुच्या सेवा, ततो ज्ञानोदये सर्वत्र भगवदनुसन्धानम्. तादृशस्य बहिर्व्यापारे तत्साधकपुण्यकथाश्रवणम्, तस्य पुण्यैः नारदादिभिः वा कथाश्रवणम्, ततः सर्वत्र भगवत्साक्षात्कारः, ततो नमनमिति. एवं क्रमसिद्ध्यर्थं सर्वापेक्षया पूर्वमेव कर्तव्यम् आवश्यकफलसाधकमिति भगवच्चरणोदकस्य पश्चादपि साधकत्वमिति सर्वान्ते निरूपयति **अङ्गानि विष्णो**रिति. तान्येवाङ्गानि **यानि विष्णोः पादोदकं** गङ्गां **वहन्ति. अथ** भिन्नप्रक्रमेण **विष्णोः** शालिग्रामादौ **तज्जनानां** च **नित्यं वहन्ति.** अङ्गात् प्रथममागमनं भिन्नप्रक्रमः. नित्यवहनं त्रिषवणम् अहरहः तदेकपानादिना वा. एवं भगवदीयत्वेनैव सर्वपुरुषार्थ इति कथं कथातो विरतिरिति ॥४॥

एवं भगवदुत्कर्षे वर्णिते श्रवणेन शुकोऽपि भक्त्यानन्दे निमग्नः कथारम्भं कृतवानिति सूतः शौनकादीन् प्रत्याह.

लेखः

शिरस्त्वित्यत्र अङ्गनिरूपणे चक्षुरिन्द्रियनिरूपणस्य हेतुमाहुः **तदपी**ति. उभयलिङ्गत्वेन दर्शनमपीत्यर्थः. **सेवारुच्या सेवे**ति. स्मरणं श्रवणं च सेवान्तःपात्येव, "सेवायां वा कथायां वा" (भक्तिव. ९) इति साहचर्यादिति भावः. मूले पूर्वं नमनमुक्तं ततो दर्शनं, तथाप्यर्थक्रमो बलीयानित्याशयेनाहुः **ततो ज्ञानोदय** इति ॥४॥

---

१. सार्थकक्रमोऽपि इति सं-क-ग-घपाठः - सम्पा.

॥ सूत उवाच ॥

विष्णुरातेन सम्पृष्टो भगवान् बादरायणिः ।
वासुदेवे भगवति निमग्नहृदयोऽब्रवीत् ॥५॥

विष्णुरातेन सम्पृष्ट इति, स हि भगवता एतदर्थमेव रक्षितः. शुकोऽपि परमभगवच्छ्रद्धया **भगवान्** यतो **बादरायणिः** तपःपरायणाद् भगवत उत्पन्नः. अत एव **वासुदेवे** सत्त्वान्तःकरणाविर्भूते **निमग्नहृदयः** सन् ततो गूढं भगवच्चरित्रं गृहीत्वेव **अब्रवीत्**. इदं सख्यचरित्रम् एकादशाध्यायैर्वक्तव्यम् अतो निमग्नहृदयत्वादिकं साधनत्वेन निरूपितम् ॥५॥

कथामाह **कृष्णस्यासीदिति.**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

कृष्णस्यासीत् सखा कश्चिद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥६॥
यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी ।

स पूर्वमपि **कृष्णस्यैवासीद्,** इदानीं तु **सखा** बाल्ये मित्रम्. **कश्चिदिति** विशेषतो देवांशत्वनिराकरणं, किन्तु केवलं सज्जीवः. तर्हि तेन सह कथं सख्यमासीत् ? तत्राह **ब्राह्मणइत्यादि** सप्तविशेषणानि येन षड्गुणैश्वर्ययुक्तो भगवांश्च तत्र प्रतिष्ठितो भवति. ततो भगवानेव भगवतः सखा भवतीत्युक्तं भवति. तत्र **ब्राह्मणः** श्रियो रूपं, ब्रह्मानन्दत्वाल्लक्ष्म्याः. अयं च ब्रह्मणः सम्बन्धो[१] ब्रह्मसम्बन्धयोग्यतामेव सम्पादयति, न जीवसम्बन्धमिति प्रकरणाद् ब्राह्मण्यं निरुक्तम्. अनेन एतादृशभावे यददृष्टं भगवदिच्छा वा तेनैवास्य सख्यं जातमित्युक्तं भवति. **ब्रह्मविदां** मध्ये श्रेष्ठः —ब्राह्मण्योत्कर्षः परमोऽयं, ज्ञानस्यैतद्रूपम्. **विरक्त** इति **इन्द्रियाणामर्थेषु** सहजेषु रागाभावः वैराग्यस्य रूपम्. **प्रकर्षेण शान्तः आत्मा यस्येति** त्रितयानन्तरं धर्मी

लेखः

विष्णुरातेनेत्यत्र इदं सख्यचरित्रमिति. इत आरभ्य स्कन्धसमाप्तिपर्यन्तं सख्यचरित्रमित्यपि पक्ष इत्याशयेन **एकादशाध्यायैरित्युक्तम्** ॥५॥

---

१. सम्बन्धी इति सं-क-ख-ग-घपाठः - सम्पा.

निरूपितः. ततो **जितेन्द्रियः** ऐश्वर्ययुक्तः. **यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानः** वीर्यवान्. इदं त्वतिसहनं परमवीर्यकार्यम्. **गृहाश्रमी** गृहस्थः —एतत् कीर्तिरूपम् ॥६ १/२॥

नन्वेतादृशस्य गृहस्थाश्रमो न युक्त इति शङ्कां वारयितुमाह **तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधेति.**

तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा ॥७॥

पूर्वं परमहंसगृहस्थनिर्णये यद्येतादृशी भार्या लभ्येत तदा गार्हस्थ्यमुत्तमम् एतदभावे पारमहंस्यमिति, अन्यथा पुरुषोऽर्धवृगल[1] इति पुरुषार्थसाधने खण्डः स्यात्. **कुचैलस्येति** तस्यां रागाभावो निरूपितः, रागिणां प्रथमतो वस्त्रालङ्करणमिति. तस्यां रागाभावे अस्यापि हेतुमाह **क्षुत्क्षामेति.** सर्वथा **क्षुधा क्षामा** कृशा, तदपेक्षया तस्याः व्रतमधिकमिति. पदार्थोत्पत्तावेक एव प्रकारः, तत्रापि शेषभोजनादाधिक्यम्. **चकारात्** तद्धर्मयुक्तापि तथाविधा कुचैला. अनेन तस्मिन्नपि तस्या रागाभावो निरूपितः ॥७॥

तस्याः कामनायां प्रथमतो हेतुमाह.

पतिव्रता पतिं प्राह म्लायता वदनेन सा ।
दरिद्रा सीदमाना सा वेपमानाभिगम्य च ॥८॥

पतिव्रतेति, पतिरेव व्रतं यस्याः. यथा व्रती स्वव्रतोत्कर्षं वाञ्छति तथा सापि भर्तुः सर्वसमृद्धिं वाञ्छतीति पतिव्रतात्वादेव नान्यतस्तत्सम्पादनम्. अतः **पतिं प्राह म्लायता वदनेनेति** दैन्यख्यापनम्. ननु मनसि कामाभावे दैन्यं कपटरूपमिति पातिव्रत्यविरुद्धम्, विद्यमाने तु तथाविधत्वं नास्तीत्याशङ्कायामाह **सेति. सा** पतिव्रता, व्रतार्थं तत्साधनमिति न दोष इति भावः. स्वतः स्वोत्कर्षो नास्तीति ज्ञापयितुमाह **दरिद्रा सीदमाना सेति.** दारिद्र्याद् दुर्गतिः न कोऽप्यर्थः. तत्राप्यवसादं शरीरेण प्राप्नोति.

लेखः

तस्य भार्येत्यत्र तस्या रागाभावो निरूपित इति. कुचैलभार्यायाः सर्वत्रैव रागाभाव इति भावः ॥७॥

---

१. द्रष्ट. बृह.उप. १।४।३ - सम्पा.

ततः प्रथमत एव देहवियोगे व्रतभङ्गोऽपि भविष्यतीति भयात् तथाकरणम्. यतः **सा** पूर्ववत्. तर्ह्येतावत्कालं कथं नोक्तवती? तत्राह **वेपमानेति**. भयादिति केचित्. शरीरं पतनदशापन्नमिति. अतः परं कालो विलम्बं न सहत इति आभिमुख्येनागत्य चकारात् तन्मनःप्रीतिं कृत्वा स्तोत्रं वा वक्ष्यमाणमाह ॥८॥

तस्याः वाक्यानि निरूपयति **नन्विति** सार्धैस्त्रिभिः. सर्वथा अवसादे ईश्वरोपसर्पणं विहितम्. अत आपद्धर्मत्वात् सा बोधयति.

ननु ब्रह्मन् भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः ।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान् सात्वतर्षभः ॥९॥

नन्विति कोमलसम्बोधनम्. **ब्रह्मन्** इत्यविकृतत्वाय; सिद्धदशैषा तव, विषयभोगेऽपि न स्वरूपनाशः. किञ्च भगवता स्वस्य रूपं त्वयि समर्पितम् अतो **भगवतस्तव सखा** भगवान् **साक्षात्**. अनेन प्रतिग्रहस्तद्दोषश्च निवारितः. तस्याप्यस्मत्तुल्यत्वे व्यर्थमुपधावनमिति शङ्काव्युदासार्थं सख्यपदेनैव भगवत्त्वं प्राप्तमिति **साक्षाच्छ्रियः पतिरित्याह**. मूर्तिमत्याः आधिदैविक्या लक्ष्म्याः पतिस्तेन सर्वाः सम्पदः तदधीना इत्युक्तम्. तथाप्यस्मभ्यं कथं दास्यतीत्यत्र हेतुमाह **ब्रह्मण्य** इति. चकारात् स्वतोऽप्युदारः. किञ्च **शरण्यश्च** यः शरणं गच्छति तस्मै च सर्वं प्रयच्छति. अशरणगतावपि गमनमात्रेणैव दास्यतीति **चकारार्थः**. नन्वेवं सति सर्वेभ्यो दाने पदार्थक्षयः अल्पावशेषे वा स्वार्थं स्थापयतीति शङ्कां वारयति **भगवानिति** पूर्णसर्वशक्तिः. सेवकाः प्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्यत आह **सात्वतर्षभ** इति. **सात्वतानां** परमभक्तानां **ऋषभः** स्वामी ॥९॥

तमुपैहि महाभाग साधूनां च परायणम् ।
दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने ॥१०॥

किमतो यद्येवं? तत्राह **तमुपैहीति**, तन्निकटे गच्छेति प्रार्थना. ननु महाभाग्यव्यतिरेकेण कथं भगवत्समीपगमनं? तदभावश्च दारिद्र्यादेवावसीयते, तत्राह **महाभागेति**. पातिव्रत्येन तद्भाग्यं प्रादुर्भूतं पश्यन्ती तथा सम्बोधयति. अनेनाल्पद्रव्येऽपि भाग्यरहितः कथं सर्वपुरुषार्थनिधिं प्राप्स्यतीति परिहृतम्, इदानीमेव प्रादुर्भावात्. किञ्च **साधूनां च परायणं** ये स्वभावत

एव दरिद्राः परमसाधवः तेषामपि परमयनम्. चकारो युक्त्यन्तरमिदमिति ख्यापयितुम्. नन्वेवमपि को वेद दास्यति न वेति शङ्काव्युदासार्थमाह **दास्यति द्रविणं भूरी**ति. तत्र हेतुः **सीदते ते कुटुम्बिने** इति. सीदत्कुटुम्बी पात्रम्. तत्रापि भवान् सर्वगुणसम्पन्नः ॥१०॥

कदाचिद् भगवानन्यत्र गत इति शङ्कां व्युदस्यति **आस्तेऽधुने**ति.

आस्तेऽधुना द्वारवत्यां भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ।
स्मरतः पादकमलम् आत्मानमपि यच्छति ॥
किं न्वर्थकामान् भजते नात्यभीष्टान् जगद्गुरुः ॥११॥

तस्य कार्यान्तरवैयग्र्याभावाय ऐश्वर्यं निरूपयति **भोजवृष्ण्यन्धकानामीश्वर** इति. त्रिगुणप्रधानास्त्रयो निरूपिताः. तथापि "दाता जगति दुर्लभः" (. । ।) इतिन्यायेन कदाचिन्न दद्यात् तत्राह **स्मरतः पादकमल**मिति. यः स्मरति तस्मै बहु प्रयच्छति ; किं बहुना ब्रह्मानन्दं किं बहुना आत्मानन्दमपि. तत्र **किं** वक्तव्यं **भजते अर्थकामान्** ददातीति. नन्वर्थकामावेव चेत् तस्याभीष्टौ तदा न दद्यादित्यत आह **नात्यभीष्टा**निति. अनभीष्टं बह्वेव दीयत इति लोके प्रसिद्धम्. सर्वथा अनभीष्टं सख्ये न दास्यतीत्यत आह **नाती**ति, किञ्चिदभीष्टत्वं वर्तत एव. अतः प्रथमं दत्वा पश्चाद् दूरीकरिष्यतीति भावः. ननु पात्रं प्राप्य कदाचित् क्रूरं दास्यतीति शङ्कां वारयति **जगद्गुरु**रिति. सर्वेषां हितोपदेष्टा कथमन्यथा कुर्यादित्यर्थः. अनभीष्टत्वे वा हेतुः, अन्यथा जगद्गुरुत्वं न स्यादिति. स्वयं विषयासक्तः न ह्यन्येभ्यो वैतृष्ण्यं बोधयितुं शक्नोति ॥११॥

एवं तस्या वाक्यान्युक्त्वा तेषामावृत्त्या तस्यापि मनः किञ्चित् तथाजातमित्याह **एवं स** इति.

एवं स भार्यया विप्रो बहुशः प्रार्थितो मुहुः ।
अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम् ॥१२॥

लेखः

किं न्वर्थकामानित्यत्र **तस्याभीष्टा**विति. **तस्य** भगवत इत्यर्थः ॥११॥

ननु स्वत[१] एव कुतो न गतः, किमिति भार्यया प्रार्थितः? यतो भगवद्दर्शनं सर्वेषामेवाभीष्टं, तत्राह **विप्र** इति. **बहुशो** बहुप्रकारेण उक्तसदृशेन. **मुहुः** एकस्मिन्नपि दिवसे वारं वारं भर्त्रे रोचत इति. ततः तस्य गमनार्थमालोचनमाह **अयं हि परमो लाभ** इति. **उत्तमश्लोकस्य दर्शनं** ब्रह्मभावादपि दुर्लभम्, यतो ब्रह्मणोऽपि तद् वाञ्छितम् ॥१२॥

इति सञ्चिन्त्य मनसा गमनाय मतिं दधे ।
अप्यस्त्युपायनं किञ्चिद् गृहे कल्याणि दीयताम् ॥१३॥

एवमेकं कार्यमुभयं साधयिष्यतीति **सञ्चिन्त्य**– इदं गोप्यं भार्यायै न वक्तव्यमिति **मनसे**त्युक्तम्, अन्यथा साप्यागच्छेत्– ततो **गमनाय मतिं दधे**. ततो गमनसामग्रीं विचारयन् "रिक्तहस्तो न पश्येत" (मेरुतन्त्र.प्रका. १०।६५५) इत्युपायनं याचितवान्. याचनावाक्यमाह **अप्यस्ती**ति. **अपी**ति सम्भावनायाम्. **कल्याणी**त्वात् कदाचित् कुतश्चित् प्राप्नुयात्. **गृहेऽस्ती**ति प्रश्नः. "नास्ती"त्युक्ते कदाचिद् गमनप्रतिबन्धकमेतदेव भवेद् इति तूष्णीं स्थिता. ततः अप्रतिषिद्धमनुमतं भवतीति ज्ञात्वा याचयति **दीयता**मिति ॥१३॥

याचित्वा चतुरो मुष्टीन् विप्रान् पृथुकतण्डुलान् ।
चैलखण्डेन तान् बद्ध्वा भर्त्रे प्रादादुपायनम् ॥१४॥

सा च पतिव्रता भर्तृवाक्यं प्रतिपालयितुं **चतुरो मुष्टीन् पृथुकतण्डुलान्** धान्यचिपिटान्, ते मध्ये भक्षयितुमपि शक्यन्त इति तानेव, याचयित्वा **चैलखण्डेन** स्ववस्त्रखण्डेन **तान् बद्ध्वा** स्व**भर्त्रे उपायनं प्रादाद्** एतद् भगवते देयमिति. अबद्ध्वा दाने कदाचिदन्यस्मै प्रयच्छेत् पातयेद् वा ॥१४॥

ततो भगवन्तं प्रति सोपायनस्य गमनमाह **स तानादाये**ति.

स तानादाय विप्राग्र्यः प्रययौ द्वारकां किल ।
कृष्णसन्दर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन् ॥१५॥

किलेति प्रमाणम्. मध्ये यो गच्छति स स्वाभिलषितं चिन्तयति. ततोऽयमपि **चिन्तयन्** गच्छति. तत् किं धनं दर्शनं वेति सन्देहे तन्निवृत्त्यर्थमाह **कृष्णसन्दर्शन**मिति, न तु कथं कियद् वा धनं प्राप्स्यामीति ॥१५॥

---

१. स्वयमेव इति सं-क-ख-ग-घपाठः -सम्पा.

ततः दुर्गत्वात् रक्षकास्तत्र तत्र स्थिताः. ते कमपि न प्रवेशयन्ति अज्ञातचरम्. तत्र कथमयं गत इति शङ्कां निवारयति **त्रीणि गुल्मान्यतीयायेति.**

त्रीणि गुल्मान्यतीयाय तिस्रः कक्षाश्च सद्विजः ।
विप्रो ह्यान्धकवृष्णीनां गृहेष्वच्युतधर्मिणाम् ॥१६॥
गृहं द्व्यष्टसहस्राणां महिषीणां हरेर्द्विजः ।
विवेशैकतमं श्रीमद् ब्रह्मानन्दं गतो यथा ॥१७॥

गुल्मानि सेनाभेदाः **कक्षाः** प्राकारभेदाः. **गुल्मशब्देन** गुल्मकृतवनदुर्गाणि वा. निःशङ्कगमने हेतुः **सद्विज** इति, द्विजैः सहितः. **स** एव वा **द्विजः**. द्विजत्वं साधारणमिति विशेषेण पूरणत्वं च वदन् **विप्रत्वमाह. अन्धकवृष्णीनाम् अच्युतधर्मिणां** वैष्णवानां परितो व्याप्तानां **गृहेषु** मध्ये **हरेः द्व्यष्टसहस्राणां महिषीणां गृहेषु** च मध्ये **द्विजः** अप्रत्याख्येयः **एकतमं गृहं विवेश,** भगवानत्र स्थास्यतीति. तत्र हेतुः **श्रीमदिति,** शोभासम्पत्त्यतिशययुक्तम्. तत्र गमनमात्रेणैव तस्य याऽवस्था तामाह **ब्रह्मानन्दं गतो यथेति.** द्वारकायां वैकुण्ठावेशात् तस्य च ब्रह्मत्वात् तन्मध्ये भगवद्गृहस्य च आनन्दांशत्वात् तत्र प्रविष्टो ब्रह्मानन्दं प्राप्नोत्येव. **यथेति** प्रकारभेदार्थमुक्तम् ॥१६-१७॥

ततः परितो विलोकनसामर्थ्यरहितः आनन्दानुभवेन[१] निमीलिताक्ष इव भगवता दृष्ट इत्याह **तं विलोक्येति.**

तं विलोक्याच्युतो दूरात् प्रियापर्यङ्कमास्थितः ।
सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा ॥१८॥

प्रियापर्यङ्के लक्ष्मणापर्यङ्के. विरतिवेलायां चतुर्थप्रहरे रात्रौ वा प्रियापर्यङ्के भगवानुपविष्टः. सा लक्ष्मणा चिह्नेन लक्ष्मीर्भवति. ततः **सहसोत्थाय** अग्रे समागत्य **दोर्भ्यां पर्यग्रहीत्.** अनेन तुल्यता निरूपिता, **मुदेत्यान्तरो** भावः. यथा भगवत्सम्बन्धे तस्य हर्षः एवं तत्सम्बन्धे भगवतोऽपि, भक्तत्वाद् इति ज्ञापितम् ॥१८॥

ततः आनन्दापूरित इव लीलां कृतवानित्याह.

---

१. आनन्दानुभावेन इति खपाठः - सम्पा.

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेर् अङ्गसङ्गातिनिर्वृतः ।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ॥१९॥

सख्युः प्रियस्येति, सखित्वात् तस्य यथा जातं तथैव भाव्यम्. भगवतोऽपि सुतरां **प्रियस्य** स प्रीतिविषयः पूर्वत्र हेतुरपि भवति. ततोऽपि **विप्रर्षिः** ब्राह्मणोत्तमः, अलौकिकः परमानन्दोऽप्यस्मिन् प्रादुर्भूत इति. **तत्सङ्गेनातिनिर्वृतः** अन्तःसुखं प्राप्तवान्. ततः प्रीत्या मनस्तं द्रष्टुं बहिरागतमिव **नेत्राभ्यामब्बिन्दून् व्यमुञ्चत्**. **पुष्करेक्षण** इति कृपालुत्वमुक्तं हेतुत्वेन ॥१९॥

ततो भार्याकृतवैलक्षण्यमावश्यकमिति तेनैव सख्यं न्यूनं भविष्यतीति शङ्कायामाह **अथोपवेश्य पर्यङ्क** इति.

अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युः समर्हणम् ।
उपाहृत्यावनिज्यापः पादौ पादावनेजनीः ॥२०॥
अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवाँल्लोकपावनः ।
व्यलिम्पद् दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः ॥२१॥
धूपैः सुरभिभिर्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा ।
अर्चित्वावेद्य ताम्बूलं गां च स्वागतमब्रवीत् ॥२२॥

ततः **सख्युः समर्हणं स्वयं** कृतवान्. अस्य **पादाववनिज्य** समर्हणसाधनान्युपाहृत्य **पादावनेजनीः अपः शिरसाग्रहीत्**. धर्मोऽयमिति नात्र दूषणम्. लोकशिक्षार्थं च धर्मकरणम्. **राजन्निति** सम्मत्यर्थम्. विशेषतः चरणोदकधारणे अभिप्रायान्तरमाह **लोकपावन** इति. स हि सर्वलोकात्मकः ब्राह्मणेऽपि स्वयं स्थित इति पूर्वमुक्तं, तेन स्वचरणारविन्दोदकेन लोकान् पावितवान् इत्युक्तम्. नैतावता त्वपकर्षः यतो **भगवान्**. ततः पूजामाह **व्यलिम्पद् दिव्यगन्धेनेति**. पूजया प्राप्तदेवत्वं वारयति **मित्रमिति**. **प्रदीपावलिभिः** आरात्रिकैः. अनेन तस्य सुखं तथा यद्यपि न भवति

लेखः

सख्युः प्रियस्येत्यत्र पूर्वत्रेति. सख्यदाने प्रियत्वं हेतुरित्यर्थः. **बहिरागतमिवेति**. नेत्रद्वारा मनसो बहिरागमने नेत्रयोः श्रमात् स्वेद इवाब्बिन्दव इत्यर्थः ॥१९॥

तथापि **मुदा** कृतवान्. ततः पुष्पैः शिरसि **अर्चित्वा ताम्बूलं निवेद्य गां च** विधिपरिपालनार्थं पश्चात् **स्वागतमब्रवीत्.** अत्र वृषभो गौः ॥२०-२१-२२॥

ततो भार्यापि पतिव्रतात्वात् मात्सर्यादिकमकृत्वा तं पूजितवतीत्याह.

कुचैलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसन्ततम् ।
देवी पर्यचरच्छैब्या चामरव्यजनेन वै ॥२३॥

कुचैलमिति, मलिनभग्नस्थूलवस्त्रं, शरीरसंस्कार**रहितं** दुर्बलं **धमनिभिः** शिराभिः **सन्ततं,** तथापि **द्विजं** ब्राह्मणस्यैषैव शोभा. तादृशमपि **देवी** देवतारूपा लक्ष्म्यावेशात् **शैब्या** लक्ष्मणा **चामरव्यजनेन पर्यचरत्.** पूर्वं भगवति चामरव्यजनं कुर्वाणा स्थिता पश्चाद् ब्राह्मणपूजायामपि तथैव कुर्वाणा स्थितेत्यर्थः ॥२३॥

एवमुभाभ्यां पूजितं दृष्ट्वा तत्रत्या आश्चर्ययुक्ता जाता इत्याह **अन्तःपुरजन** इति.

अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा कृष्णेनामलकीर्तिना ।
विस्मितोऽभूदतिप्रीत्या अवधूतं सभाजितम् ॥२४॥

कृष्णेन सभाजितमवधूतं दृष्ट्वा विस्मितोऽभूत्. अनेन भगवत्यपि अपकर्षो भाव्यतामिति शङ्काभावायाह **अमलकीर्तिनेति. तत्राप्यतिप्रीत्या** तत्रापि सोऽ**वधूतः** मलिन एव. अन्यद्वारा मलापकर्षणं कृत्वा पश्चात् पूजापक्षो निवारितः ॥२४॥

विस्मितानां वाक्यमाह **किमनेनेति.**

किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा ।
श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन् गर्हितेनाधनेन च ॥२५॥

ते सर्वे पुण्यफलमेव[1] शुभं मन्यन्ते, अदृष्टपूर्वत्वात्. **किमित्याशङ्का.** किञ्चित् तथा भविष्यतीति चेत्, तत्राहुः **अवधूतेनेति** पञ्चविशेषणानि. यद्यस्य धर्मो भवेत् तदा प्रथमं धर्मोत्पादितं शरीरं भवेत्. तत्र च पापकार्यरूपं रजो न श्लेषं प्राप्नुयात्. अयं **चावधूतः.** किञ्च यद्यस्य धर्मो भवेद् देहोत्पत्त्यनन्तरं, देहपोषार्थं सदन्नं भवेत्. तदपि नास्ति यतोऽयं **भिक्षुः.**

१. पुण्यस्यैव फलं शुभम् इति अभिप्रायः - सम्पा.

किञ्च यद्यस्य धर्मो भवेद्, देहे कान्त्यतिशयो भवेत्. अयं च **श्रिया हीनः**. लौकिकी सम्पत्तिश्च अनेनैव समुच्चिता[१]. किञ्च यद्यस्य धर्मो भवेत् तदा लोके कीर्तिर्भवेत्. अयं च **लोके गर्हितः**. **अस्मिन्निति** वयमेवात्र प्रमाणम्. इहलोकवत् परलोकोऽपीति सूचितम्. किञ्च धर्मे विद्यमाने तत्कार्यमस्य धनं भवेत्. अयं **चाधनो** दरिद्रः. **अधम** इति वा क्वचित् पाठः. तदा संस्कारसामग्र्यभावात् तथोक्तिः. **चकारादन्येऽपि** लक्षणादयः सङ्गृहीताः ॥२५॥

ननु किमस्य जातं येनैतावदुच्यत इति तत्राह.

योऽसौ त्रैलोक्यगुरुणा श्रीनिवासेन सम्भृतः ।
पर्यङ्कस्थां श्रियं हित्वा परिष्वक्तोऽग्रजो यथा ॥२६॥

योऽसाविति त्रैलोक्यगुरुणा. भगवान् हि लोकशिक्षार्थं कर्माणि करोति. लोके यद्येतादृशेनापि सख्यं बोधयेत् तदा नीचैरपि लोकाः सख्यं कुर्युः. किञ्च भगवान् **श्रीनिवासः**, यदि पुण्यरहितोऽपि लक्ष्म्या संयुज्येत तदा कोऽपि दरिद्रो न भवेत्. एतादृशेन **सम्भृत** इति किञ्चित् पुण्यमस्तीति ज्ञायते. किञ्च धर्मसमये चेदयमागच्छेत् तदा धर्मार्थं करोतीति ज्ञायते. अयं तु कामसमये समागतः तमपि परित्यज्य **परिष्वक्तश्**चेत् तदा महानस्य धर्मोऽस्तीति ज्ञायते. काम्यश्च परमकाष्ठापन्नः. किञ्च महता आदरेण परिष्वक्तः. अनेनान्तरोऽपि भावोऽस्मिन् वर्णितः. तं भावं निरूपयितुं दृष्टान्तमाह **अग्रजो** बलभद्रो **यथेति**. कदाचिद् देशान्तराद् बलभद्रः समागच्छेत् तदा भगवानेवमादरं करोतीत्यर्थः. पूजा त्वधिका ॥२६॥

एवं कायिक-मानसिक-सन्तोषजननमुक्त्वा वाचिकसन्तोषजननमाह **कथयाञ्चक्रतुरिति**.

लेखः

योऽसौ त्रैलोक्यगुरुणेति. **परमकाष्ठापन्न** इति, श्रियाः पर्यङ्कस्थत्वादिति भावः ॥२६॥

---

१. श्रीहीनतया साकं लौकिकसम्पत्तिहीनतापि समुच्चिता इत्यर्थः - सम्पा.

कथयाञ्चक्रतुर्गाथाः पूर्वा गुरुकुले सतोः ।
आत्मनो ललिता राजन् करौ गृह्य परस्परम् ॥२७॥

गाथाः पूर्वकथानिबद्धाः श्लोकाः. याः **पूर्वं गुरुकुले सतोः** सम्बन्धिन्यः ताः **कथयाञ्चक्रतुः** कथानिमित्तं वा स्मृत्वा कथयामासतुः. ता **आत्मनो ललिताः** स्वस्यैव प्रियजनिकाः. **राजन्निति** सावधानार्थम्. **परस्परं करौ** गृहीत्वेति तुल्यतामापाद्य ये श्लोकाः या वा श्रुतयः ताः परस्परसन्तोषार्थं प्रथमं पठितवन्तः ततो भगवानाह. समुदायानुवादो वा ॥२७॥

तत्र प्रथमं भगवद्वाक्यानि षोडशभिराह **अपि ब्रह्मन्निति** वाक्यैः. तस्य सम्पत्त्यभावोऽपि स्थिरीक्रियते, अन्यथा वर्णनार्थमेव तथा वर्णितः स्यात्. तत्र प्रथमं वियोगावधि यज्जातं तत् पृच्छति **अपीति** त्रिभिः.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अपि ब्रह्मन् गुरुकुलाद् भवता लब्धदक्षिणात् ।
समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा ॥२८॥

विद्यासमाप्तिस्तदैव जाता, तदनु नैष्ठिकब्रह्मचर्यं वा समावर्तनेन विवाहो वा कृत इति वक्तव्यं, तदर्थं पृच्छति. **ब्रह्मन्निति** सम्बोधनात् विद्यासिद्धिः सूचिता. गुरुकुलाद् ब्रह्मचर्यं गुरुकुले अदृष्टार्थमपि स्थित्या भवति. गुर्वभावे तत्पत्न्यां तत्पुत्रे तद्गोत्रे वा ब्रह्मचर्यमिति[१] ज्ञापयितुं **कुलपदम्.** "गुरवे तु वरं दत्वा स्नायीत तदनुज्ञया" (याज्ञ.स्मृ. १।३।५१) इति स्नानाख्यं समावर्तनं दक्षिणादानानन्तरं भवति. तदनन्तरं च "चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं

लेखः

कथयाञ्चक्रतुरित्यत्र ये श्लोका इति. गाथास्वपि या आत्मनो ललितास्ताः पूर्वमुक्तवन्तः. महत्त्वविवक्षया द्विवचने बहुवचनम्. ततस्तदनन्तरं भगवानपि "ब्रह्मन्नि"त्यादिवाक्यान्याहेत्यर्थः. **समुदायेति.** तदा 'ललिता' इतिविशेषणं न व्यावर्तकं किन्तु "गन्धवती पृथ्वी"तिवत् स्वरूपबोधकम्. तथाच सर्वा एव गाथा ललिता इत्यर्थः ॥२७॥

---

१. द्रष्ट. "आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य..." (छान्दो.उप. ८।१५।१), "आचार्ये तु खलु प्रेते ... गुरुवद्वृत्तिमाचरेद्" (मनु.स्मृ. २।२४७) - सम्पा.

गुरौ द्विजः, द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेद्'' (मनुस्मृ. ४।१) इति तदनन्तरं विवाहः. तत्राह **गुरुकुलाल्लब्धदक्षिणात् समावृत्तेन** तदनन्तरं समावर्तनसंस्कारेण संस्कृतेन हे **धर्मज्ञ** धर्मरहस्याभिज्ञ, **सदृशी** स्वस्य सर्वतः समा **भार्या ऊढा न वा** ॥२८॥

ऊढेति तस्य भावं स्वीकृत्य रागविद्वेषयोर्विवाह इति निन्दायां प्राप्तायां तन्निषेधार्थमाह **प्रायो गृहेष्विति.**

प्रायो गृहेषु ते चित्तम् अकामविहतं तथा ।
नैवातिप्रीयते विद्वन् धनेषु विदितं हि मे ॥२९॥

ते चित्तं गृहेषु कामविहतं प्रायेण न भवति. अन्यथा कथं परिग्रह इति विशेषमाह **तथेति,** यथा लोकानां तथा कामैर्न हतमित्यर्थः. अत एव **गृहेषु नैवातिप्रीयते** अतिप्रीतियुक्तं चित्तं न भवति. तत्र हेतुं सम्बोधनेनाह हे **विद्वन्निति.** ज्ञानोदयाच्छरीराध्यासाभावात् तत्प्रीतिकरे गृहे न प्रीतिः. ननु धनाभावादपि गृहे पुरुषो न प्रीयते ''अन्तरं नैव पश्यामि निर्धनस्य मृतस्य च'' (. । ।) इतिवाक्यात्, तत्राह **धनेष्विति.** तव चित्तं नानाप्रकारधनेष्वपि न प्रीयते. गो-भू-हिरण्यादिभेदेन धनं बहुविधं, तथा गृहा अपि स्त्रीभेदेन विलासभेदेन च. अत्र प्रमाणमाह **विदितं हि म** इति, युक्तश्चायमर्थः — यो हि महापुरुषः स एतादृश एव भवेदिति ॥२९॥

ननु विरक्तस्य संन्यास एवाधिकारः ''यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्'' (जाबा.उप. ४) इति श्रुतेः, अतः कथं विवाह इति चेत्, तत्राह.

केचित् कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः ।
त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीर्यथाहं लोकसङ्ग्रहम् ॥३०॥

केचित् कुर्वन्ति कर्माणीति, ''कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'' (ईशा.उप. २) इति ''इन्धानास्त्वा शतं हिमाः'' (तैत्ति.संहि. १।५।५।४) इति च श्रुतेः यावज्जीवं कर्म कर्तव्यम्. अतएव अग्निहोत्रादौ यावज्जीवाधिकारः. तत्र विरक्ताविरक्तभेदेन परित्याग-कर्मणां व्यवस्थां मन्यमानान् प्रति भगवान् प्रकारान्तरेण व्यवस्थामाह. एके तु यथा त्वयोक्तास्तथैव

व्यवस्थापयन्ति, **केचित् तु कामैरहतचेतसोऽपि** निष्कामा अपि **कर्माण्येव कुर्वन्ति.** ननु "कषायपङ्क्तिः कर्माणी" (. । ।)ति कर्मणां न साक्षात्पुरुषार्थसाधकत्वं किन्तु अन्तःकरणशोधकत्वमेव, "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः" (कठ.उप. ६।१४) इति कामाभावे मोक्षः सन्निहित इति कर्मणां क्वोपयोग इति चेत्, तत्राह **त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीरिति.** स्वभावविजयार्थं कर्मणां करणम्. स्वभावो हि दुर्जयः, अतएव भगवानाह "प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति" (भ.गीता ३।३३) इति. ताश्च प्रकृतयः स्वभावरूपाः देश-काल-बीज-योन्यादिभेदेनानेकविधा भवन्ति. ताश्चेत् पुरुषं त्यजन्ति तदा मूलप्रकृतिमपि त्यक्त्वा स्वस्थो भवति. तदभावे कामोऽप्रयोजकः, कामाभावेऽपि संसारस्य निरूपितत्वात्. ननु ताः प्रकारान्तरेणैव[1] जेतव्याः, तत्र कर्मणां किं प्रयोजनं तत्राह **दैवीरिति.** ता देवतारूपाः अतो वैदिककर्मभिरेव तासां निवृत्तिरिति कर्मकरणम्. ननु कषायपाकार्थमेव कर्मणां विनियोगः श्रूयते स्वर्गाद्यर्थं वा, नतु स्वभावजयार्थं, ततश्च केवलयुक्त्या तदर्थं कर्मकरणम् [2]अयुक्तमिति चेत्, तत्राह **यथाहं लोकसङ्ग्रहमिति.** अहं च कर्माणि करोमि लोकसङ्ग्रहार्थं, तत्र युक्तिरेव मूलं "मम वर्त्मानुवर्तन्ते" (भ.गीता ४।११) इति. न चैवं क्वचिदपि वाक्यमस्ति लोकसङ्ग्रहार्थमीश्वरेण कर्तव्यानीति, तस्मात् फलनिर्णयः युक्त्यापि भवतीत्यर्थः ॥३०॥

एवं स्वतो ज्ञातमप्यर्थं प्रश्नव्याजेन विरक्ततया गृहाश्रमे तिष्ठतीति कृतमुक्त्वा, तथाकरणस्य प्रयोजनं स्वभावाद् वासनया केवलं कृतवानिति, श्रुतेऽपि दोषे "नानुभूय न जानाति जनो विषयतीक्ष्णताम्" (भाग.पुरा. ६।५।४१) इति मनःप्रत्ययजननार्थं विवाहं कृतवान् यत इच्छा निवर्तते. तत इच्छायामपि निवृत्तायां गले पतिता भार्येति उपहसन्निव कृतमभिनन्द्य तेन सह सख्यं स्मारयितुं गुरुकुलवासं बोधयति **क्वचिद् गुरुकुले वासमिति** चतुर्भिः.

---

१. प्रकारेणैव इति मुद्रित-सं-क-खपाठः. गृहीतस्तु ग-घपाठानुरोधेन - सम्पा.

२. अयुक्तम् इत्यधिकं खपाठानुरोधेन; मुद्रिते नोपलभ्यते - सम्पा.

क्वचिद् गुरुकुले वासं ब्रह्मन् स्मरसि नौ यतः ।
द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः पारमश्नुते ॥३१॥
स वै सत्कर्मणां साक्षाद् द्विजातेरिह सम्भवः ।
आद्योऽयं यत्राश्रमिणां यथाहं ज्ञानदो गुरुः ॥३२॥

आदौ गुरुकुलवासस्य प्रशंसा निरूप्यते. सफलत्वेन महत्त्वे स्मरणं भवति. **ब्रह्मन्निति** सम्बोधनं तत्प्रसादादेव जातमिति बोधयति. **नौ** आवयोः **गुरुकुले वासं** किं **स्मरसि?** अनेन बाह्याभ्यन्तरभेदेन यत् किञ्चिदनुभूतं गुरुकुले तत् स्मरणेन कृतार्थता भवतीति ज्ञापितम्. गुरुकुलस्य प्रतिष्ठामाह **द्विजो विज्ञाय विज्ञेयमिति. विज्ञेयमात्मानं** प्रमाणं च **विज्ञाय** ज्ञात्वा **तमसः पारं** भगवन्तम**श्नुते,** "आदित्यवर्णं तमसः परस्ताद्" (श्वेता.उप. ३।८) इतिश्रुतेः. किञ्च गुरुकुलवासो द्विजन्मनां द्वितीयं जन्म, तच्च **साक्षात्कर्मणां** सम्बन्धि **सम्यग्भवो यत्रे**ति. तत एव कर्माण्युत्पद्यन्ते, "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते" (तैत्ति.संहि. ६।३।१०) इतिश्रुतेः. किञ्च **यत्राश्रमिणामाद्यो** भवति गुरुकुले स्थितो ब्रह्मचारी भवति. आश्रमाः पुरुषार्थसाधकाः तेषा**माद्योऽयं,** तदभावे कोऽप्याश्रमो न भवेदिति. साधनसाधकत्वेन गुरोरुपयोगमुक्त्वा साक्षाज्ज्ञानसाधकत्वेन पुरुषार्थोपयोगित्वमाह **यथाहं ज्ञानदो गुरु**रिति. गुरोः भक्तेरनुभवपर्यवसायित्वात् स्वतुल्यता ॥३१-३२॥

ननूभयोः कथं [1]कारणत्वमननुगमादित्याशङ्क्याह **नन्वर्थकोविदा** इति.

नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन् वर्णाश्रमवतामिह ।
ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम् ॥३३॥

अर्थे पुरुषार्थे ये **कोविदाः** पण्डिताः, शीघ्रं पुरुषार्थसिद्धिर्भवत्विति विचारयन्ति ते तथैव[2]. **ये मया गुरुणा वाचा** वाङ्मात्रेणैव **अञ्जः** अनायासेन **भवार्णवं तरन्ति** तरिष्याम इति निश्चित्य गुरुमेव भजन्ते त एव अर्थकोविदा इत्यर्थः. **ब्रह्मन्निति** सम्बोधनं सम्मत्यर्थम्. साधनान्तरव्युदासार्थमाह **वर्णाश्रमवतामिहे**ति. अनेन वर्णधर्मा आश्रमधर्माश्च न साधका इत्युक्तं भवति ॥३३॥

---

१. कारणत्वमनुगमाद् इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

२. तथैव इति सं-ख-घपाठः, तेन इति कपाठः - सम्पा.

एवं प्रसङ्गात् ये केचन संसारतरणोपायाः गुरुसेवातिरिक्ताः तान् निषेद्धुं गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ-संन्यासानां मुख्यधर्माणां मत्प्रीतिहेतुत्वं नास्तीत्याह **नाहमिज्याप्रजातिभ्यामिति.**

नाहमिज्या-प्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा ।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ॥३४॥

इज्या यागः, **प्रजातिः** सन्ततिः — उभयं गार्हस्थ्यधर्मः ऋणापाकरणरूपः. **तपः** वनस्थस्य, **उपशमः** परमहंसस्य. एवं त्रिभिरपि **अहं न तुष्येयम्.** तत्र हेतुः **सर्वभूतात्मेति,** सर्वभूतेषु आत्मा यस्य. यागेन जीवानां नाशः, प्रजात्या उत्पत्तिः ; तेनोत्पत्ति-प्रलयौ कुर्वन् मम सन्तोषं न जनयति, उत्पादनेनापि जीवः क्लिष्टो भवतीति. तपसा शरीरक्लेशः उपशमेन देहेन्द्रियादीनाम् अतः क्लेशकरत्वाद् मम न सन्तोषः. गुरुशुश्रूषायां तु स्नेहसेवया सेवकस्यानन्दः गुरोश्चेति अतोऽहं तुष्येयम्. वेदाध्ययनस्यैव ऋणापाकरणरूपत्वात् सेवा अधिकैव. यद्यप्यङ्गभावेनैव सेवाया विनियोगः तथापि भक्त्या कृतः मत्प्रीतिहेतुरपि भवति संयोगपृथक्त्वन्यायेन ॥३४॥

एवं [१]गुरुकुलवासं स्तुत्वा तं स्मारयित्वा आवयोर्वासः सेवार्थं परमक्लेशं सम्पादितवानिति सेवाविशेषं स्मारयति **अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन्निति** नवभिः, त्रिगुणकार्यमेतदिति.

अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन् वृत्तं निवसतां गुरौ ।
गुरुदारैः प्रेरितानामिन्धनानयने क्वचित् ॥३५॥

नोऽस्माकं सम्बन्धि वक्ष्यमाणं **स्मर्यते. अपीति** सम्भावनायाम्. **ब्रह्मन्नित्यनसूयार्थम्. गुरौ निवसतां** व्रतस्थानां गुरुवाक्यवद् गुरुपुत्र-गुरुपत्नीवाक्यमपि कर्तव्यमिति अत एव **गुरुदारैः प्रेरितानामिन्धनानयने** अरण्याद् इन्धनमानीयतामिति **क्वचित्** कदाचिद् विषमसमये ॥३५॥

प्रविष्टानां महारण्यमपर्तौ सुमहद्द्विजः ।
वातवर्षमभूत् तीव्रं निष्ठुराः स्तनयित्नवः ॥३६॥

तत उत्कृष्टेन्धनार्थं **महारण्यं प्रविष्टानाम् अपर्तौ** वर्षातिरिक्तकाले

---

१. गुरुकुलावासम् इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

शिशिरे. **द्विजेति** सम्बोधनं जन्मभूमिः सेति ज्ञापनार्थम्. **सुमहद् वातवर्षमभूत् निष्ठुराश्च स्तनयित्नवः** गर्जितानि. नेष्ठुर्यं कर्णासह्यत्वम् ॥३६॥

सूर्यश्चास्तं गतस्तावत् तमसा चावृता दिशः ।
निम्नं कूलं जलमयं न प्राज्ञायत किञ्चन ॥३७॥

एतस्मिन्नन्तरे **सूर्यश्चास्तं गतः तमसा दिशश्चावृताः**. तथापि कथं नागतमित्याकाङ्क्षायामाह **निम्नं कूलं जलमयमिति**. नद्याः कूलं सर्वमेव **जलमयं** कियती नदी कियती भूमिरिति ज्ञातुमशक्यम्. ततः क्षिप्रोत्तरणार्थं **न प्राज्ञायत** कमप्युपायं न ज्ञातवन्तः ॥३७॥

ततस्तत्परपार एव रात्रौ स्थिता इति क्लेशस्थितिं स्मारयति **वयं भृशमिति**.

वयं भृशं तत्र महानिलाम्बुभिः निहन्यमाना मुहुरम्बुसम्प्लवे ।
दिशोऽविदन्तोऽथ परस्परं वने गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमातुराः ॥३८॥

वयं त्रयोऽपि तत्रैवारण्यप्रदेशे अत्यन्तं **महानिलाम्बुभिः** नितरां **हन्यमानाः**. उपवेशनार्थमपि भूमिर्नास्तीत्याह **अम्बुसम्प्लव** इति. ततो **दिशोऽप्यविदन्तः** एवं जाते किं कर्तव्यमिति विचार्य **अथ** भिन्नप्रक्रमेण अतः परं गमनार्थं प्रयत्नो न कर्तव्यः किन्तु कालक्षेप एवेति विचार्य अन्योन्यविश्लेषाभावाय **गृहीतहस्ताः** सन्तस्तस्मिन् **वने आतुराः** दीनाः क्षुधिताः सन्तः **परिबभ्रिम** इतस्ततो भ्रमणमेव कृतवन्तः ॥३८॥

तर्हि निर्दयो गुरुः कथं तत्र वासः कृत इति चेत्, तत्राह **एतद् विदित्वेति**.

एतद् विदित्वाऽनुदिते रवौ सान्दीपनिर्गुरुः ।
अन्वेषमाणो नः शिष्यान् आचार्योऽपश्यदातुरान् ॥३९॥

गुरोरपि हृदये अयमस्मत्क्लेशो भात एव अत **एवानुदित** एव **रवौ सान्दीपनिर्गुरुः** गृहान्निर्गतः **नः** अस्मानन्वेषमाण **आतुरान्** वेपमानानपश्यत् ॥३९॥

लेखः

वयं भृशमित्यत्र वयं त्रयोपीति, स्वयं भगवान् बलदेवः सुदामा चेति त्रयः ॥३८॥

ततो दया परमा तस्योत्पन्नेत्याह **अहो** इति. एतदर्थमेव भगवतैवैवं सम्पादितम्. विद्या हि वैधन्यायेन (?) गुरौ स्थिता अतिमथनात् प्रादुर्भूता शिष्ये समायाति. तत्र मथनस्थानीया परमा दया.

अहो हे पुत्रका यूयम् अस्मदर्थेऽतिदुःखिताः ।
आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठस्तमनादृत्य मत्पराः ॥४०॥

अहो इत्याश्चर्यम्. **हे पुत्रका** इति दयया जातस्नेहात् सम्बोधनम्. **पुत्रकाः** पुत्रप्रायाः. अनेन भवतामेव गृहमिति स्वार्थमेवैतत् क्रियत इत्याश्वासनमप्युक्तम्. तेषां दुःखं निरुक्तं गच्छतीत्यनुवदति **अस्मदर्थेऽतिदुःखिता** इति. ननु व्रतं क्रियते, कथं दुःखमिति चेत्, तत्राह **आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठ** इति. "द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलीयः" (पूर्वमी.सूत्र ६।३।१८।३८) इतिन्यायेन शरीरव्रतयोर्विरोधे शरीरमेवादरणीयम्. तत्रापि स्नेहपात्रं, विधि-स्नेहयोः स्नेहो बलिष्ठ इति. एवं वैदिक-लौकिकन्यायोल्लङ्घनमपि कृत्वा यतो मत्परा जाताः. तदाह **आत्मा** देहः **प्राणिनामतिप्रेष्ठः तमनादृत्य मत्परा** जाता इति ॥४०॥

तर्हि विरुद्धाचरणात् कथं भवान् प्रसन्न इत्याशङ्क्याह **इयदेव** हीति.

इयदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम् ।
यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मसमर्पणम् ॥४१॥

सच्छिष्यैरलौकिकैः इयदेतावदेव गुरुनिष्कृतं गुरोः प्रत्युपकारः. तदाह **यद्विशुद्धभावेन सर्वस्यार्थस्य आत्मनश्च समर्पणं वै** निश्चयेन ॥४१॥

तुष्टोऽहं हे द्विजश्रेष्ठाः सत्याः सन्तु मनोरथाः ।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥४२॥

न तु केनचिद् व्याजेन तद् भवद्भिः कृतमित्यहं **तुष्टः**, यावच्छक्यं निष्कपटतया कृतमिति. सम्बोधनेनैव तोषफलमाह **हे द्विजश्रेष्ठा** इति. श्रैष्ठ्यं भवतु व्रतस्य, सर्वोत्कर्षः सम्पद्यतामित्यर्थः. यदर्थं च व्रतं कृतं तद्दानमाह **सत्याः सन्तु मनोरथा** इति. पठितानां विद्यानां च अयातयामत्वमाह **छन्दांस्ययातयामानी**ति.

आम्नायात्तु विनिर्मुक्ता अनध्याये तथा स्मृताः ।

अयाज्ये योजिताश्चैव निषिद्धाय च पाठिताः ॥(४)॥
फलार्थं योजिता दृष्टा यातयामा भवन्ति हि ।
अन्यथा ज्ञातरूपाश्च अन्यथार्थप्रबोधिताः ॥(५)॥
अव्रतैः शूद्रसङ्काशैः पातित्याद्याकुले स्थले ।
अधीताः सर्वथैवैते यातयामा भवन्ति हि ॥(६)॥

तेष्वपि समयेषु मत्प्रसादादयातयामा **भवन्त्विति** वरः. **इह परत्रेति.** परलोकार्थमिहलोकार्थं च स्वार्थं स्थापिताः परलोकार्थं भवन्ति, विनियुक्तास्त्वैहिकफलाः, भवतां तूभयत्रापि फलसाधका भवन्त्वित्यर्थः. **चकारात्** सर्वकर्मस्वपि ॥४२॥

इदमेकं फलसाधनरूपं चरित्रमुक्त्वा नैतावदेवे[१]त्याह.

इत्थंविधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मसु ।
गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये ॥४३॥

इत्थंविधान्यनेकानीति, गुरुवेश्मसु वसतां भवन्ति. गुरुवासस्य नित्यत्वमाह **गुरोरनुग्रहेणैवेति.** न केवलं वासेन **पुमान् पूर्णो** भवति; सर्वार्थैः **प्रशान्त** एव भवति. स्वाभाविकाः कामादयः तदुत्पन्नैर्न शान्ता भवन्ति किन्तु गुर्वनुग्रहेणैव, भगवता कृतस्मरणेन वा. **प्रशान्तये पूर्णः** समर्थः. एवमुपाख्यानैः सर्वे पुरुषार्थास्त्वया साधिता न वेति प्रश्नः ॥४३॥

तत्रोत्तरमाह.

॥ सुदामा उवाच ॥

किमस्माभिर्न निर्वृत्तं देवदेव जगद्गुरो ।
भवता सत्यकामेन येषां वासोऽभवद् गुरौ ॥४४॥

किमस्माभिर्न निर्वृत्तमिति, को वा पुरुषार्थोऽस्माभिर्नोत्पादितः! परं

लेखः

इत्थंविधानीत्यत्र तदुत्पन्नैरिति, स्वभावोत्पन्नैः शमादिभिरित्यर्थः. **पुमान् गुरोरनुग्रहेण प्रशान्तये** कल्पते इति शेषः तदा **पूर्णो** भवतीति मूलेऽन्वयः. **भगवतेति,** अस्मिन् पक्षे **गुरोरनु** पश्चाद् **ग्रहो** भगवत्कृतं ग्रहणं स्मरणमित्यर्थः ॥४३॥

---

१. नैतदेव इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

विशेषोऽस्तीत्याह **भवता सह येषां गुरौ वासोऽभवदित्यर्थः**. गुरुगृहवासानन्तरं तत्प्रसादे च जाते पश्चात् सर्वे पुरुषार्थाः साधयितुं शक्यन्ते, अस्माभिस्तु गुरुकुल एव सर्वपुरुषार्थस्वरूपेण त्वया सङ्गतम्. अतो गुरुकुलवासोऽस्माकमेव सफलो जातः न त्वन्येषामिति **अस्माभिः किं न निर्वृत्तम्!** नापि तत्तन्मन्त्रदेवतानां तृप्तिः[१] प्रयोजिका मृग्यते यतो भवानेव **देवदेवः**. नापि गुरुप्रसादो मृग्यते यतो भवानेव **जगद्गुरुः**. किञ्च भवान् **सत्यकामः**. अस्मत्सङ्गे अध्ययनयुक्तानामस्माकं च लोकन्यायेन सर्वे पुरुषार्थाः सिद्धा भवन्त्विति भवतः कामः. स सत्य एव भवतीति भवदिच्छयैवास्माकं सर्वे पुरुषार्थाः सिद्धा इत्यर्थः. अतस्त्वया सह गुरुगृहवासः पुरुषार्थः तत्साधनं च ॥४४॥

किञ्च यदुक्तमस्माकं सर्वेषां गुरुगृहवासं स्मरसीति तत्र स्वामिनस्तव वासः अनुकरणार्थमेव भवतीत्याह.

यस्य छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभोः ।
श्रेयसां तस्य गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम् ॥४५॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥

यस्य छन्दोमयं ब्रह्मेति, वेदात्मकं ब्रह्म शब्दब्रह्मेति यं विदुः तत् तव **देहः**, यदध्ययनार्थं गुरुगृहवासोऽपेक्ष्यते. ननु कथं मम देहः? जीवविशेष एव कश्चित् तत्राधिष्ठितो भवेदिति, तत्राह **विभोरिति**. भवानेव तमधिष्ठातुं शक्तः, देश-काल-पुरुषानन्त्येष्वधिष्ठितस्य तस्य फलदानं व्यापकाधिष्ठानव्यतिरेकेण न भवतीति. तस्यैव फलसाधकत्वमाह **श्रेयसामावपनम्** इति, श्रेयांस्यस्मिन्नासमन्ताद् उप्यन्ते इति. एतादृशदेहवतस्तव **गुरुषु वासोऽत्यन्तं विडम्बनमनुचितानुकरणमित्यर्थः** ॥४५॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे एकत्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

लेखः

किमस्माभिरित्यत्र गुरुकुल एवेति, पुरुषार्थाः साधिता इति शेषः. तत्र हेतुः **सर्वपुरुषार्थेति** ॥४४॥ एकत्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

॥ इति सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥

---

१. प्राप्तिः इति गपाठः - सम्पा.

॥ चतुर्थः स्कन्धादितो अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥

द्वात्रिंशे भगवानस्य पुरुषार्थतयोदितः ।
स्वकर्तव्यं विदित्वैव कृतवानित्युदीर्यते ॥(१)॥
मर्यादया प्रेरिता तु लक्ष्मीः स्थैर्यमिहाश्नुते ।
अतोऽत्र भगवांस्तस्य पृथुकानप्यभक्षयत् ॥(२)॥
दानेऽपि तेजोहानिः स्यात् भार्यदत्तमुपायनम् ।
तस्या एवं फलं भूयादिति जग्धुं समुद्यतः ॥(३)॥
मुष्टिरेको जगत्तृप्त्यै वनवासे निरूपितः ।
सर्वं फलं सर्वतृप्त्या परलोके तथापरः ॥(४)॥
तृतीये देवतां दद्यादात्मानं च ततः परे ।
एवं बुद्ध्या तया दत्तास्ते चेन्निर्विविशुर्हरिम् ॥(५)॥
चतुर्थांशः सिद्धिमेतु तस्या नाधिकमित्युत ।
लक्ष्मणायां प्रविष्टा श्रीः प्रतिबन्धं चकार ह ॥(६)॥

पूर्वाध्यायान्ते मनःप्रीतिमुक्त्वा तदिष्टं पूरयित्वा तद्भार्येष्टं पूरयितुं पूर्वमुपसंहरन्नाह **स इत्थमिति**.

लेखः

द्वात्रिंशेऽध्याये कारिकासु **वनवासेति**. आरण्यके शाकान्नशेषभक्षणेन संघस्य तृप्तिरुक्ता तत्र मुष्ट्या जगत्तृप्तौ किमाश्चर्यमिति भावः. **निर्विविशुर्हरिमिति**, तदा पूर्णं कार्यं भवेदिति शेषः (४-५).

स इत्थमित्यस्याभासे पूर्वाध्यायान्त इति. शुकः पूर्वाध्यायान्ते "किमस्माभिरनिर्वृत्तम्" (श्लो. ४४) इत्यादिना सुदाम्नो **मनःप्रीतिमुक्त्वा पूर्ववाक्यमुपसंहरन्** भगवान् पूर्वाध्याये सुदाम्न इच्छां **पूरयित्वा** एतस्मिन्नध्याये **तद्भार्येष्टं पूरयितुं** "किमुपायनमानीतम्" (श्लो. ३) इत्यादिवाक्यान्याहेति शेषः. इति शुक आह इत्यर्थः. "इति संकथयन् अग्रिमं वाक्यमाहे"त्युक्ते "उत्तरस्यादिना पूर्वस्योपसंहारः" (। ।) इतिन्यायेन पूर्वोपसंहारः प्राप्त एवेति भावः ॥१॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

स इत्थं द्विजमुख्येन सह संकथयन् हरिः ।
सर्वभूतमनोभिज्ञः स्मयमान उवाच ह ॥१॥

जीवेन सह कथं संकथेत्याह **द्विजमुख्येनेति**, ब्रह्मभावाज्जीवोऽपि आवेशी भवतीति संकथनं न दोषायेत्यर्थः. किञ्च **हरिः सः** सर्वपुरुषार्थरूपो भगवानेवेति तस्य निश्चयात् सर्वभावेन चेद् भगवांस्तदधीनो न स्यात् तदा तस्य मनःपीडा न गच्छेदिति तथाकृतवानित्यर्थः. ततो भार्याहृदयं ज्ञात्वोवाचेत्याह **सर्वभूतमनोभिज्ञ** इति. हेतुत्वार्थं साधारण्येन निरूपयति **स्मयमानः** भार्यासम्बन्धात् तेन सह परिहासं चिकीर्षुः. हेत्याश्चर्ये— न हि पूर्णो भगवान् अदत्तं स्वयं गृह्णातीति ब्राह्मणस्तु जानन्नपि लज्जया न दत्तवान् ॥१॥

ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णो भगवान् प्रहसन् प्रियम् ।
प्रेम्णा निरीक्षणेनैव प्रेक्षन् खलु सतां गतिः ॥२॥

तथापि **भगवान् ब्रह्मण्यः** ब्राह्मणानां हितकर्ता, सोऽपि **ब्राह्मणः**. स्वयं च **कृष्णः** तदर्थं चावतीर्णः, अन्यथा भगवान् कथमागच्छेत्? **प्रहसन्निति** गोप्यं करोतीति. तं प्रति तथाकथने[१] हेतुः **प्रियमिति** ॥२॥

सार्धाभ्यामाह भगवद्वाक्यं **किमुपायनमानीतमिति.**

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृहात् ।
अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् ॥
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥३॥

ब्रह्मन्निति सम्बोधनाद् धर्मज्ञानं सूचितम्, तेन उपायनानयनं निश्चितम्. **मे** मह्यम्. मध्ये शास्त्रार्थत्वाय गृहीतं तु न मे सुखायेति विशेषमाह

लेखः

ब्रह्मण्य इत्यत्र **स्वयं चेति** ब्रह्मण्य इति शेषः. **कृष्ण** इत्यनेनान्वये **तदर्थं चेति** चकारो नोच्येत ॥२॥

---

१. तथावचने इति सं-क-ख-ग-घपाठः - सम्पा.

गृहादिति. ननु पूर्णस्य तव किमुपायनेन? अस्मदर्थं तु अस्माभिरेव दत्तं स्यादतो व्यर्थं ग्रहणमिति चेत्, तत्राह **अण्वप्युपाहृतमिति. भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते.** एतत्सर्वं प्रायेणाभक्तैरुपाहृतं ; पृथुकतण्डुला एव भक्तोपाहृताः सर्वस्यामपि द्वारकायाम्. भक्ताहृतत्वे को विशेष इति चेत्, **प्रेम्णा अण्वपि भक्तोपाहृतं भूर्येव मे भवेत्.** प्रेम अन्तःकरणधर्मः ; यो हि स्वापेक्षया अधिकमानयति तत् तस्याधिकं भवति. "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" (भ.गीता ४।११) इति मम चायं नियमः. प्रेम्णा समानीतं हृदयानीतं भवति, हृदयमणुमात्रम्. तण्डुलास्तु मुष्टिचतुष्टयात्मकाः. अहं च हृदयरूप एव तद् गृह्णामि. अतः **अण्वप्युपाहृतं** मत्समानत्वाद् भक्ष्यं न्यूनपरिमाणमेव युक्तमिति **मे भूर्येव भवेत्.** अभक्तेन तूपहृतं बहिर्दृष्ट्या उपहृतं भवति ; बहिश्च ब्रह्माण्डमिति तद्ग्रहणे अहमपि तथा. अतो यथाकथञ्चित् सर्वसामर्थ्येनापि समाहृतं मम तृप्तिहेतुर्न भवतीति अल्पत्वान्न **मे तोषाय कल्पते.** अथवा "भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति" (. । ।) इतिवाक्यात् प्रेम्णैव तुष्यति न त्वन्यथेति प्रेम तु साधारमेव मत्सन्निधौ समायातीति तस्या देहोऽन्यार्थमेव विनियुक्त इति लिङ्गशरीरं च तेनैवावरुद्धमिति तण्डुलाश्रितैव भक्तिरत्रागता. अतो भक्तिसहभावः पदार्थानां निरूप्यते. **अभक्तेन** रूक्षेण. लोकेऽपि घृतादिप्लुतं भक्ष्यं तोषाय, नतु रूक्षम्. विधौ द्वयं प्रयोजकम्— अधिकारिविशेषणं[१] करणं च. निषेधे तु विशेषणमाह[२], करणं तु सिद्धमेवेति. अभक्तस्य भक्तिरप्यभक्तिरेवेति वा ॥३॥

लेखः

अण्वप्युपाहृतमित्यत्र एतत्सर्वमिति. द्वारकास्थं सर्वं भगवदैश्वर्यवशाद् इन्द्रादिभिः समानीतं, न तु भक्त्येत्यर्थः. **देहोऽन्यार्थमेवेति,** देहो धर्मार्थं विनियुक्तः, प्रेमैव भगवद्विषयक इत्यर्थः. **विधाविति.** पूर्वार्धे विधौ भक्तिः अधिकारिविशेषणत्वेनोक्ता, तस्या एव च करणत्वं **प्रेम्णे**त्यनेनोक्तम्. उत्तरार्धे निषेधे अभक्तिः अधिकारिविशेषणत्वेनोक्ता, करणत्वं तस्याः पूर्वोक्तरीत्या शुद्धमेवान्तःकरणं नोक्तमित्यर्थः ॥३॥

---

१. अधिकारविशेषणम् इति मुद्रितपाठः. ख-ग-घपाठेषु एवम् - सम्पा.

२. विशेषमाह इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

एवं पदार्थस्थितिमुक्त्वा स्वस्य बलादिव ग्रहणे हेतुमिव स्वसंकल्पमाह **पत्रं पुष्पमिति.**

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥४॥

पत्रं तुलस्यादि **पुष्पं** लवङ्गादि **फलमाम्रादि तोयं** गङ्गाजलादि —एतच्चतुष्टयमविकृतमनुपहतं च. अन्यत् पाकादिना उपहतं भवेद्, अग्निसंस्काराद्यभावात्. वनस्थानां दरिद्राणां परमहंसानामुपलक्षणविधया तेषामर्थे चतुष्टयमुक्तमिति केचिद्, ब्राह्मणद्वारा त्वन्यदपि भक्षयतीति "नाहं तथाद्मि" (भाग.पुरा. ३।१६।८) इतिवाक्यात्. अविकृतमुत्तमसंस्कारेण संस्कृतमिति विचारकाः. एकेन त्वाहृतमेक एव भक्षयामि ; न हि कस्यचिदपि चतुष्टये श्रद्धाधिक्यं भवति. अत उद्दिष्टानां विकल्प इति ख्यापयितुं **तदित्याह. तत्** पत्रादीनामन्यतरत्. **अहमिति** पुरुषोत्तमः ; मदर्थं सम्पाद्य स्वाधिकारानुसारेण यत्र क्वचित् निवेदयतु तत्रैवाहं भक्षयामीत्यर्थः. दानसमये भक्त्यैव दानं, यथेष्टं पुत्राय कश्चित् प्रयच्छति. मम तु ततोऽपि विशेष इत्याह **भक्त्युपहृतमिति.** तत्स्थानादुद्धरणप्रभृति-मत्समीपानयनपर्यन्तं स्नेहस्याविच्छेदोऽपेक्ष्यते. स्मरणसहि-तस्नेह इति केचित्. किञ्च तच्चेद् द्रव्यं **प्रयतात्मनो** भवति = प्रकर्षेण नियतान्तःकरणस्य कामादिसर्वदोषरहितस्य चेत् पत्रादिकं भवेत् तदा अवश्य**मश्नामि.** अशनं यथाक्रियोपलक्षकम्. वस्तुतस्तु सर्वमेतच्चतुष्टयमध्ये निविशति— अन्नवस्त्रादिकमपि फलमेव, दुग्धेक्षुरसादिकं तोयं, ताम्बूलादिकं

लेखः

पत्रं पुष्पमित्यत्र. एतच्चतुष्टयस्याविकृतत्वानुपहतत्वे हेतुमाहुः **अग्नीति.** दुग्धादिकमग्निसम्बन्धे उपहतमेव भवति, तण्डुलादिकं विकृतमपि भवति. **अन्यदपीति,** विकृतमुपहतमपीत्यर्थः. एवं सति स्वमार्गविरोध इत्याशङ्क्य 'अविकृत'पदार्थमाहुः **उत्तमेति. उत्तमो** भक्त्या सम्पादितो यः संस्कारस्तेनेत्यर्थः. उपहतत्वमात्रं न दोषावहमिति भावः. तथाच एतच्चतुष्टयम् अविकृतोपलक्षकत्वे-नोक्तम्. एवमपि सति **भक्त्येत्युक्तत्वात्** चतुष्टयकथनं व्यर्थमित्यरुच्याहुः **वस्तुत** इति ॥४॥

पत्राणि, सुवर्णरत्नादिकं पुष्पाणीति. अन्तःप्रवेशनं च भोजनम्. यत्र क्वचित् स्थापितमात्मसात्करोतीत्यर्थः ॥४॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्युक्तोऽपि द्विजस्तस्मै व्रीडितः पतये श्रियः ।

पृथुकप्रसृतिं राजन् न प्रायच्छदधोमुखः ॥५॥

एवं भार्यया प्रहितं त्वया भक्तेन भक्त्या चाहृतं देय**मित्युक्तोऽपि द्विजः** सङ्कोचाविष्टोऽल्पबुद्धिः **श्रियः पतये तस्मै पृथुक**तण्डुल**प्रसृतिं** मुष्टिचतुष्टयात्मकं प्रसृतिः सेरमात्रं भवतीति **न प्रायच्छत्**. लज्जया **चाधोमुखो** जातः, किं मया समाहृतमिति अतिसाधारणानामेवैतद् भक्ष्यम् ॥५॥

ततो भगवान् विचारितवान्— अयं तु न प्रयच्छति तथापि ग्राह्यं न वेति. तदर्थं चैतद् विचारयति— किमस्मै सम्पदो देया न वेति.

कामितं दोषरहितं भगवांस्तु प्रयच्छति ।
अलौकिकत्वात् सम्पत्तेर्दोषाभावः सुनिश्चितः ॥(७)॥
कामाभावस्त्वस्य सिद्धो न देयं तत् कथञ्चन ।
स्वत आगमनं तस्य न भवत्येव भार्यया ॥(८)॥
प्रेषितस्यागतिस्त्वस्य भार्यागतिरियं मता ।
प्रतिबन्धकता त्वस्य दाने लज्जादिदोषतः ॥(९)॥
तस्मात् तस्या गृहीत्वैतत् तस्यै दास्यामि निश्चितम् ॥

एतद्वदन् अस्य दोषाभावमाह.

सर्वभूतात्मदृक् साक्षात् तस्यागमनकारणम् ।

विज्ञायाचिन्तयन् नायं श्रीकामो माभजत् पुरा ॥६॥

सर्वभूतात्मदृगिति, सर्वभूतानामात्मानमन्तःकरणं पश्यतीति एतस्य तस्या अपि हृदयं जानातीत्युक्तम्. **साक्षात् तस्यागमन**कार्यं भार्यार्थमेव, प्रासङ्गिकं तु स्वार्थम्. एत**द्विज्ञायाचिन्तयद्**, अत्रार्थः सन्दिग्ध इति. सन्देहमेवाह **नायं श्रीकाम** इति. **मां** च **पुरा अभजत्**. ततोऽयं भक्तो निष्कामः अतोऽस्मै स्वरूपमेव देयम् ॥६॥

पत्न्या मे प्रेषितायातः सखा प्रियचिकीर्षया ।
प्राप्तो मामस्य दास्यामि सम्पदोऽमर्त्यदुर्लभाः ॥७॥

साम्प्रतं च **पत्न्या** सम्प्रेषितः[१] **आयातो** मत्समीपम्. सन्धिरार्षः. तर्हि कः सन्देहः ? इदानीं तस्या एवार्थे देयमिति चेत्, तत्राह **मे सखेति.** तथापि मम मित्रं मम च प्रियकरणार्थमागतः. अतः किमेतद्धितं कर्तव्यं तस्या हितं वा, भोगः किमेतद्गामी तद्गामी वा ? एतद्गामी चेन्न देयं, तद्गामी चेद् देयमिति. आद्ये अस्य भोगात् स्वरूपात् प्रच्युतिः. द्वितीये तु प्रासङ्गिको भोग इति स न नाशकः. तस्याश्च प्रासङ्गिको मोक्षोऽपि भविष्यति. अत एतदर्थं पृथुकभक्षणमावश्यकम्. अस्मै चेद् दानं स्यात् तदैवमेव दद्यात्. न ह्यन्येभ्यो ब्राह्मणेभ्यः किञ्चिद् गृहीत्वा प्रयच्छति. अतो द्वितीयपक्षमाह **प्राप्तो मामस्य दास्यामीति,** मत्प्रीत्यर्थमेव मां प्राप्तः. **अस्येति** सम्बन्धमात्रं नतु सम्प्रदानम्. एवं विचार्य देयोत्कर्षमाह **सम्पदोऽमर्त्यदुर्लभा** इति, अमर्त्यानामपि दुर्लभाः. यदा भगवान् स्वयमिन्द्रोऽभूत् तदा या सम्पत् तां दत्तवानिति वाक्यान्तराद् अवगम्यते "सुदामरङ्कभक्तार्थ-भूम्यानीतेन्द्रवैभवः" इति. अत्र **चामर्त्यदुर्लभा** इति अतो देवव्यतिरिक्तेन्द्रो भगवानेवेति ॥७॥

इत्थं विचिन्त्य वसनाच्चीरबद्धान् द्विजन्मनः ।
स्वयं जहार किमिदमिति पृथुकतण्डुलान् ॥८॥

एवं निश्चित्य **वसनाच्छादितात्** तेन प्रावृतात् तत्प्रावरणं दूरीकृत्य **चीरेण** वस्त्रखण्डेन **बद्धान्. द्विजन्मन** इति यदायमसावधानः कर्मकरणार्थं व्यग्रो वा तदा **स्वयं जहार.** हरणसमयवाक्यमाह **किमिदमिति** ॥८॥

पश्चान्मोचयित्वा पृथुकतण्डुलान् दृष्ट्वा भगवानाह.

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे ।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः ॥९॥

नन्वेतदुपनीतमिति, एतदुपायनं **परमप्रीतिजनकम्.** सखित्वात् सङ्कोचाददीयमानमपि ग्राह्यम्. पृथुकतण्डुलानां माहात्म्यमाह **तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमिति. एते** उपस्थिता भक्त्या संवलिताः ॥९॥

१. स प्रेषित इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

एवं विचार्य मुष्टिमात्रं गृहीत्वा भक्षितवानित्याह **इति मुष्टिमिति.**

इति मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा द्वितीयं जग्धुमाददे ।
तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः ॥१०॥

सर्वमेव **जग्धुं द्वितीयं मुष्टिमाददे** तदा लक्ष्म्या प्रतिबन्धः कृत इत्याह **तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तमिति.** लक्ष्मणाभिनिविष्टा. प्रतिबन्धे तस्या अभिप्रायमाह **तत्परेति,** सा हि भगवत्परा. सर्वं चेद् भक्षयिष्यति तस्मै सर्वं दास्यति. ततो मां दास्यति, अहमेव सर्वमिति. अहं तु भगवत्परेति न तत्र गमिष्यामीति तात्पर्यम्. किञ्च अर्धेऽपि दत्ते आमुष्मिकमपि फलं सेत्स्यतीति तस्य मर्यादा ब्रह्माण्डमेव सर्वमिति साम्प्रतं ब्रह्माण्डविग्रहो भगवानेवेति द्वितीयमुष्टावेव विघ्नं कृतवती. तदाह **परमेष्ठिन** इति. भगवतः पुरुषरूपत्वे लक्ष्मीरपि तथा जाता ॥१०॥

तत्र ब्रह्माण्डविग्रहस्यैव सम्बन्धिनीति सुदाम्न एव तथात्वे पुनरनिष्टं स्यात्. तस्याः फलमात्रप्रतिबन्धकत्वशङ्कायां सा स्वाभिप्रायं निरूपयति **एतावतालमिति.**

एतावतालं विश्वात्मन् सर्वसम्पत्समृद्धये ।
अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन् पुंसस्त्वत्तोषकारणम् ॥११॥

एतस्यै [1]दित्सितमल्पं, मुष्टिमात्रस्यापि बहुदानसम्भवात्. अत उक्तमेतावतेति, अन्यथा 'एतावदलमि'ति वदेत्. न च वक्तव्यं सर्वमेव

लेखः

तावच्छ्रीरित्यत्र तथा जातेति, ब्रह्माण्डार्धरूपा जाता इत्यर्थः ॥१०॥

सुदाम्न एव तथात्व इति. सुदाम्नो ब्रह्माण्डफलवत्त्वे तदर्धरूपा लक्ष्मीरपि तदधीना स्यात्. तत्पुनस्तस्या अनिष्टमित्यर्थः. भगवत्सङ्गे सेवां करोत्येव, दत्ते तु फले तदधीनैव स्यादिति **पुनः**पदम्. भगवतोपि तदधीनत्वमिति सुदाम्न एव ब्रह्माण्डाधिपत्यं सम्पद्येतेत्येवकारः. **एतावतालमित्यत्र इच्छितमिति.** इच्छा सञ्जाता अस्येति विषयता षष्ठ्यर्थः, इच्छाविषय इत्यर्थः ॥११॥

---

१. एतस्य एतदिच्छितम् इति लेखकृतां, कपाठः. एतस्य एतद्दित्सितम् इति कदाचित् स्यात् –सम्पा.

दास्यामीति, यतस्त्वं **विश्वात्मा**. अन्येभ्यः किं दास्यसि? अन्ये च तवावश्यका इत्यर्थः. **सर्वा** या धनादिसम्पदः तासां **समृद्धये**. ननु मुष्टिमात्रेण ऐहिकी सर्वा सम्पत् सिद्ध्येत् न त्वामुष्मिकी तत्राह **अस्मिन् लोकेऽथवामुष्मिन्निति**. लोकद्वये न तस्य भोगापेक्षा, उत्तमाधिकारात्. किञ्चित् क्वचिद् भोगापेक्षा तदिहलोके परलोके वा भवतु. तत्र एक एव मुष्टिः प्रयोजकः, समुच्चयस्तु न तस्यापि सम्मत इति. ननु मुष्टिमात्रेण कथं सर्वा सम्पत्तिस्तत्राह **त्वत्तोषकारणमिति**. एकमुष्टिभक्षणे प्रयत्न आरब्धः सम्पूर्णगिलनपर्यन्तमनुवर्तते तावता तद्रसेन तृप्यति. मुष्ट्यन्तरे पुनः प्रयत्न आरम्भणीयस्तेन च प्रीतिरन्या पुनर्भविष्यति. फलं च देयमेकम्. अतस्तव सन्तोषो द्वितीय एवमेव तिष्ठेदिति द्वितीयो नोत्पादनीय एवेत्यर्थः ॥११॥

एवं भगवल्लक्ष्म्योः संवादमुक्त्वा एकं फलं भविष्यतीति विनिर्धार्य ब्राह्मणस्य तत्फलप्राप्त्यर्थं स्वगृहगमनं वदन् भगवत्सन्निधौ तस्य स्वाभिलषितमानन्दमाह **ब्राह्मणस्तां तु रजनीमिति**.

ब्राह्मणस्तां तु रजनीमुषित्वाच्युतमन्दिरे ।
भुक्त्वा पीत्वा सुखं मेने आत्मानं स्वर्गतं यथा ॥१२॥

अच्युतमन्दिरे उषित्वा तत्रैव वासं कृत्वा **भुक्त्वा पीत्वा** नानाविधरस्यानि अमृतादीन्यपि अलौकिकभोगसमर्थो भूत्वा **मेने आत्मानं स्वर्गतं**, स्वर्गत एव अमृतपानादिकं प्राप्नोति. भगवान् पूजार्थं किञ्चिदाभरणं वस्त्रादिकं गां च दत्तवानिति लक्ष्यते यावता सुवेषेण गृहं गच्छति ॥१२॥

ततः प्रातःकाले ततो निर्गत इत्याह **श्वोभूत** इति.

श्वोभूते विश्वभावेन स्वसखेनाभिनन्दितः ।
जगाम स्वालयं तात पथ्यनुव्रज्य नन्दितः ॥१३॥

समक्षादाने हेतुः **विश्वभावेनेति**. विश्वस्मिन्नेवानुभावो यस्य. यत्रैव गमिष्यति तत्रैव सर्वाविर्भावे सम्भवति किमर्थमितो नयनम्! सख्यमेव पुरस्कृतमिति सखा बहु न ददाति. "गच्छामी"त्युक्ते **अभिनन्दितः** गन्तव्यमिति. ततः

स्वालयं गतः. भगवान् पुनः **पथि** उदकान्तमागत्य **नन्दितः** सन्तोषं प्रापितः ॥१३॥

मध्ये तस्य भार्याभयाच्चिन्ता जाता तामाह.

स चालब्ध्वा धनं कृष्णान्न तु याचितवान् स्वयम् ।
स्वगृहान् व्रीडितोऽगच्छन्महद्दर्शननिर्वृतः ॥१४॥

स चालब्ध्वेति. स्वतो भगवता न दत्तमिति **धनमलब्ध्वा. स्वयं** च **न याचितवान्** सख्युः सकाशात्. तत उभयथापि लज्जितः **स्वगृहानगच्छत्. महद्दर्शनेन निर्वृतः** सुखित एव जातो नतु धनाभावेन दुःखितो जात इत्यर्थः ॥१४॥

ततस्तस्य मनोरथो यथा जातस्तमाह **अहो ब्रह्मण्यदेवस्येति** षड्भिः, धर्मिणा तु सिद्ध एवार्थः धर्मैः कृत्वा सन्देह इति.

अहो ब्रह्मण्यदेवस्य दृष्टा ब्रह्मण्यता मया ।
यद् दरिद्रतमो लक्ष्मीमाश्लिष्टो बिभ्रतोरसि ॥१५॥

ब्रह्मण्यदेवोऽपि अवसरविशेषे ब्राह्मणस्य हितं करोति, अस्य तु अनवसरेऽपि तथाकरणादाश्चर्यम्. **मयैव ब्रह्मण्यता दृष्टा.** तदाह **यद्दरिद्रतम** इति. **लक्ष्मीमुरसि बिभ्रता** भगवता **दरिद्रतमः** द्रष्टुमप्ययोग्योऽहं **आश्लिष्टः** ॥१५॥

एतदेव विशदयति.

क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः ।
ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः ॥१६॥

क्वाहं दरिद्र इति, अत एव **पापीयान्** दारिद्र्यव्याप्तदेहः दारिद्र्येण वा अनुमितपापवान्. कुत्र वा भगवान् **श्रीनिकेतनः**. अतः सखित्वसम्भावनापि

लेखः

श्वोभूत इत्यत्र **भगवान्पुनरिति.** आ उदकान्तं जलपरिखापर्यन्तमागतो **भगवान् पुनः** परावृत्त्य **स्वालयं गत** इति पूर्वेणान्वयः. **एवमनुव्रज्येत्यस्यार्थो** विवृतः. भगवता **पथ्यनुव्रज्य नन्दित** इति मूलेऽन्वयः ॥१३॥

स चेत्यस्याभासे तामाहेति. गृहगमनं पूर्ववाक्य एवोक्तमिति तदनुवादेन व्रीडाहेतुभूत-चिन्तैव वाक्यार्थ इति भावः ॥१४॥

नास्ति, अतुल्यत्वात्. तर्हि कथमालिङ्गनं कृतवानित्यत आह **ब्रह्मबन्धुरिति. स्मेति** प्रसिद्धे, ब्राह्मणो माननीय इति ॥१६॥

निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के भ्रातरो यथा ।
महिष्या वीजितः श्रान्तो बालव्यजनहस्तया ॥१७॥

स हि ब्रह्मणो भावः स्वयं विष्णुरिति तुल्यतया आलिङ्गनं सर्वभोगदानं च कृतवानित्याह **निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्क** इति. स्वस्थाने स्वयमेव योग्यो भवति, न त्वन्यस्तत्रोपवेशनीयस्तत्राह **भ्रातरो यथे**ति. अनेनानौचित्यमेव परिहृतम्. उपचारास्तु कृता एवेत्याह **महिष्या वीजित** इति. अदृष्टार्थतां निवारयति **श्रान्त** इति. **बालव्यजनहस्तये**ति राजोपचारः ॥१७॥

ततो भगवतापि ब्राह्मण इति पूजित इत्याह.

शुश्रूषया परमया पादसंवाहनादिभिः ।
पूजितो देवदेवेन विप्रदेवेन देववत् ॥१८॥

शुश्रूषया परमयेति, **पादसंवाहन**मेवा**दि**र्येषामिति ते उपचाराश्चतुःषष्टिः नृत्यगीताद्याः. ननु किमाधिक्यमेतावता तत्राह **देवदेवेने**ति. **देवाः** पूज्याः तेषामपि **देवो** भगवान्, तेनापि **पूजित**श्चेत् किमवशिष्यते! ननु भगवान् हीनभावं किमित्यवलम्बते? तत्राह **विप्रदेवेने**ति, विप्रा एव देवा यस्येति. **देववदि**त्यणुमात्रमपि स्वव्यापारस्तत्र निवारितः ; स्नानादिकमपि भगवतैव कारितमिति ज्ञापितम् ॥१८॥

एवं भगवन्तं स्तुत्वा धनादानाद् अन्यथावचनं प्राप्नोति तन्निराकरणार्थं हेत्वन्तरमेवात्र स्थापयति.

स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम् ।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम् ॥१९॥

स्वर्गापवर्गयोरिति. पञ्चधा हि फलं जगति प्रसिद्धं— लोकत्रयसुखं मोक्षः अणिमादिसिद्धयश्चेति. तेषाम् एकमेव हरेः पादसेवनं कारणम्. **पुंसां**

लेखः

निवासितः प्रियाजुष्ट इत्यत्र **अनेने**ति. भ्रातृदृष्टान्तोऽनौचित्यपरिहारमात्रे, न तूपचारेषु, तथा सति महिष्या वीजितो न भवेत्. नहि भ्रातृषु महिषी वीजनं करोतीत्यर्थः ॥१७॥

सर्वेषामेव, न तु कस्यचिदपि देवान्तरोपासकस्य हेत्वन्तरमस्तीति. **मूलं** मुख्यकारणम् ॥१९॥

नन्विदानीं चरणसेवार्थं गतस्तदा कथं न दत्तवान् ? पूर्वं चरणसेवा न कृतेति चेद्, इदानीं चरणसेवा कृतेति तस्याः कारणतैव न स्यात्. तत्राह.

अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत् ।
इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरि नाददत् ॥२०॥

अधनोऽयं धनं प्राप्येति, धनेनावश्यं मदो भवेत् मदेन च विस्मृतात्मा **मां** सुतरामेव **न स्मरेत्**. ततः स्मरणाभावे सर्वनाशः **इति कारुणिको** भगवान् **मे भूरि धनं नाददद्** अल्पं तु दत्तवानिति सूचितम् ॥२०॥

उपसंहरन्नग्रिममाह.

इति तच्चिन्तयन्नन्तः प्राप्तो निजगृहान्तिकम् ।
सूर्यानलेन्दुसंकाशैर्विमानैः सर्वतो वृतम् ॥२१॥

इति तच्चिन्तयन्निति, तत् प्रमेयं **चिन्तयन् निजगृहस्यान्तिकं प्राप्तः**. अपूर्वं दृष्टवानित्याह **सूर्यानलेन्दुसंकाशैरिति** द्वाभ्याम्. उपरि परितो मध्ये च वर्णयति. सूर्यस्य दिवसे प्रकाशः, अग्नेः सन्ध्यायां, चन्द्रस्य च रात्रौ. **विमानानि** तु कालत्रयेऽपि शोभायुक्तानि. एतादृशैर्मनोभिलषितसुखावहैः **सर्वतो** व्याप्तम् ॥२१॥

ततः परितः शोभामाह **विचित्रोपवनोद्यानैरिति**.

विचित्रोपवनोद्यानैः　　कूजद्द्विजकुलाकुलैः ।
प्रफुल्लकुमुदाम्भोज-कल्हारोत्पलवारिभिः ॥२२॥

उपवनं फलप्रधानम् **उद्यानं** पुष्पप्रधानम्. अवान्तरभेदपरिग्रहार्थं बहुवचनम्. **कूजद्द्विजानां** कूजद्विहङ्गानां **कुलानि** जातिविशेषाः **तैराकुलानि**. फल-पुष्प-समृद्धिर्निरूपिता. तामस-राजसभावान् निरूप्य सात्त्विकान् भावानाह **प्रफुल्लानि कुमुदानि येषु वारिषु** तैः पुष्करिणीस्थैः सर्वतो वृतम्. **कुमुदं** रात्रिविकासि अव्यवस्थितम्, **अम्भोज-कल्हारोत्पलानि** दिन-सन्ध्या-रात्रि-विकासयुक्तानि नियतानि ॥२२॥

मध्यं वर्णयति.

जुष्टं स्वलङ्कृतैः पुम्भिः स्त्रीभिश्च हरिणाक्षीभिः ।
किमिदं कस्य वा स्थानं कथं तदिदमित्यभूत् ।।२३।।

जुष्टं स्वलङ्कृतैः पुम्भिरिति, स्त्रीभिश्च हरिणाक्षीभिः परमसौन्दर्ययुक्ताभिः. एवंविधं गृहान्तिकस्थानं दृष्ट्वा गन्धर्वनगरादिशङ्कया अलौकिकं किञ्चित् सम्भावयति **किमिदमिति. इदं** परिदृश्यमानं गन्धर्वनगर-मायावैभवादीनामन्यतरद् आहोस्विद् सत्यमेवेति. ततः स्थिरतां पदार्थानां दृष्ट्वा स्वस्यैव भ्रमात् स्थानान्तरगमनं सम्भावयति **कस्य वा स्थानान्तरमिदमिति.** ततोऽपि परितो भागान् दृष्ट्वा मदीयमेवैतत् स्थानमिति निश्चित्य **तद**तिहीनमस्मद्गृहं **इदमेतादृशं कथमभूदिति** चिन्तितवान् ।।२३।।

एवमाश्चर्याविष्ट एव तस्मिन् तन्निर्णयार्थं कौतुकान्तरमाह.

एवं मीमांसमानं तं नरा नार्योऽमरप्रभाः ।
प्रत्यगृह्णन् महाभागं गीतवाद्येन भूयसा ।।२४।।

एवं मीमांसमानमिति, पूजितविचारवचनो **मीमांसा**शब्दः. एवमुत्कृष्टार्थविचारकं पुरुषा **नार्यश्च गीतवाद्येन भूयसा प्रत्यगृह्णन्.** नन्वयं पिशाचसदृशः, गीतवाद्यादिकं कथं भजते योग्यत्वाभावादित्याशङ्क्याह **महाभागमिति,** परमभाग्ययुक्तम्. तस्मिन् भगवत्स्वरूप-देवेन्द्रावेशो जातः अतो योग्यरूप एव सन् नृत्यादिभिः पुरस्कृतो जात इत्यर्थः ।।२४।।

पतिमागतमाकर्ण्य पत्न्युद्धर्षाऽतिसम्भ्रमात् ।
निश्चक्राम गृहात् तूर्णं रूपिणी श्रीरिवालयात् ।।२५।।

ततः पूर्वं तस्मिन्नेव स्थाने अमरावती प्रादुर्भूता. तस्यां च इन्द्रपत्न्याविर्भावः, तेन परमसौन्दर्यं प्राप्तवती. ततो भगवता चिपिटभक्षणोत्तरक्षण एव तादृशीमवस्थां प्राप्ता. कदा पतिरायास्यतीति पतिमेव चिन्तयाना इदानीं **पतिमागतमाकर्ण्य पत्नी** तदेकनिष्ठा **उद्धर्षो**त्फुल्लनयना **अतिसम्भ्रमात्** सर्वाभरणभूषिता सर्वैश्वर्ययुक्ता **तूर्णं गृहान्निश्चक्राम.** निष्क्रामन्तीं तां स्थानं च वर्णयति **रूपिणी श्रीः आलया**दिवेति. क्षीरसमुद्रात् कमलालयात् वा **रूपिणी श्रीः** कृतावतारा लक्ष्मीः यथा निर्गच्छति ।।२५।।

पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा प्रेमोत्कण्ठाश्रुलोचना ।
मीलिताक्ष्यनमद्बुद्ध्या मनसा परिषस्वजे ।।२६।।

ततः **पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा** मदर्थं भर्त्रा क्लेशः प्राप्त इति चिराद् दूरादागत इति **प्रेमोत्कण्ठा** सती **अश्रुलोचना** जाता. ततो लज्जावशाद् अपशकुनभयाद् वा **मीलिताक्षी** जाता. ततो यथोचितपूजां कृतवतीत्याह **बुद्ध्याऽनमदिति**. विवेकवत्या बुद्ध्यैव भर्तृनमस्कारं कृतवती **मनसा** चालिङ्गनम् — एतावदेव च कर्तव्यम् ॥२६॥

ततो ब्राह्मणः पत्नीं दृष्ट्वा विस्मितो जात इत्याह **पत्नीं दृष्ट्वेति**.

पत्नीं दृष्ट्वा प्रस्फुरन्तीं देवीं वैमानिकीमिव ।
दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीं स विस्मितः ॥२७॥

पूर्वापेक्षया **प्रकर्षेण स्फुरन्तीं देवीं** देवतामिव वस्त्रालङ्करणादिभिः पूजितां तस्यां तेजोविशेषं भावादिकं **दृष्ट्वा** तामुत्प्रेक्षते **वैमानिकीमिवेति**, यथा विमानस्था अप्सरा भवति. ततोऽप्यतिशयमाह **दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीमिति**. दासीनां विशेषणं रसस्त्रीत्वाय. तासां मध्ये **विभान्तीं** शोभमानाम्. एतादृशीं **दृष्ट्वा स** ब्राह्मणो **विस्मितः**, भगवच्चरित्रमेतादृशमलौकिकमिति ॥२७॥

प्रीतः स्वयं तथा युक्तः प्रविष्टो निजमन्दिरम् ।
मणिस्तम्भशतोपेतं महेन्द्रभवनं यथा ॥२८॥

ततो भगवता कृपयैतद्दत्तमिति निश्चित्य **प्रीतः** सन् **तया युक्तो निजमन्दिरं प्रविष्टः**. तन्मन्दिरं वर्णयति **मणिस्तम्भशतोपेतमिति**, एकमेव भवनं मणिस्तम्भशतेनोपेतं यत्र पत्न्या सह स्थितिः. एवं लोकोत्तरं तदित्युक्त्वा सामान्यतः परमोत्कर्षमाह **महेन्द्रभवनं यथेति** ॥२८॥

तत्रत्यान् पदार्थान् वर्णयति **पयःफेनेति** त्रिभिः ; शयनोपयोगीनि आसनोपयोगीनि गृहोपयोगीनि च वस्तूनि वर्ण्यन्ते.

पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।
पल्यङ्का हेमदण्डानि चामरव्यजनानि च ॥२९॥

पयःफेननिभाः शुभ्राः उत्तुङ्गाः **शय्याः**. दन्तनिर्मिताः **पल्यङ्काः रुक्मपरिच्छदाः** सुवर्णेन दन्ता मध्ये योजिताः. **हेमदण्डानि जामरव्यजनानि** चकारादन्यान्यपि शयनसाधनानि ॥२९॥

आसनानि च हैमानि मृदूपस्तरणानि च ।
मुक्तादामविलम्बीनि वितानानि द्युमन्ति च ॥३०॥

आसनान्युपवेशनस्थानानि **हैमानि** सुवर्णमयानि **मृदुपट्टसन्नद्धानि** **आस्तरणानि** च मृदुपट्टनिर्मितानि **चकारादन्यानि** सिंहासनोपयोगीनि. तदुपरि **मुक्तादामविलम्बीनि** चन्द्रातपानि **द्युमन्ति** **च** विचित्राणि कान्तियुतानि ॥३०॥

गृहभीत्तिर्वर्णयति.

अच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।
रत्नप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः ॥३१॥

अच्छस्फटिककुड्येष्विति, स्फटिकमया भित्तयः **महामरकतमयाश्च**. तेषु सर्वत्र **रत्नप्रदीपा आभान्ति. ललना** स्त्रियो **रत्नसंयुताः** चित्रमया, रत्नैर्विरचिताः सत्यः स्त्रिय एव वा ॥३१॥

एवं दृष्ट्वा ब्राह्मणस्य या बुद्धिस्तामाह **विलोक्य ब्राह्मण** इति.

विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र समृद्धीः सर्वसम्पदाम् ।
तर्कयामास निर्व्यग्रः स्वसमृद्धीमहैतुकीम् ॥३२॥

किं **सर्वसम्पदां समृद्धीः** ! दृष्ट्वा तस्य हेतुं **तर्कयामास निर्व्यग्रः** सावधानः. ननु हेतुः प्रसिद्ध एव भवति, किमिति चिन्तनं तत्राह **स्वसमृद्धीमहैतुकीमिति** ॥३२॥

नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः ।
महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य ॥३३॥

लोकावगतहेत्वभावात् तत्र बहून् हेतून् उत्प्रेक्ष्य निराकरोति **नूनं बतैतदिति**, भगवदिच्छा अदृष्टं कालो ग्रहाः भगवानेव वा इति! तत्रान्ये बाधितविषया इति भगवानेव दृष्टः कारणमिति निर्णयमाह **एतत्** परिदृश्यमानं **मम दुर्भगस्य** कथम्. **बतेति** हर्षे. कदाचिद् भाग्योदयेन भवतीति चेत्, तत्राह **शश्वद्दरिद्रस्येति**, सर्वदा दरिद्रोऽहं कथमेकदैव सुसमृद्धो जातः ? न ह्यकस्मादेवं भाग्यानि भवन्ति. अतो **महाविभूतेर्भगवत एवावलोकनादृते अन्यो** हेतु**र्नैवोपपद्येत**. लोकेष्वेवं श्रूयते— अकस्माल्लक्ष्म्या दृष्टो महासमृद्धो जात इति. भगवांश्च **महाविभूतिः** महत्यो विभूतयो लक्ष्मीसदृश्यो यस्येति. अत्रोपपत्तिमप्याह **यदूत्तमस्येति**. यादवाः पूर्वमत्यप्रयोजकाः स्थिताः इदानीं भगवद्दृष्ट्या अतिसमृद्धाः दृष्टा उपपत्तिः **यदूत्तम** इति ॥३३॥

ननु भगवांश्चेद् दद्यात् तर्हि कथं न वदेद् अतः सन्देह इति

चेत्, तत्राह **नन्वब्रुवाण** इति.

नन्वब्रुवाणो दिशतेऽसमक्षं याचिष्णवे भूर्यपि भूरिभोजः ।
पर्जन्यवत् तत् स्वयमीक्षमाणो दाशार्हकाणामृषभः सखा मे ॥३४॥

नन्विति निश्चये— भगवानेव **याचिष्णवे** एतद् **दिशते** आदिशति प्रदर्शयति प्रयच्छति इत्यर्थः. **परमसमक्षं अब्रुवाणश्च** "इदं प्रयच्छामी"ति नोक्तवान् स्वसमक्षं च न दत्तवान् —एतावान् परं विशेष इत्यर्थः. नन्वेतादृशं दातृस्वरूपं न क्वाप्युपलक्षितमिति चेत्, तत्राह **पर्जन्यवत् तत् स्वयमीक्षमाण** इति. यथा पर्जन्यः कृषीवलान् आत्मैकशरणान् निदाघपीडितान् दृष्ट्वा कदाचिच्छयानेष्वेव तेषु तत्सस्यं सर्वमेवाप्यायति एवं भगवानपि मां तथाविधमेवमाप्यायितवान्. **तद्** भक्तानां स्वरूपं **स्वयमेवेक्षमाणः**. ननु तथापि यावदपेक्षितं तावदेव दद्यात्, कथं बहु दत्तवानित्याशङ्क्याह **भूर्यपीति**. यतः स्वयं **भूरिभोजः**. ननु केचित् स्वयं भोक्तारोऽपि परस्मै न बहु प्रयच्छन्तीति चेत्, तत्राह **दाशार्हकाणामृषभ** इति. **दाशार्हका** दाशार्हाः यादवविशेषाः, ते सेवकसमृद्धिवाञ्छायुक्ताः. तेषामधिपः, स्वसेवकान् दाशार्हांस्तथा कृतवानिति. ननु ते तस्य सम्बन्धिन इति चेत्, तथाहमपीत्याह **सखा म** इति ॥३४॥

अन्यदपि भगवद्गुणं स्मृत्वा धीरोदात्तो भगवानेवैवं दातुं समर्थ इति निश्चिनोति **किञ्चित् करोतीति**.

किञ्चित् करोत्युर्वपि यत् स्वदत्तं
सुहृत्कृतं फल्ग्वपि भूरिकारी ।
मयोपनीतं पृथुकैकमुष्टिं
प्रत्यग्रहीत् प्रीतियुतो महात्मा ॥३५॥

यो ह्यल्पं प्रयच्छति स लज्जया अनुक्त्वा प्रयच्छति. तथा प्रकृते अनुक्त्वा प्रयच्छन्नल्पत्वं ज्ञापयति. अतः **स्वदत्तमुर्वपि किञ्चित्करोति. सुहृत्कृतमस्मन्नीतं** तु "तर्पयत्यङ्ग मां विश्वम्" (श्लो. ९) इत्यादिवाक्यैः **फल्ग्वपि** मुष्टिचतुष्टयात्मकमुपायनं **भूरिकारी**. तत् प्रकटीकरोति **मयोपनीतमिति**. भगवान् इन्द्रादिभिरप्यानीतमेवममृतं न भक्षयति यथा **पृथुकानामेकमुष्टिं** भक्षितवान्. अतोऽमृतापेक्षयापि पृथुकानां मानदानत्वाद् भूरिकारित्वम्. तत्रापि **प्रीतियुतः** परमापेक्षितपदार्थं प्राप्त इव. स्वयं तु **महात्मा** कोटिब्रह्माण्डनायकः ॥३५॥

तस्मादेवं भक्तवत्सलः कोऽपि नास्तीति तत्सम्बन्धा मम बहवो भवन्त्विति प्रार्थयते.

तस्यैव मे सौहृद-सख्य-मैत्री-
दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।
महानुभावेन गुणालयेन
विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः ॥३६॥

तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्रीति. प्राणिनो देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि चतुर्विधानि भवन्ति. तत्र हृदयस्य सम्बन्धः **सौहार्देन** भवति, सौहार्देनैव स्मरणम्. **सख्यं** प्राणस्य. स हि सर्वत्र जीवमुपयाति सखायमेवानुगच्छति. भगवांश्चेन्मत्प्राणानां सखा भवेत् तदा तमेवानुगच्छेयुरिति तात्पर्यम्. इन्द्रियाणां **मैत्री,** तानि मित्रानुगुणमेव कुर्वन्ति. **दास्यं** देहस्य. एतच्चतुष्टयं मम पूर्वं स्थितमेव, अन्यथा भगवत्सम्बन्धः कथं भवेत्? **पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यादि**ति प्रार्थना. यत्र याच्ञाभावेऽपि समृद्धिमेतावतीं दत्तवांस्तत्र याच्ञायां[1] किं न दद्यादिति गृहे प्रविष्टो याचते. नन्वेकस्मिन् जन्मनि एकेन सह जातम्, जन्मान्तरे शिवेनान्येन वा प्रार्थ्यतां, कोऽयं निर्बन्ध इति चेत्, तत्राह **महानुभावेन गुणालयेने**ति. स हि **महानुभावः**, तत्सेवकसेवकेष्वपि न संसारादिधर्मा भवन्तीति. किञ्च **गुणालयेन,** गुणानां स एव एक आलयः आकरः. ननु तत्र सख्यार्थं जन्मादिप्रार्थनायां तत्र विषयैः सह आसङ्गः स्यात्, तदा अनर्थो भवेदित्याशङ्क्याह **विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्ग** इति. तदा भगवद्भक्तैः सह सङ्गो भवतु, तेनैवासङ्गदोषो निवर्तिष्यत इत्यर्थः ॥३६॥

ननु तस्मिन् जन्मनि धनराज्यादिसम्पत्तौ न भगवद्भक्तैः सह सङ्गः न वा निस्तार इति चेत्, तत्राह.

भक्ताय चित्रा भगवान् हि सम्पदो

लेखः

तस्यैव मे इत्यत्र **तत्रे**त्यारभ्य **स्मरणमि**त्यन्तेन सौहार्दस्य हृदयधर्मत्वं साधितम्. **प्राणस्येति** धर्म इति शेषः ॥३६॥ द्वात्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

---

१. मुद्रितपाठे नोपलब्धः. शेषेषु सर्वेषु उपलब्धः अतः गृहीतः - सम्पा.

राज्यं विभूतीर्न समर्धयत्यजः ।
अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं
पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवम् ॥३७॥

भक्ताय चित्रा इति, **भगवान् विचित्रा** बुद्धिव्यामोहिकाः **सम्पदः भक्ताय न समर्धयति.** तथा **राज्यं विभूती**रैश्वर्याणि च. तत्र हेतुः **अज** इति, स्वयं न जातः. अनेन षड्भावविकारा निराकृताः. अतः स्वार्थं सेवकानां समृद्धिं न करोतीत्यर्थः. तेषामेवार्थे करिष्यतीति पक्षं दूषयति **अदीर्घबोधायेति,** यतः सम्पदादयः अदीर्घबोधाय भवन्ति. दीर्घबोधाभावाय नाशाय वा. अतो भक्तानां दीर्घबुद्धिर्न भविष्यतीति जाता वा नाशं यास्यतीति **न समर्धयति.** नात्रान्यकथनापेक्षा यतः स्वयमेव **विचक्षणः.** कदाचिद् विस्मरणे का गतिरिति चेत्, तत्राह **पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवमिति.** धनिनां धनमदपातदर्शनमेव भगवत्स्मारकमित्यर्थः ॥३७॥

एवं भगवति सख्यादिकमेव निश्चित्य तत्परो भूत्वा त्यागार्थं विषयोपभोगं कृतवानित्याह.

इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या भक्तोऽतीव जनार्दने ।
विषयान् जायया त्यक्ष्यन् बुभुजेऽनतिलम्पटः ॥३८॥

इत्थं व्यवसितमिति, एवं **बुद्ध्या** निश्चीय स्वयं च **जनार्दने भक्तो** भूत्वा **जायया** सह– तदर्थमेव एतावज्जातमिति कियत्कालानन्तरं तान् **विषयांश्च** त्यक्ष्यामीति –**अनतिलम्पटः** किञ्चिल्लम्पटो भूत्वा, अन्यथा रसो न भवतीति, **बुभुजे** ॥३८॥

एवं तस्य चरित्रमुक्त्वा भगवतोऽयं ब्रह्मण्यत्वगुण उक्त इति ज्ञापयितुं स्तौति **तस्य वै देवदेवस्येति.**

तस्य वै देवदेवस्य हरेर्यज्ञपतेः प्रभोः ।
ब्राह्मणाः प्रभवो दैवं न तेभ्यो विद्यते परम् ॥३९॥

पूज्यो दुःखप्रहर्ता च कर्माध्यक्षः प्रभुस्तथा ॥(१०)॥
चतुर्विधो महान् लोके तादृशोऽपि द्विजप्रियः ॥

तदाह **तस्य** प्रसिद्धस्य **देवानामपि देवस्य** सर्वदुःखहर्तुः यज्ञभोक्तुर्नियन्तुः एतादृशस्यापि **ब्राह्मणाः प्रभवः दैवं** च. आज्ञां करोति पूजयति चेत्यर्थः. किञ्च भगवतो विचारे **न तेभ्यः** किञ्चिदुत्तमं वर्तते. अनेन दाक्षिण्यात्

तान् मानयतीति पक्षो निवारितः.

शुद्धास्त एव वक्तारो माहात्म्योक्तौ विचक्षणाः ॥(११)॥
निःस्पृहा ज्ञानसंयुक्ता मोक्षयोग्या हरिप्रियाः ॥

॥३९॥

एवं ब्रह्मण्यत्वं गुणं स्थापयित्वा ततः सुदाम्नः किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह **एवं स विप्रो भगवानिति**.

एवं स विप्रो भगवान् सुहृत्तदा दृष्ट्वा स्वभक्तैरजितं पराजितम् ।
तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धनः तद्धाम लेभेऽचिरतः सतां गतिम् ॥४०॥

भगवदावेशाद् **भगवान्** भगवतः **सुहृच्च** भगवत्सुहृद् वा. **अजितं** सर्वैरपि **स्वभक्तैः पराजितं,** सर्वावश्योऽपि भक्तवश्य इति. सर्वेश्वरे वशे जाते सर्वपुरुषार्थाः करस्थिता इति **तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धन** इति तस्य ध्यानवेगेनैव उद्ग्रथिताः आत्मनः सर्व एव अविद्यादिबन्धाः यस्येति तथाविधो भूत्वा भगवच्चिन्तनेनैव **तद्धाम लेभे** वैकुण्ठं प्राप्तवान्. ततः **अचिरतः** शीघ्रमेव **सतां गतिं** भगवन्तमपि पश्चाच्च सायुज्यं प्राप्तवानित्यर्थः ॥४०॥

एवं सुदाम्न उद्धारमुक्त्वा तस्य पश्चादपि लोके कीर्तिर्भवत्विति एतदुपाख्यानस्य श्रवणफलमाह **एतद् ब्रह्मण्यदेवस्येति**.

एतद् ब्रह्मण्यदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः ।
लब्धभावो भगवति कर्मबन्धाद् विमुच्यते ॥४१॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥

एतदित्यव्ययम्. इमां **ब्रह्मण्यतां श्रुत्वा नरो भगवति लब्धभावो** भवति. नराणामैहिके दृढा दृष्टिरिति तद् भगवान् करोतीति भगवद्भावो दृढो भवति. ततः **कर्मबन्धाद् विमुच्यते.** यत्रैतच्छ्रोतुरपि मोक्षः तत्र सुदाम्नो मोक्षे कः सन्देहः ! एवं भुक्ति-मुक्ति-प्रदो भगवानेवेत्युक्तम्. अन्यदपि फलं भगवान् प्रयच्छतीति च. एवं निरुद्धानां फलदाता निरूपितः ॥४१॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे द्वात्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥

।। पञ्चमः स्कन्धादितो एकोनाशीतितमोऽध्यायः ।।

सात्त्विकप्रक्रियायां तु षड्भिः षड्भिस्त्रयं जगौ ।
प्रमेय-साधन-फलं धर्मास्तत्र निरूपिताः ।।(१)।।
धर्मिणोऽत्र त्रयो वाच्यास्तत्राध्यायत्रयं मतम् ।
सात्त्विके तु प्रमेये हि धर्मी यादृग्विधो मतः ।।(२)।।
त्रयस्त्रिंशे तथाध्याये प्रथमं स निरूप्यते ।
सर्वाभीष्टः सर्वसाक्षी सर्वप्रियहितैषणः ।।(३)।।
तीर्थैकगम्यो ज्ञानात्मा गुरुर्मोक्षप्रदः परः ।
सात्त्विकानामेकमेव साधनं गुणवर्णनम् ।।(४)।।
सरसस्य श्रुतिश्चापि तदग्रे विनिरूपितम् ।
ततः फलात्मा स हरिः सर्वाभीष्टप्रपूरकः ।।(५)।।
देशकालौ तथा चाङ्गं ततस्तत्रैव तत् त्रयम् ।
तामसा राजसाः प्रोक्ता राजसाश्चैव सात्त्विकाः ।।(६)।।
ततोऽध्याये प्रमेयेऽत्र सर्वे सात्त्विकतां गताः ।
प्रमेयमेतदेवात्र यदा सर्वेऽत्र सात्त्विकाः ।।(७)।।
तदा प्रमेयो भगवान्नान्यथेत्युच्यते स्फुटः ।।

इदानीमध्यायत्रयेण भगवत्साक्षात्कारः, भगवदीयानां साधनं, तेषां फलं

लेखः

त्रयस्त्रिंशेऽध्याये कारिकासु. **सरसस्येति**, रससहितस्य चरित्रस्य **श्रुतिः** श्रवणम्. तथाच कीर्तनं श्रवणं च साधनमित्यर्थः. **तदग्र** इति, एतस्मादग्रिमाध्याये इत्यर्थः. **तत** इति, तदनन्तरं **फलात्मा हरिर्निरूपितस्ततो हेतोस्तत्रैवाध्याये** तत् **त्रयं** निरूपितमित्यर्थः. त्रयं विशदयन्ति **देशेति**. **अङ्गं** यज्ञरूपा क्रियाशक्तिरित्यर्थः. "तस्मिन्नयाजयन् क्षेत्रे" (भाग.पुरा. १०।८१।४३) इत्यनेन देशः, "अथर्त्विग्भ्योऽददात् काले" (भाग.पुरा. १०।८१।५२) इत्यनेन कालः, "मखैः" (भाग.पुरा. १०।८१।४३) इत्यनेन यज्ञश्च निरूपितः. **तामसा** इति, तामसत्वं निवर्त्य राजसत्वं, राजसत्वं निवर्त्य सात्त्विकत्वं चोक्तमेवेत्यर्थः. **तदा प्रमेय** इति, सर्वेषां सात्त्विकत्वे सति भगवान् प्रमातुं योग्यो भवतीत्यर्थः (५-७ १/२).

च क्रमेण निरूप्यते. तत्र प्रथमं सात्त्विकानामपि सर्वोत्कृष्टानां ग्रहणादिकालविशिष्टे कुरुक्षेत्रादावेव भगवद्दर्शनं नान्यत्रेति निरूप्यते. तदर्थं कुरुक्षेत्रयात्राप्रसङ्गः. तीर्थमपि गृहं चेत् तदा न फलतीति मथुरातो द्वारकातश्च सर्वेषां गमनम्. तत्र कालस्य प्राधान्यात् प्रथमं सूर्यग्रहणमाह **अथैकदे**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अथैकदा द्वारकायां वसतो रामकृष्णयोः ।
सूर्योपरागः सुमहानासीत् कल्पक्षये यथा ॥१॥

राहु (? केतु !) ग्रस्तदिवाकरान्नान्यो मुख्यः कालः. सच कालः सर्वनाशक इति भगवति विद्यमाने कदाचिन्न भवेदित्याशङ्क्याह **रामकृष्णयोः द्वारकायामेव वसतोः यथा कल्पक्षये** कल्पक्षयनिमित्तं तत्सूचकः **सूर्योपरागः** सर्वग्रासात्मको भवति. एवं भगवति विद्यमानेऽपि जातः भूभारहरणं सूचयिष्यति ॥१॥

ततः किमत आह.

तं ज्ञात्वा मनुजा राजन् पुरस्तादेव सर्वतः ।
स्यमन्तपञ्चकं क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया ॥२॥

तं ज्ञात्वेति, ज्योतिःशास्त्रप्रामाण्यात् पूर्वमेव माघे मासि ग्रहणं जायत इति श्रुत्वा **स्यमन्तपञ्चकं क्षेत्रं** कुरुणा निर्मितं देशानां मध्ये मुख्यं **श्रेयोविधित्सया** तत्र गत्वा श्रेयः सम्पादयिष्याम इति निश्चित्य तस्मिन् समागताः ॥२॥

ननु तत्रैव श्रेयःसम्पादनं कुत इति चेत्, तत्राह **निःक्षत्रियां महीं कुर्वन्निति**.

निःक्षत्रियां महीं कुर्वन् रामः शस्त्रभृतां वरः ।
नृपाणां रुधिरौघेण यत्र चक्रे महाह्रदान् ॥३॥

पूर्वं रामेण क्षत्रियाणां सर्वेषामेव नाशार्थं सङ्कल्पः कृतः. ततः क्षत्रियाः सर्वान् मारयिष्यतीति निश्चित्य क्व युद्धेन मृते मोक्षं प्राप्स्याम इति विचार्य ''कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा'' (पद्म.पुरा. स्व.३९।८४) इति ''धर्मक्षेत्रे'' इति. कुरुणा महता कष्टेन तत्स्थानं तथाकृतमिति तत्रैव मोक्षो भविष्यतीति निश्चित्य परशुराममारणसमये सर्व एव तत्र समागताः. ततो रामेण ते

सर्वे हताः. तेषां **रुधिरौघेण नवह्रदांश्चक्रे.** तान्येव तीर्थानि जातानि गङ्गातोऽप्यधिकानि. अनेन तस्योत्कर्षो निरूपितः. **शस्त्रभृतां वर** इति स्वधर्मनिष्ठया तस्य सम्यग्देशज्ञानं निरूपितम् ॥३॥

किञ्च न केवलं क्षत्रियाणामेव तत्रोत्कर्षः सम्पादितः किन्तु स्वस्यापीत्याह.

ईजे च भगवान् रामो यत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणा ।
लोकं सङ्ग्राहयन्नीशो यथान्योऽघापनुत्तये ॥४॥

ईजे च भगवान् राम इति, प्रायश्चित्तार्थं यज्ञांश्च तत्रैव कृतवान्. प्रायश्चित्तं तु पापसम्बन्धे भवति. तथाच तस्मिन् क्षेत्रे पापमप्युत्पद्यत इति शङ्काव्युदासार्थमाह **यत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणे**ति. यद्यपि भगवत्त्वेनापि न कर्मसम्बन्धस्तथापि तत्र देशमाहात्म्यादेव न कर्मसम्बन्ध इति ज्ञापयितुं **यत्रे**त्युक्तम्. अन्यथा चकारादपि पूर्वस्थानमायाति. तर्हि यागस्य किं प्रयोजनमित्याशङ्क्याह **लोकं सङ्ग्राहयन्नि**ति. ननु किमित्येवं मन्यते? तत्राह **ईश** इति. ननु ईशस्य यज्ञाधिकार एव नास्ति, कथं कृतवानिति चेत्, तत्राह **यथान्य** इति. फलार्थतां वारयति **अघापनुत्तय** इति, पापक्षयार्थम् ॥४॥

एवं देशकालयोर्माहात्म्यमुक्त्वा तत्र सर्वासां प्रजानां समागमनमाह.

महत्यां तीर्थयात्रायां तत्रागन् भारतीः प्रजाः ।
वृष्णयश्च तथाऽक्रूर-वसुदेवाहुकादयः ॥५॥

महत्यां तीर्थयात्रायामिति, एतादृशे निमित्ते तीर्थयात्रा महती भवति. महत्त्वं सर्वेषां गमनात् फलाधिक्याच्च. अतएव **भारतीः** भारतवर्षोद्भवाः **प्रजाः** सर्वा एव तत्रागमन्. तत्र महतां नामानि संक्षेपेणाह **वृष्णयश्चे**ति.

लेखः

निःक्षत्रियामित्यत्र अनेनेति. यावतां रुधिरौघेण ह्रदा भवन्ति तावन्तो वधमङ्गीकृत्य यत्र मोक्षनिश्चयेन मर्तुमुद्यता इति **तस्य देशस्योत्कर्षः** रुधिरौघह्रदकथनेन **निरूपित** इत्यर्थः. **सम्यग्देशज्ञानमि**ति, अत्र मा (/म !) रणे वधदोषो न भविष्यतीति ज्ञानमित्यर्थः. इदमग्रिमश्लोके स्फुटम् ॥३॥

ईज इत्यस्याभासे **उत्कर्षः सम्पादित** इति. युद्धे मरणं क्षत्रियाणामुत्कर्ष इत्यर्थः ॥४॥

आदौ वृष्णयः समागताः. तत्रापि मुख्या एव समागता इति वक्तुम् **अक्रूर-वसुदेवाहुकादय** इति सात्त्विका महान्तो राजानश्चोक्ताः ॥५॥

तेषामन्यत्र गमनं वारयितुमाह.

ययुस्ते भारतं क्षेत्रं स्वमघं क्षपयिष्णवः ।
गद-प्रद्युम्न-साम्बाश्च सुचन्द्र-शुक-सारणैः ॥६॥

ययुस्ते भारतं क्षेत्रमिति, भरतवंशोद्भवेन निर्मितं क्षेत्रम्. वृष्णीनां सर्वश्रेयांसि गृह एवेति भगवदवज्ञालक्षणं पापं सम्भवतीति तस्यान्यत्र निष्कृतिमलभमानाः **स्वमसाधारणमघं क्षपयिष्णवः** तत्रागता इत्युक्तम्. त्रिविधा एव समागता इति शङ्काव्युदासार्थं अन्यानपि गणयति **गद-प्रद्युम्न-साम्बाश्चेति** ॥६॥

सर्वेषामेवागमने द्वारकायां कः स्थित इत्याकाङ्क्षायामाह.

आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां कृतवर्मा च यूथपः ।
ते रथैर्देवधिष्ण्याभैर्हयैश्च तरलप्लवैः ॥७॥

आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायामिति, अनिरुद्धो योगपतिरिति योगाभ्यासपरस्या-प्यनागमनमुक्तम्. **कृतवर्मा च यूथप** इति तस्य सेनापतिरित्यर्थः, योऽपि तस्योत्तरसाधकः सोऽपि नागच्छेदिति. यद्यपीयं यात्रा सर्वसाधारणा तथापि भगवच्चरित्रस्य प्रकरणित्वात् मुख्यतया यादवा वर्ण्यन्ते. ये समागतास्ते किं यात्रानियमेन आहोस्विच्छोभयेति सन्देहे निरूपयति **ते रथैर्देवधिष्ण्याभैरिति**. ''कृत्वा कार्पटिकं वेषम्'' (. । ।) इति नियमः. यात्रायां देशमात्रप्राधान्ये स नियमः, कालप्राधान्ये तु न नियम इति चतुरङ्गसेनया महत्या सहितास्ते व्यरोचन्तेति रक्षा शोभाविषयश्च निरूप्यते. रथादयो वाहनरूपा इति केचित्. **देवधिष्ण्यानि** विमानानि, जगन्नाथादि-देवस्थानयात्रानिमित्त-देवासनरथसदृशा वा नानालङ्करणोपेताः, **तैर्व्यरोचन्**तेत्य-ग्रिमेण सम्बन्धः. **ते** गदादयः, सर्व एव वा लोकाः. तथा **हया** अपि **तरलवत्** तरङ्गवत् **प्लवः** प्लवनं गतिर्येषाम्. हयानां गतिरेव गुणः ॥७॥

लेखः

ते रथैरित्यत्र रक्षेति. युद्धार्थं रथा इति तैः सेनारक्षा भवतीति भावः. **केचिदिति** तीर्थगमने रथारोहणं निषिद्धमित्यस्वारस्यमुक्तम् ॥७॥

गजैर्नदद्भिरभ्राभैर्नृभिर्विद्याधरद्युभिः ।
व्यरोचन्त महातेजाः पथि काञ्चनमालिनः ॥८॥

गजाश्च नदन्तः अभ्राभाः अत्युच्चाः. नादेनान्तस्तोषो मत्तता वा निरूप्यते. **नृभिः** पदातिभिः दोलावाहकैर्वा. तेषां कान्तिर्**विद्याधर**सदृशी. ते हि नानाविद्यया नानारूपा भवन्ति अलङ्कृताश्च. प्रतिक्षणमन्यथान्यथारूपमिति ज्ञापयितुं विद्याधरकान्तितुल्यता. स्वयमपि **महातेजा** महत्तेजो येषामिति. समासान्तोऽत्र टच्, तेन टिलोपात् **महातेज** इत्यकारान्तो भवति. अनेन सहजोत्कर्षस्तेषामुक्तः. आगन्तुकमाह **पथि काञ्चनमालिन** इति. अनेन सर्वदेशस्वास्थ्यं सर्वनिर्मलचित्तता च निरूपिता, अन्यथा साभरणा निर्भयाश्च सर्वे सर्वतो नागच्छेयुः ॥८॥

दिव्यस्रग्वस्त्रसंवाहाः कलत्रैः खेचरा इव ।
तत्र स्नात्वा महाभागा उपोष्य सुसमाहिताः ॥९॥

दिव्यस्रग्वस्त्रसंवाहा इति, दिव्यान्यलौकिकानि लोके आश्चर्यकराणि **वस्त्रादीनि संवाहा** अश्वाः, सन्नाहा वा कवचादयः. सर्व एव सस्त्रीकाः, प्रवृत्तौ सहितानामेवाधिकार इति, महत्त्वख्यापकं वा. स्त्रीणां बाहुल्यं शोभातिशयं च ज्ञापयितुं दृष्टान्तः **खेचरा इवे**ति. एवं सर्वेषामागमनमुक्त्वा अमावास्यायां ग्रहणदिवस एव यावतामागमनं सम्भवति तानुक्त्वा पश्चात् तीर्थस्नानादिकं कृतवन्त इत्याह **तत्र स्नात्वे**ति. **महाभागा** इत्यनेन तीर्थप्राप्तिभाग्यं दानाद्यर्थं च निरूप्यते. ततो ग्रस्तास्तमयः सूर्य इति तस्मिन् दिवसे सर्वेषामुपवासः, न तु तीर्थप्राप्तिनिमित्तः, कुरुक्षेत्रे तन्निषेधात्. **सुसमाहिता** इति सर्वभोगनिवृत्तिः क्रोधादिसर्वदोषनिवृत्तिश्च ॥९॥

ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूर्वासःस्रग्रुक्ममालिनीः ।
रामह्रदेषु विधिवत् पुनराप्लुत्य वृष्णयः ॥१०॥

ततो ग्रहणसमये **ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूः, वासांसि स्रजश्च रुक्ममालाश्च** यासु, सर्वालङ्करणोपेता दत्ता इत्यर्थः. तत्र मुख्यमेकं सरः अन्ये च ह्रदा नव. ते **रामह्रदाः**, "शोणितौघान् ह्रदान्नव" (भाग.पुरा. ९।१६।१९) इतिवाक्यात्. ततो रामह्रदेष्वपि **विधिवत्** फलसाधकत्वात् स्नानं कृतवन्तः ॥१०॥

ददुः स्वर्णं द्विजाग्र्येभ्यः कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति ।
स्वयं च तदनुज्ञाता वृष्णयः कृष्णदेवताः ॥११॥

तत्रापि **स्वर्णं ददुः** स्नानपूर्त्यर्थम्. दानाभावे स्नानं विकलं स्यात्. कामनामाह **कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति**, तीर्थसुवर्णदानयोरुभयोरपि सार्वकामिकत्वात्. एतत्स्नानं द्वितीयदिवस एवेति केचित्. **पुनः**पदाद् द्वितीयदिवसेऽपि दानं च. ततो ब्राह्मणानुज्ञया **कृष्ण एव देवता** येषाम् ॥११॥

भुक्त्वोपविविशुः कामं स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु ।
तत्रागतांस्ते ददृशुः सुहृत्सम्बन्धिनोऽपरान् ॥१२॥

तत्र तीर्थे कृष्णं पूजयित्वा भोजनार्थमुपविष्टे भुक्ते वा भगवति भगवता वानुज्ञाताः **स्निग्धच्छायाप्रयुक्तेष्वङ्घ्रिपेषु भुक्त्वा समुपविविशुः**. एतावत्पर्यन्तं तीर्थवैयग्र्यात् लोकदर्शनार्थं नावकाशः. ततो यादवाः स्वयमन्यत्रागत्वैव भगवांस्तत्र वर्तत इति तत्रैव समागतान् सर्वान् ददृशुरित्याह **तत्रागतांस्ते ददृशुरिति. सुहृदो** मित्राणि **सम्बन्धिनः** विवाह्यान् **अपरानुदासीनांश्च** भगवद्दर्शनार्थमागतान् नृपानिति वा ॥१२॥

नानादेशस्थास्ते इति देशभेदान् निरूपयति **मत्स्येति**.

मत्स्योशीनर - कौसल्य - विदर्भ - कुरु - सृञ्जयान् ।
काम्बोज-कैकयान् मद्रान् कुन्तीन्नारदकेरलान् ॥१३॥
अन्यांश्चैवात्मपक्षीयान् परांश्च शतशो नृप ।
नन्दादीन् सुहृदो गोपान् गोपीश्चोत्कण्ठिताश्चिरम् ॥१४॥

नारददेशः कौंकणदेशः. अन्ये तु प्रसिद्धाः एकादश निरूपिता तत्तन्मनोवृत्तिप्राधान्यख्यापनाय. अनुक्तसमुच्चयार्थमाह **अन्यांश्चैवेति. परान्** शत्रुपक्षीयान्. **शतश** इति शत्रुबाहुल्यं सूचितम्. तेऽपि द्रष्टुं समागता इति भगवतोऽचिन्त्यसामर्थ्यं निरूपितम्. एते सर्वे क्षत्रिया एव सजातीया निरूपिताः. विजातीयान् निरूपयन् प्रथमं **नन्दादीन**पश्यन्, **गोपान् गोपीश्च उत्कण्ठिता**

लेखः

तत्रागतांस्ते इत्यत्र **नृपानिति वेति**. "यदुभिस्तेऽर्चिता नृपाः" (श्लो. २३) इत्यग्रे कथनादिति भावः ॥१२॥

इति. भगवद्विषयिणी उत्कण्ठा. भगवदीयान् वा सर्वान् सुसमृद्धान्, एतावान् भगवतो विलास इति, द्रष्टुं तासामुत्कण्ठा. उत्कण्ठायामेव **चिरमिति** विशेषणम् ॥१३-१४॥

ततस्तेषाम् अन्योन्यसम्भाषणादिकं लौकिकभाषया[१] निरूपयति **अन्योन्येति.**

अन्योन्यसंदर्शन-हर्षरंहसा
प्रोत्फुल्लहृद्वक्त्रसरोरुहश्रियः ।
आश्लिष्य गाढं नयनैः स्रवज्जला
हृष्यत् त्वचो रुद्धगिरो ययुर्मुदम् ॥१५॥

भगवद्भक्तैः सह साक्षात् परंपरया वा सर्वेषामासक्तिरस्तीति सर्वे भगवदीया एवेति प्रमेयत्वं तेषाम्, अन्यथा तन्निरूपणे अधर्मः स्यात् प्रकरणं च विरुध्येत. अतस्तदुक्तार्थमेव अन्योन्यदर्शनेन प्रेमाधिक्यं निरूप्यते. **हर्ष** आन्तरः, तस्य तादृशो वेगः यो बहिरपि स्वानुभावं प्रकाशयति. अतो **हृद्वक्त्र-सरोरुहयोः उत्फुल्लयोः श्रीर्येषां** दूराद्दर्शनस्यैतावत्. आश्लेषस्य ततोऽप्यधिकमित्याह **आश्लिष्येति.** कायवाङ्मनसां सर्वेन्द्रियाणां च भाव उत्पन्न इति निरूपयति. तत्र प्रथमं सर्वेन्द्रियोपलक्षणार्थं **हृष्यत्त्वच** इति कायिकः सन्तोषः **रुद्धगिर** इति वाचिकः **मुदं ययुरिति** मानसः ॥१५॥

एवं पुरुषाणामन्योन्यं; स्त्रीणामप्याह **स्त्रियश्च संवीक्ष्येति.**

स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोऽतिसौहृद-
स्मितामलापाङ्गदृशोऽभिरेभिरे ।
स्तनैः स्तनान् कुङ्कुमपङ्करूषितान्
निहत्य दोर्भिः प्रणयाश्रुलोचनाः ॥१६॥

तासां भावः प्रकटो जात इति ख्यापयितुं स्मितामलापाङ्गनिरूपणम्.

लेखः

अन्योन्यस्येत्यस्याभासे लौकिकभाषयेति. अन्योन्यसम्भाषणमादिप- देन परिरम्भणादिकम्, एवमन्योन्यकार्ये लौकिकी भाषा, न तु भगवदुपदेश इति भावः. व्याख्याने **अतस्तदिति,** तत् सर्वेषां निरूपणं भगवदीयत्वनिरूपणार्थ-मेवेत्यर्थः ॥१५॥

---

१. लौकिकभाषया इति लेखकृतां पाठे अधिकः, मुद्रिते नास्ति - सम्पा.

अतिसौहृदमान्तरं, स्मितं मध्यस्थम्, **अमलापाङ्गा** बाह्याः –एतत्सहिता **दृष्टयो** यासाम्. **अभितः** आन्तरमानस-व्यवधानराहित्येन रमणं वाचनिकम्. **स्तनैः** **स्तनानिति** कायिको गाढाश्लेषः. **प्रणयेनाश्रुलोचना** इति सर्वेन्द्रियसंश्लेषः. एवमुभयेषामेकता निरूपिता ॥१६॥

अतः सर्व एव भगवदीयाः, भगवदीयाश्च भगवानिति प्रमेयं भगवानेव निरूपितो भवतीति तेषामर्थाद् भगवदीयत्वं निरूप्य साक्षान्निरूपयति.

ततोऽभिवाद्य ते वृद्धान् यविष्ठैरभिवादिताः ।
स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा चक्रुः कृष्णकथां मिथः ॥१७॥

ततोभिवाद्येति, वृद्धाभिवादनं धर्मः कीर्तनाङ्गम्. **यविष्ठैरभिवादिता** इति हीनानां परिग्रहः. एवमुच्चनीचार्थं परिगृह्य सर्वोपकारार्थं **कृष्णकथां मिथः चक्रुः**. एतदेव परमवैष्णवलक्षणं, "तेऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि" (भाग.पुरा. ३।२५।३४) इतिवाक्यात् ॥१७॥

एवं साधारणानां निरूप्य असाधारणानां स्वभावत एवासक्तियुक्तानामन्योन्यवैमनस्यलक्षणं दोषं परिहर्तुम् उपालम्भ-परिहारौ निरूप्येते **पृथा भ्रातॄनिति**.

पृथा भ्रातॄन् स्वसॄर्वीक्ष्य तत्पुत्रान् पितरावपि ।
भ्रातृपत्नीर्मुकुन्दं च जहौ संकथया शुचः ॥१८॥

भ्रातरो वसुदेवादयः. **स्वसारः** श्रुतदेवाद्याः. **तत्पुत्राः** बल-शिशुपालादयः. **पितरौ** मारिषाशूरौ. **भ्रातृपत्नीः** देवक्याद्याः. **मुकुन्दः** सर्वेषां मोक्षदानार्थमागतो भगवान्. **चकारात्** तस्य सर्वसम्बन्धो निरूपितः. एवं **संकथया शुचो जहौ** सामान्यप्रश्नेनैव शोकलक्षणो दोषो निवृत्तः ॥१८॥

विशेषनिराकरणार्थम् उपालम्भमाह **आर्य भ्रातरिति**.

॥ कुन्त्युवाच ॥

आर्य भ्रातरहं मन्ये आत्मानमकृताशिषम् ।
यद् वा आपत्सु मद्वार्तां नानुस्मरथ सत्तमाः ॥१९॥

लेखः

स्त्रियश्चेत्यत्र रमणं वाचनिकमिति. चिरमिलिता रुदन्त्यः तन्नाम गृहीत्वा आश्लिष्यन्तीति लोकप्रसिद्धिः ॥१६॥

सुहृदो ज्ञातयः पुत्रा भ्रातरः पितरावपि ।
नानुस्मरन्ति स्वजनं यस्य दैवमदक्षिणम् ॥२०॥

दुष्टस्तु न पृच्छत्येव, त्वं तु **आर्यः** तथापि न पृच्छसि इत्याश्चर्यम्. तत्र स्वयमेव हेतुं कल्पयति **अहमात्मानमेव अकृताशिषमल्पभाग्यं मन्ये.** न कृताः आशिषो भाग्यहेतुयुक्ता इति, न तु त्वामुपेक्षकं मन्ये. भाग्याभावे बन्धूनां प्रश्नाद्यभावः लोकेऽपि सिद्ध इति तं निरूपयति **सुहृद** इति. अस्माकं तु **आपत्सु** एकस्या **अपि वार्तां नानुस्मरन्तीति** किमाश्चर्यम्? **यस्य दैवमदक्षिणं** तं **सुहृदादयः** केऽपि न स्मरन्ति, सर्वदैवापदेति **आपत्स्वेवेति** न वक्तव्यम्. **दैवमदृष्टाभिमानिनी** देवता. **अदक्षिणं** प्रतिकूलम् ॥१९-२०॥

॥ वसुदेव उवाच ॥

अम्ब मास्मानसूयेथा देवक्रीडनकान् नरान् ।
ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते कार्यते हि वा ॥२१॥

उपालम्भं परिहरति वसुदेव **अम्बेति.** कनिष्ठभगिनीं स्नेहान्मातृनाम्ना सम्बोधयति. **अस्मान्** भ्रात्रादीन् **मा असूयेथाः** दोषारोपणेन मा द्राक्षीः. तत्र हेतुः **देवक्रीडनकानिति.** देवोऽत्र कालः, स एवावतीर्णः अतो **देवपदम्.** तत्रापि **नरान्,** मनुष्याः सर्वसेवका इति. कथमेवमिति चेत्, तत्राह **ईशस्य हि वशे लोक** इति. प्रयोजककर्तृत्वे साक्षात्कर्तृत्वे च **ईशस्य** नियन्तु कालस्यैव **वशे.** युक्तश्चायमर्थः, तदुदर एवोत्पन्नत्वात्. यो हि यस्य गृहे उत्पद्यते स तस्य वशे भवति. हीति समुच्चयार्थे, वेत्यनादरे. सर्वाः क्रियास्तदधीना इत्यर्थः ॥२१॥

एवं सामान्यतः पराधीनत्वमुक्त्वा विशेषतोऽप्याह.

कंसप्रतापिताः सर्वे वयं याता दिशं दिशम् ।
एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनासादिताः स्वसः ॥२२॥

कंसप्रतापिता इति, प्रकर्षेण तापं प्रापिताः **सर्व** एव यादवाः

लेखः

सुहृदो ज्ञातय इत्यत्र **अस्माकमिति,** अस्माकं मध्ये एकस्या अपीत्यर्थः. आश्चर्यभावं साधयन्ति **यस्य दैवमिति.** एतस्मात् पूर्वं यत इति शेषो ज्ञेयः ॥१९-२०॥

दिशं दिशमष्टदिक्षु याताः. एतर्ह्येव इदानीमेव भोगेन कालो न स्मृतः. ततः कंसवधं साम्प्रतमेव जातमिति मन्यते. **पुनः स्थानं** यथा प्रतापनात् पूर्वं **दैवेन** भगवता कालेनासादिताः. **स्वस** इति सम्बोधनमप्रतारणाय ॥२२॥

एवं दोषपरिहारमुक्त्वा गुणान् वक्तुं प्रथमतो मानसमाह **वसुदेवोग्रसेनाद्यैरिति.**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

वसुदेवोग्रसेनाद्यैर्यदुभिस्तेऽर्चिता नृपाः ।

आसन्नच्युतसन्दर्श-परमानन्दनिर्वृताः ॥२३॥

वसुदेवोऽलौकिको महान् **उग्रसेनो** लौकिकः, तौ **आदिभूतौ** येषां **यदूनां तै**रग्रे वक्ष्यमाणाः सर्व एवार्चिताः सन्तः महत्पुरस्कारेण गतमूलदोषाः **अच्युतसन्दर्शनेन** यो जातः **परमानन्दः** तेन **निर्वृता** आसन्. निर्वृतिर्मानसी ॥२३॥

तान् गणयति **भीष्म** इति त्रिभिः. सात्त्विका राजसास्तामसाश्च क्रमान्निरूपिताः.

भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रो गान्धारी ससुता तथा ।

सदाराः पाण्डवाः कुन्ती सृञ्जयो विदुरः कृपः ॥२४॥

कुन्तिभोजो विराटश्च भीष्मको नग्नजिन्महान् ।

पुरुजिद् द्रुपदः शल्यो धृष्टकेतुः सकाशिराट् ॥२५॥

दमघोषो विशालाक्षो मैथिलो मद्र-केकयौ ।

युधामन्युः सुशर्मा च ससुता बाल्हिकादयः ॥२६॥

अम्बिकापुत्रो धृतराष्ट्रः. **ससुता** दुर्योधनादिसहिताः. **तथेति** तस्याः सात्त्विकत्वसन्दोहव्युदासः. नव भेदाः सात्त्विकाः. तथैव नवविधान् राजसान् निरूपयति **कुन्तिभोज** इति. **महानिति नग्नजितो** विशेषणम्. **दमघोषादयस्तामसाः**, मद्रदेशाधिपतिः केकयदेशाधिपतिश्च. **ससुता** इति, भूरिश्रवादयो भिन्नतया निरूप्याः अतस्तेऽपि नवविधाः ॥२४-२६॥

निर्गुणान् परमसात्त्विकान् वा सम्बन्धाभावान्निरूपयति **राजान** इति.

राजानोऽन्ये च राजेन्द्र युधिष्ठिरमनुव्रताः ।

श्रीनिकेतं वपुः शौरेः सस्त्रीकं वीक्ष्य विस्मिताः ॥२७॥

अन्ये पूर्वोक्तव्यतिरिक्ताः **चकारात्** तत्सम्बन्धिनश्च. नन्वेते सम्बन्धिनस्ते त्रिगुणा जाताः अन्ये कथं निर्गुणाः परमसात्त्विका वा जातास्तत्राह **युधिष्ठिरमनुव्रता** इति, परमवैष्णवसङ्गात् तच्छीलेन शिक्षिताः. एवं चतुर्विधा अप्येते **श्रीनिकेतं** भगवतो **वपुर्दृष्ट्वा विस्मिताः**, इदं वपुर्ध्यानगम्यं कथं दृश्यत इति. ध्यानगम्ये[१] नियामकं **श्रीनिकेतमिति. सस्त्रीकमिति** सहजभार्यायां विद्यमानायां पुनरन्यासां परिग्रहोऽप्याश्चर्यमिति ॥२७॥

अथ ते रामकृष्णाभ्यां सम्यक्प्राप्तसमर्हणाः ।
प्रशशंसुर्मुदा युक्ता वृष्णीन् कृष्णपरिग्रहान् ॥२८॥

तासामैकमत्यं कान्त्यतिशयं वा दृष्ट्वा विस्मितानां निरन्तरस्मरणेन ज्ञानोत्पत्तौ मुक्तिः स्यादिति तत् साम्प्रतमनभिप्रेतमिति **कृष्णरामाभ्यां** तेषां पूजा समारब्धा **सम्यक् प्राप्तं समर्हणं** येषामिति. ततो भगवदिच्छया भक्ता एव भूत्वा भगवत्स्तोत्रं कृतवन्त इत्याह **प्रशशंसुरिति. मुदा युक्ता** इत्यन्तस्तोषः केवलवाचिकत्वं व्यावर्तयति. भगवांस्तु सर्वैरेव स्तूयते ; ते विरलाः ये भगवत्परिगृहीतान् स्तुवन्ति. अतः **कृष्णपरिगृहीतान् वृष्णीन् प्रशशंसुः** ॥२८॥

प्रशंसामाह त्रिभिः सात्त्विकादिभावेन **अहो** इति.

॥ राजान ऊचुः ॥

अहो भोजपते यूयं जन्मभाजो नृणामिह ।
यत्पश्यताऽसकृत् कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम् ॥२९॥

भगवद्दर्शनं दुर्लभं मत्वा तत् तेषामनायासेन जायत इति हे **भोजपते** राजन्, **यूयमेव जन्मभाजः** सुतरां **नृणां** मध्ये, वैकुण्ठवासिनां तु कदाचिद् भवतीति. योगः कदाचित् परिपक्वः सकृद्दर्शयति, भवन्तस्तु **असकृद्** वारं वारं **पश्यत. पश्यथेति** पाठे तादेशाभावश्छान्दसः ॥२९॥

एवं भगवद्दर्शनं स्तुत्वा भगवतो गुणश्रवणादीन् धर्मान् स्तुवन्ति **यद्विश्रुतिरिति.**

यद्विश्रुतिः श्रुतिनुतेदमलं पुनाति
पादावनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रम् ।

---

१. ध्यानगम्यत्वे इति खपाठः - सम्पा.

भूः कालभर्जितभगापि यदङ्घ्रिपद्म-
स्पर्शोत्थशक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान् ॥३०॥

विश्रुतिः कीर्तिः **श्रुतिभिः** सर्वैरेव वेदैर्नुता. अनेनाधिक्यं माहात्म्यं चोक्तम्. **श्रुतिभिः** श्रोत्रेन्द्रियैर्वा **नुता** अतिरसालत्वेनात्यादरं गृहीता. **इदं** जगदेवात्यर्थं **पुनाति**. भगवत्कीर्तेः विषयत्वेन भगवत्सम्बन्धः, नतु साक्षात् ; तादृश्यपि चेत् पुनाति तदा साक्षात्सम्बद्धो भगवान् किं वक्तव्य इति माहात्म्यं निरूपितं भवति. कीर्तिः सात्त्विकी, गङ्गा राजसी, शास्त्रं ततोऽन्यदिति सर्वेषां तुल्यत्वायाह **पादावनेजनपयः शास्त्रं वचो** गीता भागवतं च —एतद् द्वयमपि **अलं पुनाति**. एवं कीर्त्यादिद्वारापि भगवन्माहात्म्यमुक्त्वा प्रकारान्तरेण पुनः साक्षादेवाह **भू**रिति. **कालेनातिबलिष्ठेन भर्जितभगापि** गतदृष्टादृष्टसामर्थ्यापि **यदङ्घ्रिस्पर्शमात्रेणैव उत्थाः** उत्थिताः सर्वा एव **शक्तयो** यस्याः तादृशी भूत्वा **नोऽ**स्मभ्यं सर्वानेवा**र्थान् वर्षति**. अनेन कालग्रस्तस्यापि भगवच्चरणस्पर्शे पुनः प्रत्यापत्तिर्निरूपिता, पूर्वस्माच्चाधिक्यं सर्वोपजीव्यत्वं च निरूपितम् ॥३०॥

एवं दर्शन-स्पर्शनस्य माहात्म्यमुक्त्वा तादृशदर्शनादिकं सर्वं येषां मिलितं भवति तेषां भाग्यं किं वक्तव्यमित्याह तद्दर्शनेति.

तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प
शय्याशनासनसयौनसपिण्डबन्धः ।
येषां गृहे नरकवर्त्मनि वर्ततां नः
स्वर्गापवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः ॥३१॥

तादृशं दर्शनं स्पर्शनमनुपथं सहचलनं **प्रकृष्टजल्पाः** इष्टकथाः **शय्याः** शयनम् **अशनं** भोजनम् **आसन**मुपवेशनं **सयौनं** स्त्रीकृतः सम्बन्धः **सपिण्डो** गोत्रसम्बन्धः — एवंविधैर्नवविधै**र्बन्धो** यस्य साक्षात्सम्बन्धो भगवता सहास्तीति. सगुणस्तु सम्बन्धो दुर्लभ इति स एवोक्तः. किञ्च **येषां** भवतां **नरकवर्त्मनि गृहे वर्ततां** नरक आवश्यकः. साधारणगृहमात्रमेव नरकसाधनम्, सुतरां मर्यादारहितानामस्माकम्. वो वा, **स्वयमेव विष्णुः** सर्वसन्देहनिवारकः. य एव सम्बन्धो नरकहेतुरन्येषां स एव भवतां विष्णुर्जात इति. ततोऽपि किमित्याशङ्कां वारयितुं विष्णोः प्रकृतोपयोगिगुणमाह

स्वर्गापवर्गयोरपि विगतरमणरूपः, भगवति दृष्टे न कोऽपि स्वर्गे मोक्षे वा रमत इति. **विरामो** वा, तावदेव स्वर्गापवर्गौ प्राप्नोति यावद् भगवानेवं सम्बद्धो न प्राप्यते. एवं तान् स्तुत्वा परमभक्त्याविष्टाः तूष्णीं स्थिताः. एवमेकविधानां भगवत्परत्वं निरूपितम् ॥३१॥

प्रमेयत्वाय द्वितीयानामाह **नन्दस्तत्रेति**. स दूरे स्थितः **पूर्वभागे,** ते तु पश्चिमभागे स्थिताः अतः पश्चाच्छ्रुत्वा सर्वैः सहितस्तत्र गतः.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

नन्दस्तत्र यदून् प्राप्तान् श्रुत्वा कृष्णपुरोगमान् ।
तत्रागमद् वृतो गोपैरनःस्थार्थैर्दिदृक्षया ॥३२॥

तत्र कुरुक्षेत्रे **यदून् प्राप्तान् कृष्णपुरोगमान्** भगवानेव पुरोगमो येषामिति भगवदैश्वर्यं तत्र द्रष्टव्यमिति **गोपैरनोभिश्च** सर्वसामग्र्या **वृतः** भगवन्तं द्रष्टुं **तत्रागतः** ॥३२॥

तस्मिन् यादवानां पूर्वापेक्षया विशेषानुवृत्तिमाह.

तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टास्तन्वः प्राणमिवोत्थिताः ।
परिषस्वजिरे गाढं चिरदर्शनकातराः ॥३३॥

तं दृष्ट्वेति, दर्शनमात्रेणैव सर्व**वृष्णयो हृष्टाः** तेषां मनःप्रीतिर्जाता. ततो देहेनापि मनःप्रेरणरहितेनापि उत्थिता इत्याह **तन्वः प्राणमिवोत्थिता** इति. यथा **प्राणेषु** समागतेषु करचरणाद्यवयवाः स्वयमेवोत्थिता भवन्ति. अनेनैतावत्कालं यादवा मूर्च्छिता इव स्थिता इत्युक्तम्. अतः **परिषस्वजिरे** क्रमेण यथालाभम्. किञ्च **चिरदर्शनेन** बहुकालजातदर्शनेन **कातराश्च** जाताः, कदाचिदस्मान् त्यक्त्वा गमिष्यतीति ॥३३॥

एवं साधारणानामुक्त्वा पूर्ववद् वसुदेवस्य विशेषमाह **वसुदेवः परिष्वज्येति**.

वसुदेवः परिष्वज्य सम्प्रीतः प्रेमविह्वलः ।
स्मरन् कंसकृतान् क्लेशान् पुत्रन्यासं च गोकुले ॥३४॥

लेखः

नन्दस्तत्रेत्यस्याभासे एकविधानामिति सजातीयानामित्यर्थः. **द्वितीयानाम्** इति विजातीयानामित्यर्थः ॥३२॥

सम्यक् प्रीत: अन्तः **प्रेम्णा** च बहिर्विह्वलो **जात** इति तस्यैतावत्येवावस्था निरूपिता. विह्वलतायां हेतूनाह **स्मरन् कंसकृतान् क्लेशानिति**, पुत्रमारणादीन् **गोकुले** कृष्णबलभद्रयोः स्थापनं च ॥३४॥

ततो नन्दस्य साक्षाद्भगवद्दर्शनमाह.

कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च ।
न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह ॥३५॥

कृष्णरामौ परिष्वज्येति, उभौ प्रथमं **परिष्वज्य पितरावित्यभिवाद्य** आविर्भूत**प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ** भूत्वा **न किञ्चनोचतुः** तूष्णीं स्थितौ, नन्दे कायिक-मानसिक एव व्यापारा भगवता प्रदर्शितः नतु वाचनिक इति. **कुरूद्वहेति** विश्वासार्थं सम्बोधनम् ॥३५॥

ततो नन्दकृत्यमाह.

तावात्मासनमारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ।
यशोदा च महाभागा सुतौ विजहतुः शुचः ॥३६॥

तावात्मासनमिति. "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" (भ.गीता ४।११) इतिन्यायेन यशोदा-नन्दौ बालभावेनैव भगवद्भावनां कुरुत इति तयोर्बालत्वेनैवोपस्थितौ. अतः सूक्ष्मत्वात् स्वक्रोडे उपवेश्य **आत्मैवासनमिति** ततो **बाहुभ्यां परिरभ्य** चकारादाघ्राणादिकमपि कृत्वा **शुचः** शोकाश्रूणि **विजहतुः** शोकं वा त्यक्तवन्तौ ॥३६॥

एवं पुरुषाणामन्योन्यसम्बन्धमुक्त्वा स्त्रीणामाह **रोहिणीति**.

रोहिणी देवकी चाथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् ।
स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः ॥३७॥

अथ पूर्वाभ्यो भिन्नप्रक्रमेण चकारात् तत्सम्बन्धिन्योऽपि. नन्वसमा कथं परिष्वक्तेत्याशङ्क्याह **व्रजेश्वरीमिति**. व्रजस्य सर्वगोधनस्य प्रभ्वीम्, अतो देवतारूपत्वाद् [१]नासमेत्यर्थः. **ततस्तत्कृतां मैत्रीं स्मरन्त्यौ बाष्पकण्ठ्यौ** भूत्वा **समूचतुः**. अनयोः कायिकादित्रयव्यापार उक्तः ॥३७॥

तयोर्वाक्यं श्लोकद्वयेनाह **को विस्मरेतेति**.

---

१. असमा इति मुद्रित-क-गपाठः. गृहीतस्तु सं-घपाठानुसारेण - सम्पा.

को विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां व्रजेश्वरि ।
अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया ॥३८॥

एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः
सम्प्रीणनाभ्युदय-पोषण-लालनानि ।
प्राप्योषतुर्भवति पक्ष्म ह यद्वदक्ष्णो-
र्न्यस्तावकुत्र च भयौ न सतां पर-स्वः ॥३९॥

वां युवयोर्नन्दयशोदयोः. **अनिवृत्तां** निवृत्तिरहितां, प्रत्युपकाररहितामिति यावत्. **व्रजेश्वरी**ति माहात्म्यार्थं सम्बोधनम्. नन्दोऽपि निकट एव तिष्ठति ; क्षत्रियाणामेव दूरे व्यवहारः. कदाचित् प्रत्युपकारसमर्था अपि यादवाः प्रत्युपकारं न कृतवन्त इति यशोदाया हृदये कृतघ्नता भासेत तन्निवृत्त्यर्थमूचतुः **अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यमि**ति, ऐन्द्रमप्यैश्वर्यं प्राप्य **को वा विस्मरेते**ति. यशोदानन्दाभ्यां यावानर्थो दत्तः सः स्वर्गादौ नास्त्येव. स एव विस्मारको भवेत् यो महान् भवेत्. अथ प्रत्युपकारः कर्तव्य इति तस्मिन्नपि पक्षे ऐन्द्रेऽपि पदे दत्ते न प्रत्युपकार इति इन्द्रपदकीर्तनम्. **यस्याः** मैत्र्याः **इह** जगति **प्रतिक्रियै**व **ना**स्ति. अनेन सर्वयादवाः भवद्भ्यां मैत्र्या क्रीता इति निरुक्तं भवति ॥३८॥

तां मैत्रीं स्मारयति. **एतावदृष्टपितरा**विति, बाल्ये दर्शनम् अदर्शनमित्यदृष्ट-पितृत्वम्. **युवयो**रेव **पित्रोः** पितृभ्यां **सम्प्रीणना**दिकं **प्राप्य युवयो**रेव**ोषतुः**. **सम्यक् प्रीणन**मलौकिकदान-हिताचरणादिभिः **अभ्युदयः** शान्तिकादिभिः **पोषणं** नवनीतादिभिः **लालनं** स्तुति-चुम्बनादिभिः —एतच्चतुष्टयं **प्राप्य** यथा **अक्ष्णोः पक्ष्म** तथा त्वमिति. **भवती**ति सम्बोधनम्, हे **भवति,** त्वमनयोर**क्ष्णोः पक्ष्मे**व रक्षिकेति यशोदाया अधिका स्तुतिः. अतएव **युवयोर्न्यस्तावेतावकुत्रभयौ** अतएव पूतनादीनां भयं निवृत्तमिति भावः. नन्वेवं रक्षा स्वकीयस्यैव क्रियत इति कृष्णोऽस्माकमेव, अस्माभिश्च नेतव्य इति शङ्कायामूचतुः **न सतां पर-स्व** इति. **पर-स्व** इत्यसद्बुद्धिः **सतां** कदापि **न** भवति ॥३९॥

एवं द्वितीयानामुक्त्वा तृतीयानामाह.

गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥४०॥

गोप्यश्चेति, गोपीनां कृष्ण एव सम्भाष्यः, नतु देवक्याद्याः. तादृश्यः **कृष्णमुपलभ्य** सम्यग्दृष्ट्वा दृशि स्थितं भगवन्तं **दृग्भिरेव हृदिकृत्य** अन्तःकरणे समागतमात्मनैव देहादिव्यवधानरहितेनालमत्यर्थं **परिरभ्य सर्वा** एव **तद्भावं** कृष्णभावं प्राप्ताः. अन्तर्गते भगवति आलिङ्गनार्थं प्रवृत्ताः स्वजीवात्मानं तत्र संयोज्य भगवता सह ऐक्यं प्राप्ताः. लिङ्गशरीरमपि तिष्ठतीति जीवधर्मापेक्षया भगवद्धर्मा बलिष्ठा इति जीवभावं परित्यज्य भगवद्भावं प्राप्ता इत्यर्थः. **चिरादभीष्टमिति** सर्वभावेन प्राणानां[१] तत्समीपगमने हेतुरुक्तः. अभीष्टतायाः परमसीमामाह **यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्तीति** ''जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्'' (भाग.पुरा. १०।२८।१५) इति. अक्षिरक्षार्थं पक्ष्मकरणं भगवद्दर्शनदशा-यामक्ष्युपघातकशङ्काभावात् पक्ष्म व्यर्थं, प्रत्युत व्यवधानं करोतीति बाधकम्. अतो ब्रह्मा भगवद्दर्शनयुक्तानां पक्ष्म कुर्वन् दर्शनरसानभिज्ञो जड एवेति वदन्त्यः भगवत्प्रेक्षणे दृशिषु यः पक्ष्मकर्ता तं शपन्ति. एवं

लेखः

गोप्यश्चेत्यस्याभासे **एवमिति**. विजातीया द्विविधा ''पित्रोर्नौ प्रीतिमावह'' ''गोपीनां मद्वियोगाधिम्'' (भाग.पुरा. १०।४३।३-४) इति वाक्यद्वयेन निरूपिताः. ते सजातीयगणनया द्वितीय-तृतीया इत्यर्थः. व्याख्याने **न तु देवक्याद्या** इति, व्रजात् कृष्णस्य नयनादिति भावः. **लिङ्गेति**. **तिष्ठतीत्यस्य** अनन्तरं तथापीति शेषः. **तिष्ठतीति** हेतोः प्राप्तं **जीवभावं परित्यज्येत्यन्वयः**. लिङ्गस्याप्यन्तर्विद्यमानत्वाद् जीवभावो युक्तस्तथापि भगवद्भावं प्राप्तास्तत्र हेतुः **जीवेति**. **जीवधर्मो** लिङ्गशरीरं, **भगवद्धर्मा** आनन्दादयः ; तथाच तदपेक्षया ते **बलिष्ठा इति** हेतोः प्रधानव्यपदेशन्यायेन तथेत्यर्थः. **प्रमाणानामिति** इन्द्रियान्तःकरणानामित्यर्थः. तथाच तैरपि

१. प्रमाणानामिति लेखपाठः.

दर्शनरसाभिज्ञाः ततो **दृग्भिर्हृदीकृतं** भगवन्तं बहिःशङ्कया आलिङ्गनबाधाद् अन्तरेव **परिरभ्य** तद्रूपा जाताः. अयं भावस्तासां कामेन जातः, तत्राप्यनायासेन. साधनसहस्रस्यापि एतदशक्यमित्याह **नित्ययुजामपि दुरापमिति**, निरन्तरयोगरतानामप्यप्राप्यम्. असूयादिसर्वदोषपरिहारार्थं भगवान् उपायान्तरमलभमानः स्वभावं दत्तवान्, नतु तासां स्वभावे काचित्प्रतीतिरस्ति. अत एव श्रूयते "गोमति मतिमति किमिदं हरि हरि हरिणा कथं सङ्गः, जातं पीतं वसनं मेचकमङ्गं गतोऽङ्गनाभावम्" (. । ।) इति. अतः पूर्वविस्मारणार्थं भगवानेवं कृतवानिति तृतीयकक्षास्थानामत्युत्कर्ष उक्तः ॥४०॥

ततो भगवान् तद्भावदार्ढ्यार्थं किञ्चिदुपदेष्टुं तत उत्थाय एकान्ते गत्वा यथोचितं कृतवानित्याह.

भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसङ्गताः ।
आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥४१॥

भगवानिति स्वयमेवान्तर्वर्तत इति यदेव करिष्यति तदेव ता अङ्गीकरिष्यतीति **विविक्ते** एकान्ते **उपसङ्गताः** समीपमागताः गोपीः बहिः स्वयमेवा**श्लिष्य** बहिर्धर्मानपि स्वकीयांस्तासु बहिः स्थापयित्वा पश्चा**दनामयं पृष्ट्वा** स्ववचनं स्मृत्वा **प्रहसनन्निदं** वक्ष्यमाण**मब्रवीत्** ॥४१॥

स्वलीलां तासु स्थापयन्निवाह **अपि स्मरतेति**.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अपि स्मरत नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया ।
गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥४२॥

हे **सख्यः**, **अपीति** सम्भावनायां, **नोऽ**स्मान् किं **स्मरत**? अस्मरणं तु भवतीनामेव दोष इति परिहासोक्तिः. स्वस्यापराधं परिहरति **स्वानामार्थचिकीर्षया गतानिति**. किं कर्तव्यार्थं गतं मथुरायां, तत्र बन्धूनां हितकरणार्थं प्रवृत्तौ भूयान् कालो जातः. तेनैवानागमनं, चित्तं तु भवतीष्वेवेत्यर्थः.

लेखः

बाह्यानुसन्धानं नेत्युक्तम्. **कामेन जात** इति, "उदारहासद्विजकुन्ददीधितिः" (भाग.पुरा. १०।२७।४३) इत्यत्रोक्तेन भगवत्सम्पादितेन कामेन जात इत्यर्थः ॥४०॥

चिरकालावस्थितौ हेतुमाह **शत्रुपक्षक्षपणचेतस** इति, शत्रूणां पक्षाः सर्व एव नाशनीया इति, अन्यथा समूला न नश्यन्तीति ॥४२॥

स्त्रीभिः सह परिहासभाषया एतद् भगवतोक्तम्. यस्तु मर्मानभिज्ञः स एतदङ्गीकरोति न त्वभिज्ञ इति अभिज्ञा गोपिका भगवान् वञ्चयतीति भगवति अवध्यानबुद्धयो भवन्ति. अतस्तद्दोषपरिहारार्थं भगवानाह.

अप्यवध्यायथास्मान् स्विद् अकृतज्ञा विशङ्कया ।
नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च ॥४३॥

अप्यवध्यायथेति. "ध्यै चिन्तायामि"त्यस्य अवोपसर्गसहितस्य लोटि तादेशरहितस्य मध्यमपुरुषबहुवचनं[1] **अवध्यायथेति.** अवध्यानं विरुद्धध्यानम्. **अपीति** सम्भावनायाम्. **अस्मान्** बलभद्रोद्धवादिसाहित्येनावध्यानप्राप्तिं सूचयति **अपि स्विदिति. अकृतज्ञा** एते इति या विशिष्टशङ्का विरुद्धशङ्का वा. स्वाधीनत्वे दोषोऽयं भवेत्, न[2] पराधीनत्वे तु तदित्याह **नूनं भूतानि भगवानिति. युनक्ति** कदाचित् **वियुनक्ति** वियोजयति च. यस्मिन् पक्षे भगवति जारबुद्धिः तदैवं वचनं, प्राणिन एव जारा भवन्तीति ॥४३॥

कथं कालेन संयोग-वियोगौ क्रियेते इति चेत्, तत्राह **वायुर्यथा घनानीकमिति.**

वायुर्यथा घनानीकं तृणं तूलं रजांसि च ।
संयोज्याक्षिपते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत् ॥४४॥

यथा वायुः मेघसमूहं वियोजयति योजयति च, यथा **तृणसमूहं** वात्यारूपः, **तूलं** च कार्पासपिण्डं, **रजो** भूरेणुः. तृणादीनि राजस-सात्त्विक-तामसानि, निर्गुणा मेघाः. चतुर्विधा अपि वायुना स्वेच्छया नीयन्ते स्थाप्यन्ते वा. **तथा भूतानि** चतुर्विधान्यपि भूतानि. **भूतकृत्** कालः योजयति

लेखः

नूनं भूतानीत्यत्र प्राणिन एवेति. तथा चैतासां भगवति मानुषबुद्धिरिति स्वीकृत्येदं वचनमिति भावः ॥४३॥

---

१. मध्यमपुरुषवचनम् इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा. २. पराधीनं त्वेतदित्याह इति मुद्रित-क-गपाठः. पराधीनत्वे तु तद् इति खपाठः. गृहीतस्तु सं-घपाठमनुसारेण - सम्पा.

वियोजयति च. अतः कालाधीनत्वात् योगवियोगार्थं कोऽपि नोपालभ्यः ॥४४॥

परमार्थबुद्धियुक्ताश्चेत्, तत्राह **मयि भक्तिर्हि भूतानामिति.**

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥४५॥

भक्तिः शास्त्रीया आन्तरप्रेमसहिता सेवादिः, इन्द्रियाणामहमहमिकया[१] स्वाभाविकी वृत्तिर्वा. **अमृतत्वाय** मोक्षाय. **भूतानामिति** नात्रावान्तराधिकारभेदो वक्तव्यः, यथा मर्यादायां ब्राह्मण एव मुच्यत इति. न तथा भक्तिमार्गे. **कल्पत** इति असहायैव भक्तिर्मोक्षं दातुं समर्था, नतु ज्ञानमिव कर्म अपेक्षते अन्तःकरणशुद्धिं वा. अतो भक्तानां मोक्षः नात्यन्तं दुष्प्राप्यः. भवतीनां तु ततोऽपि विशेष इत्याह **दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेह** इति. स्नेहो लौकिकः, स तु कामकृतो भवति. "काममयः पुरुष" (बृह.उप. ४।४।५) इति सहजोऽपि कृत्रिमो, वैधः सहजो भगवद्विषयको न भवतीति, असंव्यवहार्यत्वाद् भगवतः. प्रकृते तु दैवगत्या मद्विषयो जातः. तस्य च फलं **मदापन** इति. मामेवापयति प्रापयतीति मद्भावं मत्सायुज्यं वा करोतीत्यर्थः. अमृतत्वं ब्रह्मभावः, पुरुषोत्तमभावो मद्भावः —तद्वैलक्षण्यं पूर्वमेवावोचाम ॥४५॥

कीदृशो भगवान् यादृशं स्नेहः प्रापयतीत्याकाङ्क्षायामाह **अहं हीति.**

अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः ।
भौतिकानां यथा खं वार्-भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः ॥४६॥

स्नेहस्य मत्प्रापणे आवरणनिराकरणमेव साध्यं नतु प्रयासान्तरमस्तीति वक्तुं भूतानां पूर्वापर-बाह्याभ्यन्तरभेदेन प्रदेशचतुष्टये स्वस्यावस्थानं निरूप्यते. (**हि**!) युक्तश्चायमर्थः, व्यापको हि परिच्छिन्नस्य एवमेव भवति. **आदिरन्त** इति उत्पत्तेः पूर्वं नाशानन्तरं च **अहमेवेति** कालपरिच्छेदे. उभयतः स्थितिमाह **अन्तरं बहिरिति** देशपरिच्छेदे. संघाताभिप्रायमेतद् अणुजीवाभिप्रायेऽपि. तत्र पञ्चमहाभूतानि दृष्टान्तीकरोति **भौतिकानामिति. खमाकाशं वार्जलं ;** तामस-राजसभावनिरूपणार्थम् आकाश-जलयोः क्रमो निरूपितः. तथैव

१. अहंपूर्विकया इत्यर्थः.

भू-वाय्वोः सृष्टि-प्रलयभेदेन क्रमद्वयं निरूपितं भवति. मध्ये सात्त्विकं तेजः. आद्यन्तयोस्तामसौ, तत्संलग्नौ राजसौ, मध्ये सात्त्विकमिति ; यथा सर्वतो व्याप्तं शरीरं तत्संलग्ना इन्द्रिय-प्राणाः मध्ये चैतन्यमिति ज्ञापनार्थम्. **अङ्गना** इति सम्बोधनम् उत्तमाङ्गत्वेन विश्वासार्थम् ॥४६॥

एवं परितो वेष्टनमात्रतया स्वस्य जीवानां जगतो वा भेदो निरूपितः. तन्निराकुर्वन् केवलात्मप्रतिपत्तिमाह **एवमिति.**

एवं ह्येतानि भूतानि भूतात्मात्मतया ततः ।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे ॥४७॥

अनेन प्रमेयं भगवानिति समर्थितं भविष्यति. पूर्वश्लोके भूतानि परितो निरूपितानि. भौतिकानां कालपरिच्छेदे देशपरिच्छेदे च मध्यभावस्तु न निरूपितः. मध्यभावस्तु किमात्मक इत्याकाङ्क्षायामाह मध्येऽपि **भूतान्येव** भौतिकेषु वर्तन्ते. नदीनिमग्नघट इव स्थिता भविष्यन्तीति पिण्डकारणत्वेन च स्थिता भविष्यन्तीति न जलात्मता घटस्य भविष्यतीति विशेषमाह **आत्मात्मतयेति. आत्मनां** 'भूत'शब्दवाच्यानां घट-पटादीना**मात्मतया** स्वरूपत्वेन महाभूतानि भौतिकेषु भवन्तीत्यर्थः. अनेन पञ्चमहाभूतात्मकत्वं जगतो निरूपितम्. ततः परमुभयविधस्य कार्यकारणभावापन्नस्य भूतजातस्य भगवान् आद्यन्तयोरन्तर्बहिः तद्रूपश्चेति निरूपयति **तत उभयं मयीति** बोधनार्थम्. **तत** इति क्रमः आनन्तर्यार्थो निरूपितः. एतन् **मयीति** वचनं ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिभूतभौतिकपक्षे पुरुषपरं[1], ब्रह्माण्डपक्षे तु कालपरम्. **अथ** तदनन्तरं कालसहितस्य सर्वस्यापि कार्यजातस्य पूर्ववन् **मयि परे** अहं तेषामाद्यन्तान्तरवर्तीत्यादि. एतावद्दूरे स्वरूपं निरूप्य तस्यानुभवं कारयति **पश्यतेति.** किं द्रष्टव्यमित्याकाङ्क्षायां क्रमनिरूपणं परित्यज्य फलमाह **अक्षरे आभातमिति.** अनेन ब्रह्मात्मभावोऽपि निरूपितो भवति. जीवानामप्यतिरिक्तभावस्य निराकृतत्वात् स्नेहस्य मदापनजनने अधिकार इव निरूपितः ॥४७॥

तेन को वाधिकारः सम्पन्न इत्याकाङ्क्षायामाह **अध्यात्मशिक्षयेति.**

---

१. पुरुषवचनम् इति सं-क-ख-ग-घपाठः - सम्पा.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः ।
तदनुस्मरणध्वस्त - जीवकोशास्तमध्यगन् ॥४८॥

अध्यात्मशिक्षा आत्मनो ब्रह्मत्वज्ञानबोधाय युक्तिपूर्वकनिरूपणं, तेन **गोप्य एवं** भगवता **शिक्षिताः** ब्रह्मभावापन्ना अपि बोधकस्य भगवतः **अनुस्मरणेन** बोधितार्थानुस्मरणेन वा **ध्वस्तजीवकोशाः** सत्यः व्यवधायकं स्वकीयमुपाधिरूपं लिङ्गशरीरं परित्यज्य **तमेवाध्यगन्** भगवद्रूपा एव जाताः, यथा भगवान्. तेनान्तःपूर्णो भगवानेव जातः. कोशस्थानीयो भगवानाधिदैविकः सहजसर्वशक्तिर्वा. देहस्त्ववशिष्यते व्याप्तभगवदंशः ॥४८॥

तस्य प्रतिबन्धकत्वाभावाय भगवन्तं विज्ञापयामासुः आहुश्चेति.

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहं जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः ॥४९॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥

भक्तानामेवं स्थितिः उत्तमा एवम्भावश्च. ब्रह्मात्मभावोऽस्माकं जात एव. इन्द्रियवर्गश्चातीतः. अतः आधिदैविके मनसि तवावतीर्णस्य पुरुषोत्तमस्य पादयुगलं मनसि सर्वदा स्फुरतु. तावता इयमवस्था स्थिरा भविष्यति. एतदभावे ब्रह्मभावापन्नस्यापि सर्वे दोषाः सम्भविष्यन्तीत्याशयेनाहुः हे **नलिननाभेति**. पद्मनाभत्वादयं ब्रह्मादीनामुत्पादकः तदनुवृत्त्यैव जीवानां स्थितिर्वा ब्रह्मभावेन स्तब्धतायां कृतघ्नता भवतीति तदभावार्थं प्रार्थित इत्यर्थः. उपायेनाविर्भावं सम्पादयन्त्विति चेत्, तत्राहुः **योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमिति**. **अगाधबोधैर्ज्ञा**नपूर्णैर्बहिर्योगरूप-साधनयुक्तैरपि **हृदि विचिन्त्यमेव**. नन्वेतादृश-स्याविर्भावे किं प्रयोजनमिति चेत्, तत्राह **संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बमिति**. **संसारकूपे** निर्गमोपायरहिते यः पतति = दूरादुच्चैः स्थितः पातककर्मणा नीचत्वं प्राप्नोति, तस्य वैकुण्ठपदारोहणे **अवलम्बनं** भवति. कर्म-ज्ञानादिकं ऊर्ध्वगमनं तन्निरालम्बने न साधकमिति सर्वथालम्बनं मृग्यते. स्वस्य बाधान्तरसम्भावनामाहुः **गेहं जुषामपीति**. देहो वर्तत इति देहभागिनः

गृहे योजयिष्यन्ति. ततो गृहासक्त्या पूर्ववदेव प्राकृतत्वं भविष्यति. अयमेव च कूपे पातः. **अपीति** कदाचित् त्वत्कृपया देहसम्बन्धो न (/ नः ?) भवेत् तदा न काचित् चिन्ता इत्यपि सूचितम्. **मनसि स्वयमेवोदियात् नो**ऽस्माकं सर्वासाम्. एवं निष्कामतया गोप्यो मुख्या भक्ता जाताः. कामनिवारणार्थं च ज्ञानोपदेश इति निरूपितम् ॥४९॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे त्रयस्त्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

लेखः

आहुश्चेत्यत्र **कर्मेति.** इदमे**वोर्ध्वगमनमिष्ट**देशसंयोगानुकूलो व्यापारः **तदूर्ध्वगमनं निरालम्बे** मार्गे **साधकमिष्ट**देशप्रापकं नेत्यर्थः ॥४९॥ इति त्रयस्त्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

॥ इति एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥

॥ षष्ठः स्कन्धादितो अशीतितमोऽध्यायः ॥

चतुस्त्रिंशे साधनानां मुख्यं साधनमीर्यते ।
कीर्तनं सरसत्वाय स्त्रीभिः स्त्रीणां निरूप्यते ॥(१)॥
सर्वसाधनसम्पत्तिः कृष्णानुग्रहपूर्विका ।
तदभावे नैव सिद्ध्येदित्यनुग्रहवर्णनम् ॥(२)॥
अनुग्रहस्य स्थिरता सद्बुद्ध्यैव हरौ भवेत् ।
माहात्म्यज्ञानतः पुष्टा स्तुत्या कार्यक्षमा भवेत् ॥(३)॥
सर्वशक्तियुतः कृष्णः श्रोतव्य इति सिद्ध्यति ।
शक्तीनामप्यभीष्टश्च सज्ज्ञानस्तुतिभावितः ॥(४)॥

पूर्वाध्याये गोपीनामुपदेश उक्तः प्रार्थना च. अनुग्रहस्त्ववशिष्यते. तदत्र तासामनुग्रहं कुर्वन् प्रसङ्गादन्येषामप्यनुग्रहं कृतवानित्याह **तथानुगृह्येति**.

॥ **श्रीशुक उवाच** ॥

तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः ।
युधिष्ठिरमथापृच्छत् सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् ॥१॥

तथा तैर्यथा प्रार्थितं तथैव तद्धृदये स्वचरणारविन्दं स्थापयित्वा **युधिष्ठिरमथापृच्छदिति** सम्बन्धः. भगवतस्तथानुग्रहे हेतुमाह **गोपीनां स** एव **गुरुः गतिः** फलं च. फलसाधनरूपत्वात् तासामन्य उपायो नास्तीति स्वचरणारविन्दं स्थापितवानित्यर्थः. गोपिका उत्तमाधिकारिण्यः परं पुष्टिस्थाः ; तदनु मर्यादायां युधिष्ठिरः श्रेष्ठः अतस्तदनन्तरं युधिष्ठिरोऽनुगृहीतः. ततः **सर्वांश्च सुहृदः अव्ययमपृच्छत्**. अव्ययशब्देन कुशलं ज्ञानमप्युच्यते. तेन पूर्वं मनसा तेभ्योऽपि ज्ञानमुपदिष्टमिति लक्ष्यते. तस्य पुनः प्रश्नः

लेखः

चतुस्त्रिंशे कारिकासु **माहात्म्येति**. भगवानेवंप्रकारेण विवाहं कृतवान् इति **माहात्म्यज्ञानात् पुष्टा** बुद्धिः **स्तुत्या** कृत्वा **कार्ये** अनुग्रहस्थैर्यसम्पादने **क्षमा** समर्था **भवेदित्यर्थः**. सर्वत्रानुग्रहं निरूप्य तत्स्थैर्यहेतुभूतायाः सद्बुद्धेः पोषार्थं माहात्म्यमुच्यते इति निर्गलितोऽर्थः (३).

तथानुगृह्येत्यत्र तेभ्योपीति. वचसा गोपीभ्यो ज्ञानमुपदिष्टं, मनसा तेभ्योऽप्युपदिष्टमित्यपिशब्दः ॥१॥

स्थिरीकरणार्थः. अनेनोत्तमादयः सर्वे एवानुगृहीता इत्युक्तम् ॥१॥

ततस्ते स्वाधिकारं प्रकटयन्तः प्रत्युत्तरमुक्तवन्त इत्याह **त एवमिति.**

त एवं लोकनाथेन परिपृष्टाः सुसत्कृताः ।
प्रत्यूचु र्हृष्टमनस स्तत्पादेक्षा हतांहसः ॥२॥

प्रश्नेनापि महान् सन्तोषो जात इति ज्ञापयति **लोकनाथेन परिपृष्टा** इति. महतः प्रश्नमात्रमपि सन्तोषजनकम्. प्रकृते त्वधिकमप्यस्तीत्याह **सुसत्कृता** इति, आसनादिकृतः सत्कारः. अनेन कायिकपूजा निरूपिता. ततः **प्रत्यूचुः** पूजितवाणीं निरूपितवन्तः. कायवाङ्मनसां गुणमुक्त्वा दोषाभावमाह **तत्पादेक्षाहतांहस** इति, भगवच्चरणारविन्ददर्शनेन हतपापाः ॥२॥

यद् भगवता पृष्टं कुशलमस्तीति तत्रोत्तरमाहुः **कुतोऽशिवमिति.**

॥ सुहृदः ऊचुः ॥

कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं
महन्मनस्तो मुखनिःसृतं क्वचित् ।
पिबन्ति ये कर्णपुटैरलं प्रभो
देहंभृतां देहकृदस्मृतिच्छिदम् ॥३॥

अशिवसम्भावनायां कुशलप्रश्नः संगच्छते, अन्यथा निःसन्दिग्धे प्रश्नो व्यर्थः स्यात्. यद्यपि संसारित्वेनाकुशलं सम्भवति तथापि सर्वाकुशलनिवर्तकसाधनस्य निरन्तरमनुष्ठानात् कथमशिवमित्यभिप्रायेणाहुः **कुतः अशिवमिति.** तत् किं साधनमित्याकाङ्क्षायामाह **त्वच्चरणाम्बुजासवं महन्मनस्तो मुखनिःसृतमिति.** परमानन्दस्य **तव चरणो** भक्तिमार्गप्रवर्तकः. **अम्बुजम्** इति सुखसेव्यः तत्रत्यो मकरन्दरसः, रसात्मको भगवान् सर्वत्रैव वर्तत इति. ब्रह्मानन्द एव मार्गान्तरेण समानीतः देहाद्यभिमानवतामपि

लेखः

कुतोऽशिवमित्यत्र. चरणस्य रसवत्त्वमुपपादयन्ति **रसात्मक** इति. यतो भगवान्, रस आत्मनि स्वरूपे यस्य, तादृशः अतस्तस्य सर्वत्रैव रसो, न त्वधरादिनियम इत्यर्थः. **मार्गान्तरेणेति,** भक्तिमार्गेण **समानीतो ब्रह्मणो** भगवच्चरण**स्यानन्दो** भक्तानां सेवोपयोगिदेहाभिमानस्य विद्यमानत्वात् तद्विस्मारकत्वेन **आसव**शब्दवाच्यो भवति. ज्ञानिनां तु देहाभिमानाभावात्

देहादिविस्मारकत्वेन **आसव**शब्दवाच्यो भवति. स स्वभावत एव परमानन्दरूपो दोषान्तरनिवर्तकश्च. तत्रापि यदि ततोऽप्युत्कृष्टरसेन सम्मिलितो भवेत् तदा किं वक्तव्यं रसान्तरेण पुष्टः सन् परमानन्दं प्रयच्छतीति वक्तुमाह **महन्मनस्त** इति. अत्र भक्तिमार्गस्यायं सिद्धान्तः — ब्रह्मानन्दः स्वेच्छया वस्त्रमिव सङ्कुचितात्मा शतगुणित इव घनीभूतः परिणतदधिवदन्यूनः आनन्दघनो भवति. तदात्मको भगवच्चरणः. स यदा भक्तिमार्गेण गृहीतो भवति तदा भगवद्भक्तानां कायवाङ्मनोभिर्दृढं गृहीतः रसात्मकत्वाद् भक्तानामानन्दरूपं स्रवति. स 'भक्तिरस' इत्युच्यते. सोऽपि शब्दब्रह्मणि भागवतादावुद्धृतः घटोद्धृतजलमिव महतां श्रवण-स्मरण-कीर्तनादिभिः इन्द्रियाघातैः तच्छिद्रद्वारा स्वरसो हृद्ध्रदे विनिविशति. स तु भक्तिरसापेक्षयापि पुनर्भक्तेन्द्रियैः पावितत्वात् निर्गलितः ततोऽप्यधिकरसः. एवं सति यदा यदा वारं वारं भगवद्गुणान् कीर्तयति चरणारविन्दमकरन्दरूपान् भक्तिमार्गानुसारेण गूढार्थरूपान् तदा **महन्मनस्तः** महन्मनसि स्थित्वा **मुखनिःसृतं** भवति. **क्वचिदिति** अत्यन्तभक्तसङ्गे रसाविर्भावे च कदाचिदेव वदतीति. तद् **ये अलं कर्णपुटैरुत्तभितकर्णैः अलमत्यर्थं पिबन्ति.** ननु दुर्लभोऽयं रसः, कथं बहुपानसमर्थो भवेत्? तत्राह **प्रभो** इति, स हि सर्वसमर्थः. तादृशा

लेखः

न तत्र **आसव**शब्दवाच्यतेत्यर्थः. **स** इति, स ब्रह्मानन्दः स्वभावत एवैतादृशो, न त्वधरादिरस इवाधिष्ठानतस्तादृशः ; तत्राप्युत्कृष्टेन भक्तिरसेन मिलितश्चेत् किं वक्तव्य इत्यर्थः. **दोषान्तरेति**, देहादिविस्मरणातिरिक्ता ये दोषाः प्राकृताः कामादयस्तन्निवर्तक इत्यर्थः. **रसान्तरेणेति**, भक्तिविशेषेण कीर्तनेन **पुष्टो** भक्तिरस इत्यर्थः. **शतेति**, यथा महदपि वस्त्रं सम्पुटीकरणेन शतगुणितं क्रियते तथायमित्यर्थः. **परिणतेति** निष्पीडितेत्यर्थः. आनन्दस्य घनीभूतत्वाद् दृष्टान्ते निष्पीडितत्वमुक्तम्. **स यदेति**, यथा निष्पीडितं दधि जलेन मिलितं द्रुतं भूत्वा वस्त्रेण दृढं गृहीतं सत् रसं स्रवति तथा ब्रह्मानन्दरूपश्चरणो भक्तिमिलितो दृढं कायादिभिर्गृहीतः सन् परमानन्दं स्रवतीत्यर्थः. **हृद्ध्रद** इति, भक्तानां हृदयरूपे ह्रद इत्यर्थः. **नन्विति**, अयं रसो दुर्लभः अतः पुरुषो बहुपानसमर्थः कथं भवेदित्यर्थः. **तादृशा** इति, यथा मधुयुक्ताः

भक्ताः कोटिशो भवन्ति. यथा सरघाभिः महता क्लेशेन पुष्परसोऽणुप्रमाणेन क्वचित् स्थाप्यते, प्रभूणां तु मधुपूरिताः कलशाः कोटिशो भवन्ति. अतो भगवदाश्रये भूयानेव तादृशो रसः पीयत इति अशुभसम्भावनापि का! अशुभं धर्मादेव निवर्तते, ततो ज्ञानं ततः सवासनाऽविद्यानिवृत्तिः, ततः केवलात्मा भगवन्निष्ठो भवति. तदा आनन्दघनो भगवान् प्रकटो भवति. तत्र भक्त्या भक्तिरसः सर्वदोषनिवर्तकः नित्यं संसारविस्मरणहेतुः प्रादुर्भवति. सोऽपि पूर्वोक्तप्रणालिकया नित्यं पेपीयमानानाम् अशुभसम्भावनापि बाधिता. किञ्च देहाभिमाने विद्यमानेऽपि प्रयत्नमात्रेण गृहीते **देहकर्त्री** या **अस्मृतिः** तामपि **छिनत्तीति** मूले गते देहकृतसम्भावनापि निरस्ता ॥३॥

एवं प्रश्नोत्तरमुक्त्वा भगवति स्वचिकीर्षितं विज्ञापयन्ते हित्वेति.

हित्वात्मधाम विधुतात्मकृतत्र्यवस्थम् ।
आनन्दसम्प्लवमखण्डमकुण्ठबोधम् ॥
कालोपसृष्टनिगमावनआत्तयोग-
मायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्म ॥४॥

आत्मधाम स्वगृहादिकं **हित्वा** देहं वा **परमहंसगतिं** त्वां **नताः स्म** इति सम्बन्धः. यथा कश्चित् पूर्वभावं परित्यज्य उत्तरभावग्रहणार्थं तद्दातारं नमस्यति. **हि-त्वा** इति पदद्वयं वा ; **आत्मनो**ऽपि **धाम** तेजोरूपं **त्वाम्**. तस्मिन् पक्षे दोषाभावः पूर्वोक्त एवानुसन्धेयः. नन्ववस्थात्रये विद्यमाने किं भगवन्नमनेनेत्यत आह **आत्मकृताः** अन्तःकरणकृताः **तिस्रोऽवस्थाः विधुताः** दूरीकृता येन. यत्राहंकारमेव दूरीकरोति तत्र तत्कृतानि स्थानानि

लेखः

कलशाः कोटिशः प्रभूणां तथा तादृशरसयुक्ता भक्ताः कोटिशो भगवत इत्यर्थः. **अत** इति, भगवन्निकटे तादृशरसयुक्तानां बहूनां विद्यमानत्वादित्यर्थः. **अशुभमिति**, तथा चाशुभनिवृत्तिः पूर्वकक्षैवेति भावः. **पेपीयमानानामिति** यङन्तस्यात्मनेपदित्वात् कर्तरि शानच्. **देहकर्त्रीति**, भगवद्विस्मरणेन देहसम्बन्धो भवतीति "स्वव्यापारे हि कर्तृत्वम्" इतिन्यायेन करणस्यापि कर्तृत्वम् ॥३॥

हित्वेत्यत्र यत्रेति. आत्मतेजस्त्वकथनेनाहंकारदूरीकर्तृत्वमुक्तम्. **कः**

दूरीकर्तुं कः प्रयासः ? न केवलमवस्थानिवर्तकत्वमात्रं, तथा सति बीजभावेऽपि तदवस्थाभाव इति भगवतः को विशेषः स्यात्? तत्राह **आनन्दसम्प्लवमिति,** आनन्दस्य सम्प्लवः = महापूरो[1] यस्य. सोऽपि चेत् परिच्छिन्नः स दोषस्तदवस्थ इति चेत्, तत्राह **अखण्डमिति.** तथापि लोके अज्ञातः परमानन्दो न पुरुषार्थ इति, सुषुप्तौ तथोपलम्भाद्, अपुरुषार्थो भवेदित्याशङ्क्याह **अकुण्ठबोधमिति.** न कुण्ठितोऽकुण्ठो बोधो यस्येति अनुभूयमानानन्दरूप एवेत्यर्थः. नन्वेतादृशः श्रुत्यैकमात्रसमधिगम्यः स्वानुभवप्रकटः ब्रह्मानन्द एव भवति, नतु परिदृश्यमानो भगवानिति चेत्, तत्राह **कालोपसृष्टनिगमावने आत्तयोगमायाकृतिमिति. कालेन** वेदानां नाशे तत्प्रतिपाद्यधर्माणां तत्सम्बन्धिनां सर्वेषामपि **अवने** रक्षार्थं **आत्ता योगमायया आकृतिर्येन**; स एव धर्मरक्षार्थमेव आविर्भूतो न त्वन्य इत्यर्थः. तर्हि कथं न सर्वैस्तथा ज्ञायत इति चेत्, तत्राह **परमहंसगतिमिति.** ये संसारादात्मनः पृथग्भावं जानन्ति, कर्तुं च शक्नुवन्ति, ते हंसाः. ततोऽपि ये जीवानां गतिं भगवद्गतिं च विवेचितुं जानन्ति ते **परमहंसाः.** तेषामेव **गतिर्गम्य** इत्यर्थः. अतः स्वभजनानुकूलतया कियन्तो धर्मा ज्ञाता इति तथाभूताः भगवद्भावार्थं त्वां नता इत्यर्थः ॥४॥

एवं पुरुषाणां सर्वभावप्रपत्तिमुक्त्वा स्त्रीणामपि साक्षाद्भगवत्प्रपत्त्यर्थं पुरुषद्वारा जातायामपि तादृशी [2]प्रतिपत्तिर्भगवत्स्त्रीषु दृश्यत इति तस्या मूलकारणं प्रष्टुं सर्वाः स्त्रियो मिलिताः. ततस्ताभ्यः श्रुत्वा स्वयं च तथाजाता इति सर्वाः स्त्रियः पुरुषवदेवेति यदुपाख्यानं [3]वृत्तं तदुपक्षिपति **इत्युत्तमश्लोकेति.**

लेखः

प्रयास इति अपेक्षित इति शेषः. तथा च प्रयासकर्मिकापेक्षण-क्रियार्थकत्वं स्थानदूरीकरणस्य अतः तुमुन्. **बीजभावेऽपीति,** बीजरूपो भावो भक्तिवर्धिन्यामुक्तस्तस्मिन्नपीत्यर्थः ॥४॥

---

१. समापूर इति सं-क-ग-घपाठः - सम्पा.

२. प्रपत्ति इति खपाठः - सम्पा.

३. यदुपाख्यानवृत्तम् इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्युत्तमश्लोकशिखामणिं जने-
ष्वभिष्टुवत्स्वन्धक-कौरवस्त्रियः ।
समेत्य गोविन्दकथा मिथोऽगृणं-
स्त्रिलोकगीताः शृणु वर्णयामि ते ॥५॥

उत्तमैः श्लोक्यत इति उत्तमानां तदेव प्रयोजनमिति ततोऽप्युत्तमत्वमेव कर्तव्यमिति **उत्तमश्लोकशिखामणिं** भगवन्तमेव स्तुवन्ति सर्वे **जनाः**. स्त्रीणां पुनस्तदभिज्ञत्वाभावात् तज्ज्ञानार्थम् **अन्धकानां** यादवानां **कौरवाणां** च **स्त्रियः समेत्य मिथः गोविन्दकथाः अगृणन्**. तास्ते वर्णयिष्यामीति प्रतिजानीते. ननु तावता किं स्यादित्याशङ्क्याह **त्रिलोकगीता** इति. ताः कथाः लोकत्रयेऽपि गीताः अतः सावधानतया **शृण्विति** सात्त्विकसाधनमिति नियोगः ॥५॥

तत्र प्रथमं द्रौपद्याः प्रश्नमाह हे **वैदर्भीति**.

॥ द्रौपद्युवाच ॥

हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जाम्बवति कौसले ।
हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे ॥६॥
हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूत वो भगवानयम् ।
उपयेमे यथा लोकमनुकुर्वन् स्वमायया ॥७॥

अष्टस्त्रीणां प्रत्येकमन्यासां समुदायेन च सम्बोधनं सर्वभावेन भगवद्गुणज्ञानार्थम्. मूला प्रकृतिः लक्ष्मीः, ततोऽष्टप्रकृतयो रुक्मिण्याद्याः, ततः षोडशविकाराणां सहस्रशः कार्यप्रकृतयः. सर्वासु भगवतो या लीलाः यथा वा तासां परिग्रहः तदनुसन्धानेन कृतार्थता भविष्यतीति तथा प्रश्नः. **अच्युत** इति सर्वास्वपि रममाणो[१] न च्युतो भवतीति जीववैलक्षण्यं निरूपितम्.

लेखः

हे वैदर्भीत्यत्र रुक्मिण्याद्या इति. रुक्मिणी आद्या यासामित्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः. तथा च रुक्मिणीभिन्नाः रोहिणीमादायाष्टौ भिन्नास्ता अपि मूलप्रकृतय इत्यर्थः ॥६॥

१. रमणे इति सं-क-ख-ग-घपाठः - सम्पा.

हे **भद्रे** हे **जाम्बवति** हे **कौसले** हे **सत्यभामे** हे **कालिन्दीति**. हे **शैब्ये** मित्रविन्दे. षोडशसहस्रस्त्रीषु मुख्या **रोहिणी**, सैवाष्टमहिषीष्वपि कल्पान्तरे. अतएव क्रमदीपिकासु[१] सैव गृहीता ॥६॥

हे **कृष्णपत्न्य** इति साधारणीनां सम्बोधनम्. एतदनुपदमेव प्रष्टव्यं नोऽस्मभ्यं ब्रूत. तत् किमित्याकाङ्क्षायामाह **भगवानयं यथा उपयेम** इति. आन्तरं भावमुत्पाद्य विवाहं कृतवानिति चेत्, तत्राह **यथा लोकमनुकुर्वन्निति**. लोकानुकरणं बाह्यप्रकारेण. ननु सर्वान्तरो भगवान् कथं बाह्यप्रकारं करिष्यतीति चेत्, तत्राह **स्वमाययेति**. असाधारणमायया बहिरपि स्वभावं प्रकटयतीत्यर्थः ॥७॥

तत्र प्रथमं वैदर्भी स्वविवाहप्रकारमाह **चैद्याय मार्पयितुमिति**.

॥ **रुक्मिण्युवाच** ॥

चैद्याय मार्पयितुमुद्यतकार्मुकेषु ।
राजस्वजेयभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः ॥
निन्ये मृगेन्द्र इव भागमजावियूथात् ।
तच्छ्रीनिकेतचरणोऽस्तु ममार्चनाय ॥८॥

राजा मत्पिता भ्राता वा यावद् दास्यति ततः पूर्वमेव नेष्यतीति तन्निराकरणार्थम् **उद्यतकार्मुका** राजानो जाताः. ततश्चैद्याय मामर्पयिष्यति राजद्वारा एवं स्थिते **अजेयभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः** भगवान् **निन्ये**. न जेयो भटोऽपि येषां ते **अजेयभटाः**. **भटः** पदातिः कीर्तिवक्ता दूतरूपो वैतालिको वा. तेषां **शेखरितः** मुकुटेष्वधिरूढः **अङ्घ्रिरेणुर्यस्य**. तादृशं भगवन्तं जेष्यन्तीति दूरापास्तम्. अत एव मां निन्ये. निःशङ्कार्थमाह **मृगेन्द्र** इवेति. एवमावश्यकनयने हेतुः **भागमिति**. अन्येषामप्रयोजकत्वमाह **अजावियूथादिति**, अजानामवीनां च समूहात्. येऽपि सात्त्विका येऽपि राजसाः ते उभयेऽप्यप्रयोजकाः. एवं पुरुषोत्तमत्वं प्रकटितमिति मम सर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं **तच्चरणो ममार्चनायास्तु**. प्रत्यक्षमेव तत्र सर्वपुरुषार्थसत्त्वमित्याह **श्रीनिकेतेति**. स्वभागत्वात् शरीरं स्वयमेव भोक्ष्यति, तत्र प्रसङ्गादागतो जीवः भगवद्भक्तिमेव वाञ्छतीति निरूपितम् ॥८॥

---

१. उपलब्धासु १७३टीकासु एतन्नामानुपलम्भः. अविज्ञातकर्तृकेति भाति - सम्पा.

यद्यपि द्रौपदी परिगणनां व्यत्यासेन कृतवती तथापि क्रमेणैव ताः स्त्रियः स्ववृत्तान्तं निरूपयन्ति. अतस्तदनन्तरभाविनी सत्यभामा स्ववृत्तान्तमाह **यो मे सनाभीति.**

॥ सत्यभामोवाच ॥

यो मे सनाभिवधतप्तहृदा ततेन ।
लिप्ताभिशापमपमार्ष्टुमुपाजहार ॥
जित्वर्क्षराजमथ रत्नमदात् स तेन ।
भीतः पितादिशत मां प्रभवेऽपि दत्ताम् ॥९॥

सनाभिः सोदरो भ्राता, तस्य **वधो** यद्यप्यन्यत्र जातः तथापि तद्वधेन **तप्तहृदयः** मत्पिता तेन अविचार्यैव भगवति **लिप्तोऽभिशापः तमपमार्ष्टुम् ऋक्षराजं जित्वा अथ** भिन्नप्रकारेण स्वयं प्रतिगृह्य पारिबर्हतया दत्तं **रत्नं** तस्मै मत्पित्रे **उपाजहार.** ततो **भीतो मत्पिता तेन** रत्नेन सह **मामादिशद्** दत्तवान्. यद्यपि तस्य भार्याः सिद्धाः तथापि **प्रभुरिति** अन्यस्मै **दत्तामपि** वाग्दत्ताम्. "दत्तामपि हरेत् कन्यां श्रेयांश्चेद् वर आव्रजेद्" (याज्ञ.स्मृ. १।१६५) इति क्षत्रियविषयमेतत्. "नैतत् पूर्वर्षयश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे, यदन्यस्याप्यनुज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते" (मनुस्मृ. ९।९९) इति मनुवाक्यं ब्राह्मणविषयं, 'ऋषि'पदप्रयोगात्. किञ्च विवाहे बन्धूनामैकमत्यं मृग्यते, तदैवाधिकारः. ततोऽधिकारसम्पादनार्थमेव मां दत्तवान्. अतः प्रायश्चित्तार्थं दत्ताहं दोषनिर्घातार्थं जातेति स्वार्थं नावशिष्टेति न किञ्चित् कामये इत्यर्थः. अत एव भगवतः सा प्रिया. पित्रर्थमेव च व्यापृता. अत एव तस्याः

लेखः

चैद्यायेत्यत्र. चरणस्य श्रीनिकेतत्वं व्युत्पादयन्ति **तत्रेति.** लक्ष्म्या देहो भोगार्थं वक्षसि तिष्ठति. तत्र वक्षसि देहप्रसङ्गादागतो जीवो भक्त्यर्थं चरणे स्थितिं वाञ्छति. तथा च देहस्य वक्षसि स्थितावपि अन्तःकरणं चरण एव तिष्ठतीति चरणस्य श्रीनिकेतत्वमित्यर्थः ॥८॥

यो म इत्यत्र **प्रायश्चित्तार्थमिति.** विवाहस्य भोगार्थकत्वाभावात् न कापि कामनोक्तेत्यर्थः. **अत एवेति,** निष्कामत्वादेवान्याभ्यः सकाशादतिप्रिया. प्रारम्भे पितुर्दोषनिवृत्त्यर्थकत्वादन्ते **पित्रर्थमेव व्यापृता** "सत्यभामा च पितरं

स्वर्गो नास्तीति पारिजातापहरणं स्वर्गे च नयनम् ॥९॥

जाम्बवत्याह[1] **प्राज्ञायेति.**

॥ जाम्बवत्युवाच ॥

प्राज्ञाय देहकृदमुं निजनाथदैवं
सीतापतिं त्रिणवहान्यमुनाभ्ययुध्यत् ।
ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं मां
पादौ प्रगृह्य मणिनाहममुष्य दासी ॥१०॥

अज्ञाय = अज्ञात्वा, प्रकर्षेण अज्ञात्वा = **प्राज्ञाय** कश्चिन्मनुष्य इति भगवन्तं ज्ञात्वा. मम **देहकृत्** कन्यापिता. महता पापेनैव कन्यापितृत्वं भवतीति अत एव दुःखायैवेति शास्त्रम्. अतो भगवन्तं न ज्ञातवान्. **अमुमित्यग्रे** प्रदर्श्याह. वस्तुतस्त्वयं **निजः** आत्मा **नाथः** स्वामी **दैवं** पूज्यश्च. ननु तादृशो राम इति चेत्, तत्राह **सीतापतिमिति.** पूर्वं सीतायै महद्दुःखं दत्वा ततस्तां बहुधा अवतार्य तदर्थं स्वयमप्यागत इत्यर्थः. अज्ञानं तावदेव यावद् भगवतः सान्निध्यं न भवति. तत्र त्रिगुणानां भेदाः सप्तविंशतितत्त्वानीति तत्तद्व्यवधानाद् भगवदज्ञानमिति तन्निराकरणार्थम् **(त्रिणवहानि!) अमुनाभ्ययुध्यत्.** ततो व्यवधानेषु गतेषु **परीक्षिते** परीक्षायां जातायां भगवानेवायमिति ज्ञात्वा **अर्हणं** पूजायोग्यं **मां पादौ प्रगृह्य मणिना** सह **उपाहरत्.** एवं विवाहमुक्त्वा कामनामाह **अहममुष्य दासी.** यो हि स्वतन्त्रो भवेत् स कामयेत, अहं तु दासी. दास्यव्यतिरेकेणान्यद् अस्याः कामिकं[2] न भवति ॥१०॥

लेखः

हतं वीक्ष्य'' (भाग.पुरा. १०।५४।७) इत्यादि बहुव्यापारं कृतवतीत्यर्थः. **व्यापृतेति** कर्तरि क्तः. **अत एवेति.** अवतारसमाप्तौ सकामानां क्रममोक्षस्तेन स्वर्गादिलोकभोगो भवति. निष्कामानां तु सद्योमुक्तिरिति न स्वर्ग इत्यर्थः ॥९॥

प्राज्ञायेत्यत्र अज्ञायेति नञ्पूर्वकत्वेऽपि छान्दसो ल्यप्. **त्रिणवेति** त्रिरावृत्ता नव छान्दसः कृत्वसुजभावः, ततो हानीत्यनेन छान्दसं पररूपम् ॥१०॥

---

१. जाम्बवतीत्या(/त्वा!)ह इति मुद्रित-सं-क-ख-घपाठः. गपाठे एवम् -सम्पा. २. कामितम् इति खपाठः -सम्पा.

ततः प्राप्ता कालिन्दी स्ववृत्तान्तमाह **तपश्चरन्तीमिति**.

॥ कालिन्द्युवाच ॥

तपश्चरन्तीमाज्ञाय स्वपादस्पर्शनाशया ।
सख्योपेत्याग्रहीत् पाणिं याहं तद्गृहमार्जनी ॥११॥

अर्जुनादिप्रेषणं व्याजार्थं, वस्तुतस्तु स्वयमेवा**ज्ञाय सख्या** सह **उपेत्य पाणिमग्रहीत्**. एवं विवाहमुक्त्वा कामनामाह **याहं तद्गृहमार्जनीति**. मम तु कामना नास्ति ; स्वभावत एवाहं कालिन्दी. **तद्गृहस्य** मथुरायाः **मार्जनी** शोधिका. **तद्गृहं** वा सूर्यमण्डलं, ततः शोधयित्वा वा निर्गता. अथवा गृहदासीत्वं स्वस्याः कामितमेव जातमिति निरूपयति ॥११॥

ततोऽनन्तरा मित्रविन्दा स्ववृत्तान्तमाह **यो मामिति**.

॥ मित्रविन्दोवाच ॥

यो मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपान् ।
निन्ये श्वयूथगमिवात्मबलिं द्विपारिः ॥
भ्रातॄंश्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियौकः ।
तस्यास्तु मेऽनुभवमङ्घ्र्यवनेजनत्वम् ॥१२॥

स्वयंवरे उपेत्येति. पूर्वं स्वत एवासक्तापि भ्रात्रा निवार्य स्वयंवरे योजिता. ततः **स्वयंवरे** **स्वयमुपेत्य** सर्वानेव **विजित्य** पैतृष्वस्रेय्येवाहमिति स्वभागत्वाद्, अन्यभागमन्यो गृह्णन् श्वा भवतीति, **श्वयूथगमिव द्विपारिः** सिंहः, धर्म-भूरक्षकानपि राज्ञो जयतीति. एवं **मे भ्रातॄनपकुरुतः विजित्य**. यद्यपि विन्दानुविन्दौ द्वावेव प्रतिकूलौ तथापि तत्पक्षपातिनोऽन्येऽपि गोत्रजा इति **भ्रातॄनिति** बहुवचनम्. चकारादन्येऽपि प्रतिकूलाः सूचिताः. ततः **स्वपुरं निन्ये** द्वारकां मां नीतवान्. अनेन मध्ये विघ्नो निवारितः. **श्रियौक** इति पुरस्य सर्वसमृद्धिरुक्ता. ततः कामितमाह **तस्य अङ्घ्र्यवनेजनत्वम् अनुभवं** जन्मनि जन्मनि भवतु. **अङ्घ्र्यवनेजनी** पादप्रक्षालनकर्त्री — एतत् कामितम् ॥१२॥

नाग्नजिती त्वाह **सप्तोक्षण** इति.

॥ नाग्नजित्युवाच ॥

सप्तोक्षणोऽतिबल-वीर्य-सुतीक्ष्णशृङ्गान् ।
पित्रा कृतान् क्षितिपवीर्यपरीक्षणाय ॥
तान् वीरदुर्मदहनस्तरसा निगृह्य
क्रीडन् बबन्ध ह यथा शिशवोऽजतोकान् ॥१३॥
य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरङ्गिणीम् ।
पथि निर्जित्य राजन्यान् निन्ये तद्दास्यमस्तु मे ॥१४॥

अतिबलं वीर्यं पराक्रमः **सुतीक्ष्णे शृङ्गे** च येषां तान् **सप्त**व्यसनात्मकान्, अतएव **क्षितिपवीर्यपरीक्षणार्थं पित्रा कृतान्.** यो हि व्यसनग्रस्तो भवति स कुतो भोक्ता भविष्यतीति स्वकन्याया भोगः सिध्यत्विति पित्रा ते कृताः. व्यसनानि च त्रिगुणात्मकानि अतो बलीवर्दास्तथा निरूपिताः— वीर्यं सात्त्विकं बलं तामसं शृङ्गे राजसे. किञ्च व्यसनानि धर्मादिभिर्निराकर्तुमशक्यानीति ज्ञापयितुं तेषां विशेषणं **वीरदुर्मदहन** इति. वीराः शूरा राजानः, वीर्यं धर्मस्थानीयमुक्तम्. तथापि दुरभिमानजनकत्वात् न व्यसननाशने समर्थमित्यभिप्रायेणाह **दुर्मदे**ति. वीराणां दुष्टं मदं घ्नन्तीति **दुर्मदहनः**. अत**स्तरसा** शीघ्रमेव **निगृह्य,** यतो व्यसनानामेव व्यसनं भवति. ततः **क्रीडन्निव** लौकिकव्यापारेणैव तन्निग्रहं कृत्वा. हेत्याश्चर्ये, वैदिकैरपि दुर्निवार्यं कथं लौकिकेन निवारितवानिति. लौकिकेऽपि प्रयासाभावायाह **यथा शिशवोऽजतोका**निति. स्थूलाः अजबालकान् बिभ्रतीति बालका

लेखः

सप्तोक्षण इत्यत्र **अतिबलमिति**. इदमर्थकथनं, विग्रहस्तु अतिबलसहितं वीर्यं येषां ते **अतिबलवीर्याः**, तादृशाश्च ते **सुतीक्ष्णशृङ्गाश्चेति. तथानिरूपिता** इति, बल-वीर्य-तीक्ष्णशृङ्गयुक्ता निरूपिता इत्यर्थः. **स्थूला** इति. महान्तः पुरुषास्त्वजबालकान् बिभ्रति उत्थाप्यन्यत्र नयन्ति, नतु तेषां बन्धनप्रयासापेक्षा. बालका एवोत्थापनसामर्थ्याभावाद् यथाकथञ्चिद् धृत्वा बन्धनं कुर्वन्ति. तथा भगवानपि तावत एव प्रतिज्ञातत्वाद् बन्धनमात्रमेव कृतवानित्यर्थः ॥१३॥

एवं बन्धनार्थं बिभ्रतीति. तथाप्येकेन न भवतीति बहुवचनम्. व्यसनशान्त्यर्थं सप्ततन्तुं यज्ञं बालकाः कुर्वन्तीति ध्वनितम् ॥१३॥

ततः स्वाभिलषिते सिद्धे पित्रैव दत्तां **मां वीर्यमेव शुल्कं** यस्याः. **दासीभिः** सहितां **राजन्यान्** तेषां **चतुरङ्गिणीं** सेनां च **पथि** जित्वा **मां स्वगृहं निन्ये.** कामनामाह **तद्दास्यमस्त्विति** ॥१४॥

ततो भद्रा निरूपयति.

॥ भद्रोवाच ॥

पिता मे मातुलेयाय कृष्णे कृष्णाय दत्तवान् ।
तच्चित्तां भ्रातृभिर्दत्तामक्षौहिण्या सखीजनैः ॥१५॥
अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेद् जन्मनि जन्मनि ।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया येन तच्छ्रेय आत्मनः ॥१६॥

पिता म इति, मम **मातुलेयो** भगवान्. श्रुतकीर्तिकन्येयम्. हे **कृष्णे** द्रौपदि, कृष्णार्थं वा. विशेषतो दानहेतुः **तच्चित्तामिति. भ्रातृभिर्दत्तामिति** वाग्दानार्थं भ्रातर एव द्वारकां गता इति ज्ञेयम्. इदं तु दानं सङ्कल्पपूर्वकम्. **अक्षौहिणी सख्यश्च** दाने सहभावमापन्नाः ॥१५॥

कामनामाह **अस्य मे पादसंस्पर्श** इति. **जन्मनि जन्मनि भवेदिति** यदा यदा भगवानवतीर्णो भविष्यति तदा तदा लक्ष्मीवदहमप्यागमिष्यामीति. ननु स्वयमेव तच्छक्तित्वाद् भविष्यति, किमिति प्रार्थ्यत इति चेत्, तत्राह **कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया** इति. जीवभावात् कर्मसम्बन्धः, अन्यथा अन्यसम्बन्धिनी कथं भवेयम्? किमतो यद्येवं? तत्राह **येन** पादस्पर्शेन **तत्** प्रसिद्धं ब्रह्मानन्दात्मकं **श्रेयो** भवति **आत्मनः** स्वस्यात्मगामि वा. सप्तैता भक्तिभेदाः —

अर्चनात्मा रुक्मिणी स्याच्छ्रवणं तदनन्तरा ।
सर्वपापक्षयः पूर्वं यस्मादत्र निरूप्यते ॥(५)॥
एकान्ते च प्रदत्तेति तृतीया स्मृतिरुच्यते ।

लेखः

अस्य म इत्यत्र **जीवभावादिति.** मानुषभावस्वीकारात् कर्मसम्बन्धोऽपि स्वीकृत इत्यर्थः. **अन्यसम्बन्धिनीति,** पित्रादिसम्बन्धि-सम्बन्धिनीत्यर्थः. जनने

चतुर्थ्येव चतुर्थी स्याद् द्वितीया पञ्चमी मता ॥(६)॥
सर्वान् बलवतो दुष्टान् विनिवार्यैव कीर्तयेत् ।
षष्ठी तु सप्तमी प्रोक्ता सप्तमी तद्विपर्ययम् ॥(७)॥
नमने पादसंस्पर्शः प्रतिवारं भवेदिति ।
सख्यरूपा त्वष्टमीयं महती विनिरूप्यते ॥(८)॥१६॥

लक्ष्मणा स्ववृत्तान्तं द्रौपद्यभिमाननाशायाह **ममापीति**. सा हि स्वविवाहमुत्कृष्टं मन्यते. राधावेधो हि दुर्लक्ष्यो भवति. ततोऽप्यधिकश्चेद् भगवत्कृतोऽपि भवेत्, ततो भर्तृसख्यं विहाय भगवत्सखी भवेदिति.

॥ लक्ष्मणोवाच ॥

ममापि राज्ञ्यच्युतजन्मकर्म
श्रुत्वा मुहुर्नारदगीतमास ह ।
चित्तं मुकुन्दे किल पद्महस्तया
वृतः सुसंमृश्य विहाय लोकपान् ॥१७॥

सा प्रथमं स्वमनःप्रीतिमाह. स एव सख्यं प्राप्नोति यस्य जन्मप्रभृति जन्मान्तरेषु वा भगवत्येव चित्तं भवति. हे **राज्ञीति** सावधानतया श्रवणार्थं सम्बोधनम्. **अच्युतत्वं** भजनीयत्वे मुख्यो हेतुः. **जन्म** भक्तोद्धारार्थमेव, **कर्म** तु भक्तकार्यार्थमेवेति **श्रुत्वा**. कुल-शीले वा. **मुहुर्नारदगीतमिति** निर्धारार्थं प्रमाणावृत्तिरुक्ता. **मुकुन्दे चित्तमासेति** तदेकप्रवणं जातम्, अच्युतत्वादैहिकसुखदातृत्वं मुकुन्दत्वान्मोक्षदातृत्वमिति. तथापि योगिगम्यः कथं स्त्रीमात्रस्य वरणीयो भवेत्? तत्राह **पद्महस्तया किल वृत** इति. पद्मं हस्ते यस्या इति दीपमिव गृहीत्वा सर्वं दृष्ट्वा विचार्य ग्रहणं निरूपितम्. ननु तावता किं, त्वयान्यो ग्राह्य इति चेत्, तत्राह **विहाय लोकपानिति**. अन्ये लोकपालाः अप्रयोजकाः सुदुष्टा इति ज्ञापितम् ॥१७॥

ज्ञात्वा मम मतं साध्वि पिता दुहितृवत्सलः ।
बृहत्सेन इति ख्यातस्तथोपायमचीकरत् ॥१८॥

लेखः

सत्येव पित्राद्यपेक्षेति भावः. **द्वितीया पञ्चमीति**, **पञ्चमी** मित्रविन्दा **द्वितीया** कीर्तनरूपेत्यर्थः ॥१६॥

यत्परं मनस्तस्मै देयमिति स्वयं दाने लज्जा भवतीति साधारणस्वयंवरे च यः कश्चिद् ग्रहीष्यतीति पणबन्धो महान् कर्तव्य इति **मम पिता मन्मतं ज्ञात्वा दुहितृवत्सलः** यथा [१]भवति **तथोपायं** कृतवानित्यर्थः ॥१८॥

तमुपायमाह **यथा स्वयंवर** इति.

यथा स्वयंवरे राज्ञि मत्स्यः पार्थेप्सया कृतः ।
अयं तु बहिराच्छन्नो दृश्यते स जले परम् ॥१९॥

पार्थेप्सया अर्जुन एव गृह्णात्विति. ततोऽपि मदीयो विशिष्ट इत्याह **अयं तु बहिराच्छन्न** इति. **स तु बहिर्दृश्यते परं जले** जले तस्य प्रतिच्छाया उपलभ्यत इत्यर्थः. मदीयस्य तु जलेऽप्युपलम्भो नास्ति, सर्वथा बहिराच्छन्न एव, अतः पार्थस्याप्यगम्यं भविष्यतीति पितुरभिप्रायः ॥१९॥

ततः सर्वे बलोन्नद्धाः समागता इत्याह **श्रुत्वैतदिति.**

श्रुत्वैतत् सर्वतो भूपा आययुर्मत्पितुः पुरम् ।
सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञाः सोपाध्यायाः सहस्रशः ॥२०॥

आगमने तेषां बलमाह **सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञा** इति. अस्त्रशस्त्रयोः वैदिकलौकिकयोः क्षेपाक्षेपरहितयोर्वा तत्त्वं स्वरूपम्, अत्र स्थित्वा प्रक्षेपे एवं लक्ष्यं भवतीति अस्मिन् वा शस्त्रे योजिते लक्ष्यवेध इति. अकस्माद् विस्मरणे सभाकम्पे वा **सोपाध्यायाः सहस्रश** इति एकस्य भङ्गे अपरो ग्रहीष्यतीति स्वतस्तेभ्य आदानेऽपि प्रतिष्ठा न भवतीति ॥२०॥

पित्रा सम्पूजिताः सर्वे यथावीर्यं यथावयः ।
आददुः सशरं चापं वेद्धुं पर्षदि मद्धियः ॥२१॥

समागताः **सर्व** एव **पित्रा सम्पूजिताः**, परं तारतम्यानुसारेण. तत्र तरतमभावे नियामकं **वीर्यं वयश्च** मिलितम्, अन्यथा तदुपाध्यायानामेव पूजनं स्यात्. तत्रैव भगवन्मन्त्राभिमन्त्रितं धनुः शरं च तत्रैवं स्थापितं ते समाददुः. आदाने हेतुः **वेद्धुं पर्षदि** सभायाम्. यतो **मद्धिय** इति, मत्कामाः ॥२१॥

आदाय व्यसृजन् केचित् सज्जीकर्तुमनीश्वराः ।
आकोष्ठं ज्यां समुत्कृष्य पेतुरेकेऽमुना हताः ॥२२॥

---

१. भगवानेव सिद्धो इति मध्ये सं-क-ख-ग-घपाठेषु अधिकः - सम्पा.

ततस्तेषां भङ्गप्रकारमाह **आदाय व्यसृजन्निति.** तत्र हेतुः **सज्जीकर्तुमनीश्वरा** इति. **केचित्** पुनः वेधमात्रमेव पणीकृतमिति सज्जीकरणमप्रयोजकमिति अन्यैर्बहुभिर्वा सज्जीकृतमेव धनुः **आदाय कोष्ठपर्यन्तं ज्यामाकृष्य अमुना** धनुषा **हताः** सन्तः पतिताः. कर्णान्तं ज्याकर्षणं कर्तव्यं, कोष्ठप्रदेशे तु ज्या तिष्ठत्येव. तस्यैवान्ते समीपे कथञ्चिदानीतवन्तः. तावतैव बलक्षयो जात इति तथैव पतिताः. तदनन्तरं स्वोपरि पतितेन धनुषा हता इत्यर्थः ॥२२॥

एवमप्रसिद्धानां स्वरूपमुक्त्वा प्रसिद्धानामाह **सज्ज्यं कृत्वेति.**

सज्ज्यं कृत्वाऽपरे वीरा मागधाम्बष्ठ-चेदिपाः ।
भीमो दुर्योधनः कर्णो नाविदुस्तदवस्थितिम् ॥२३॥

अपरे पूर्वोक्तेभ्यः अन्ये. **मागधो** जरासन्धः, **अम्बष्ठो** भगदत्तः हस्तिपत्वाद्, **चेदिपः** शिशुपालः. तथैव **भीमो दुर्योधनः कर्णश्च**. तथापि **तस्य** मत्स्यस्य **अवस्थितिं न विदुः** क्व तिष्ठतीति ॥२३॥

मत्स्याभासं जले वीक्ष्य ज्ञात्वा च तदवस्थितिम् ।
पार्थो यत्तोसृजद् बाणं नाच्छिनत् पस्पृशे परम् ॥२४॥

ततोऽर्जुनः आच्छादनसहितस्य जले प्रतिबिम्बं दृष्ट्वा, जलाभासं तत्र ज्ञात्वा, अमुकस्थाने तिष्ठतीति निश्चित्य **यत्तः** सन् **पार्थः बाणमसृजत्.** तावतापि लक्ष्यं **नाच्छिनत् परं पस्पृशे** स्पर्शमेव सम्पादितवानिति. नरनारायणयोरेतावदन्तरं — शक्तिद्वयम्[१] एकस्य पूर्णम् अपरस्यैका[२] कथञ्चिदिति ॥२४॥

राजन्येषु निवृत्तेषु भग्नमानेषु मानिषु ।
भगवान् धनुरादाय सज्जं कृत्वाथ लीलया ॥२५॥
तस्मिन् सन्धाय विशिखं मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले ।
छित्त्वेषुणापातयत् तं सूर्ये चाभिजिति स्थिते ॥२६॥
दिवि दुन्दुभयो नेदुर्जयशब्दयुता भुवि ।
देवाश्च कुसुमासारान् मुमुचुर्हर्षविह्वलाः ॥२७॥

---

१. ज्ञानं क्रिया च. २. ज्ञानम्.

एवं साधारण-प्रसिद्धातिप्रसिद्धनिराकरणे जाते सर्व एव निवृत्ता इत्याह **राजन्येषु निवृत्तेष्विति**. ततः कृष्णः किं करिष्यतीति शङ्कां वारयितुं **भगवानित्याह**. **लीलया च सज्जं कृतवान्**. अनेनादित आरभ्य स्वयमेव सर्वं कृतवान्, न त्वन्यशेषः स्थापित इति ज्ञापितम्. **लीलया** मत्सन्तोषार्थम्. **तस्मिन् सन्धाय विशिखमिति** लौकिकन्यायेनैव मारितवानिति ज्ञापितम्. ततोऽर्जुनसन्तोषार्थं **सकृन्मत्स्यं जले वीक्ष्य इषुणा छित्त्वा जलेऽपातयत्**. तस्मिन्नेव समये **अभिजिल्लग्नं**, तेनैव सर्वे दोषाः परिहृता इति लौकिक एव प्रकार उक्तः. ततो भगवता सर्वजीवाशक्यं कृतमिति इदमेकं चरित्रं लोके समुत्पन्नमिति सन्तोषाद् **दिवि दुन्दुभयो नेदुः जयशब्दाश्च**. भूमावपि नरदुन्दुभयो जयशब्दाश्च. ततो देवानां भगवान् स्वोत्कर्षं प्रकटीकृतवान्. अतः परं दैत्यवधं करिष्यतीति सन्तोषाद् **देवाश्च**कारादन्येऽपि सिद्धादयः **कुसुमासारान् मुमुचुः हर्षेण विह्वलाश्च** जाताः ॥२५-२६-२७॥

ततः पणः सिद्ध इति मया वृत इत्याह **तद्रङ्गमाविशमहमिति** द्वाभ्याम्. आत्मानं वर्णयत्येकेन, द्वितीयेन स्वक्रियाम्.

तद्रङ्गमाविशमहं कलनूपुराभ्यां
पद्भ्यां प्रगृह्य कनकोज्ज्वलरत्नमालाम् ।
नूत्ने निवीय परिधाय च कौशिकाग्र्ये
सव्रीडहासवदना कबरीधृतस्रक् ॥॥२८॥

विषयाः पञ्चविधाः शब्दादयः ; पञ्चापि मयि सन्तीति पञ्चविशेषणानि. तादृशी **अहं तद्रङ्ग**स्थानं प्रविष्टा यत्र विवाहोत्सवः. **कलनूपुराभ्यामिति** सशब्दान्याभरणानि निरूपितानि ; एतादृशपद्भ्यामुपलक्षिता. **कनकोज्ज्वलरत्नमालाम्** इति रूपसम्पत्तिर्निरूपिता. सा माला भगवतः कण्ठे देयेति स्वतुल्यतां निरूपयन्ती स्वस्यैव रूपातिशयं निरूपयति. ततः **कौशिकाग्र्ये** पट्टवस्त्रद्वयम् एकं **निवीयो**परि धृत्वा अपरं **परिधाय च**कारात् कञ्चुकवदपि

लेखः

तद्रङ्गमित्यत्र. ननु **कनकोज्ज्वले**त्यनेन मालाया रूपं वर्णितं नतु स्वस्येत्यत आहुः **सा मालेति**. मालायाः कनकवर्णतया स्वतुल्यत्वेन तद्रूपनिरूपणेन स्वस्यैव रूपं निरूपितमित्यर्थः ॥२८॥

कृत्वा — अनेन स्पर्शोत्कर्षो निरूपितः. **सव्रीडहासवदनेति** रसः — व्रीडा आन्तरभावसूचिका हासो बहिर्मोहजनकरूपः. **कबर्यां धृताः स्रजो ययेति** गन्धः ॥२८॥

उन्नीय वक्त्रमुरुकुन्तलकुण्डलत्विग्-
गण्डस्थलं शिशिरहास-कटाक्षमोक्षैः ।
राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुरारे-
रंसेऽनुरक्तहृदया निदधे स्वमालाम् ॥२९॥

एवं सर्वगुणपूर्णा **मुरारेरंसे स्वमालां निदधे.** अग्रे रसशङ्काव्यावृत्त्यर्थं राज्ञां निरीक्षणं कृतवती **वक्त्रमुन्नीय.** वक्त्रस्योन्नयने हेतुः **उरुकुन्तलकुण्डल-त्विड्-गण्डस्थलमिति. उरुकुन्तलानि**[1] यस्मिन् मुखे, तेन कुन्तलानां प्रतिबन्धव्यावृत्त्यर्थमुन्नयनम्. **कुण्डलत्विड्युक्तगण्डस्थलमिति** समदर्शने विद्युताहते इव नेत्रे कुण्डलकान्त्याघाताद् विषयदर्शने न समर्थे. अनेन प्रदर्शनार्थं मुखवर्णनापि कृता. किञ्च यथा तेषां प्रतिघातकत्वं न भवति तथा दृष्टवती, तदर्थमाह **शिशिरहासकटाक्षमोक्षैरिति. शिशिरः** सर्वतापहारी यो **हासः** उत्पन्न एव सर्वाह्लादकरः तत्सहिता ये **कटाक्षमोक्षाः**. एकेन वशीकरणमपरेण हननमिति आदौ दर्शनं न दोषाय. सर्वानेव **राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकै**र्दृष्टिं प्रसारयन्ती तत्र भगवन्तं दृष्ट्वा तस्य **मुरारेरंसे अनुरक्तहृदया** सती मनोमालां दत्वा **स्वमालां** स्वप्रतिकृतिरूपां रत्नमालां च **अंसे निदधे** ॥२९॥

तन्मम वरणं सर्वसम्मतं जातमिति ज्ञापयितुं तदानीमुत्सववाद्यान्याह **तावन्मृदङ्गपटहा** इति.

लेखः

उन्नीयेत्यत्र अग्र इति. अन्यानदृष्ट्वा वरणे अन्यस्य स्वगुणशीलदर्शनशङ्कया मार्गे रसशङ्का स्यादतः सर्वान्निरीक्ष्य तेषां हीनत्वं बोधयन्ती भगवन्तं वृतवतीत्यर्थः ॥२९॥

---

१. उरुकुन्तला इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

तावन्मृदङ्गपटहाः शङ्खभेर्यानकादयः ।
निनेदुर्नटनर्तक्यो ननृतुर्गायका जगुः ॥३०॥

पञ्चैतानि मङ्गलवाद्यानि नित्यानि. गीत-वाद्य-नृत्यानि वक्तव्यानीति वाद्यान्युक्त्वा नृत्यमाह **नटनर्तक्यो** ननृतुरिति. गानं चाह **गायकाश्च जगुरिति** ॥३०॥

ततो यज्जातं तदाह **एवं वृते भगवतीति.**

एवं वृते भगवति मयेशे नृपयूथपाः ।
न सेहिरे याज्ञसेनि स्पर्धिनो हृच्छयार्दिताः ॥३१॥

भगवत्त्वात् सर्वसम्पत्तिः **ईशत्वादावश्यकः.** अन्ये **नृपयूथपा** इति नृपाणां यूथपत्वं = शूकरत्वं निरूपितम्, एकचरो हि सिंहः यूथचरास्त इति, तेषां वध्यत्वं निरूपितम्. ततो **न सेहिरे.** अनेन तेषामन्तःकरणदोषो निरूपितः. **याज्ञसेनीति** विश्वासार्थं सम्बोधनम्. यज्ञरूपा सेना यस्य स यज्ञसेनः, तस्य कन्या याज्ञसेनी, यज्ञादेवोत्पन्नेति. यतः **स्पर्धिनः** भगवता सह स्पर्धायुक्ताः. मदर्थं **हृच्छयेन** कामेन**ार्दिताः.** एवमन्यकृतो दोषः स्वभावकृतश्च निरुक्तः ॥३१॥

ततो भगवता यत्कृतं तदाह **मां तावद्रथमारोप्येति.**

मां तावद्रथमारोप्य हयरत्नचतुष्टयम् ।
शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्धस्तस्थावाजौ चतुर्भुजः ॥३२॥

तावता कथं निस्तार इति शङ्कां वारयितुमाह **हयरत्नचतुष्टयमिति.**

स्यमन्तकः कौस्तुभश्च स्पर्शश्चिन्तामणिस्तथा ।
चत्वारो मणयः प्रोक्तास्तत्तुल्याः कृष्णवाजिनः ॥(९)॥

ततः **शार्ङ्गमुद्यम्य** कवचेन **सन्नद्धः आजौ** सङ्ग्रामे **चतुर्भुजः** सन् **तस्थौ.**

साधनस्य च रक्षायाः क्रियायाः सर्वरूपतः ।
कालस्यापि स्वचेष्टायाः परिग्रह इहोदितः ॥(१०)॥३२॥

लेखः

मां तावदित्यत्र साधनस्य चेति. असिश्चर्म बाणा धनुश्चेति क्रमः ॥३२॥ **चतुस्त्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥**

बिभीषिकार्थमेतत् परिगृहीतवान् नतु तेषां मारणार्थं, तथा सति भूम्यर्थं मारणं न स्यात्. अत एव दारुकेण भगवत्प्रेरितेन रथो द्वारकायामेव नीत इत्याह **दारुकश्चोदयामासेति**.

दारुकश्चोदयामास काञ्चनोपस्करं रथम् ।
मिषतां भूभुजां राज्ञि मृगाणां मृगराडिव ॥३३॥

काञ्चनोपस्करत्वेन लघुता शीघ्रगमने बन्धनाभावश्च सूचितः. **मिषतां भूभुजामिति,** तेषामपि क्रियाशक्तिः भगवतैव चतुर्भुजत्वेन स्वीकृतेति ज्ञानशक्तिरेवावशिष्टेति. **राज्ञीति** परिज्ञानार्थम्. किञ्च ते रूपाद्याश्चर्येणैव व्यामोहिता इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **मृगाणां मिषतामेव** सतां यथा **मृगराड्** हरतीति ॥३३॥

ये तु दूरे स्थिताः दर्शनानन्दं न प्राप्तवन्तः ते केचित् समागता इत्याह **तेऽन्वसज्जन्तेति**.

तेऽन्वसज्जन्त राजन्या निषेद्धुं पथि केचन ।
संयत्ता उद्धृतेष्वासा ग्रामसिंहा यथा हरिम् ॥३४॥

केचन मूर्खाः दूरे स्थिताः **अन्वसज्जन्त** भगवन्तमन्वसज्जन्त. पथि नयन**निषेधं** कर्तुं **पथि** भ्रान्ताः **संयत्ताः** सावधानाः **उद्धृतेष्वासाः** धनूंषि विस्फूर्ज्य. अनेन भगवत्तुल्यता सामग्र्या निरूपिता. तथापि शब्दमात्रता तेषु, अर्थस्तु भगवत्येवेति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **ग्रामसिंहा** इति. 'सिंह'वाच्यतुल्यत्वेऽपि यथा ग्रामसिंह-सिंहयोरन्तरम् ॥३४॥

ततो यज्जातं तदाह.

ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैः कृत्तबाह्वङ्घ्रिकन्धराः ।
निपेतुः प्रधने केचिदेके सन्त्यज्य दुद्रुवुः ॥३५॥

ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैरिति. एकोऽपि शार्ङ्गे योजितः तस्माच्च्युतश्चेद् बाणौघतामापद्यते. अत एकेनैव बाणेन **कृत्तबाह्वङ्घ्रिकन्धराः** षोढा छिन्ना भवन्ति. ततः **प्रधने निपेतुः एके** तु **सन्त्यज्य दुद्रुवुरिति** प्राण-मानयोश्छेदो निरूपितः ॥३५॥

ततः सभार्यस्य द्वारकाप्रवेशमाह **ततः पुरीमिति**.

ततः पुरीं यदुपतिरत्यलङ्कृतां
रविच्छद-ध्वजपट-चित्रतोरणाम् ।
कुशस्थलीं दिवि भुवि चाभिसंस्तुतां
समाविशत् तरणिरिव स्वकेतनम् ॥३६॥

अयं विवाहः सर्वसम्मत इति ज्ञापयितुं ततः यदुपुर्यामुत्सवो निरूप्यते. आदौ सर्वैव **पुरी अत्यलङ्कृता. रविच्छद-ध्वजपट-चित्रतोरणा** रविमपि छादयन्तीति ध्वजपटाश्चित्रतोरणानि च. उपरि मध्ये च शोभा निरूपिता, अलंकरणं त्वधः लेपादिना. **कुशस्थलीमिति** स्थानस्य सर्वाभेद्यत्वं निरूपितम्. दैत्यसम्बन्धेन निन्दितत्वमाशङ्क्याह **दिवि भुवि चाभिसंस्तुतामिति.** गुप्ततया प्रवेशं वारयति **तरणिरिवेति** ॥३६॥

एवं स्वस्यान्तर्निर्वाहमुक्त्वा तत्र गत्वा पिता सर्वमेव विवाहयोग्यं कृतवानित्याह **पिता मे पूजयामासेति.**

पिता मे पूजयामास सुहृत्सम्बन्धि-बान्धवान् ।
महार्हवासोऽलङ्कारैः शय्यासनपरिच्छदैः ॥३७॥

सुहृदादयो भगवदीयाः. **महार्हा** अमूल्याः **वास**प्रभृतयः. **शय्या आसनानि परिच्छदाश्च** गृहोपकरणानि ॥३७॥

ततः पारिबर्हदानमाह **दासीभिरिति.**

दासीभिः सर्वसम्पद्भिः भटेभ-रथ-वाजिभिः ।
आयुधानि महार्हाणि ददौ पूर्णस्य भक्तितः ॥३८॥

सर्वा सम्पदो यासु वस्त्राभरणरूपाद्याः, भगवदर्थमेव वा अन्याः सम्पदः. तथा **भटेभरथवाजिनश्च** सेनाङ्गानि अमूल्यान्**यायुधानि** च दत्तवान्. तत्र प्रयोजनमाह **भक्तित** इति. हेत्वन्तरं वारयति **पूर्णस्येति** ॥३८॥

कामनामाह **आत्मारामस्येति.**

आत्मारामस्य तस्येमा वयं च गृहदासिकाः ।
सर्वसङ्गनिवृत्त्याद्धा तपसा च बभूविम ॥३९॥

सर्वाभिर्दास्यमुक्तं, नोपपत्तिरिति स्वयमुपपत्तिं चाह. आनीताः परं सर्वाः रमयति च, स्वयं त्वान्मन्येव रमते. अस्मिन्नर्थे प्रमाणं प्रसिद्धिस्तस्येति. **इमा** रुक्मिण्याद्याः **वयमिति** मुख्यतया निरूपिताः चकारादन्याश्च सर्वा

एव **गृहदासिकाः**, भगवदर्थे नोपयुज्यन्त इति. इदमप्यत्यन्तदुर्लभमित्याह **सर्वसङ्गनिवृत्त्येति**. पूर्वजन्मनि सर्वसङ्गनिवृत्तिं कृत्वा **तपश्च** कृत्वा इमामवस्थां प्राप्ता इत्यर्थः ॥३९॥

महिष्यः एकभावापन्नाः रोहिणीप्रमुखाः स्ववृत्तान्तमाहुः.

॥ महिष्य ऊचुः ॥

भौमं निहत्य सगणं युधि तेन रुद्धा
ज्ञात्वाथ नः क्षितिजये जितराजकन्याः ।
निर्मुच्य संसृतिविमोक्षमनुस्मरन्तीः
पादाम्बुजं परिणिनाय य आप्तकामः ॥४०॥

भौमं निहत्येति, **सगणं** सेवकसहितं तद्रक्षकदेवसहितं वा. **युधीति** न चौर्यादिना तद्वधः. ततः **तेन रुद्धा नः** अस्मान् **ज्ञात्वा निर्मुच्य पादाम्बुजं स्मरन्तीः परिणिनायेति** सम्बन्धः. **अथ** भिन्नप्रक्रमेण **निर्मुच्येति** संसाराद् देहात् चिन्तातश्च मोचनं निरूपितम्. तासां निरोधे [१]हेतुमाह **क्षितिजये** ये **जिता राजानस्तेषां कन्या** इति. भगवतो देहेन निर्मोचनं किमाश्चर्यं यस्य **पादाम्बुजं संसृतिविमोक्षं** संसृतेरपि मोक्षो यस्मादिति तादृशं[२] चेद् वयं स्मरामः तदास्माकं का चिन्तेति साधनं निरूपितम्. अत एव **परिणिनाय**. स्वार्थतां वारयन्ति **य आप्तकाम** इति ॥४०॥

स्वस्य कामनामाहुस्त्रिभिः **न वयमिति**.

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भोज्यमप्युत ।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥४१॥
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः ।
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः ॥४२॥
व्रजस्त्रियो यद् वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः ।
गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः ॥४३॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे अशीतितमोऽध्यायः ॥

हे **साध्वीति** सम्बोधनं मात्सर्यकटाक्षाभावाय. **साम्राज्यं** सार्वभौमं **स्वाराज्यमात्मारामता** — अनेन सर्वदुःखाभावो निरूपितः. **अपीति** सर्वभोगा

१. निरोधहेतुम् इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा. २. मुद्रितपाठे नास्ति. शेषेषु एवम् - सम्पा.

विद्यादयोऽपि सङ्गृहीताः. **उत पुनर्भोज्यम्**. इदानीं तु भगवता सह भोज्यं कामयामह एव. **वैराज्यं** ब्रह्माण्डरूपत्वं, **पारमेष्ठ्यं** ब्रह्माण्डाधिपत्यं, वेत्यनादरे, **आनन्त्यं** मोक्षः, **हरेः पदं** सायुज्यादि ॥४१॥

एवं लोकसिद्धानि फलान्यनूद्य निषेधन्ति **कामयामह** इति. पूर्वोक्तान् न कामयामहे, अग्रिमं तु **कामयामहे**. तत् किमित्याकाङ्क्षायामाह **एतस्य** भगवतः **श्रीयुक्तचरणरजः**. तद्रजो वर्णयन्ति **श्रियः कुचकुङ्कुमगन्धाढ्य-मिति**. तर्हि यथा श्रीः स्ववक्षसि चरणस्थापनं कामयते एवं किं भवतीभिरपीति चेत्, तत्राह **मूर्ध्ना वोढुमिति**. नन्वेतदसंगतं प्रतिभाति— चरणश्चेन्मूर्ध्नि तिष्ठति तदा तद्रजो निरन्तरं तिष्ठति, स विषमे कथं तिष्ठेद्? इत्याशङ्क्याह **गदाभृत** इति. अस्मासु चेत् किञ्चिन्न कर्तव्यं तदा गदामवलम्ब्य स्थास्यति, इतरथा गदया समं करिष्यतीति वा भावः. स हि कठिनेऽपि तिष्ठतीति ज्ञापनार्थं वा, यथा ब्रह्मशिलायां स्थितः ॥४२॥

ननु कामनाश्चेत् त्यक्तव्याः, सर्वा एव त्यक्तव्याः, किं रजःकामनया इत्याशङ्क्याह **व्रजस्त्रियो यद् वाञ्छन्तीति**. तदेव सर्वोत्तममिति ज्ञातव्यं यं नीचोऽपि लोकः प्रसिद्धं परित्यज्य चेद् वाञ्छति. यथात्यन्तं क्षुधितः प्राप्तमपि भोजनं परित्यज्य यद्यन्यद् वाञ्छेत् तदा तद् भोजनादुत्तममित्यध्यवसे-यम् ; तृप्तश्चेद् वाञ्छति तदा नैवम्. अतो नीचान्नीचमेव दृष्टान्तीकुर्वन्ति. **व्रजस्त्रियो** हि लोकोत्कृष्टं न दृष्टवत्य इति कदाचिदैन्द्रपदं वाञ्छेयुः. तेऽपि चेत् तत् परित्यज्य रज एव **वाञ्छन्ति**. ततः **पुलिन्द्योऽपि** ततो नीचाः, तथा **तृणवीरुधोऽपि** "आसामहो चरणरेणुजुषाम्" (भाग.पुरा. १०।४४।६१) इति वाक्ये निरूपितम्. तथा **गावोऽपि वाञ्छन्ति**. ता एव **चारयतो** भगवतः स्वयं तुल्या अपि **गोपाः पादस्पर्शमेव वाञ्छन्ति**. काऽत्रोपपत्तिरिति चेत्, तत्राह **महात्मन** इति, महानेवात्मा = इत्थम्भूतानुभाव इत्यर्थः. युक्तिस्तु पूर्वमेवोक्ता— भगवदीयशरीरं तेनैव भवतीति. "भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः" (भाग.पुरा. ५।६।१७) इति च ॥४३॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे चतुस्त्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति अशीतितमोऽध्यायः ॥

॥ सप्तमः स्कन्धादितः एकाशीतितमोऽध्यायः ॥

पञ्चविंशे सात्त्विकानां फलोत्कर्षो निरूप्यते ।
सन्मानसंग्रहौ चैव ऋणापाकरणं तथा ॥(१)॥
निरुद्धानां हि लोकेऽस्मिन् दुर्लभं चेति रूप्यते ।
तदीयत्वं फलं नान्यदिति चोक्तं समासतः ॥(२)॥
आत्मीयानां निरोधं हि हरिरत्र करोति हि ।
अतः फलं पूर्वमेव सिद्धरीत्या तु बोध्यते ॥(३)॥
अद्भुता भगवल्लीला निरोधः फलसूचकः ।
फलं तु[१] फलतासिद्ध्यै किमाश्चर्यमतः परम् ॥(४)॥

पूर्वाध्याये भगवतः स्वीयकरणलीला सर्वापि निरूपिता दृष्टा अदृष्टा च. दृष्टा भगवत्कृतिः अदृष्टं चरणरज इति उभयोः सम्पत्तौ भगवदीयत्वं सेत्स्यति. अतस्तासां स्त्रीणामत्याश्चर्यम्. भगवच्चरित्रं श्रुत्वा भगवति स्नेहानुबन्ध आश्चर्यं च जातमित्याह **श्रुत्वेति**.

लेखः

पञ्चत्रिंशे कारिकासु **फलोत्कर्ष** इति. तदीयत्वरूपः **फलोत्कर्षः**, ऋषीणां **सन्माननं**, यज्ञार्थं तेषां **संग्रहणं**, यज्ञेन **ऋणापाकरणं च निरूप्यत** इत्यर्थः. पूर्वं निरूपितस्यापि तदीयत्वस्य पुनर्निरूपणे हेतुमाहुः **निरुद्धानामिति. अस्मिन् लोके निरुद्धानां** लौकिकैः कामैः सर्वतो बद्धानां **तदीयत्वं दुर्लभमिति** हेतोः प्रथमश्लोके **तदीयत्वं निरूप्यते** ; भगवत्कृपया सुलभमपि भवतीति चकारः. **फलमिति**, तदीयत्वादन्यत् **फलं** नेत्यपि सूचितमित्यर्थः (१-२).

आत्मीयानामिति, निरोधस्य स्कन्धार्थत्वान्मुख्यत्वेन स एव विधेयो भवति अतस्तदीयत्वरूपं फलमनुवादरीत्या **बोध्यत** इत्यर्थः. **फलसूचक** इति, तादृक्फलवतां निरोधकथनेन तेषु तादृक्फलवत्त्वं सूच्यत इत्यर्थः. **फलं त्विति**, अत्र विधीयमानेन सन्मान-संग्रह-ऋणापाकरणरूपफलेन निरोधस्य सफलता नास्ति किन्तु तदीयत्वरूपफलेनैव सफलतेत्यर्थः (३-४).

---

१. फलत्वं फलता- इति क-ग-घपाठः. फलं त्वफल- इति सं-ख पाठः -सम्पा.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ याज्ञसेनी
माधव्यथ क्षितिपपत्न्य उत स्वगोप्यः ।
कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं
सर्वा विसिस्म्युरलमश्रुकलाकुलाक्ष्यः ॥१॥

द्रौपदी प्रसङ्गं परं कृतवती, उपविष्टास्तु श्रवणार्थं सर्वा एव. अतो मुख्याः नामत उच्चार्यन्ते. **सुबलपुत्री** गान्धारी **याज्ञसेनी** द्रौपदी **माधवी** सुभद्रा **अथ क्षितिपपत्न्यः** इतरराजस्त्रियः **उत स्वगोप्यश्च**. **अथद्वयम्** **उतेति** च स्त्रीणां चतुर्विधत्वमुपपादयति सात्त्विक्यो राजस्यः तामस्यो निर्गुणाश्चेति. एताः सर्वा एव **कृष्णे** परमानन्दे सर्वेषामात्मभूते सर्वदोषनिवर्तके **प्रणयः** स्नेह एव **अनुबन्धो** यासाम्. भगवत्पत्नीनां तु विवाहादिरूपो बाह्योऽपि सम्बन्धोऽस्ति, अस्माकं तु साक्षात्सम्बन्धः **प्रणय** एव. अतः कथं भगवदीया भविष्याम इति कथं चेयमवस्था च भविष्यतीति **सर्वा** एव विस्मयं प्राप्ताः. **स्मेति** प्रसिद्धे (?!). कदाचिद् विस्मयो बाह्योऽपि भवतीति क्रियान्तरमप्याह **अश्रुकलाकुलाक्ष्य** इति, अश्रूणां कलाभिः आकुलानि अक्षीणि यासाम्. **कलाशब्दः** शोकं वारयति. आकुलत्वं ज्ञानक्रियायाः व्यापृतत्वं बोधयति ॥१॥

एवं पूर्वोक्तसाधनस्य फलाकाङ्क्षां निरूप्य भगवानेव फलमिति ज्ञापयितुं साधनानामेतच्छेषत्वं प्रतिपादयन् मुनीनामागमनमाह.

लेखः

श्रुत्वेत्यत्र ज्ञानक्रियाया इति. चाक्षुषज्ञानजनिका दर्शनक्रिया भगवत्येव व्यापृतेत्यर्थः ॥१॥

इत्थमित्यस्याभासे एवमिति. श्रुत्वा विस्मिता इत्युक्त्या पूर्वाध्यायोक्तस्य श्रवणरूपस्य **साधनस्य फलाकाङ्क्षा** निरूपितेति भावः. **साधनानामिति**, मननादिसाधनवतामपि भगवद्दर्शनार्थमागमनेन **साधनानां भगवच्छेषत्वं** निरूपितम्. तेन **भगवानेव फलमिति** सिद्धमिति भावः.

इत्थं सम्भाषमाणासु स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु ।
आययुर्मुनयस्तत्र रामकृष्णदिदृक्षया ॥२॥

इत्थं सम्भाषमाणास्विति, स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु सर्वेषामेव भगवत्सम्बन्धिनां भगवत्परता निरूपिता भवति, येन सम्मर्देऽपि मुनीनामागमनं न विरुध्येत. अत एव **तत्र मुनयः आययुः**. यत्रैव यस्याभीष्टं फलं तत्रैव तस्यागमनम् अतो **रामकृष्णा**वत्र वर्तेते इति त**द्दिदृक्षया** मननेन ज्ञात्वा मननं साधनमपि परित्यज्य समागता इत्यर्थः. इदानीं बाह्यक्रिययैव प्राप्यत इति भावः ॥२॥

तान् गणयति **द्वैपायन** इति त्रिभिः.

द्वैपायनो नारदश्च च्यवनो देवलोऽसितः ।
विश्वामित्रः शतानन्दो भरद्वाजोऽथ गौतमः ॥३॥
रामः सशिष्यो भगवान् वसिष्ठो गालवो भृगुः ।
पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च मार्कण्डेयो बृहस्पतिः ॥४॥
द्वितस्त्रितश्चैकतश्च ब्रह्मपुत्रास्तथाङ्गिराः ।
अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च वामदेवादयोऽपरे ॥५॥

अत्रापि सात्त्विकादिभेदाः. गौतमान्ता नव सात्त्विकाः. तत्रापि भेदत्रयम्— उत्तमौ द्वौ मध्यमाः षट् एकश्चापर इति. रामादयोऽपि नव राजसाः. **रामः** परशुरामः. स **भगवानेव** तथापि तच्छिष्यास्तत्स्थानीयाः. यां लीलां प्रकाशयति सा निरूप्यते. **द्वि**तादयो बहव एव. **ब्रह्मपुत्रः** पुलहः, **अङ्गिरसो** वा विशेषणम्. एते प्रकारनिरूपकाः ॥३-४-५॥

ततो यज्जातं तदाह **तान् दृष्ट्वे**ति.

तान् दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रागासीना नृपादयः ।
पाण्डवाः कृष्णरामौ च प्रणेमुर्विश्ववन्दितान् ॥६॥

लोके तद्गुणाः प्रसिद्धा इति तेषां बुद्धिमनुसृत्य व्यवहारं वा समाश्रित्य सन्माननां कुर्वन्ति सर्व एव. **सहसोत्थाये**ति. अत्रापि भेदत्रयं— (**नृपादयः**!) साधारणाः (**पाण्डवाः**!) भक्ताः (**कृष्णरामौ**!) भगवांश्चेति. तत्र सर्व एव **प्रणेमुः**. तत्र हेतु**र्विश्ववन्दिता**निति ॥६॥

तानानर्चुर्यथा सर्वे सहरामोऽच्युतोऽर्चयत् ।

स्वागतासन-पाद्यार्घ्य-माल्य-धूपानुलेपनैः ॥७॥

ततस्तानानर्चुः **यथा** यथावत् **सर्व** एव. **यथा** वा लोकस्थाः **सर्वे** भगवन्मार्गानभिज्ञास्तथाऽभिज्ञा अप्यानर्चुरित्यर्थः. यदि भगवान् न पूजयेत् तदा द्वैविध्यमापद्येतेति **सहरामः अच्युतोऽप्यर्चयद्** आर्चयदिति सन्धिरार्षः अडागमाभावो वा. अर्चनाप्रकारमाह **स्वागतासनेति** ॥७॥

स्तोत्राभावे कायिकं सर्वं नटवद् भवतीति स्तुतिमाह **उवाच सुखमासीनानिति.**

उवाच सुखमासीनान् भगवान् धर्मगुब्विभुः ।
सदसस्तस्य महतो यतवाचोऽनुशृण्वतः ॥८॥

यतो **भगवान्** कर्तव्यं जानाति. भगवतोऽपि तादृशकथने हेतुः **धर्मगुबिति.** तावतापि न काचित् क्षतिरिति **विभुरिति. धर्मगुप्तनुरिति** पाठे धर्मरक्षार्थमेव तनुर्यस्येति मुनिस्तोत्रादिकमपि अवतारकार्यमेवेति सूचितम्. यस्मिन् स्थाने स्तोत्रे कृते लोकप्रसिद्धिर्भवति तादृशमिदं स्थानमिति ज्ञापयितुमाह **सदसस्तस्य शृण्वत** इति. **महत** इति माहात्म्यं प्रकृतोपयोगि, **यतवाच** इति सावधानता च तथा ॥८॥

पञ्चभिर्भगवानाह स्तोत्रं तेषां महात्मनाम् ।
तन्मुखान्निर्णयं वक्तुं पूर्वपक्षोक्तिरूपतः ॥(५)॥

आदौ भगवान् तेषां दर्शनं स्तौति **अहो वयमिति.**

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कात्स्न्र्येन तत्फलम् ।
देवानामपि दुःप्रापं यद् योगेश्वरदर्शनम् ॥९॥

अहो इत्याश्चर्ये. **वयमिति** श्लाघायां— **जन्मभृतो वयमेव**; सफलजन्मान इत्यर्थः. कथमित्याकाङ्क्षायां जन्मफलं जातमिति निरूपयति **लब्धं कात्स्न्र्येन तत्फलमिति.** जन्मफलं ज्ञानादिकमपि भवति ; धर्मश्च परं कात्स्न्र्येन फलम्. तस्य दुर्लभत्वमाह **देवानामपि दुःप्रापमिति.** यस्माद्

लेखः

अहो वयमित्यत्र कात्स्न्र्येन फलमिति, एतादृशं फलं दर्शनमेवेत्यर्थः. **यद् योगेश्वरदर्शनं दुःप्रापं तत् कात्स्न्र्येन फलमस्माभिर्लब्धमित्यन्वयः** ॥९॥

योगेश्वराणां दर्शनं देवानामपि दुर्लभम्. यत इन्द्रो[1] महतापि कष्टेन बृहस्पतेर्दर्शनं न प्राप्तवान्. तदुक्तं षष्ठे[2] ॥९॥

केवलं दर्शनस्य दुर्लभतां निरूप्य तत्सम्बन्धिनां **सर्वेषामेव** निरूपयन् अस्य फलत्वे तर्कमाह.

किं स्वल्पतपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम् ।
दर्शन-स्पर्शन-प्रश्न-प्रह्व-पादार्चनादिकम् ॥१०॥

किं स्वल्पतपसामिति. देवादीनां महत्तपो भवत्येव, मनुष्याणामेव न भवतीति ज्ञापयितुं **नृणामित्युक्तम्**. अल्पतपस्त्वे हेतुः **अर्चायां देवचक्षुषामिति**. अर्चाप्रतिमादौ जडाजडप्रकृतिः, तत्रापि पामरैः कृता. तादृशी स्वस्य चेतनस्य कथं देवता भवेत्? आकृतिरस्तीति चेत्, तर्हि नटेन किमपराद्धं? स्थैर्यं नास्तीति चेत्, तर्हि जडा आकृतिः चैतन्यं गुणाश्च राशिद्वयं कृत्वा विचार्यतां किं चैतन्यं गुणाः देवता आहोस्विदाकृतिमात्रमिति विशिष्टे न सन्देहः. आकृतिरप्रयोजिका अभगवत्त्वाद्, अन्यथा तद्गृहाकृतिः तद्देहाकृतिश्च सर्वेष्वेव वर्तत इति तत्परित्यज्य कुशकाशावलम्बनेन बुद्धिस्थैर्यं कुर्वाणा अल्पतपसो भवन्ति. मुनिषु तु **दर्शनं, स्पर्शनं** पादयोस्ततः **प्रश्नः** ततो विनयः ततः **पादार्चनम्** —एतदादि सर्वं किं भवति? चेतनधर्माश्चैते ॥१०॥

नन्वेवं सति कथं सर्वोऽपि लोकः प्रवर्तत इति चेत्, तत्राह.

लेखः

किं स्वल्पेत्यस्याभासे केवलमिति. दर्शनमात्रस्य फलत्वं **निरूप्य** योगेश्वरसम्बन्धिनां स्पर्शनस्य प्रश्न-प्रह्व-पादार्चनादीनां **सर्वेषामेव** फलत्वं **निरूपयन्** दर्शनस्य **फलत्वे तर्कं** तादृशानां नृणां प्रतिमायां दर्शनादिकमेवम्प्रकारकं किं भवतीति युक्तिमाहेत्यर्थः. व्याख्याने **स्थैर्यं नास्तीति**, नटे आकृतेः स्थैर्यं नास्तीत्यर्थः. **वर्तत इति, इति** हेतोराकृतिरप्रयोजिकेति पूर्वेणान्वयः ॥१०॥

---

१. इन्द्रोऽपि कष्टेन इति ग-घपाठः - सम्पा. २. भाग.पुरा. ६।७।१७ - सम्पा.

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥११॥

न ह्यम्मयानि तीर्थानिति. **तीर्थ**शब्देन यच्छोधकं स्वच्छं तदुच्यते. तज्जलमपि भवति महान्तोऽपि भवन्ति. अतो जलमयानि किं तीर्थानि न भवन्ति? भवन्त्येव, अपां शोधकस्य दृष्टत्वात्. परं या शुद्धिः ज्ञानरूपा महद्भिर्भवति सा न भवत्येव. तथैव **देवा** अपि **मृण्मयाः शिलामयाश्च.** केषाञ्चिन्मते स्थानमेव देवः, प्रतिमा त्वप्रयोजिका. तस्मिन् स्थाने या काचित् प्रतिमा स्थापिता सैव देवो भवति, न त्वन्यत्र. अतो मृण्मया एव देवाः. शिलामया वा, यत्र स्थानं न प्रसिद्धं शिलारूपलक्षणम्. अष्टविधानां स्थिराः शिलामया एव भवन्तीति वा. तर्हि लोकप्रसिद्धं किं निन्द्यते? नेत्याह **ते पुनन्त्युरुकालेनेति. साधवस्तु दर्शनमात्रेणैव.** न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्तते अपि तु विधेयं स्तोतुमिति– पूजायां प्राप्तायां मृण्मयाद्यपेक्षया साधवः पूज्याः, तीर्थगमनापेक्षया साधव एवाभिगन्तव्या इति– नतु लोकसिद्धं निन्द्यत इत्यर्थः ॥११॥

नन्वेतदपेक्षया सूर्यादयः प्रत्यक्षदेवाः सन्ति, त एव कथं न पूज्यन्त इति चेत्, तत्राह **नाग्निर्न सूर्य** इति.

नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारकाः
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः ।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ॥१२॥

अग्निरग्निहोत्रादिषु प्रसिद्धः, **सूर्यो**ऽप्युपासनायां, **चन्द्रो**ऽपि व्रतादौ, **तारका** अपि ग्रहादिपूजायां बुधादिरूपाः अश्विन्यादिरूपा वा, भूमिश्च विश्वम्भरा उपासनादौ. तथा **जलं**, तथैव हृदयाकाशः. तथैव प्राणायामरूपो वायुः **श्वसनः. अथ** भिन्नप्रक्रमेण **वाक्** सरस्वती. तथा **मन**श्च योगादौ, "मनोवशेऽन्ये ह्यभवंश्च देवाः" (भाग.पुरा. ११।२३।४८) इति. एते सर्वे (**उपासिता**!) भगवद्बुद्ध्या पूजिताः **अघं हरन्ति** पापक्षयमेव कुर्वन्ति, न त्वधिकम्. तत्र हेतुः **भेदकृदिति.** भेदमङ्गीकृत्य हि सः प्रवर्तते. यो ह्यखण्डं भिनत्ति स कथं कृतार्थो भवेत्? विपश्चितस्तु भेदं दूरीकुर्वन्ति,

तदाह **विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवयेति**. तावतैव ज्ञानोदयः. सर्वपापक्षयः अनायासेन भवति, "नालं कुर्वन्ति तां शुद्धिं या ज्ञानकलया कृता" (भाग.पुरा. ११।१९।४) इतिवाक्यात् ॥१२॥

एवं परमार्थमुक्त्वा एतद्व्यतिरिक्तान् सर्वान् एकीकृत्य निन्दति.

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत् तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिद्
जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥१३॥

यस्यात्मबुद्धिरिति. **कुणपे** देहे. चैतन्यरहितो देहः **कुणपमित्युच्यते**. न हि चेतनस्य जडः आत्मा भवति. तत्र मूलविचारेणापि दोषमाह **त्रिधातुक** इति. वात-पित्त-श्लेष्मप्रकृतिकोऽयं देहः. आत्मा चेतनप्रकृतिकः. अतोऽस्य देहस्य धातव एव आत्मानो भवितुमर्हन्ति, न त्वात्मा. आत्मनो वाऽयं भवति. एवमात्मबुद्धिर्भ्रान्तेति निरूप्य आत्मीयबुद्धिरपि भ्रान्तेत्याह **स्वधीः कलत्रादिष्विति**. आत्मीयास्त एव भवन्ति ये स्वस्योपकुर्वन्ति. ते सन्त एव. कलत्रादयस्त्वपकुर्वन्ति. तथा भगवानेव आत्मनामात्मा सद्रूपः. **भौमे** भूविकारे **इज्यधीः**, स्वदेहस्यापि भूमिजत्वात्. **तीर्थबुद्धिश्च सलिले** —एवं बुद्धिचतुष्टयं यस्य स न कर्हिचिदपि अभिज्ञेषु जनेषु मन्तव्यः किन्तु मूर्खेष्वेव मन्तव्यः. किं बहुना, स एव **गौर्बलीवर्दः खरो** वा. बलीवर्दानां तृणानयनार्थं खरो वा, पशुप्राया गृहस्थाः तेषां निर्वाहक इति. एवं मुनिस्तोत्रार्थं लोकप्रसिद्धाः पदार्था निन्दिताः ॥१३॥

तेषां पूर्वं भगवानेव स्तोत्रं कृतवान् वेदादिद्वारा अतो विरुद्धमुभयमपि. तन्निर्णयार्थं मुनीनां सन्देहो जात इत्याह **निशम्येत्थं भगवत** इति.

लेखः

नाग्निरित्यत्र. **एते** केऽपि न पूज्याः यतोऽघमेव **हरन्ति, न त्वधिकं** भेदनिराकरणं कुर्वन्ति. **विपश्चितस्तु मुहूर्त**मात्रेण **भेदं घ्नन्ती**त्यन्वयः. मूले **विपश्चितो घ्नन्ति** भेदमित्यर्थात् ॥१२॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

निशम्येत्थं भगवतः कृष्णस्याकुण्ठमेधसः ।
वचो दुरन्वयं विप्रास्तूष्णीमासन् भ्रमद्धियः ॥१४॥

एवं **भगवतो वचो निशम्य भ्रमद्धियो** भूत्वा **तूष्णीमासन्निति** सम्बन्धः. ननु सन्देहः कथं, भगवद्वाक्यप्रामाण्ये निश्चय एव, अन्यथा पूर्वसिद्ध एवार्थः, तत्राह **अकुण्ठमेधस** इति. अकुण्ठा मेधा यस्येति को वेद केनाभिप्रायेण एवं वदतीति सन्देह इत्यर्थः. ननु निश्चय एव कुतो नोत्पद्यते? तत्राह **दुरन्वयमिति**. अन्वयो लोकसिद्धार्थसमर्पकः, तद्विरुद्धत्वाद् दुरन्वयः. अत एव **भ्रमद्धियः** ॥१४॥

ततस्तेषां निर्णयो जात इत्याह.

चिरं विमृश्य मुनय ईश्वरस्येशितव्यताम् ।
जनसङ्ग्रह इत्यूचुः स्मयन्तस्तं जगद्गुरुम् ॥१५॥

चिरं विमृश्येति. मुनय इति मननं विचारे साधकम्. विचारितमर्थमाह **ईश्वरस्येशितव्यतामिति. ईश्वरस्य** सर्वसमर्थस्य **ईशितव्यता** सेवकता या सा **जनसङ्ग्रहः**, जना एवंबुद्ध्या संगृहीता भवन्तीति. यथा स्वयं चेदेवं ब्रूयाद्, अन्योऽप्येवं वदेदिति. ततो भगवद्वाक्याभिप्रायं ज्ञात्वा **स्मयन्तो** हसन्तः **तं जगद्गुरुं** सर्वहितोपदेष्टारं प्रति किञ्चिदूचुः ॥१५॥

तत्र मुनयः द्वेधा निर्णयं[1] वदन्ति. किमद्य[2] भगवान् अस्मान् व्यामोहयितुं वदति आहोस्विद् अन्येषामुपकाराय? यद्यस्मान् प्रति वदति तदोत्तरमुच्यत इत्याहुः **यन्माययेति**.

॥ मुनय ऊचुः ॥

यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं
विमोहिता विश्वसृजामधीश्वराः ।

लेखः

यन्माययेत्यस्याभासे तदोत्तरमिति. ईशितव्यसदृशचेष्टितस्योत्तरं कार्यमस्मदादीनामपि व्यामोहनं **सिद्धमित्युच्यत** इत्यर्थः ॥१६॥

---

१. निर्णीय इति सं-क-ख-ग-घपाठः - सम्पा.   २. किमयम् इति सं-क-ख-ग-घपाठः - सम्पा.

यदीशितव्यायति गूढ ईहया
अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम् ॥१६॥

तत्त्वविदां मध्ये **उत्तमाः** साक्षात्कारतद्बोधनसमर्थाः. अनेन ज्ञानशक्तिर्निरूपिता. **विश्वसृजामधीश्वरा** इति. **विश्वसृजः** कश्यपादयः ये सर्वदा विश्वं सृजन्ति तेषामपि **वयमधीश्वराः** उपदेष्टारो नियन्तारो वा. तेऽपि वयं **विमोहिताः**. विमोहनमाहुः **यद्** यस्माद् भगवान् **गूढः** सन् स **ईशितव्यायति** ईशितव्यवदाचरति सेवकभावं सम्पादयति **ईहया** चेष्टया. तथा चेष्टां प्रकटयति यथा लोकः ईशितव्यं जीवमेव मन्यते, न त्वीशम्. एतादृशं भगवच्चरित्रं श्रुत्वा आश्चर्याविष्टा आहुः **अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितमि**ति. भगवद्विचेष्टितत्वं तथा करणे अकरणे च हेतुरिति विचित्रता, भगवांश्चेत् किमित्येवं करोति कुतो वा न करोति इत्युभयत्रापि भगवत्त्वस्य हेतुत्वात्. अनीशितृत्ववद् अल्पेशितृत्वमपि भगवति नास्ति. नापि भगवता एवं कर्तव्यमेवं न कर्तव्यमिति क्वचिन्निर्धारोऽस्ति. तस्मादलौकिकत्वात् सर्वमेव भगवच्चरित्रं विचित्रम् ॥१६॥

सर्वस्यैवालौकिकत्वाय सहजमपि भगवच्चरित्रं परस्परविरुद्धमित्याह **अनीह** इति.

अनीह एतद् बहुधैक आत्मना सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते यथा ।
भौमैर्हि भूमिर्बहुनामरूपिणी अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥१७॥

लोके ईहासहित एव घटादिकं सृजति. मन्त्रयोगादिनापि सृजन् मानसीं क्रियामनुसन्धत्ते. भगवांस्तु **अनीह** एव, तत्राप्य**ेकः**. एतच्चान्येन मनसाप्याकलयितुमशक्यम्. तच्च **बहुधा**, ब्रह्माण्डकोटिषु विसदृशानेव सृजतीति. तत्राप्या**त्मनै**वाविक्रियमाणेन. एवमपि कुर्वन् तेन कर्मणा **न बध्यते**. करोति च **यथा** विकृतम्, अन्यथा सा सृष्टिस्तादृशीत्येवेति नाश्चर्यं स्यात्. तदर्थमाह **यथा भौमैर्हि भूमिः** भौमैरेव विकारैर्भूमि**र्बहुनामरूपिणी** भवति. तथा भगवान् स्वयमेव नानाविधत्वमापद्यते. अविकृतत्वादयस्त्वधिकाः. अत एव भगवतः अनुकरणमपि विचित्रं, सर्वमेवानुकरणं वा ॥१७॥

एवमघटमानत्वमुपपाद्य श्रोतॄन् प्रत्युपदेशपक्षे वक्तुमुचितमिति समर्थयन्ते **अथापी**ति.

अथापि काले स्वजनाभिगुप्तये बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय च ।
स्वलीलया वेदपथं पुरातनं वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान् ॥१८॥

काले तत्तदवसरे **स्वजना** भक्तजनाः तेषामभि**गुप्तये** रक्षार्थं **सत्त्वं बिभर्षि.** यद्यपि सर्वजनपालनार्थं सत्त्वं धृतमेव तथापीदं तस्मादतिरिक्तं, येनावतारा जायन्ते. पूर्वमेव गुणानां भेदा निरूपिताः— सच्चिदानन्दस्य, प्रकृतेः, अहंकारस्य, बुद्धेः, कालस्य चेति. तत्रेदं **सत्त्वं** सद्रूपस्य. तेनैव च भक्ता रक्षिता भवन्ति. किञ्च **खलनिग्रहाय च** दैत्यानां नाशाय. सर्वपालकं तु तेषां न नाशकं किन्तु पालकमेव. चकारादन्यान्यपि भक्तिप्रवर्तनादीनि सङ्गृह्यन्ते. तस्य सत्त्वस्य स्वरूपे स्थितस्य स्वरूपधर्मस्य कथं ग्रहणमित्याकाङ्क्षायामाह **स्वलीलयेति.** किञ्च तेन सत्त्वेन **वर्णाश्रमात्मा** भूत्वा **पुरातनं वेदपथं** पालयसि **बिभर्षि** वा. रक्षार्थं हेतुः **पुरातनमिति,** नूतननिर्माणे बह्वन्यथाकर्तव्यं स्यात्. ननु वर्णाश्रमात्मा पुरुषः, "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीदि" (तैत्ति.आर. ३।१३।२।१३) ति श्रुतेः, तत्राह **भवानेव पुरुषः** यतः **परः.** अनेन ब्राह्मणानां त्वद्रूपत्वात् स्वस्य स्वयं सर्वं भवतीति वचनं समर्थितम् ॥१८॥

एवं साधारण्येन वर्णाश्रमाणामुक्त्वा ब्राह्मणे विशेषमाहुः **ब्रह्म ते हृदयमिति.**

ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपःस्वाध्यायसंयमैः ।
यत्रोपलब्धं सद्व्यक्तमव्यक्तं च ततः परम् ॥१९॥

लेखः

अथापीत्यत्र. गुणानां विभेदमाहुः **सच्चिदानन्दस्येति.** क्रमेणैतेषां धर्माः सत्त्वरजस्तमांसि प्रकृतेर्गुणाः गुणावतारैः तत्तत्कार्यार्थं गृहीताः. अहंकारस्य गुणाः मनस इन्द्रियाणां भूतानां चोत्पत्तिहेतवः. बुद्धेर्गुणाः "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानमि" (भ.गीता १४।१७) त्यत्रोक्ताः. कालस्य गुणा युगावतारेषु प्रसिद्धाः. **नन्विति.** वर्णात्मत्वं "ब्रह्माननमि" (भाग.पुरा. २।१।३७) त्यादावुक्तम्, आश्रमात्मत्वं "गृहाश्रमो जघनतः" (भाग.पुरा. ११।१७।१४) इत्यत्रोक्तम्. स एव वेदपथपालको भवति. स तु पुरुष एवेत्यर्थः ॥१८॥

ब्रह्म ब्राह्मणजातिः **ते** हृदयमन्तरङ्गा शक्तिः. ताश्च शक्तयस्त्रिविधा भवन्तीति विशेषमाह **शुक्लमिति**. तस्य माहात्म्यमाह— **तपःस्वाध्यायसंयमैः** तदङ्गैः कृत्वा **यत्र** शुक्ले हृदये **सदभिव्यक्तं** सद्रूपं ब्रह्म अभिव्यक्तं भवति. **अव्यक्तं** च जगत्कारणभूतमक्षरात्मकं चकारादात्मस्वरूपं च. **ततः परं** पुरुषोत्तममानन्दरूपं वा. तपो वानप्रस्थे, स्वाध्यायो ब्रह्मचर्ये, संयमः पारमहंस्ये. आश्रमत्रय एव सदाद्यभिव्यक्तिरिति नियमः सूचितः ॥१९॥

किमतो यद्येवं? तत्राह **तस्माद् ब्रह्मकुलमिति**.

तस्माद् ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् शास्त्रयोने त्वमात्मनः ।
सभाजयसि सद्धाम तद् ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान् ॥२०॥

त्वं ब्रह्मकुलं सभाजयसि. तत्रैको हेतुः **सद्धामेति**, सदादीनां धाम = स्थानम्. यदुक्तं **यत्रोपलब्धं सदव्यक्तमिति**. **धाम** स्फूर्तिराश्रयो वा. **ब्रह्मन्निति** सम्बोधनं, तद्रूपतया हेत्वन्तरमात्मानमेव पालयसीति. पुनरन्यं हेतुमाह **शास्त्रयोन** इति, **शास्त्रस्य** वेदस्य **योनिः** कारणम्. वेदा उत्पादितास्तेषामाधारो ब्राह्मण एवेति तद्रक्षा कर्तव्येत्यर्थः. **शास्त्रयोनेरात्मन** इति वा. तथा सति साधन-फले निरूपिते, शास्त्रं साधनमात्मा फलमिति. किञ्च तस्माद् **ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान्**. यद्यप्येतत् सर्वमन्यथा भवति तथापि त्वं ब्राह्मणानां हितकार्येव ॥२०॥

अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः ।
त्वया सङ्गम्य सद्गत्य यदन्तः श्रेयसां परः ॥२१॥

एवं ब्राह्मणानां भगवतो हितकारित्वं ज्ञात्वा सन्तुष्टाः सन्तः स्वरक्षकनिधिरद्य प्राप्त इति स्वकृतकृत्यतामाहुः **अद्य नो जन्मसाफल्यमिति**, सज्जन्म ऋषिवंशे तस्य च फलं ब्रह्मप्राप्तिः साद्य सम्पन्नेति. विद्याः

लेखः

ब्रह्म त इत्यत्र **ताश्चेति**. वर्णरूपाः **शक्तयः** शुक्ल-लोहित-कृष्णभेदेन **त्रिविधाः**. तत्र ब्रह्मणः सात्त्विकत्वात् शुक्लत्वम्. क्षत्रस्य राजसत्वाद् वैश्यस्य रजःप्रधानत्वात् लोहितत्वम्. शूद्रस्य तामसत्वात् कृष्णत्वम्. अत एव "अङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः" (. ।।) इत्यत्र शूद्रस्य कृष्णवर्णत्वमुक्तम् ॥१९॥

सर्वाः तासां फलं सर्वज्ञता तदितराभिज्ञत्वं पूर्वमपि सिद्धम्. भगवल्लीलापरिज्ञानं तु न जातमिति **तदद्य** जातमिति **विद्यायाः** फलम्. तपसा हि परं ज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजं साक्षात्करोति, तच्चाद्यैव जातमिति सर्वथा कृतार्थता. **अनघेति** सम्बोधनपाठे न विद्यते अघं यस्मादिति हे सर्वपापनिवारकेति फलान्तरमपि सूचितम् , अपहतपाप्मत्वेन वा अस्मत्सम्बन्धेन वा न काचित् क्षतिरिति. अत एव **त्वया सङ्गम्य** जन्मसाफल्यादिकं जातम्. कथम्भूतेन त्वया? **सद्गत्य** सतां गतिः प्राप्यफलम्. स्वरूपस्यैव फलत्वमविकृतत्वं च ज्ञापयितुं स्त्रीलिङ्गपदप्रयोगः. साफल्यं साधयन्ति **यदन्तः श्रेयसां पर** इति. **यद्** यस्मात् कारणात् **श्रेयसामन्तः** परिसमाप्तिः **परः** एतदेव, न ह्यस्मादन्यच्छ्रेयोऽस्तीति ॥२१॥

एवं साक्षान्निर्दोषपूर्णगुणत्वं भगवतो निरूप्य श्रद्धातिशयात् तं नमस्यन्ति.

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने ॥२२॥

नमस्तस्मै भगवत इति. स एव कृष्ण इति **कृष्णाय.** ननु ब्रह्मवादे सर्व एव साक्षाद् भगवान्, को विशेष इति चेत्, तत्राह **अकुण्ठमेधस** इति, न कुण्ठा मेधा यस्येति. अन्यत्र रूपान्तरभावे मेधाया अपगमोऽस्ति, पश्चात् प्रत्यापत्तौ योजितपटवद् वैलक्षण्यं भवति. भगवति तन्नास्तीति अकुण्ठत्वम्. नैतज्जीवेषु भवतीति साक्षादविकृतब्रह्मत्वमित्यर्थः. नन्वेवं चेत् कथं सर्वे न विदुः? तत्र हेतुमाहुः **स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्न** इति. स्वस्य साधनत्वेन स्वीकृतया मायया आच्छन्नो महिमा यस्येति. मायापिहितदृष्टयो भगवन्माहात्म्यं न पश्यन्तीत्यर्थः.

विषयाच्छादनं स्वार्थं चेतने नोपपद्यते ।

लेखः

अद्येत्यत्र स्वरूपस्यैवेति. स्त्रिया मोहकत्वात् ततस्वरूपस्यैव **फलत्वं** पुंस्येवेन्द्रियादिविकारा जायन्ते न तु स्त्रियामतो **अविकृतत्वं चेत्यर्थः** ॥२१॥

नमस्तस्मै इत्यत्र. ननु स्वनिष्ठमहिम्न आच्छादनं स्वशक्त्या कथं भवतीत्यत आहुः **विषयाच्छादनमिति. चेतने** पुरुषे **स्वार्थं विषयाच्छादनं**

अन्यार्थमेव तद्युक्तमात्मस्थे विषयेऽपि च ॥(६)॥

ननु सर्वात्मकत्वाद् भगवतः आत्मानमेव प्रति कथं तिरोधानमिति चेत्, तत्राह **परमात्मन** इति. यथा गङ्गा-तदधिष्ठातृदेवतयोः अन्तरम् एवम् आत्म-परमात्मनोर्वैलक्षण्यम्. यथा जले दृष्टेऽपि गङ्गादेवता न दृष्टा भवति जलाच्च तिरोधत्ते तद्वदित्यर्थः ॥२२॥

अत एव न केऽपि जानन्तीत्याह **न यं विदन्तीति.**

न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः ।
मायाजवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम् ॥२३॥

अमी विद्यमाना **भूपाः** यदि जानीयुस्तदा नैवं व्यवहारं कुर्युरिति. तेषां सङ्गो नास्तीति न वक्तव्यं यत **एकारामाः**. चकाराज्जन्मप्रभृति सर्वाः क्रियाः एकत्रेति निरूपितम्. **वृष्णयश्च** तथात्वेन प्रसिद्धाः तथापि **न विदन्ति**. तत्र हेतुं स्मारयन्ति **मायाजवनिकाच्छन्नमिति**. पुत्रोऽयं, भ्राता, पितेत्यादिबुद्धिहेतुभूतया **मायया** नाट्ये आवश्यकरूपया **जवनिकया आच्छन्नम्**. ननु ते हीनाः स्वभावत एव भगवन्तं न ज्ञास्यन्ति, किमाच्छादनेनेति चेत्, तत्राह **आत्मानमिति**. अनेन तेषां संसारोऽपि न भवेदिति लीलाबाधोऽपि निरूपितः. किञ्च **कालोऽयं** ; यद्यात्मानं ज्ञापयेत् तदा ते मारिता न भवेयुरिति. किञ्च **ईश्वरोऽयम्**, ईश्वरास्तु गुप्ता एव तिष्ठन्तीति ॥२३॥

नन्वात्मत्वे व्यवधानाभावात् कथमेते न ज्ञातवन्तस्तत्राह **यथा शयान** इति.

यथा शयान पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वदृक् ।
नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम् ॥२४॥

यथा निद्रा आत्मज्ञाने व्यवधायिका तथा अविद्या माया वा भगवदीया तेषामात्माज्ञाने हेतुरिति वक्तुं मायाजवनिकाच्छन्नत्वेन निरूपितमपि प्रकारभेदेन निरूपयितुमिदमुच्यते. **यथा शयानः पुरुष आत्मानं नाममात्रेन्द्रियेष्वेव**

लेखः

नोपपद्यते, अन्यार्थमेवात्मस्थेऽपि विषये आच्छादनं **युक्तमिति**. चेतनो भगवान् स्वशक्त्या स्वमहिम्न आच्छादनं स्वं प्रति न करोति किन्तु अन्यं प्रति, येनान्यस्य माहात्म्यज्ञानं न भवतीत्यर्थः ॥२२॥

आभातं वेद, **न तु** ततः **परम्**. तत्र हेतुः **गुणतत्त्वदृगिति**, **गुणेषु** स्वप्नप्रतिभातविषयेषु **तत्त्वदृक्** परमार्थबुद्धिः. यदि जानीयादेते अपरमार्थाः इदानीमनुभूयमान-देहक्रियासहिताः तदा जाग्रदवस्थमात्मानं जानीयादेव. नन्वात्मानुभवस्तत्राप्यस्तीति चेत्, सत्यं, तथापि **नाम** तदानीन्तनं देवदत्तादिरूपं **मात्रा** विषयाः **इन्द्रियाणि** च तेष्वेव **आभातः**. त एव अहंतया गृहीता इति आत्माभासप्रतीतिरेव, न त्वात्मप्रतीतिरित्यर्थः. उभयं निषेधयन्ति **न वेद रहितं परमिति**. पूर्वोक्तनामादिरहितं तदवस्थातोऽपि च परं न वेद ॥२४॥

एवं दृष्टान्तमुपपाद्य दार्ष्टान्तिके योजयति.

एवं त्वाऽयं जनो ब्रह्मन् नाममात्रेन्द्रियेहया ।
मायया विभ्रमच्चित्तो न वेद स्मृत्युपप्लवात् ॥२५॥

एवं त्वाऽयमिति. यथा स्वप्नसंघातस्य अयं संघात आत्मा तथास्य भगवान्, अत एव भगवतः अज्ञानम्. न च वक्तव्यं स्वप्ने अयं देहो न स्थितः ततो वैलक्षण्यमिति. तर्हि क्व गतः? तत्रैवाधारे तस्य प्रपञ्चस्योत्पन्नत्वात्. अन्यथा तच्चालने तदपगमो न स्यात्. तथापि न स पृथग्भासते इति चेत्, तस्य परिच्छिन्नत्वात् तत्स्थानीयमन्यच्च स्वीकृतवानिति असमर्थत्वात् तस्य अभानम्. भगवतस्तु व्यापकत्वात् सर्वसमर्थत्वात् पृथगप्याभानमेतावान् विशेषः, अज्ञानं तु तुल्यमेव. तदाह **नाममात्रेन्द्रियेहया** नाममात्रेन्द्रियेषु चलनादन्यथाबुद्धिकारिण्या आत्मबुद्धिमुत्पादयन्त्या **विशेषेण भ्रमच्चित्तः त्वा** परमार्थत आत्मानं **न वेद**. अनेन आत्म-परमात्मभावभेदानङ्गीकारेऽपि भगवदज्ञानं समर्थितम्. नन्वनादिसिद्धत्वात् संसारस्य गुरु-शास्त्र-तपोभिः कदाचिद् भगवदनुभवः सम्भवति, आत्मानुभवो वा. तत इदानीं भगवन्तं दृष्ट्वा सोऽयमिति कथं न प्रतीतिस्तत्राह **स्मृत्युपप्लवादिति**, जन्ममरणादिना स्मृतिनाशात् ॥२५॥

तादृशोऽयमद्य दृष्ट इति स्वकृतार्थतामनूद्य कृपां प्रार्थयन्ते **तस्याद्येति**.

तस्याद्य ते ददृशिमाङ्घ्रिमघौघमर्षं
तीर्थास्पदं हृदि कृतं सुविपक्वयोगैः ।
उत्सिक्तभक्त्युपहताशयजीवकोशा
आपुर्भवद्गतिमथोऽनुगृहाण भक्तान् ॥२६॥

यः कदाचिदपि नोपलब्धः यः फलं सर्वं च स दृष्ट एव. तत्रापि यथा सर्वदा दर्शनं भवति तेनोपायेन सहितो दृष्ट इति ज्ञापनार्थं **तस्याङ्घ्रिं ददृशिमेत्युक्तम्**. चरणस्य सर्वदा साक्षात्कारहेतुत्वे प्रकारमाह **अघौघमर्षमि**त्यादित्रिभिर्विशेषणैः. मलापकर्षणं पूर्वं शुद्ध्यादिगुणयोजनं, ततश्च फलरूपं च योगसाधनभावितम्. **अघौघस्य** पापसमूहस्य **मर्षं** मृषात्वं यस्मात्. **मर्षणं** शोधनं वा. किञ्च **तीर्थास्पदं** गङ्गादीनामुत्पत्तिस्थानं, ततो **योगसिद्धैर्हृदि** फलत्वेन **कृतम्**. एतादृशं चेत् प्राप्ताः तदा क्रमेण हृदि स्थितो भविष्यतीति तेनाग्रे सर्वं सेत्स्यतीति स्वभाग्याभिनन्दनम्. ननु कथमग्रे भवन्तो मुक्ता भविष्यन्तीति चेत्, तं प्रकारमाहुः **उत्सिक्ते**ति. **उत्सिक्ता** या **भक्तिः** मर्यादामुल्लङ्घ्य अधिका जाता तया कृत्वा **उपहृता** भगवते समर्पिता **आशयजीवकोशाः** अन्तःकरणात्मसंघाताः यैः. संघातादात्मा तदुपाधिश्च पृथक्कृत्य निरूपितौ आन्तरत्वज्ञापनाय. आशय एव वा जीवकोशः. एवमुपाधिसमर्पणे केवला वयं भगवद्गतिमापुः. "आशंसायां भूतवच्च" (पाणि.सूत्र ३।३।१३२) इति प्राप्स्याम इति लृटि प्रयोक्तव्ये लिट्प्रयोगः. **अथ** अस्मात् त्वदीया एवेति **भक्तान्** अस्मान् **अनुगृहाण** आत्मसात् कुर्विति प्रार्थना ॥२६॥

एवं प्रार्थयित्वा तूष्णीमेवाङ्गीकारे कृतार्थत्वं ज्ञात्वा गन्तुमारेभिर इत्याह इत्यनुज्ञाप्येति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम् ।
राजर्षे स्वाश्रमान् गन्तुं मुनयो दधिरे मनः ॥२७॥

दाशार्हं सेवकप्रियम्. ततो भक्तैरप्यनुज्ञाता इत्याह **धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरमिति**, वृद्ध-भक्तौ निरूपितौ. विश्वासार्थं (**राजर्षे**!) सम्बोधनम्. ततः **स्वाश्रमान् गन्तुं मनो दधिरे** ॥२७॥

एवं निवृत्तिपराणां फलसिद्धिमुक्त्वा प्रवृत्तिपराणामपि फलसिद्ध्यर्थं प्रक्रियान्तरमारभते **तद्वीक्ष्ये**ति.

तद्वीक्ष्य तानुपव्रज्य वसुदेवो महायशाः ।
प्रणम्य चोपसङ्गम्य बभाषेदं सुयन्त्रितः ॥२८॥

वसुदेवो हि तानुत्कृष्टान् जानाति अतः स्वकृतार्थत्वाय तान् प्रष्टुं यतते, **अतस्तानुपव्रज्य.** तस्यैवं स्वनिस्तारार्थं यत्ने पूर्वसिद्धं हेतुमाह **महायशा** इति. महद् यशो यस्येति कथनार्थं दृष्टमप्युपायं कृतवानित्याह **प्रणम्येति.** चकारात् स्तोत्रमपि कृत्वा **उपसङ्गम्य** निकटे समागत्य **सुयन्त्रितः** सन् वक्ष्यमाणमिदं **बभाषे.** सन्धिरार्षः ॥२८॥

विज्ञापनामाह **नमो वः सर्वदेवेभ्य** इति.

॥ वसुदेव उवाच ॥

नमो वः सर्वदेवेभ्य ऋषयः श्रोतुमर्हथ ।
कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यताम् ॥२९॥

यद्यप्येते ऋषयः तथापि सर्वे देवा येष्विति "यावतीर्वै देवताः" (तैत्ति.आर. २।१५।१) इत्यादिश्रुतेः सर्वदेवत्वम्. अनेन देवा भवदधीना इति स्तुतिरप्युक्ता. हे **ऋषयः** अलौकिकदृष्टारः. अतो मत्स्वरूपं जानन्तीति विज्ञापितं **श्रोतुमर्हथ.** तदेवाहुः **कर्मणा कर्मनिर्हार** इति. अयमाशयः. ज्ञानेन कर्मनाशः सुप्रसिद्धः, "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणी" (भ.गीता ४।३७) ति वाक्यात्. कर्म तु सजातीयं न व्यावर्तयति. यद्यपि प्रायश्चित्ते कर्मनाशकत्वं निरूपितं तथापि न तत्कर्म, अकर्म, कर्म नाशयति, विपरीतं वा. निषिद्धं विधिबलाद् विहितं नाशयति, यथा प्रायश्चित्तम्. यथा वा नखाम्बु पूर्वपुण्यं नाशयति तथापि सजातीयस्य न सजातीयनाशकत्वम्. नखादिषु नखाम्बुप्रभृतिषु कर्मनाशः अधर्मजननद्वारा. तेन स नाशः दुःखमेव सम्पादयति, न संसारनिवृत्तिम्, अन्यथा महान्तो ज्ञानवत् तत्रापि यतेरन्. अतस्तादृशी कर्मनिवृत्तिरपेक्ष्यते यस्यां जातायां संसार एव निवर्तते. यदि संसारनिवृत्तिमेव प्रार्थयेत् तदा

लेखः

नमो व इत्यत्र **तथापि तत्कर्मेति.** तत् प्रायश्चित्तरूपं **कर्म** कर्तृ स्वयमकर्मरूपं सत् निषिद्धं **कर्म न नाशयति** किन्तु स्वयं कर्मरूपमेव. तथाच कर्मणां प्रोहस्वभावत्वात् कर्मान्तरमुत्पद्यत एवेत्यर्थः. **विपरीतं वेति.** नाश्यं कर्म अकर्मरूपं कृत्वा न नाशयति किन्तु तत्फलभोगे विलम्बं सम्पादयति. तथाच कर्मनिर्हारो न जात इत्यर्थः. **निषिद्धमिति,** विहितं प्रायश्चित्तरूपं कर्म कर्तृ निषिद्धं नाशयतीत्यर्थः ॥२९॥

ज्ञानादिकमेवोपदिशेयुः. ज्ञानं तु न गृहस्थस्येति मन्यते, "कर्मण्येवाधिकारस्ते" (भ.गीता २।४७) इतिवाक्यात्. अतः कर्मणैव केनचित्प्रकारेण कृतेन यथा संसारहेतुभूत-कर्मनाशः तथा वक्तव्यमित्याह **नस्तदुच्यतामिति.** अत्र पुनः ऋषीणां पूर्ववत् सन्देह उत्पन्नः— यथा भगवान् ईश्वरः सन् विपरीतवाक्यमुक्तवान्, तस्य च भावो यथाकथञ्चिद् वर्णितः, एवं वसुदेवोऽपि मुक्त एव सिद्धसमस्तपुरुषार्थ एव विपरीतवत् पूर्वं कर्मनिर्हारं पृच्छति केनाभिप्रायेणेति किमस्मज्ज्ञानं परीक्ष्यते आहोस्विदन्यथेति ॥२९॥

एवं ऋषीणां सन्देहं ज्ञात्वा नारदः स्वयमाह **नापि चित्रमिदं विप्रा** इति.

॥ नारद उवाच ॥

नापि चित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभुत्सया ।
कृष्णं मत्वार्भकं यन्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः ॥३०॥

इदं वसुदेववाक्यं **नापि चित्रम्.** अपिशब्दाद् गम्भीरार्थमपि न. **विप्राः** इति भवन्तः पूरका इति स्वपूर्त्यर्थमेव. तदाह **बुभुत्सयेति.** ननु बुभुत्सामात्रं चेत् प्रयोजनं तदा कृष्णः किं न पृष्ट इति चेत्, तत्राह **कृष्णं मत्वार्भकं यन्न** इति, स्वोत्पन्नः स्वाज्ञातं कथं ज्ञास्यतीति. किञ्च "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" (भ.गीता ४।११) इतिन्यायेन वसुदेवदृष्टौ बालक एव प्रतिभाति. अत एव **नोऽस्मान्** स्थूलान् पण्डितानिति ज्ञात्वा **पृच्छति** ॥३०॥

ननु जानाति भगवान् सर्वेश्वर इति, तत्राह **सन्निकर्षोऽत्र मर्त्यानामिति.**

सन्निकर्षोऽत्र मर्त्यानामनादरणकारणम् ।
गाङ्गं हित्वा यथान्याम्भस्तत्रत्यो याति शुद्धये ॥३१॥

अनादरे सन्निकर्ष एव कारणम्. **मर्त्यानामिति** मरणधर्माणः. ते जानन्ति सर्व एव मर्त्याः, को विशेष इति आत्मवत् सर्वदर्शनादनादरः. असम्भावितं मत्वा दृष्टान्तमाह **गाङ्गं हित्वेति. तत्रत्यो** जनः गङ्गातीरस्थः **शुद्धय** इति. गङ्गातीरे संमर्दे स्नातः अशुद्धोऽहं जातः, गृहे स्नास्यामीति मत्वा यथा पुनः गृहे स्नाति. तदुक्तं **शुद्धय** इति. स हि गङ्गाजलमपि जलत्वेनैव मन्यते, नतु तन्माहात्म्यं वेद ॥३१॥

स्वयं भगवन्माहात्म्यमाह **यस्यानुभूतिरिति.**

यस्यानुभूतिः कालेन लयोत्पत्त्यादिनाऽस्य वै ।
स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतो न कुतश्चन रिष्यति ॥३२॥

ऋषयस्तु शास्त्रादिना सञ्जातज्ञानाः तथापि छिन्नयोजितपटवत् न तज्ज्ञानमुत्कृष्टम्. भगवतस्तु ज्ञानस्य न कदाचिदपि विच्छेदः. तमेवाह **कालेन** प्रलयेन **यस्यानुभूतिरनुभवः न रिष्यति** न नश्यति. प्रलयमध्येऽपि नाशसम्भवात् तानपि हेतून् निषेधति **लयोत्पत्त्यादिनेति.** यदा प्राणी म्रियते तदा पूर्वानुभवो नश्यति. यदापि उत्पद्यते तदापि लोकान्तरानुभवो नश्यति. एवं महाव्याध्यपस्मारादिनापि पूर्वानुभवनाशः. तदेकमपि भगवति न सम्भवति. कदाचित् स्वतोऽप्यनुभवो नश्यति यदा संस्कारं नोत्पादयति. कार्यकारणयोरभेदादेवं वचनम्. **अन्यस्माद्** द्रव्यान्तर-शापादिना. **च**कारात् कालविलम्बेन विरोधज्ञानाविर्भावेन च. **गुणतो** रजस्तमःप्रादुर्भावात्. अनुक्तपरिग्रहार्थं **न कुतश्चनेति** ॥३२॥

एवं भगवन्माहात्म्यमुक्त्वा तन्न जानातीति वसुदेवदोषमाह **तं क्लेशेति.**

तं क्लेशकर्मपरिपाकगुणप्रवाहै-
रव्याकृतानुभवमीश्वरमद्वितीयम् ।
प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढमन्यो
मन्येत सूर्यमिव मेघहिमोपरागैः ॥३३॥

तं प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढं प्राणादिभिर्वशीकृतं जीवं मन्येत. स हि अध्यासं कारणत्वेन न जानाति किन्तु पदार्थसम्बन्धमात्रम्. यथा कारागारे बद्धोऽपि बन्धकोऽपि ईश्वरोऽपि तिष्ठति. भ्रान्तः सर्वान् तुल्यानेव मन्यते. भगवतः देहाद्यध्यासहेतुर्नास्तीति वक्तुं दोषाभाव-गुणानाह **क्लेशेति.** शास्त्रान्तरसिद्धाः "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः" (पातं.यो.-सूत्र २।३) इति. अत्र तु संसारदुःखानुभव एव **क्लेशः** तत्साधकं **कर्म**

लेखः

तं क्लेशेत्यत्र अविद्यास्मितेति. अस्मि इति अहमर्थे विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम्. **अस्मिता** अहंतेत्यर्थः. **तत्साध्यमिति,** अविद्यादिक्लेशपञ्चकसाध्य-

मतान्तरे तु तत् साध्यं, तस्य **परिपाकः** जात्यायुर्भोगाः[१] देहसम्बन्धो वा तत्र यो **गुणप्रवाहः** उत्पत्ति-स्थिति-लयपरम्परा. अज्ञानमारभ्य संसारप्रवाहपर्यन्तं निरूपितम्. एतैः सर्वैरपि **अव्याकृतः अनुभवो** यस्य. **विशेषेण आ सर्वतः करणं** व्याकरणं स्वाधीनकरणं, स्वरूप(/पा!) नाशनमिति यावत्. **अनुभवो**ऽत्र स्वरूपम्. ज्ञाननाशाभावः पूर्वमेव निरूपित इति तस्यैव वा अनुवादः. अनाशे हेतुः **ईश्वरमिति**. न हीश्वरानुभवं कश्चिन्नाशयितुं शक्नोति. तादृशोऽन्यस्ततोऽप्यधिकः नाशयेदिति चेत्, तत्राह **अद्वितीयमिति**, असमोर्ध्वमित्यर्थः. एतादृशमपि प्राणेन्द्रियान्तःकरण-देहैः **स्वविभूतिभिः** आधिदैविकैः आनन्दमयैः स्वयमेव वा तथाभूत इति स्वरूपभूतैर्वा **तैरुपगूढं** लीलार्थमावेष्टितम**न्यो** भ्रान्तोऽस्मदादिजीवः स्वतुल्यं **मन्येत**. कीदृशं मन्यत इति शङ्कायामाह **सूर्यमिवेति**. यथा **सूर्यं** मन्यन्ते **मेघै**राच्छन्नं **हिमेन** निष्प्रभम् **उपरागेण** ग्रस्तमिति तथा अविद्यया ग्रस्तं तृष्णादिना निष्प्रभं शरीरेण छन्नमिति. वस्तुतस्तु मेघादिभिः सम्बन्ध एव सूर्यस्य नास्ति, बहुव्यवधानात्. तथाप्य**न्यो** वस्तुतो नाविद्याभिः ग्रस्तादिः कुतो वा भगवान् भविष्यति? भगवतस्तु प्रकार उक्त एव ॥३३॥

एवं तस्य भ्रान्तत्वमुक्त्वा तादृशं स्वनिस्तारार्थं सत्यमेव प्रार्थयत इति समर्थिते निःशङ्काः सन्तः उत्तरं दातुं प्रवृत्ता इत्याह **अथोचुरिति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अथोचुर्मुनयो राजन्नाभाष्यानकदुन्दुभिम् ।
सर्वेषां शृण्वतां राज्ञां तथैवाच्युतरामयोः ॥३४॥

लेखः

मित्यर्थः. **जात्यायुरिति. जातिर्ब्राह्मणत्वादिः, आयुः** शतवर्षादिः, **भोगश्चैते** कर्मपरिपाकरूपा इत्यर्थः. **तत्रेति** सतीति शेषः. **अथान्योऽपीति**, सूर्यादन्योऽस्मदादिरपि मेघादिभिः सूर्य **इवाविद्यादिभिर्वस्तुतो न ग्रस्तादिः** अविद्यादिना न ग्रस्तः तृष्णादिना न निष्प्रभः शरीरेण न छन्नः, आत्मनो निर्लेपत्वात्, तत्र **भगवान् कुतो** वा ग्रस्तो निष्प्रभच्छन्नो वा **भविष्यतीत्यर्थः** ॥३३॥

---

१. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः (पातं.यो.सूत्र २।१३) - सम्पा.

मुनित्वाद् ज्ञानम्. **राजन्निति** सावधानार्थं सम्बोधनम्. **आभाष्येति** "हे वसुदेव, सावधानं शृण्वि"त्युक्त्वा. यतोऽयमानकदुन्दुभिर्महान्. **सर्वेषां शृण्वतामिति**, अनेन तेषां कथने उत्साहः सूचितः. **तथैवाच्युतरामयोरिति**, युक्तिपूर्वकं सर्वसिद्धान्ताविरुद्धं भगवान् शृणोतीति निरूपयिष्यन्तीति ज्ञापितम् ॥३४॥

कर्मनिर्हारप्रकारमाहुः **कर्मणेति** सप्तभिः.

॥ मुनय ऊचुः ॥

कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधुनिरूपितः ।
यच्छ्रद्धया यजेद् विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः ॥३५॥

आदौ प्रकारमाहुः **कर्मणा कर्मनिर्हारः एष** अग्रे वक्ष्यमाणः सर्वैरेव सिद्धान्तिभिः **साधु निरूपित** इति प्रमाणम्. स कः प्रकार इत्याकाङ्क्षायामाह **यच्छ्रद्धयेति**. श्रद्धा सर्वाङ्गं **विष्णुं यजेदिति** कर्मनिर्हारकं कर्म. तत्र **विष्णुशब्दः** इन्द्रियाधिष्ठातृपरोऽपीति गुरु-ब्राह्मणादिचरणपूजयापि परम्परया विष्णुयागो भवतीति तन्निवृत्त्यर्थमाह **सर्वयज्ञेश्वरमिति**. सर्वयज्ञानामीश्वरो विष्णुरत्राभिप्रेतः, यो यज्ञवराहरूपेणाविर्भूतः, "यज्ञो वै विष्णुः" (तैत्ति.ब्रा. १।२।५।१) इति श्रुतेः. "यज्ञेन यज्ञमयजन्त" (ऋक्संहि. १०।९०।१६) इति द्वितीयान्तवाच्यो यज्ञोऽत्राभिप्रेतः. स तु यज्ञैरेवेष्टो भवतीत्याह **मखैरिति**. **ईश्वरपदेन** यज्ञेष्वेव भगवतो नियोग इति भगवदाज्ञापरिपालनमिति प्रमाणमपि सूचितम् ॥३५॥

ननु परिचर्यादिरपि पञ्चरात्राद्यागमे निरूपितः, उत्सवाश्च. ततो वैष्णवमार्गं परित्यज्य कथं श्रौत एव मार्गो निरूपित इति चेत्, तत्राह.

वित्तस्योपशमोऽयं वै कविभिः शास्त्रचक्षुषा ।
दर्शितः सुगमो योगो धर्मश्चात्मसुखावहः ॥३६॥

वित्तस्येति. अयं प्रकारो विद्यमाने **वित्ते कविभिर्निरूपितः**. वैष्णवमार्गस्तु प्रायेणाकिञ्चनाधिकृत एव. योऽस्माभिर्निरूपितो यागादिरूपः स तु

लेखः

कर्मणेत्यत्र ईश्वरपदेनेति. सर्वयज्ञानां तृतीयान्तानामीश्वरो नियोगकर्ता तृतीयान्तयज्ञविधायको द्वितीयान्तयज्ञरूप इत्यर्थः ॥३५॥

वित्तस्यैवोपशमजनकः, शरीरं तु तद्द्वारा उपयुज्यते. एषा युक्तिप्रमाणमिति चेत्, तत्राह **कविभिः शास्त्रचक्षुषेति**. कर्तुः साधनस्य चोत्कर्षो निरूपितः. किञ्च **अयं सुगमो योगः**, शरीरक्लेशापेक्षया बहिरङ्गत्वात्. किञ्च **अयमस्माभिर्धर्मो** निरूपितः, नतु भक्तिः, "तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्" (ऋक्संहि. १०।९०।१६) इतिश्रुतेः. एतस्य कर्मनाशकत्वमग्रे वक्तव्यम्. धर्मत्वे किं स्यादित्याशङ्कायामाह **आत्मसुखावह** इति, आत्मसुखमावहतीति. एतस्य कर्मनिर्हारकत्वं प्रतिज्ञातमिति आत्मसुखजनकत्वमधिकम् इत्यधिकं ज्ञातव्यम् ॥३६॥

नन्वन्येष्वपि[१] मार्गेषु विद्यमानेषु कथमयं निरुक्त इति चेत्, तत्राह **अयं स्वस्त्ययनः पन्था** इति.

अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः ।
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषम् ॥३७॥

गृहस्थस्यायमेव मार्गः **स्वस्त्ययनः**, अन्ये तु सर्व एव मार्गा गार्हस्थ्यभञ्जकाः "यदनुचरितलीला" (भाग.पुरा. १०।४४।१८) इत्यादिषु निरूपिताः. अतोऽयमेव मार्गो गृहस्थं गृहे स्थापयति. किञ्च **द्विजाति**-मात्रस्यात्राधिकारः ; अन्यत्र त्वन्यदपि बीज-संस्कारादिकम् अधिकारिविशेषणं मृग्यते. एवं साधयित्वा निश्चितं विशिष्टमनुवदति **यच्छ्रद्धयेति**. **आप्तेन** स्वयं प्राप्तेन **वित्तेन** अनाशकेन हितकर्त्रा **शुक्लेन** सन्मार्गप्राप्तेन **पूरुषं** यज्ञपूरुषं **श्रद्धया** यजेत इति **यद् अयमेव पन्था** इति सम्बन्धः ॥३७॥

नन्वेतस्य कर्मनिर्हारकत्वं कथं? तत्राह **वित्तेषणामिति**.

वित्तेषणां यज्ञदानैर्गृहैर्दारसुतेषणाम् ।

लेखः

अयं स्वस्त्ययन इत्यत्र **बीजसंस्कारादिकमिति**. ज्ञाने पञ्चाग्निविद्यासाधितो देहो, भक्तावलौकिकदेहो मृग्यत इत्यर्थः. **अनाशकेनेति**, "रयिरिति मनुष्याः" (. । ।), "तद्धैतान् भूत्वावति" (मुद्ग.उप. ३।२) इतिश्रुतेः **वित्तपदेन** रक्षकत्वं हितकर्तृत्वं चोच्यत इत्यर्थः ॥३७॥

---

१. अनेकेषु इति खपाठः - सम्पा.

आत्मलोकेषणां देव कालेन विसृजेद् बुधः ॥
ग्रामे त्यक्तेषणाः सर्वे ययुर्धीरास्तपोवनम् ॥३८॥

ईषणात्रयपरित्यागः कर्मबन्धाभावज्ञापकः. कर्माणि हि ईषणाद्वारैव बध्नन्ति. ईषणाभावे तु कर्माभावः सिद्ध एव. लोके ईषणात्रयं वित्तेषणा दारेषणा लोकेषणेति त्रयाणां परित्यागप्रकार उच्यते **वित्तेषणां यज्ञदानैरिति.** यस्य वित्ते महतीच्छा भवति तेन वित्तोपार्जनं कृत्वा यज्ञ-दानानि कर्तव्यानि. ततो वित्तस्य बहुधा व्यवहृतत्वात् तदिच्छा निवर्तते. अदृष्टद्वारापि तद् यज्ञदानादिकम् अन्तःकरणशुद्धिमुत्पाद्य निवर्तयतीत्यवगन्तव्यम्. ततो **दार-सुतेषणा गृहस्थाश्रमैर्दूरीकर्तव्या.** गार्हस्थ्ये तासां संव्यवहारो बहुधा भवतीति दार-सुतानां व्यवहृतत्वात् तदिच्छापि निवर्तते. **आत्मनां लोकानां** स्वर्गादिलोकानामी**षणा देव कालेन** देवैः सह क्रीडया **बुधः** पण्डित एव **विसृजेत्,** तत्र वैराग्यस्य ज्ञानैकसाध्यत्वात्. अत एव वेदे स्वर्गार्थमेव यज्ञा निरुक्ताः. अन्यत् तु द्वयं प्रसङ्गादेव सेत्स्यति, स्त्री-वित्तव्यतिरेकेण यज्ञाभावात्. अत एव स्त्रीणामधिकारशरीरे प्रवेश उक्तः धनस्य च क्रियायाम्. अन्यथा मानसा एव यज्ञा वेदे उक्ताः स्युः. अन्यथा "श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाद्" (भ.गीता ४।३३) इतिवाक्याद् द्रव्ययज्ञानामधमत्वे तत्प्रतिपाद्यो वेदो विरुध्येत. इदमेव वेदस्य तात्पर्यं मन्यन्ते मुनयः. अत एवात्मसुखावहो धर्म इति स्वर्गात्मकयज्ञार्थमेव यागाः कर्तव्या इति यथाश्रुतैव श्रुतिः समर्थिता. अत एवाश्रमधर्माणामपि विधिरिति वक्तुं गार्हस्थ्यविधेरेतदेव प्रयोजनमित्याह **ग्रामे त्यक्तेषणाः सर्व** इति. ग्राम एव स्थित्वा ईषणाविनिर्मोकः कर्तव्यः. अनेनैतज्ज्ञापितं— पूर्वं यागे कृते स्वर्गे च जाते ततो लोकविरागं प्राप्य पुनरागत्य गार्हस्थ्य एवाङ्गत्वेन पूर्वं व्यवहृत-सुवर्णस्त्रीणां लोकाकाङ्क्षाभावात् प्राधान्येन व्यवहारं कृत्वा तदिषणात्रयं परित्यज्य, तथा चित्तशुद्ध्यभावे विक्षिप्तमपि मनः धैर्यं प्रापयित्वा सम्यक् चित्तशुद्ध्यर्थं पुनर्गमनक्लेशं परित्यज्य,

---

लेखः

वित्तेषणामित्यत्र अन्यथेति. यज्ञानाम् ईषणापरित्यागार्थकत्वाभावे इत्यर्थः. **अन्यथेति** एतस्यैव विवरणं **श्रेयानित्यारभ्य अधमत्वे** इत्यन्तम्. **तत्प्रतिपाद्य** इति, ते द्रव्यमया यज्ञाः प्रतिपाद्या यत्रेत्यर्थः. **ग्रामे त्यक्तेषणा**

तपोवनमेव विविशुः, तपसा सम्यक् चित्तशुद्धिर्भविष्यतीति. ये त्वेकजन्मपरतयैव सर्वं व्याचक्षते ते चिन्त्याः. **देवेति** वसुदेवसम्बोधनम्. **कालेनेत्यनुपायं** चाहुः, तेषां लोकेषणाया अनिवृत्तत्वात् कथं सर्वेषणापरित्याग इति. **बुध** इत्यनेन ज्ञानेनैव तन्निवृत्तिः अन्यत्रापि तुल्या. किञ्च पूर्वं यागानां कर्तव्यता ईषणापरित्यागार्थमुक्ता तद्द्वारा कर्मनिर्हरणार्था भवति ॥३८॥

ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितॄणां प्रभो ।
यज्ञाध्ययनदानैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन् पतेत् ॥३९॥

इदानीं तु ऋणापाकरणार्थमेव यज्ञाः कर्तव्या इत्याह **ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जात** इति. "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते" (तैत्ति.संहि. ६।३।१०) इतिश्रुतेः. ब्राह्मणो जायमानः = उपनीयमानः. तानि ऋणानि गणयति **देवर्षिपितॄणामिति,** "ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य" (तैत्ति.संहि. ६।३।१०) इतिश्रुतेः. अत्र तु पित्रर्णपरित्यागं दानेनाह **यज्ञाध्ययनदानैरिति.** दानमत्र सन्ततिदानमेव, पिण्डदानमित्येके. तत् पुत्राणां कर्तव्यमिति फलतो निरूपितम्. येषां पुनः ईषणाविनिर्मोको जात एव तेषामपि ऋणविमोको न जात इति मुख्यपक्षे गार्हस्थ्यानन्तरमेव संन्यास इति मतमाश्रित्याह **अनिस्तीर्य त्यजन् पतेदिति.** "ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्, अनपाकृत्य तांस्त्रींस्तु मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः" (मनुस्मृ. ६।३५) इति मनुवाक्यात्. ननु "ब्रह्मचर्यदेव प्रव्रजेद्" (जाबा.उप. ४) इत्यादिश्रुतेः का गतिः ? उच्यते. ईषणाभाव ऋणाभावश्च मोक्षात् पूर्वभावी. एकमधिकारिविशेषणं, द्वितीयः प्रतिबन्धकाभावः. अधिकारिविशेषणं तु मृग्यमेव. प्रतिबन्धकाभावे तु भगवद्भजनोत्तम्भक-सद्भावेऽपि कार्यं भवति. यथा "तदवदानैरेवावदयत" (तैत्ति.संहि. ६।३।१०) इति अङ्गावदानेनापि

लेखः

इत्यत्र मतान्तरमाहुः **ये त्वित्यारभ्य आहुरित्यन्तेन.** दूषयन्ति **तेषामिति.** बुधपदसूचितज्ञानेन लोकेषणापरित्यागेन समाधानमाशङ्क्य तुल्ययुक्तिमाहुः **अन्यत्रापि तुल्येति.** वित्तेषणा-दारसुतेषणयोरपि ज्ञाननिवर्त्यत्वं तुल्यमेवेत्यर्थः ॥३८॥

ऋणत्रयमपागच्छति. एवं स्वाध्यायेनापि केवलेन पूर्वं बहुधा ऋणापाकरणं कृतम्, "यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवति" (तैत्ति.आर. २।१५।१५) इति. "भ्रातॄणामेकजातानाम्" (मनुस्मृ. ९।१८२) इतिवाक्यन्यायेन भ्रातृपुत्रेण पितृऋणनिवृत्तिसम्भवे, अन्यैर्वा दत्तादिभिः, "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्" (जाबा. उप. ४) इतिवाक्यं सिद्धं भवति. तस्माद् यो मुख्यः प्रथमाधिकारी तेन ऋणापाकरणम् ईषणानिवृत्तिश्च कर्तव्येति ऋषिभिः साधूक्तम् ॥३९॥

एवं ऋणापाकरणकर्तव्यतामुक्त्वा ऋणत्रयमध्ये ऋणद्वयमतीतं, ऋणमात्रमवशिष्यत इत्याहुः.

त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यां वै ऋषिपित्रोर्महामते ।
यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निर्ऋणोऽशरणो भव ॥४०॥
वसुदेव भवान् नूनं भक्त्या परमया हरिम् ।
जगतामीश्वरं प्रार्चः स यद् वां पुत्रतां गतः ॥४१॥

त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यामिति. वेदाः पठिताः पुत्राश्चोत्पादिता इति ऋषि-पित्रोः ऋणाभ्यां **भवान् मुक्तः. महामत** इति यज्ञाधिकारो निरूप्यते अजडत्वाय. अतो **यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निर्ऋणः** सन् पश्चाद**शरणः** सर्वपरित्यागे युक्तो **भवे**त्यर्थः. भिक्षुर्हि अनग्निरनिकेतनो भवति. एवं प्रकारत्रयेण यज्ञकरणमुपदिष्टं— कर्मनिर्हारार्थम् ईषणापरित्यागार्थम् ऋणापाकरणार्थं चेति. भगवान्[1] भवदीयो जात इति भगवत्पूजार्थं च कर्तव्यमित्यग्रिमश्लोकेनोच्यत इत्येके. अन्ये तु तव देवादिऋणमेव नास्ति, त्वं यतो **जगतामीश्वरं प्रार्चः** अतस्तव यागस्यान्यत्र विनियोगाभावात् कर्मनिर्हारार्थमेव तव यज्ञो भविष्यतीत्याहुः. वस्तुतस्तु त्वं कृतार्थः, तव कर्मनिर्हारादिकं नापेक्ष्यत इति मूलप्रश्ने उत्तरमुक्तं भवति. **परमया भक्त्या** पूजितश्चेद् भगवान् परमप्रीत्याश्रयः स्वयमपि जात इति **स पुत्रतां गत** इत्यर्थः. एवं यज्ञाः कर्तव्या इत्युक्तं भवति ॥४०-४१॥

ततो ब्राह्मणानामेवार्त्विज्यमिति देवानामपि कुरुक्षेत्रमेव वेदिरिति भाग्यतो ऋषयः समागता इति तेषां वचनं कृतवानित्याह **इति तद्वचनं श्रुत्वेति.**

---

१. भवान् भगवदीयो इति खपाठः - सम्पा.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इति तद्वचनं श्रुत्वा वसुदेवो महामनाः ।
तानृषीनृत्विजो वव्रे मूर्ध्नानम्य प्रसाद्य च ॥४२॥

महामनाः यज्ञकरणे प्रोत्साहयुक्तः. **तानेव** पूर्वोक्तान् **ऋषीन् ऋत्विक्त्वेन वव्रे**. ओदनं पचतीतिवत् वरणेन तान् ऋत्विजः कृतवानित्यर्थः. **मूर्ध्नानम्येति** नमनेनैव वशीकृताः. अस्माभिरुक्तं कर्तव्यमिति कथमस्माभिरेव यागः कर्तव्य इति तेषां संकोचाभावः कारित इत्याह **प्रसाद्येति**. चकारात् स्तोत्रादिकमपि कृत्वा ॥४२॥

ततः सोमप्रवाककृतवरणे जाते द्वैपायनादयः तं याजयामासुरित्याह **त एनमिति**.

त एनमृषयो राजन् वृता धर्मेण धार्मिकः ।
तस्मिन्नयाजयन् क्षेत्रे मखैरुत्तमकल्पकैः ॥४३॥

धर्मेण, न तूत्कोचनादिकं कृत्वा, यतो **धार्मिकः** सः. यादवाः वैदिकधर्मेण प्रशस्ता इति वसुदेवे विशेष उक्तः. **तस्मिन्नेव क्षेत्रे अयाजयन् मखैः** सर्वैरेव. **उत्तमः कल्पो येषां,** न क्वाप्यनुकल्पः कृत इत्यर्थः ॥४३॥

एवं वैदिकसमृद्धिमुक्त्वा लौकिकसमृद्धिमाह **तद्दीक्षायां प्रवृत्तायामिति**.

तद्दीक्षायां प्रवृत्तायां वृष्णयः पुष्करस्रजः ।
स्नाताः सुवाससो राजन् राजानः सुष्ठ्वलङ्कृताः ॥४४॥
तन्महिष्यश्च मुदिता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः ।
दीक्षाशालामुपाजग्मुरालिप्ता वस्तुपाणयः ॥४५॥

सर्व एव **वृष्णयः** कमलमालायुक्ता जाताः. अनुवादो वा, अनेन भगवत्सारूप्यं निरूपितम्. ततः **स्नाताः** अभ्यङ्गेन, **सुवाससो** जाताः **अलङ्कृताश्च** ॥४४॥

तथैव **तन्महिष्यः**. अन्तस्तोषमाह **मुदिता** इति. पुरुषाद् विशेषमाह **निष्ककण्ठ्यः सुवासस** इति. इदं वस्त्रमुपरि परिधेयम्. ततश्चन्दनादि**लिप्ताः** उपायनहस्ताः सत्यः यस्यां **शालायां दीक्षा** कृता तामुपाजग्मुः पत्नीनां दर्शनार्थम् ॥४५॥

एवं मनुष्यसम्भ्रममुक्त्वा वाद्यादिसम्भ्रममाह नेदुरिति.

नेदुर्मृदङ्ग - पटह - शङ्ख - भेर्यानकादयः ।
ननृतुर्नटनर्तक्यस्तुष्टुवुः सूतमागधाः ॥
जगुः सुकण्ठ्यो गन्धर्व्यः संगीतं सहभर्तृकाः ॥४६॥

वाद्य-नृत्य-गानानि निरूपितानि, मध्ये सूत-मागध-बन्दिनां स्तोत्रं च. अत्र रसाधिक्यार्थं मुख्यतया स्त्रीणां गानमुक्तम्. ताश्च केवला निषिद्धा इति **सहभर्तृका** उक्ताः ॥४६॥

एवं लौकिकसम्भ्रममुक्त्वा यागप्रकारमाह **तमभ्यषिञ्चन् विधिवदिति.**

तमभ्यषिञ्चन् विधिवद् अक्तमभ्यक्तमृत्विजः ।
पत्नीभिरष्टादशभिः सोमराजमिवोडुभिः ॥४७॥
ताभिर्दुकूलवलयैः हारनूपुरकुण्डलैः ।
स्वलङ्कृताभिर्विबभौ दीक्षितोऽजिनसंवृतः ॥४८॥

दशदीक्षासु अञ्जनमभ्यञ्जनं च. ततः **तमभ्यषिञ्चन्** पावनानन्तरं **विधिवत्** कल्पोक्तप्रकारेण. तस्याष्टादशपत्न्यः, न कापि तस्य भोगस्त्रीः. तदर्थमाह **पत्नीभिरष्टादशभिरिति.** यथा चन्द्रस्य राजसूये बहुपत्नीकप्रयोगः तथात्रापि कृतवन्त इति वक्तुं दृष्टान्तमाह **सोमराजमिवेति,** तास्त्वलङ्कारसहिताः स्वयं त्वनलङ्कृत इति. यतो **दीक्षितः अजिनेन** कृष्णाजिनेन च **संवृतः.** विभवैः सर्वैरेव **दुकूलवलयादिभिः** स्वलङ्कृताः स्त्रियः ॥४७-४८॥

ततस्तस्य ऋत्विजां शोभामाह **तस्यर्त्विज** इति.

तस्यर्त्विजो महाराज रत्नकौशेयवाससः ।
ससदस्या विरेजुस्ते यथा वृत्रहणोऽध्वरे ॥४९॥

कर्मकरा इति कदाचिदनलङ्करणम्. ततोऽलङ्कारो निरूप्यते. **सदस्यसहिताः** सर्व एव **ऋत्विजो विरेजुः.** वृत्रवधानन्तरमिन्द्रो बहुदक्षिणाश्वमेधं कृतवान् तत्र ऋत्विजोऽपि समृद्धा जाताः तद्वदत्रापीत्यर्थः ॥४९॥

एवं इन्द्र-वरुणादिसाधारणोऽस्य यज्ञ इति साधारण्यं निरूप्य सर्वतो विशेषमाह.

तदा रामश्च कृष्णश्च स्वैः स्वैर्बन्धुभिरन्वितौ ।
रेजतुः स्वसुतैर्दारैर्जीवेशौ स्वविभूतिभिः ॥५०॥

तदा रामश्च कृष्णश्चेति, तत्तत्सम्बन्धिनो बहव इति चकारद्वयम्. **स्वैः स्वैः बन्धुभिः अन्विताः सुता दाराश्च** तैः सहितौ **राम-कृष्णौ** एको **जीवः**[१] अपर **ईशः**, उभौ वा जीवानां नियन्तारौ. पूर्वोक्ता दारादयो **विभूतिरूपाः**, अथवा भिन्ना **विभूतयः** तामस्यः सात्त्विक्यश्चेति ॥५०॥

एवं सम्भ्रममुक्त्वा एवंप्रकारेण बहवो यज्ञाः कृता इत्याह **ईजेऽनुयज्ञमिति**.

ईजेऽनुयज्ञं विधिना अग्निहोत्रादिलक्षणैः ।
प्राकृतैर्वैकृतैर्यज्ञैर्द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरम् ॥५१॥

अनुयज्ञं विधिना ईजे. अग्निहोत्रादिनामान्येव **लक्षणानि येषाम्. प्राकृत**मग्निहोत्रं प्रसिद्धं, **वैकृतं** तु कुण्डपायिनामयनस्थं पयसाग्निहोत्रं द्रव्यान्तराग्निहोत्रं वा. तथैव सर्वा इष्टयः दर्शपूर्णमासव्यतिरिक्ताः. निरूढव्यतिरिक्ताः पशवो **वैकृताः**. एवं सोमेष्वपि सर्वत्र प्रकृतिविकृतिभावोऽस्ति. सर्वैरपि **यज्ञैः** भगवन्तमेव **ईजे**. तत्र हेतुः **द्रव्य**माधिभौतिकं **ज्ञान**माधिदैविकं **क्रिया** आध्यात्मिकी — एतत् त्रितयस्यापी**श्वरो** भगवान्. अत एव तत्त्रितयेन भगवानेव पूज्यत इति युक्तम्. अनेन सामान्ययज्ञा एव तेन कृताः नतु प्रसिद्धाः राजसूयादय इति निरूपितम् ॥५१॥

ततो दक्षिणामाह **अथर्त्विग्भ्य** इति.

अथर्त्विग्भ्योऽददात् काले यथाम्नायं स दक्षिणाः ।
स्वलङ्कृतेभ्योऽलङ्कृत्य गो-भू-कन्या महाधनाः ॥५२॥
पत्नीसंयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते महर्षयः ।
सस्नू रामह्रदे विप्रा यजमानपुरःसराः ॥५३॥

दक्षिणादानमुत्कर्षहेतुरिति लोकप्रसिद्धत्वात् पृथगुच्यते. **काले** तत्तदवसरे. **यथाम्नायं** यथोदितम्. **स्वलङ्कृतेभ्य** इति पूर्वं यज्ञार्थमलङ्कृता अपि पुनर्दक्षिणाङ्गत्वेन अलङ्कृताः. क्वचिद् भूमिर्दक्षिणात्वेनोक्ता, "उर्वरा प्रतिष्ठिताय देये" (.   । ।)ति. तथा दैवविवाहे "ऋत्विजे कर्म कुर्वते" (मनुस्मृ. ३।२८) इति. **महाधनाः** अन्याः काश्चन दक्षिणाः.

---

१. एके जीवाः अपरौ ईशौ इति कदाचित् पाठः सम्भाव्यते - सम्पा.

ततः पूर्ववत् पृथक् पत्नीसंयाजावभृथ्यकर्मणां करणम्. **महर्षयः** कारयन्तीति न क्वाप्यनुशयः. ततः अवभृथस्नानं **रामह्रदेष्वेव** कृतवन्तः, सिद्धार्थत्वात्. **यजमानः पुरःसरो येषाम्** ॥५२-५३॥

स्नानोत्सवमाह **नानालङ्कारवासांसीति.**

नानालङ्कारवासांसि बन्दिभ्योऽदात् तथा स्त्रियः ।
ततः स्वलङ्कृतो वर्णानाश्वभ्योऽन्नेनापूजयत् ।
बन्धून् सदारान् ससुतान् पारिबर्हेण भूयसा ।
विदर्भ-कोसल-कुरून् काशि-केकय-सृञ्जयान् ॥५५॥
सदस्यर्त्विक्-सुरगणान् नृभूतपितृ-चारणान् ।
श्रीनिकेतमनुज्ञाप्य शंसन्तः प्रययुः क्रतुम् ॥५६॥

अदाद् यजमानः तत्**स्त्रियो**ऽपि. ततः अवभृथादुत्तीर्य स्वयं **स्वलङ्कृतः** सन् सर्वानिवापूजयत्. **आश्वभ्यः अन्नेनापूजयद्, बन्धूंश्च पारिबर्हेण.** बन्धून् गणयति **विदर्भेति.** तथा **सदस्यर्त्विक्सुरगणानिति** अपूजयदिति पूर्वेणैव सम्बन्धः. **अन्नैरपूजयदिति** पाठः. ततस्ते **श्रीनिकेतं** भगवन्तमनुज्ञाप्य **क्रतुं शंसन्तः प्रययुरिति** प्रत्यापत्तिर्निरूपिता ॥५४-५५-५६॥

साधारणानां गमनमुक्त्वा प्रसिद्धानामाह **धृतराष्ट्र** इति.

धृतराष्ट्रोऽनुजः पार्था भीष्मो द्रोणः पृथा यमौ ।
नारदो भगवान् व्यासः सुहृत्-सम्बन्धि-बान्धवाः ॥५७॥
बन्धून् परिष्वज्य यदून् सौहृदा क्लिन्नचेतसः ।
ययुर्विरहकृच्छ्रेण स्वदेशांश्चापरे जनाः ॥५८॥

अनुजो विदुरः **पार्थाः** पाण्डवाः **यमौ** नकुल-सहदेवौ. एते क्षत्रियाः सम्बन्धिनः. ततो देव-ऋष्यादीन् सम्बन्धिन आह **नारदो भगवान् व्यास**

लेखः

अथर्त्विग्भ्य इत्यत्र मूले गो-भू-कन्यानां दानमुक्तम्. तत्र गा अलङ्कृत्य दत्ताः. भूमिदानं विवृण्वन्ति **क्वचिदिति.** कन्यादानमाहुः **तथेति.** ऋत्विजे कन्या देया इति दैवो विवाह उक्तः. **पूर्ववदिति,** युधिष्ठिरराजसूयवदित्यर्थः ॥५२-५३॥ इति पञ्चत्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

इति. **सर्व एव यदून् परिष्वज्य स्नेहेन क्लिन्नहृदयाः स्व-स्वदेशान् ययुः विरहक्लेशेन सहिता एव** ॥५७-५८॥

एवं सर्वेषां गमनमुक्त्वा नन्दस्य भगवद्विरहादगमनं, भगवता सह एव वा गमनं भविष्यतीति शङ्कायां वसुदेवो मनोमार्जनं कृत्वा नन्दं प्रेषयित्वा भगवन्तं स्थापितवानिति वक्तुं तत्संवादो निरूप्यते. आदौ नन्दस्य स्वतो गमनाभावमाह.

नन्दस्तु सह गोपालैर्बृहत्या पूजयार्चितः ।
कृष्णरामोग्रसेनाद्यैर्न्यवात्सीद् बन्धुवत्सलः ॥५९॥

नन्दस्त्विति. यज्ञानन्तरं **गोपालैः सहितः बृहत्या पूजया अर्चितः** प्रथमत एव वा ततः **कृष्णरामोग्रसेनाद्यैः सहावात्सीत्**. यादववत् सोऽप्येकः. **बन्धुवत्सलत्वान्न** वैषम्यम् ॥५९॥

ततः संवादार्थं प्रसङ्गमाह.

वसुदेवोऽञ्जसोत्तीर्य मनोरथमहार्णवम् ।
सुहृद्वृतः प्रीतमना नन्दमाह करे स्पृशन् ॥६०॥

वसुदेवोऽञ्जसोत्तीर्येति. **मनोरथ** एव यज्ञः कथं भविष्यतीति यज्ञरूपः **महानेवार्णवः**, विघ्ननक्रसम्भवात्. ततः **सुहृद्भिर्वृतः प्रीतमनाः** सन् **करे स्पृशन् नन्दमाह**. हस्तस्पर्शेन स्वधर्मस्तत्रारोपितस्तेन स्वाभिलषितं स करिष्यतीति सूचितम् ॥६०॥

आदौ तत्स्तोत्रं वक्तुं स्वस्मिन् नन्दकृतसौहृदं स्थापयति.

॥ वसुदेव उवाच ॥

भ्रातरीशकृतः पाशो नृणां यः स्नेहसञ्ज्ञितः ।
तं दुस्त्यजमहं मन्ये देवानामपि योगिनाम् ॥६१॥

भ्रातरीशकृतः पाश इति, अत एव **स्नेहः सुदुस्त्यजः**. भोगाभिनिवेशिनो ज्ञानिनो **देवाः**, मोक्षसाधनाभिनिविष्टा **योगिनः**. तेषां स्नेहाभावः सम्भवति. इदानीं स्वानुभवादेव ज्ञायते तेषामपि सुदुस्त्यजमिति. अतस्त्वया बन्धुत्वात् स्नेहः क्रियते, न त्वस्य प्रतीकारः कर्तव्य इति भावः ॥६१॥

मैत्रीमपि अप्रतीकार्यां निरूपयति **अस्मास्वप्रतिकल्पेयमिति**.

अस्मास्वप्रतिकल्पेयं यत् कृताज्ञेषु सत्तमैः ।
मैत्र्यर्पिताऽफला वापि न निवर्तेत कर्हिचित् ॥६२॥

सत्तमैर्भवद्भिरस्मासु मैत्री या **अर्पिता** सा **अज्ञेषु अप्रतिकल्पा** प्रतिकल्परहिता. **प्रतिकल्पः** प्रत्युपकारः. अतः **अफला. वाशब्दः** अनादरे, सफला वा. अफला सफला वा भवतु परं **न निवर्तेत** ॥६२॥

एवं प्रत्युपकाराभावं मैत्रीं च स्थापयित्वाह.

प्रागकल्पास्तु कुशलं भ्रातर्वो नाचरामहि ।
अधुना श्रीमदान्धाक्षा न पश्यामः पुरः सतः ॥६३॥

प्रागकल्पास्तु कुशलमिति. क्रियाप्रतिकल्पाभावेऽपि स्वशक्त्यनुसारेण प्रत्युपकारः कर्तव्यः ; तस्याप्यकरणे हेतुरुच्यते. पूर्वं यदा कंसो न हतः, द्वारकायां वा न गतं, तदा **वयमेवाकल्पाः**. तत एव हे **भ्रातः, वः कुशलं नाचरामहि.** सम्बोधनात् कुशलावश्यकत्वं बोधितम्. **अधुना** पुनः प्राप्तराज्याः कल्पा अपि **श्रीमदेनैवान्धाः** सन्तः **पुरः सतो**ऽपि विद्यमानान् **न पश्यामः**. धर्मिदर्शनानन्तरं हि तत्र प्रतिकर्तव्यसम्भावना ॥६३॥

तर्हि किं युक्तमित्याकाङ्क्षायां निर्णयमाह **मा राज्यश्रीरभूदिति.**

मा राज्यश्रीरभूत् पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद ।
सुजनानुत बन्धूंश्च न पश्यति ययान्धदृक् ॥६४॥

यद्यप्युभयत्रापि प्रतिकर्तव्यता नास्ति तथाप्यकल्पावस्थैव समीचीना, ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्त्योः ज्ञानशक्तिसहितस्यैव सद्भावत्वात्. क्रियाशक्तिस्तु सम्पत्तौ विद्यमानापि ज्ञानशक्त्यभावादप्रयोजिका. अत एवमन्तरं वर्तते इति **पुंसः श्रेयस्कामस्य राज्यश्रीर्माभूत्.** मानं ददातीति **मानदः.** अनेन त्वं सर्वथास्माकं मानमेव प्रयच्छसि. को दोषः राज्यस्येति चेत्, **सुजनानुत बन्धूंश्चेति. यया** श्रिया कृत्वा **अन्धा दृष्टिर्यस्य** गतदृष्टिरित्यर्थः. सत्पुरुषान् **बन्धूंश्च न पश्यति** ॥६४॥

एवं स्वदोषख्यापनं नन्दगुणप्रकटीकरणं च कृत्वा स्नेहेन रोदनं कृतवानित्याह **एवमिति.**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं सौहृदशैथिल्यचित्त आनकदुन्दुभिः ।
रुरोद तत्कृतां मैत्रीं स्मरन्नश्रुविलोचनः ॥६५॥

रोदनमुक्तार्थस्य स्थापकम्, अन्यथा मुखत एव वदतीत्यपि शङ्का स्यात्. **सौहृदेन शैथिल्यं यस्य चित्तस्य** तादृशं चित्तं यस्य. यतोऽयमानकदुन्दुभिः अतिसुबुद्धिः कंसाद् भगवन्तं रक्षितवान्, नन्दात् स्वगृहनयने कः प्रयास इति भावः. **तत्कृतां मैत्रीं** भगवत्परिपालनरूपाम्. **अश्रूणि विलोचनयोर्यस्येति** दुःखस्य सहजत्वं निरूपितम् ॥६५॥

नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत् प्रेम्णा गोविन्दरामयोः ।
अद्य श्व इति मासांस्त्रीन् यदुभिर्मानितोऽवसत् ॥६६॥

एवं स्नेहानुबन्धं प्राप्य **नन्दः सख्युः प्रियकर्ता गोविन्दरामयोः प्रेम्णा अद्य** गमिष्यामि **श्वो** गमिष्यामीत्येवं वदन् **त्रीन् मासान्** अवात्सीत्. प्रत्यहमेव **यदुभिर्मानितः** मासत्रयं स्वभावत एव स्थितः. ततोऽद्य श्व इति वदन् मासत्रयम् ॥६६॥

ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः ।
परार्ध्याभरणक्षौम - नानानर्घ्यपरिच्छदैः ॥६७॥
वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धव-बलादिभिः ।
दत्तमादाय पारिबर्हं यापितो यदुभिर्ययौ ॥६८॥

एवं माघादाषाढपर्यन्तं स्थित्वा **ततः कामैर्नानाभिलषितैः** भगवता **पूर्यमाणः सव्रजः** गोपालसहितो **बान्धवसहितश्च**. काम्यपदार्थान् गणयति **परार्ध्येति**. अमूल्यान्याभरणादीनि **क्षौमाणि** पट्टवस्त्राणि **अनर्घ्यैरिच्छदाः** दिव्यगृहोपकरणानि ॥६७॥

एतानि प्रत्येकं बहुभिर्दीयन्त इति तान् गणयति. **वसुदेवेति** पञ्च मुख्यतया गणिताः. **उग्रसेनो** राजा, वसुदेववत् सोऽपि भगवता मोचित इति. **उद्धवोऽपि** बहुकालं तद्गृहे स्थित इति. **बलो** बलभद्रः. **आदिशब्देन** देवक्यादयोऽपि गृह्यन्ते. एतैर्दत्तं **पारिबर्हमादाय** दूरे समागत्य **यापितः** सन् **ययौ** ततो निर्गतः ॥६८॥

नन्वयं सर्वं गृहीत्वैव गच्छति, न किञ्चित् स्वयं दत्तवानित्याशङ्क्याह **नन्दो गोप्यश्चेति.**

नन्दो गोप्यश्च गोपाश्च गोविन्दचरणाम्बुजे ।
मनः क्षिप्तं पुनर्हर्तुमशक्ता मथुरां ययुः ॥६९॥

नन्दः गोप्यश्चैका कोटिः, **गोपास्त्वपराः** ; उभयेऽपि **गोविन्दचरणाम्बुजे** समृद्ध्यर्थं **क्षिप्तं मनः** अतिपुष्टत्वात् **पुनर्हर्तुमशक्ताः** माथुरानेव देशान् **ययुः**. मनोनिमित्तं हि सर्वं दीयते ; नन्दादीनां तु मनो भगवत्येव अतो नन्दादीनामेव बहुद्रव्यमत्र स्थितमित्यर्थः ॥६९॥

ततो यज्जातं तदाह.

बन्धुषु प्रतियातेषु वृष्णयः कृष्णदेवताः ।
वीक्ष्य प्रावृषमासन्नां ययुर्द्वारवतीं पुनः ॥७०॥

सर्वेष्वेव स्वस्वदेशं गतेषु स्वयमेकाकिनोऽपि बहुकालं स्थिताः. तत्र निःशङ्कस्थितौ हेतुः **कृष्णदेवता** इति, कृष्ण एवालौकिकप्रकारेण रक्षको येषाम्. तर्हि कथं गता इत्याकाङ्क्षायामाह **वीक्ष्य प्रावृषमासन्नामिति,** दिनचतुष्टयदशकव्यवहिताम् ॥७०॥

ततो ये नागतास्तेषामयं महोत्सवो न जात इति शङ्कां वारयितुं वृत्तान्तकथनमाह **जनेभ्यः कथयाञ्चक्रुरिति.**

जनेभ्यः कथयाञ्चक्रुर्वसुदेवमहोत्सवम् ।
यदासीत् तीर्थयात्रायां सुहृत्सन्दर्शनादिकम् ॥७१॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥

वसुदेवस्य यज्ञमहोत्सवं यच्च **सुहृत्सन्दर्शनादिकं** तदप्येवं सात्त्विकानां निरुद्धानां परमोत्सवलक्षणं फलं दत्तवानिति ॥७१॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे पञ्चत्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति एकाशीतितमोऽध्यायः ॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमोत्तरार्ध-सात्त्विकफलप्रकरणम् समाप्तम् ॥

॥ इति सात्त्विकप्रकरणम् ॥

॥ प्रथमं परिशिष्टम् ॥

आद्यसम्पादकोंकी प्रस्तावनाएँ

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीसुबोधिनी ।

(दशम-उत्तरार्ध-सात्त्विक-प्रमेय-प्रकरणम् ।)

(अध्यायाः १५-२१)

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीता ।

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतलेखसमेता ।

विद्याविलासिश्रीश्रीनाथद्वाराधीशश्रीमद्गोस्वामिकुलतिलकश्रीमद्गोवर्धन-
लालजीमहाराजचरणानां द्रव्यसाहाय्येन 'भृगुपुरस्थ मूलचन्द्र
तुलसीदास तेलीवाला, बी.ए., एल्एल्. बी.,
वकील, हाइकोर्ट' 'सुरतिस्थ धैर्यलाल व्रजदास
सांकलीया, बी.ए., एल्एल्. बी.,
वकील, हाइ कोर्ट' इत्येताभ्यां
संशोध्य 'निर्णयसागर' मुद्र-
णालये मुद्रयित्वा
प्रकटीकृता

श्रीवल्लभाब्दाः ४४७. संवत् १९८२.

मूल्यं रूप्यकद्वयम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

निवेदनम् ।

एतत्प्रकरणमुद्रणमपि श्रीमद्गोस्वामिकुलतिलकश्रीमद्गोवर्धनलालजीमहाराजचरणानां तत्कुमारश्रीदामोदरलालचरणानां च परमकृपया भवति । श्रीसुबोधिनीमुद्रणयोजनाविषयकं सर्वमावश्यकमस्माभी राजससाधनप्रकरणे निवेदितम्, अतस्तन्नानूद्यतेऽत्र । जिज्ञासुभिस्तत्प्रकरणमवलोकनीयम् । श्रीसुबोधिनीलेखकृच्छ्रीवल्लभविषयको निर्णयोस्माभिस्तामसफलप्रकरणे कृतः, तदनुसारेणास्माभिर्लेखकृन्नाम निवेशितम् । परिशिष्टे निवेशितौ कारिकाणां श्लोकानां चाकारादिवर्णानुक्रमौ 'मोडपुरीय जमनादास कानजी, बी. ए.' इत्यनेन संपादितौ । श्रीमदाचार्यचरणानां निजाशयबोधकानां वाक्यानामस्मिन् प्रकरणे उपलब्धानां संग्रहः स्थलनिर्देशपूर्वकं परिशिष्टे वाङ्मुक्तावल्यां कृतः । एतेन लौकिकादिव्यापृतिव्यग्राणामवकाशरहितानामपि इतरेषां तत्त्वबुभुत्सूनामेतत्प्रकरणावगाहनं स्वल्पकालेन स्वल्पप्रयासेन च भविष्यति । 'हीरालाल मूलजी'त्यस्मन्मित्रस्यात्रोपकारः । एतत्प्रकरणश्रीसुबोधिनीपाठादि श्रीमत्प्रभुचरणानां श्रीविठ्ठलदीक्षितानां श्रीमदाचार्यसेवकराणाव्यासलिखितमूलपुस्तकाधारेण राजसफलप्रकरणवदेव योजितम् । इदं पुस्तकं सुरतिपुरे श्रीमद्बालकृष्णप्रभुमन्दिरे सेवायां श्री-समीपे विराजते । एतदुपयोगोऽस्माभिस्तन्मन्दिराधिष्ठातॄणां श्रीमद्गोस्वामिश्रीव्रजरत्नलालचरणानां परमकृपया कृतः । पूर्वप्रकरणवदत्रापि विरामादिकं दशदिगन्तविजयिश्रीमद्गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमानां पुस्तकानुसारेण कृतम् । पूर्ववदेव प्रत्येकश्लोकव्याख्यानसमापनसूचनं दर्भावतीस्थमोहनलालतः प्राप्तप्राचीनपुस्तकाधारेण कृतम् । पूर्ववदेव मोहमयीस्थश्रीमद्गोस्वामिश्रीगोकुलनाथचरणानामत्राप्युपकारः समजनि । पण्डितभट्टश्रीबलभद्रशर्मण उपकारः पूर्ववदेवास्माभिः स्मर्तव्यः । श्रीमद्भागवतमूलश्लोकानां पाठनिर्णयः प्राचीनपुस्तकद्वयाधारेण कृतः । तत्रैकं श्रीमद्गोस्वामिश्रीगोकुलनाथद्वितीयकुमारश्रीदीक्षितैर्दत्तम्। द्वितीयं च 'के. लक्ष्मीनारायणशास्त्री' इत्येतेषाम् । पण्डितमुख्यपरिचारकश्रीगोकुलदासानामुपकारः पूर्ववदेव । मुद्रणसाहित्यसंपादने पण्डितशिरोमणिभट्टश्रीगट्टूलालाजीसंस्थाया उपकारस्त्वविस्मरणीयः । अस्मदनवधानेनात्रानिर्दिष्टानां प्रमादाद्वा विस्मृतानां विदुषामप्युपकारः स्मर्यते । एवं यथाशक्ति सर्वाङ्गसंपन्नत्वमस्य प्रकरणस्य संपादयितुं प्रयासः कृतः । एतेन कस्यचिदपि भगवदीयस्य श्रीसुबोधिन्या अध्ययने किमपि सौकर्यं भविष्यतीति विचारेणैव परमप्रेम्णा परिश्रमेण च सिद्धमेतत्प्रकरणं श्रीमत्प्रभुचरणकमलेषु समर्पयाम इति । श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

दोलोत्सवः
१९८२-मुंबई.

मूलचन्द्र तेलीवाला ।
धैर्यलाल सांकलीया ।

EDITOR'S NOTE

This is the third volume of the Tenth Uttarardha Subodhini of Sri Vallabhacharya. Here are printed the third seven Adhyayas (15-21) which are said to comprise the Prameya Prakarana of the Sattvika Prakarana of the Tenth Skandha of Srimad Bhagavata. As before an effort has been made by us to settle the text of Bhagavata according to Sri Vallabhacharya's Subodhini. This time we got the use of two old texts of the Bhagavata. One of these was received from Pandit K. Laxmi Narayan Shastri of Nathadwar, and the other has been given by Sri Dikshitaji. The text of Subodhini is critically settled as before. It is based on six Mss., two of which were received from Pandit Gattulalaji's Library, one from Mr. Mohanlal of Dabhoi, one printed at Brindaban and one of Sri Vitthala Dikshita second son of Sri Vallabhacharya. The last has been written in the hand of Rana Vyasa, a select pupil of Sri Vallabhacharya. Our text of Subodhini is primarily based on this very copy, the use of which was so very kindly allowed to us by the enlightened Maharaja Sri Vraja Ratnaji of Surat in whose Temple this book has been preserved in Seva. In this connection we have also to thank, as before, Sri Gokulnathaji Maharaja of Bombay for having facilitated our work by allowing us the use of his press-copy. As before the Nibandha of Sri Vallabhacharya with Purushottamji's commentary on this chapter has been published here. All other materials in connection with this are also included in this Volume. Indexes of Karikas and Slokas of this Prakarana are given. These were kindly prepared by Mr. Jamnadas Kanji B.A. A list of all quotations occuring in this chapter has been given indicating as far as possible the sources from which they are drawn. We have culled out and printed at the end typical sentences expressing the author's personal views from this Prakarana-Subodhini; a perusal of which would at a glance enable the reader to come into touch with the grand personality of the noble great soul who wrote this work. This was done by Mr. Hiralal Mulji.

As before we have specially to thank Tiket Sri Govardhanalalji Maharaja of Sri Nathadwara, the head of the Goswami Maharajas, and his son Sri Damodarlalji for having supplied us with funds for the publication of this work.

We have spared no pains to make this Prakarana as complete as possible, and with feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love at the Lotus feet of Lord SriKrishna.

Bombay
15th March 1926.

M. T. Telivala.
D. V. Sankalia.

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीसुबोधिनी ।

(श्रीमद्भागवतदशमोत्तरार्धसात्त्विकसाधनप्रकरणम् ।)

(अध्यायाः २२-२८)

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीता ।

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतलेखसमेता ।

विद्याविलासिश्रीश्रीनाथद्वाराधीशश्रीमद्गोस्वामिकुलतिलकश्रीमद्गोवर्धनलालजी–
महाराजचरणानां द्रव्यसाहाय्येन 'भृगुपुरस्थ मूलचन्द्र तुलसीदास
तेलीवाला, बी.ए., एल्एल्. बी., वकील हाइ कोर्ट'
इत्येतेषां सुहृद्भिः संशोध्य 'निर्णयसागर'
मुद्रणालये मुद्रयित्वा प्रकटीकृता ।

श्रीवल्लभाब्दाः ४५२. संवत् १९८६.

मूल्यं सार्धमुद्रिका ।

Printed by Ramachandra Yesu Shedge, at the Nirnaya Sagar Press,
26-28, Kolbhat Lane, Bombay.

Published by Dhirajlal Vrajdas Sankalia, B.A., LL.B., Advocate,
at Khakhar Building, C.P.Tank, Bombay 4.

EDITOR'S NOTE

This is the fourth volume of the tenth Uttarardha Subodhini of Sri Vallabhacharya. Here are printed the fourth of the series of the seven Adhayayas (22 to 28) which are said to comprise the Sattvika Sadhana Prakarana of the tenth Skandha of Shrimad Bhagavata. An effort has been made by us to settle the text of the Bhagavata according to Sri Vallabhacharya's Subodhini. We have also attempted to settle the text of the Subodhini based on such of the mss. as were available to us. These comprised three mss. from Pandit Gattulalaji's Library, one from Mr. Mohanlal of Dabhoi and one printed at Brindaban. We have also to thank as before Sri Gokulanathaji Maharaja of Bombay who was so kindly pleased to have kept with our late departed colleague Mr. Telivala, a press copy of the present volume. This has facilitated our work. As before the Nibandha of Sri Vallabhacharya with Sri Purushottamaji's commentary has been printed here. All other relevant portions of other works bearing on this portion have also been included in this volume. Indexes of Karikas and Slokas of this Prakarana are given; a list of all quotations occuring in this chapter has been given indicating the source from which they are drawn as far as possible. At the end are given culled out from the original typical excerpts expressing the author's personal views from this Prakarana of Subodhini a perusal of which would at a glance enable the reader to come into touch with the spirit of the superhuman personality descended on the Earth to serve as the mouth-piece of God to reveal the real meaning of Bhagavata. This was very kindly prepared by Shastriji Kalianji Kanji to whom our sincere thanks are due for rendering us valuable assistance in carrying out the present work through the press.

As before we have specially to express our deep debt of gratitude to Sri Govardhanalalji Maharaja of Sri Nathadwara the head of the Goswami Maharajas and his son Sri Damodarlalji for having assisted us financially for the publication of this work.

Every effort has been made to make the present volume as complete as possible and with feelings of joy we offer this fruit of our labour of love at the lotus-feet of Lord Sri Krishna.

Bombay,
17th Aug. 1930.

Dhirajlal V. Sanklia.
Jamnadas Kanji Morparia.
Hiralal Moolji.
Govardhandas Pragji.
Purushottam Kanji Morparia.

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीसुबोधिनी ।

(श्रीमद्भागवतदशमोत्तरार्धसात्त्विकफलप्रकरणम् ।)

(अध्यायाः २९-३५)

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीता ।

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतलेखसमेता ।

विद्याविलासिश्रीश्रीनाथद्वाराधीशश्रीमद्गोस्वामिकुलतिलकश्रीमद्गोवर्धनलालजी–
महाराजचरणानां द्रव्यसाहाय्येन 'भृगुपुरस्थ मूलचन्द्र तुलसीदास
तेलीवाला, बी.ए., एलुएल्. बी., वकील हाइ कोर्ट'
इत्येतेषां सुहृद्भिः संशोध्य 'निर्णयसागर'
मुद्रणालये मुद्रयित्वा प्रकटीकृता ।

श्रीवल्लभाब्दाः ४५२. संवत् १९८७.

मूल्यं सार्धमुद्रिका ।

Printed by Ramachandra Yesu Shedge, at the Nirnaya Sagar Press,
26-28, Kolbhat Lane, Bombay.

Published by Dhirajlal Vrajdas Sankalia, B.A., LL.B., Advocate,
at Khakhar Building, C.P.Tank, Bombay 4.

EDITOR'S NOTE

By the Grace of God, we are able to put before the public the सात्त्विकफलप्रकरण, and thus continue the work so ably begun by our departed friend Mr. Mulchandra Teliwala in his life-time.

In editing the present work, we have made use of five Manuscripts. Out of these, three were obtained from Shri Tilakayita Maharaja of Nathdwara. One of these is dated 1689 Samvat, but it is incorrectly written; the second one dated 1742 Samvat is very correct, and seems to have been intended for the use of श्रीदामोदरजी — grandson of श्रीविठ्ठलेश्वर. In case of doubt, we have followed this manuscript. The third Mss. is undated, and seems to be as old as the other two.

The remaining two Mss. are from the collection of भारतमार्तण्ड पंडित गट्टूलालजी, and one of these seems to have been used by श्रीपुरुषोत्तमजी, author of भाष्यप्रकाश etc., who has made marginal notes. The other one also is tolerably correct.

As stated in a previous प्रकरण, a comparison of the सात्त्विकफलप्रकरण with तामसफलप्रकरण will immediately show the supiriority of the latter over the former. In fact, there is लीलाभेदे स्वरूपभेदः, and the लीलाः of the first ३२ अध्यायाः are so enchanting as to be of a different type altogether. However, from a synthetical point of view, it is well that श्रीमद्वल्लभाचार्य has commented on the whole of दशमस्कन्ध. In the whole field of Sanskrit literature, Vedic and modern, श्रीमद्भागवत holds the first place, and the भागवतार्थप्रकरण of निबन्ध and श्रीसुबोधिनी show clearly that it is not an ordinary ग्रन्थ, but it contains आनन्दस्य हरेः नित्यलीलाः which are inseparable from हरि Hhimself. For अलौकिकमनःसिद्धि there can be no better साधन, for a मुक्त soul there can be no higher फल. श्रीहरिरायजी is quite justified in his remark that "न च दृष्टा सुबोधिनी ...... वृथा तज्जन्म भूतले."

We have tried to correct the readings of श्लोकs in conformity with श्रीसुबोधिनी. As before, portions of निबन्ध and योजना of this प्रकरण have been printed in the appendix, together with अनुक्रम, अध्यायार्थ, विभागसूचिका etc. Indices of कारिकाs and श्लोकs have been given for ready reference, quotations have been traced to their sources as far as possible, and notable passages from the प्रकरण have been given at the end, showing the views of the author on many important questions, and we have tried to make the work as useful as possible.

Our thanks are due to श्रीगोकुलनाथजी of Bombay for giving the press-copy of the work to Mr. Teliwala, the use of which has greatly facilitated our labour. We have to express our deep debt of gratitude to गोस्वामितिलकायित श्रीगोवर्धनलालजी of नाथद्वार and his enthusiastic son श्रीदामोदरलालजी बावासाहेब for continuing to give financial help for the publication of the work.

As before, शास्त्री कल्याणजी कानजी has rendered us great help in editing the work and carrying it through the press and our special thanks are due to him.

With feelings of joy we offer this fruit of our labour of love at the Lotus-feet of Lord Sri Krishna.

Bombay,
Shravan sud 11,
1987.

Dhirajlal V. Sanklia.
Jamnadas Kanji Morparia.
Hiralal Moolji.
Govardhandas Pragji.
Purushottam Kanji Morparia.

॥ द्वितीयं परिशिष्टम् ॥

। वर्णानुक्रमेण सात्त्विकप्रकरणस्थ-कारिकार्धसूचिः ।

। मूलश्लोकसूचिः ।

द, ध

ह

क्ष



॥ सात्त्विकप्रकरणे सुबोधिन्यां लेखे च उपन्यस्तवाक्यानां सूचिपत्रम् ॥

अगस्त्यायातिथये पेचे वातापिम् – भाग.पुरा. ६।१८।१५.
अग्नये रुद्रवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद् – तैत्ति.संहिता २।२।२।३.
अग्निः सर्वा देवताः – तैत्ति.संहिता ६।९।२।१.
अग्नेरापः – तैत्ति.उप. २।१.
अङ्गीकृता ग्लानिर्न दोषाय –
अङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः –
अत्रापि वेदनिन्दायाम् – त.दी.नि. २।२१६.
अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते – बृह.उप. १।४।१०.
अन्तरो यमयति – बृह.उप. ३।७।३.
अन्तरं नैव पश्यामि निर्धनस्य मृतस्य च –
अन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षते –
अपाहता असुरा रक्षांसि पिशाचा वेदिषदः –
अपि कृकलासम् – बृह.उप. १।५।१४.
अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः – पातं.योगसूत्र २।३.
अश्रद्धया – तैत्ति.उप. १।११।३.
अस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति अमुष्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति –
आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः – वसिष्ठस्मृति ६।३.
आत्मदक्षिणं वै सत्रम् –
आत्मन्येव वशं नयेद् – भ.गीता ६।२६.
आत्मलाभान्न परं विद्यते – आपस्तम्बधर्मसूत्र १।८।२२।२.
आत्मा च धर्मदासश्च धर्मपत्नी तथैव च...न देयानि विदुर्बुधाः –
आत्मानमेव दक्षिणां नीत्वा स्वर्गं लोकं यान्ति –
आत्मा वै पुत्रनामासि – शतपथब्राह्मण १४।९।४।२६.
आदित्यवर्णं तमसः परस्ताद् – श्वेता.उप. ३।८.
आपो वा अग्नेर्भ्रातृव्याः – तैत्ति.संहिता ५।६।२।१.
आपो वै सर्वा देवताः – तैत्ति.संहिता ५।७।९।३.
आयास्ये – भाग.पुरा. १०।३६।३५.
आशंसायां भूतवच्च – पाणिनिसूत्र ३।३।१३२.
आसामहो चरणरेणुजुषाम् – भाग.पुरा. १०।४४।६१.
इन्द्रादयो बाहवः – भाग.पुरा. २।१।२९.
इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः – भाग.पुरा. ४।२२।३०.

गृहाश्रमो जघनतः –भाग.पुरा. ११।१७।१४.
गृहीत्वैतानि संयाति –भ.गीता १५।८.
गोपीनां मद्वियोगाधिम् –भाग.पुरा. १०।४३।३-४.
गोप्यः कामाद् –भाग.पुरा. ७।१।३०.
गोमति मतिमति किमिदं हरि हरि हरिणा कथं सङ्गः –
चतुर्थ ऐन्द्रिय सर्गः –भाग.पुरा. ३।१०।१६.
चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः –मनुस्मृति ४।१.
चक्षुषश्चक्षुः –केन.उप. १।२.
चिति तन्मात्रेण –ब्रह्मसूत्र ४।४।६.
छिन्द्यात् प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चेज्जिह्वामसूनपि –भाग.पुरा. ४।४।१७.
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम् –भाग.पुरा. १०।२८।१५.
जन्माद्यस्य यतः –ब्रह्मसूत्र १।१।२.
जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते –तैत्ति.संहिता ६।३।१०.
जिघांसन्तं जिघांसीयात् –वसिष्ठस्मृति ३, महाभारत २।५।३४.
जीव जीव –भाग.पुरा. ९।२२।८.
ज्ञानकाशया –
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा –भ.गीता ४।३७.
ज्ञानिनामपि चेतांसि –मार्कण्डेयपुराण दुर्गास.श. १।५५-५६.
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यम् –भ.गीता १८।४२.
ज्योतींषि विष्णुः –विष्णुपुराण १२।३७.
ततः प्रभृति पूज्यन्ते –
तदवदानैरेवावदयत –तैत्ति.संहिता ६।३।१०.
तद्धैतान् भूत्वावति –बृह.उप. १।५।७-१०, मुद्ग.उप. ३।२.
तमाहरन् तेनायजन्त –तैत्ति.संहिता ७।१।४।१.
तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति –बृह.उप. ४।४।२.
तव कथामृतम् –भाग.पुरा. १०।२८।९.
तस्मादग्निचिह्नाभिचरितवै प्रत्यगेनमभिचारस्तृणुते –
तस्मान्मच्छरणं गोष्ठम् –भाग.पुरा. १०।२२।१८.
तस्य यजुरेव शिरः –तैत्ति.उप. २।३.
तस्यानु शङ्खयवनमुराणां नरकस्य च –
तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् –ऋक्संहिता १०।९०।१६.
तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च –वामनपुराण स.मा.२५।५०.

परमो विष्णुरेवैकस्तज्ज्ञानं परमं मतं शास्त्राणां निर्णयस्त्वेषस्तदन्यन्मोहनाय हि –स्कन्दपुराणे महादेवेन स्कन्दं प्रत्युक्तम्, महाभारततात्पर्यनिर्णय १।५३.
पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः –कठोपनिषद् २।१।१, ४।१.
परोक्षे दारदर्शनम् –नीतिवाक्यम्.
पश्चाज्जातास्तु गोपिकाः श्रुतपूर्वा बलं दृष्ट्वा रेमिरे –त.दी.नि. ३।१०।३२२.
पाञ्चजन्यं हृषीकेशः –भ.गीता १।१५.
पितापुत्रौ विजानीयाद् –मनुस्मृति २।१३५.
पुत्रपौत्रकम् –बृहस्पतिस्मृति ४६.
पुरुषस्य च कर्मार्थत्वात् –पूर्वमीमांसासूत्र ३।१।६.
पुंसां किलैकान्तधियाम् –भाग.पुरा. ६।११।२२.
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति –भ.गीता ३।३३.
प्रह्लादाय वरो दत्तः –भाग.पुरा. १०।६०।४७.
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य –लौकिकन्याय ३४२.
प्राणभृन्न्यायः –पूर्वमीमांसासूत्र १।४।१२।२३-२६.
ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् –जाबा.उप. ४.
ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः –तैत्ति.संहिता ६।३।१०.
ब्रह्मा तर्हि अग्निः –तैत्ति.ब्राह्मण २।१।१०।३.
ब्रह्माननम् –भाग.पुरा. २।१।३७.
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् –तैत्ति.आरण्यक ३।१३।२।१३.
भक्तियोगविधानार्थम् –भाग.पुरा. १।८।२०.
भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति –
भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः –भाग.पुरा. ५।६।१७.
भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतम् –भाग.पुरा. ७।१५।६२.
भीमश्च बलभद्रश्च –
भूमिरेव पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णा यस्य एकदेशेन विधृता –कूर्मपुराण १।४३।५.
भोक्ता तारतम्यं जानाति –
भ्रातृणामेकजातानाम् –मनुस्मृति ९।१८२.
मद्भक्तपूजाभ्यधिका –भाग.पुरा. ११।१९।२१.
मनोवशेऽन्ये ह्यभवंश्च देवाः –भाग.पुरा. ११।२३।४८.
मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपम् –ऐत.उप. १।१।२.
मन्त्री ज्ञानचक्षुः –
मम वर्त्मानुवर्तन्ते –भ.गीता ४।११.

रिक्तहस्तो न पश्येत – मेरुतन्त्र.प्रका. १०।६५५.
लोकाय अन्तिकम् –
लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति – नवरत्न ६.
वदान्ये क्षत्रं प्रतिष्ठितम् –
वधानुकल्पः स्वद्रोहे भक्तद्रोहे वधः स्मृतः – त.दी.नि. ३।१०।२१४.
विद्यामदो धनमदः –
विद्या ह वै ब्राह्मणामाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टे – मुक्ति.उप. १।५१.
विधर्मः परधर्मश्च – भाग.पुरा. ७।१५।१२.
विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यम् – मनुस्मृति २।१५५.
विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः – सात्त्वतसंहिता.
शतमक्षान् विजानाति –
शूद्रस्तु यज्ञे अनवक्लृप्तः – तैत्ति.संहिता ७।१।१।६.
शोणितौघान् ह्रदान्नवः – भाग.पुरा. ९।१६।१९.
श्रिया पुष्ट्या – भाग.पुरा. १०।३६।५५.
श्रियो हि परमा काष्ठा – सुबो. १०।१८।का. २४.
श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाद् – भ.गीता ४।३३.
स आत्मानं स्वयमकुरुत – तैत्ति.उप. २।७.
स कालो यद्वशे लोकः – भाग.पुरा. १।९।१४.
सत्यभामा च पितरं हतं वीक्ष्य – भाग.पुरा. १०।५४।७.
सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम् – भ.गीता १४।१७.
सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम् – भाग.पुरा. ४।३।२३.
स निलायत सोऽपः प्राविशद् –
सर्पस्य हि पयःपोषः पोषकस्याप्यनर्थकृत् – भाग.पुरा. ४।१४।१०.
सर्वदेवमयः – भाग.पुरा. ४।१४।२७.
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज – भ.गीता १८।६६.
सर्वारम्भा हि दोषेण – भ.गीता १८।४८.
सर्वालङ्करणोपेता भार्यैकशयने...असिधाराव्रतमिदं विष्णुप्रीतिकरं महद् –
सर्वेषामेव भूतानां पिता माता स माधवः – महाभारत १।८९।५५.
सर्वेहोपरतिस्तनुः – भाग.पुरा. ७।१३।२६.
सिन्धोस्तटं चन्द्रभागाम् – भाग.पुरा. १२।१।३९.
सृष्ट्वास्य बीजम् – भाग.पुरा. ११।९।२६.
सेवायां वा कथायां वा – भक्तिवर्धिनी ९.

सोमं विधाय अवभृथस्नानानन्तरं सा यावद्रात्रे सन्तिष्ठते –
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् – तैत्ति.उप. २।१.
सौम्यं वै क्षौमम् –
सङ्ग्रामे विप्रपन्नानां तवास्मीति च यो वदेत् अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम – रामायण ६।१८।३३-३४.
स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि –
स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षम् – ब्रह्मसूत्र ४।४।१६.
क्षतात् त्रायते –
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि – मुण्डक.उप. २।२।८.
क्षुत्परीतो यथा दीनः – भाग.पुरा. ४।२९।३०.
क्षुत्पिपासे शोकमोहौ जरामृत्यू षडूर्मयः –



वर्णानुक्रमेण सात्त्विकप्रमेयप्रकरणीय-श्रीमदाचार्यवाङ्मौक्तिकानि

१. अज्ञानाद् दत्तं स्वानिष्टसम्पादकत्वे निवारणीयम्.

२. अर्धं भावो न्यून इति. पूर्वं बहुविधा निरूपिता अपि. प्रकृते तस्याः कथायाः अनुपयोगात् पुराणान्तरस्थां तामाश्रित्य नन्दगोपकुमारिकाः भगवता द्वारकायां नीता एव. याः पुनरन्यपूर्वाः ता अपि विमर्शे क्रियमाणे तासामेव वाक्यानुसारेण उपालम्भवाक्यैः अग्रे च भगवद्वाक्यैः भिन्ना एवेति प्रतिभाति. साधारण्य एव वा अत्र निरूप्यन्ते. सन्ति च ताः शङ्खचूडवधे निरूपिताः. अतएव सान्त्वनमासां पृथक् क्रियते. शब्दबलविवेके त्वाश्रीयमाणे अन्यपूर्वाः सर्वा एकरूपा एवेति प्रतिभाति. बलभद्रोऽपि भगवानेवेति, साम्प्रतं भगवच्छक्तिरत्र प्रविष्टेति. अतः पूर्वभावेन सान्त्वनं भगवद्भावेन रमणम् इत्युभयं न विरुध्यते. अतएव सान्त्वनेनात्र विशेष उक्तः. स हि स्वात्मानं भगवद्रूपं प्रदर्श्य तासां लौकिकभावेऽपि पश्चात् कामनां पूरितवान्. उक्ततया अहमेकरूपेण समागतः, अतएव "आयास्य" इत्यपि वचनं यथाश्रुतम्. कृष्णः साक्षादक्लिष्टकर्मेति आत्मानमेव रमयतीति यथाकथञ्चित् तत्परतामेव सम्पादयतीति न बहिर्धर्मान् कामं च गणयति. भक्तिमार्गविरोधस्तु निरोधे नाशङ्कनीयः. लौकिकसहितभक्तिमार्ग एव विरोधश्च. अतो गोपिकानां भेदे अभेदे वा विशेषो नास्तीति न पृथङ्निरूपणम्. तथापि भेदेनैव व्याख्येयमिति सम्प्रदायः.

३. अनेन अज्ञानान्निषिद्धाचरणे प्रायश्चित्तं कर्तव्यमिति पक्षो निवारितः.

४. अनेन द्विःस्वभावा अपि वध्या एवेति.

५. अनेन सर्वत्र भगवद्धर्मेषु भगवत्सिद्ध्यर्थं साक्षान्निर्लेपे सम्बन्धाभावाद् अनुकल्पाः कृता इति सूचितम्. अनुकल्पोऽपि सानुभाव एव भवति, नतु निरनुभाव इति.

६. अनेन भगवदीयानां क्रीडास्थाने पूर्वकृतो धर्मः साधनतामापन्नः.

७. अनेन प्रमाणविचारेण दर्शनायोग्यता निरूपिता. प्रमेयविचारेणापि दर्शनायोग्यतामाह.

८. अन्यजीवाः सापराधा एव भवन्तीति तथाविधस्यानङ्गीकारे भक्तिमार्ग उत्सन्नः स्यात्.

९. अन्तिमजन्मन्येव भगवत्साक्षात्कारात्.

१०. अपेक्षिता सेवा, इच्छानुसारिणी अनुसेवा भवति.

११. अलौकिके भगवानेव साधनम्.

१२. अस्त्येको ज्ञाननाशप्रकारः चतुर्थे निरूपितः.

१३. अहोरात्रसमसङ्ख्याताः तद्देवताः यमालये श्वानः तिष्ठन्तीति प्रसिद्धिः.

जीवाश्च श्वान इत्यपरे.

१४. इदं रमणं पुष्पावचयादिरूपम्.

१५. इदानीं तु तन्नगरं पतितं गङ्गायां पतितमिति ज्ञातव्यम्. अतो न विरोधः शङ्कनीयः. भागवतकथनसमये तु दृश्यत एव.

१६. ईक्षाभिमर्शनं प्रमेयबलम्. साक्षात्कारसम्बन्धौ हि फलरूपाविति तत्सिद्धौ साधनसिद्धिर्नान्तरीयकेति.

१७. एकेनापि ब्रह्मस्वेन मिलितेन सर्व एव कृतो धर्मो नष्टो भवति.

१८. एतानि सप्तमहाराजचिह्नानि अन्येषामयुक्तानि राजभिरवश्यमन्यत्र दृष्टानि निषेद्धव्यानि.

१९. एवं पञ्चाङ्गं भगवन्तं स्मरन्त्यः मोहं मूर्च्छां प्राप्ताः.

२०. औरस्याः क्षत्रियायां विवाहितायां जातायाः राजकन्यायाः स्वयंवर एव.

२१. कान्तिर्भगवतश्चतुर्थी शक्तिः.

२२. केचित्तु इतःप्रभृति सात्त्विकप्रकरणमाहुः, त्रयस्त्रिंशदध्यायैः पूर्व इति च, तत्र नारदः सात्त्विकेषु मुख्य इति स निरूप्य इति. तत्रैवैकादशैकादशभिः तेषामवान्तरप्रकरणव्यवस्था, सात्त्विकास्तु द्विविधा एव सकामनिष्कामभेदेनेति. तेषां मते दशेन्द्रियाणि अन्तःकरणं च निरुध्यत इति निरोधसिद्धिः. एतन्मतमवष्टभ्य अस्माभिर्निबन्धे निरूपितं लक्ष्मणाहरणावधि इत्येतावता स्त्रियः समाप्ताः. तासु भोगो भगवत्कृतः शास्त्रविरोधान्न मन्तव्य इति प्रामाण्यार्थं नारददृष्टिरनुवर्ण्यते. नारदो हि भगवदीयशास्त्रेषु अक्लिष्टचरित्राण्येव श्रुतवानिति नरकवधादिकं न पूर्वं श्रुतवान्. यद्यपि नरकवधमात्रं पूर्वसिद्धं तथापि तदवरोधाद् विवाहः साम्प्रतमेव श्रुत इति स विचारणीयः. इदं चरित्रं न पूर्वं ऋषिभिर्विचारितम्. अतः परं सहस्रेष्वपि चरित्रेषु मीमांसितमेव चरित्रं विचार्यते.

२३. गोदानप्रस्तावे कश्चिद् वञ्चको धूर्त आसन्नमरणां गां वञ्चयित्वा ब्राह्मणाय दत्वा मुक्तिं गत इति श्रूयते. स हि नगरमध्यवासे मृतायाः गोर्निर्हरणासमर्थः व्याजेन कञ्चिद् ब्राह्मणमाकार्य तस्मै दानं दत्तवान्. ततो मुहूर्तत्रयानन्तरं गौर्मृता. ततो ब्राह्मणः प्रतिग्रहीता स्ववस्त्रं चाण्डालेभ्यो दत्वा तां गां बहिः निःसारितवान्. एवं ब्राह्मणं वञ्चयित्वा पश्चान्मृतः. यमेन पृष्टः चित्रगुप्तेन तस्य वृत्तान्ते कथिते ''पूर्वं शुभफलभोगं करिष्यामी''त्युक्त्वा तत्रापि कौटिल्यं कृतवान्. तादृशगोदानस्य हि फलं यावद्गौर्जीवति तावत् परलोके कामधेनुस्तद्वशे तिष्ठतीति. तथा यमेनोक्तः ''मुहूर्तत्रयं कामधेनुस्त्वदधीना स्थास्यती''ति. कामधेनुं प्रत्याह ''व्याघ्रो

भूत्वा यमं भक्षये''ति. ततो व्याघ्रेणोपसृतः यमः भीतो विष्णुं शरणं ययौ यत्रास्ते भगवान् ब्रह्मादिभिर्वृतः. तत्र पश्चादयमपि गतः कामधेन्वा नीतो, विष्णुसाक्षात्कारे मुक्त इति.

२४. ज्ञानशक्तिरत्र न पूर्णेति केचित्. लोकानुरोधी भगवानित्यपरे. नीतिमार्गानुसारिणी साधनशक्तिः पुष्टिमार्गानुसारिणी फलशक्तिरिति सिद्धान्तः.

२५. चतस्रो घटिकाः प्रातररुणोदय उच्यते.

२६. जीवस्य ग्रहणपरित्यागज्ञानमेव नास्ति, कुतो मोचनपरिज्ञानम्.

२७. जीवाश्रयो भगवान् भवतीति जीवाश्रितश्च तिष्ठतीति.

२८. तदा न दोषः शास्त्रे, लोकोऽपि न विगानम्. यथा प्राणात्यये सर्वविषयपरिग्रहस्य.

२९. तत्रेज्यानुमतिः प्रयोजिका, तदभावे तोषाभावात्. देवतातः फलमिति पक्षे न फलं कर्मणः. कर्मणः फलमित्यपि पक्षे देवताप्रीतिः साधनत्वेन सिद्धेति तदभावे न फलम्, ''तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयती''ति श्रुतेः. अतः पूजायां पूज्यानुमोदनमावश्यकम्.

३०. तामसस्थाने भगवदाविर्भावः सहसा न भवति.

३१. त्रिधा हि यज्ञकृतिः — फलार्था भौतिकी, शुद्ध्यर्थाध्यात्मिकी, भगवदर्थाधिदैविकीति. ''यज्ञेन यज्ञमयजन्त''ति श्रुत्या सैव निरूपिता. तत्र प्रतिबन्धकनिवृत्तिः भगवतैव कर्तव्या इज्यान्तराभावाद् इत्यभिप्रेत्याह 'त्वां यक्ष्यती'ति. ''यज्ञो वै मखः'' इतिश्रुतेः. आधिदैविक एव यज्ञो मखो भवति. प्रकरणवशात् क्षत्रियस्य राजसूयादन्यः यज्ञः श्रेष्ठो नास्तीति. उपरतानां क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामेव दीर्घसत्रेष्वधिकारात्. महति च बहवो विघ्नाः.

३२. दक्षिणाग्नावेवाभिचारहोमः. तेन चातुर्होत्रविधानेन कर्तव्यमिति. तत्राप्यभिचारविधानेन इष्टप्रकृतिकश्चेत् न शरमयादि. पशुप्रकृतिकत्वे तु तूपरः. पशु स्फ्यो यूपः शरमयं बर्हिः वैभीतिक इध्मः. अत्र तु पुरोडाश एव. यतोऽग्निरेव देवः. स च प्रमथैर्वृतः. अतो रुद्रवानेवाग्निः. अभिचारसामान्यात् शरमयादिर्वा.

३३. दाने कपिला विशिष्टा.

३४. दुर्गादुत्तीर्य पुराणद्वारका उपवनत्वेन स्थिता.

३५. दुःखे असामर्थ्यं, सुखे अन्यासक्तिः, उभयाभावे मोहादिरिति सर्वत्रैव स्मरणाभावस्तुल्यः. तथापि कृपयैव स्मरणमिति स्थानविशेषस्याप्रयोजकत्वात्.

३६. न हि भगवान् क्लिष्टं करोति. अनेन सुदर्शनस्यापि निरोधो निरूपितः.

३७. निषिद्धायाः क्रियायाः ब्राह्मणविषयायाः पांसुद्वारैवानिष्टनिर्णयो वेदे निरूपितः.

३८. नीचयोनिभूतो नरकः भूमावेव, नान्यत्र.

३९. प्रमेयबले वेदापेक्षया भगवदाज्ञा कर्तव्या.

४०. प्राकृतबुद्ध्या श्रवणादौ मर्यादाभक्तानां मते प्रमेयबलाभावात् न फलम्. अन्यथा सर्वेषामेव नाम्नः भगवद्वाचकत्वात् कस्यापि बन्धो न स्यात्.

४१. पूर्वाध्याये सात्त्विका निषिद्धात् व्यावर्तिताः. षोडशे त्वध्याये लौकिकात् सात्त्विकभावमापादिताः गोपिका निरुध्यन्ते. ततो वैदिकादपि काशीदाहे निरोधं वक्ष्यति. ततः अशास्त्रभक्तेः द्विविदादीनाम्. ततो भीष्मादीनां शास्त्रभक्तेश्च. ततः शास्त्रप्रवर्तकस्य नारदस्यापि, मुख्यभावात्. स्वशक्तिर्द्विधा स्थापितेति साधनशक्तिरूपो बलभद्रः गोपिकानां निरोधं कृतवानिति निरूपणार्थं गोकुले बलभद्रगमनादिकमुच्यते.

४२. फलं हि द्विविधं — इहलोके यशः परलोके स्वर्गः.

४३. ब्रह्मवृत्तिर्ब्राह्मणानामेव जीवनसाधनोत्पत्तिस्थानम्.

४४. भगवदीयया सत्कृत इति तस्यान्तस्तापो निवृत्तः.

४५. भगवतः कला जगदुत्पत्ति-स्थिति-विनाशकर्त्री काचित्. तस्यास्त्रयोंऽशाः सत्त्वादयः. तत्र रजो ब्रह्मा, तमो भवः, अहं सत्त्वं भूधरत्वात्.

४६. भगवतः सर्वतोऽच्युतत्वात् नित्या कीर्तिर्भगवति पूर्णा च.

४७. भक्ति-निरोध-मुक्तीनां दोषोत्पत्तौ प्रयोजकत्वाभावात् सुतरां दोषजनकत्वाच्च तत्कथया नः कोऽपि नोपकारः. भक्तिमार्गे प्रतिबन्धान् दूरीकृत्य स्नेहेन भगवद्भजनं कृतं स्यात्. निरोधे तु क्षणमात्रमपि भगवददर्शने देहेन्द्रियादिकमपि त्यक्तं स्यात्. मुक्तौ वैषम्यग्रहणं न स्यात्. अतो दोषाणामनिवृत्तत्वाद् गुणानां चाभावात् तत्कथया नः किम्?

४८. मदीयानां शापो न भवतीति भयाभावात् न केवलं तूष्णीं स्थातव्यम्.

४९. मेघागमे हि तेषां नृत्यं भवति नृत्यदर्शने च रसः आविर्भूतो भवतीति.

५०. यो भगवद्धर्मान् प्रतीक्षते तस्य नान्ये धर्मा बाधका भवन्ति.

५१. योगेन महादेवस्तुष्यतीति. परमः साक्षान्महादेवप्रीतिजनकः. समाधिः चित्तैकाग्र्यम्. तेन तुष्यतीति शैवतन्त्रसिद्धत्वात् तथा कृतवान्.

५२. वपुषो ब्रह्मधर्मत्वम्.

५३. वामो हस्तः दैत्यहितकारी, दक्षिणो देवानाम्.

५४. वारुणी काचिल्लक्ष्म्या सह अमृतमथने उत्पन्ना. सा अधिष्ठात्री देवता सर्ववृक्षेषु तिष्ठति. सा दैत्येभ्यो दत्तेति दैत्यराजाधीना. सा यस्मिन्नेव वृक्षे अधितिष्ठति तत एव मधुधारा उत्पद्यते.

५५. विधिरत्र प्रमेये न नियामक इति न भगवतो विहितं निषिद्धं

वा किञ्चिदस्ति.

५६. विवाहे विरोधो वा न कर्तव्यः मैत्री वा.

५७. स तन्मयोऽभवत् तेन व्याप्तोऽभवत्. आत्मनि परमात्मा आविष्टः तेनावेशी जातः. शरीरेन्द्रियप्राणान्तःकरणसद्भावे आधिदैविकानि शरीरादीनि तत्राविष्टानि, अन्यथा तु स्वतन्त्रावेशीव भगवद्गणो जातः. तत्र च भगवत इव तस्यापि लीला भविष्यतीति मुख्यपक्षः. विष्णुदेवतानुरूपत्वे तु वैष्णवलोके तथात्वमिति शङ्खचक्रादिभावस्यैव प्राधान्यादिति केचित्.

५८. सर्वा एव सिद्धयो लौकिका वैदिकाश्च भगवत्येव स्थापिताः.

५९. सङ्कर्षणश्च तामसी भगवन्मूर्तिः.

६०. स्वमौलिना पादस्पर्शः भगवद्धर्माणां नित्यत्वात् तच्चरणछायायामेव सर्वभोगसूचकः.

६१. सरस्वती तु "सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितमि"तिवाक्यात् शुद्धसत्त्वे आविर्भूतत्वमेव, अतो मिथ्याभिधात्वमिति.

६२. सर्वेषां भाग्यं लक्ष्म्यधीनम् अतः सा सर्वेश्वरी. सापि नीचतया भगवच्चरणारविन्दं सेवते. साक्षादित्याधिदैविकी, नतु दिव्यस्त्रीरूपा नापि राजलक्ष्मीरूपा.

६३. संस्थाविधिः पारलौकिकी क्रिया.

६४. स्नेहेन बाधितार्था (वाक्यानि !) अपि प्रयोजका भवन्ति.

६५. हीनभावः निरयो भवति.

६६. हीनेषु हस्तग्रहः, समेषु हास्यम्, उत्तमेष्वभिवादनम्.

वर्णानुक्रमेण सात्त्विकसाधनप्रकरणीय-श्रीमदाचार्यवाङ्मौक्तिकानि

१. अतिथिवेला वैश्वदेवः ; अप्रत्याख्येयातिथिः.

२. अत्यन्तस्नेह एव नित्यं स्मरणमिति सिद्धान्तः. प्रयोजनसाधकत्वं त्वौपाधिकं संस्मरणहेतुः.

३. अन्ये हि कार्यार्थं भगवदंशपुरुषनिर्मित-प्रपञ्चैकदेशार्थसिद्ध्यर्थं केनचिदंशेनावतीर्णाः. कृष्णस्तु वैष्णवानां पतिरिति कालगृहे समागतान् कालं वञ्चयित्वाऽऽनेतुमागत इति मर्यादारक्षार्थं पतित्वात् समागतः. अतो भगवदिच्छया कालसम्बन्धिनो न तं जानन्ति.

४. आदरेण नमनं कार्यसाधकम्.

५. आपत्स्वपि स्वदेशो न त्याज्यः.

६. उत्कर्षस्तु जीवानां पाञ्चभौतिकयुक्तानां लक्ष्मीकृत एव भवति.

७. एको गुणः समयविशेषे दोषत्वमापद्यते.

८. कञ्चुकाद्यभावसहितं सोपवीतवस्त्रद्वयं तिलकादिसहितं ब्रह्मवेषः.

९. कृष्णशब्दो दुष्टमुखान्निर्गतः मालिन्ययोगान्मलिनमेव वक्ति.

१०. कृष्णोऽस्ति मम किमनेन समीचीनेनासमीचीनेनेति निश्चित्य यथाप्राप्तार्थानुभवः कर्तव्यः.

११. तदेवाद्भुतं यद् अन्यार्थमारब्धमन्यार्थं भवति. अतएव विश्वमेवाद्भुतमिति भगवच्छास्त्रम्. धर्मार्थं यत्नं कुर्वन्नधर्मं करोति, अर्थार्थमनर्थम्, एवं पुरुषार्थान्तरेऽपि. किं बहुना, सुखार्थं यतमानो दुःखं प्राप्नोति. एवं सर्वाश्रमादिधर्मेषु भगवदनुसन्धानव्यतिरिक्तेषु बोद्धव्यम्. अत्रापि फलं भगवदनुभवः साधनत्वेन मन्यते. तथा सर्व एव भगवत्सम्बन्धिपदार्थः. इदं रहस्यं सर्वदैव भगवदीयैरनुसन्धेयम्.

१२. दानं धर्मत्वात् सुखार्थं भवति. तद् यस्मिन् दत्ते महद्दुःखं भवेद् वृत्तिर्वा विपद्येत न तद् देयम्.

१३. देहनाशार्थं प्रयत्ने देहे बीजं तिष्ठेद् अतो देहान्तस्यैव प्रतीक्षा कर्तव्या.

१४. धर्मफलमधर्मो न सहते, यथा आमयो गुरुभोजनम्.

१५. धर्म-कीर्तिविरोधे धर्मो रक्षणीय इति सिद्धान्तः.

१६. धर्म-ब्राह्मणौ पुष्टिमार्गे बाधकौ.

१७. न ह्यात्मनि विकल्पो नानाविधत्वं वा भवति. तथापि विकारजातं वस्तुत्वेन मन्यमानः मायामोहित एव भवति.

१८. न हि पुरुषोत्तमः स्त्रिया उत्सवं सम्पादयति. तथा सत्युत्तमत्वमेव चिन्त्यं स्यात्.

१९. नित्यमेव भगवद्रूपं हृदयात् प्रतिमायामिव मूलस्थानात् स्वस्मिन्नाहरणं कर्तव्यम्.

२०. पापवशादेव चाञ्चल्यम्. ध्यानार्थमुद्यतस्य प्रथमस्मरणेन पापनाशे उत्तरोत्तरस्मरणसिद्धिः.

२१. प्रसिद्धपुरुषाणां तु पुरमेव शोभाकरम्.

२२. बाह्यदुःखं श्रियैव गच्छति.

२३. ब्रह्मत्वं भगवत्त्वं मान्यत्वं श्रेष्ठत्वम् अन्यद् वा सर्वकलापूर्णत्वं सच्चिदानन्दविग्रहत्वं कृष्णस्य भगवतः कश्चिदेव जानाति.

२४. ब्राह्मणानामार्त्विज्यं सर्वक्रतुष्विति विद्या-तपोवृद्धक्षत्रियव्युदासः.

२५. ब्राह्मणानां वाग्बलमेव भवति.

२६. भक्तिमार्गश्च सर्वेभ्योऽतिरिच्यते.

२७. भक्त्या पूजनं नाङ्गविकलं भवति.

२८. भगवन्तं विहाय भक्तस्य पुरतो गमनमनुचितम्.

२९. भगवदनुभावकृपाव्यतिरेकेण प्रमेयबलं विना आर्षज्ञानं न भवतीति तेन ज्ञानेन भगवति दोषदर्शनं स्वजन्मनि मातृव्यभिचारदर्शनमिव सर्वथा बाधितविषयत्वाद् उपेक्ष्यम्.

३०. भगवदुत्कर्षज्ञानार्थं हि सर्वोऽपि प्रयत्नः. तदपकर्षे हृद्यागते विपरीतं जातमिति स्वकृतस्य धर्मस्य वृथानाशात् स्वयं विपरीतज्ञानादधो याति.

३१. भगवानेव सर्वकर्ता इति किमाश्चर्यम् ?

३२. महान् स्तुतिप्रियो भवत्येव.

३३. यदत्रानुचितं जायते धर्मस्थाने तत्र हेतुः काल एव. स हि कदाचिद् धर्ममङ्गीकरोति कदाचिदधर्ममिति द्विस्वभावः.

३४. यमर्थं नित्यं स्मरति स एव भवति.

३५. यशसा दिव्यं शरीरमयशसा नारकिशरीरम्.

३६. यज्ञावेशस्तु मन्त्रादिना न भवति, भगवद्रूपत्वात् स्वतन्त्रत्वाच्च भगवतः.

३७. यदि बहवो भवन्त्यात्मानस्तदा गौणप्रधानभावे अन्याश्रयणं निषिद्धं भवति. एकत्वे तु जघन्यस्याप्यधमाङ्गस्योत्तमाङ्गं सेवां करोतीति, यथा पादप्रक्षालनं हस्तेन क्रियते तदा न विरोधः. इति भगवत एव जगति एकस्य सत्त्वान्न विरोधः.

३८. यद्यपि कायवाङ्मनोभिस्त्वां प्रपन्नाः नैतादृशं वाञ्छन्ति तथापि यदि वाञ्छन्ति तदा प्राप्नुवन्ति इति सिद्धान्तः.

३९. यस्योपचयस्तस्यापचयः.

४०. युद्धे चेत् स्थिरता बुद्धेर्भवेत् तदा क्षत्रियो युद्धसम्भवभूमिं परित्यज्य युद्धरहितभूमौ न गच्छेत्.

४१. योग्यं योग्येन सम्बध्यते इति प्राकृता धनादयः पदार्थाः कथं साक्षाद्भगवते दातुं शक्याः ? लोकेऽपि विप्राय गुरवे स्वामिने न हि शूद्रः स्वकन्यां प्रयच्छति किन्तु शूद्रायैवाधमायापि दातुं वाञ्छति.

४२. युद्धे पराक्रमो बलं शिक्षा च हेतवः.

४३. राजसूयो हि भूमेर्निर्वीरत्वं सम्पादयति.

४४. राज्ञः प्रजापालनं यज्ञाश्च धर्मः.

४५. रिपोः स्थाने कार्यपर्यन्तं वेषेणैव स्थातव्यमिति नीतिः.

४६. वेषान्तरे समानशीलत्वं नोपपद्यते.

४७. शब्दादपि महद्भयं भवति सर्वेषां ; तेषां प्रहारेऽपि न तद् इति माहात्म्यम्.

४८. श्लक्ष्णा वाणी श्रवणमात्रेण सुखदात्रीति शब्दोऽपि पञ्चमो विषयः.

४९. सम्पदः श्रेयो भवन्ति परं समूलाश्चेत्. तासां मूलं धर्मादिः. तदभावे अमूलाः सत्यः क्षणान्निवर्तन्ते. एतादृशीः सम्पदः भगवन्मायामोहितो नित्या एव मन्यते अचलाश्च. तस्मान्मोहजनकत्वान्निर्मूलाः सम्पदः न समीचीनाः. अल्पनाशश्चलनं सर्वनाशोऽनित्यता.

५०. संसरणं त्वभीष्टं, भगवदीयमार्गोपयोगित्वात्.

५१. संसृतिर्जननमरणरूपा भगवच्चरणस्मरणविस्मारिका.

५२. सम्पदां सर्वथा दुष्टत्वं नास्ति किन्तु निर्मूलानामेव.

५३. सर्वथा भग्नोपाय एव भगवत्परो भवति.

५४. स्थानबलं स्वगृहे स्वस्याधिकम्.

५५. स्पर्धा हि आत्मनो मुख्यो नाशहेतुः.

५६. स्वपरभेदमतिस्त्रिविधानां भवति— ये देहात्मभावेन परिच्छिन्नाः, भोगसिद्ध्यर्थं विषयेषु विषमदृष्टयः, ततो विषयसुखभोक्तारः.

५७. स एव हि दैत्यांशो ज्ञेयः यो भगवत्सम्बन्धिनमर्थं श्रुत्वा न सहते, सन्तप्तश्च भवति, प्रतिकूलं च वदति.

५८. हृषीकेशो हि भगवान् हृषीकाणामत्यन्तजये जितो भवति.

वर्णानुक्रमेण सात्त्विकफलप्रकरणीय-श्रीमदाचार्यवाङ्मौक्तिकानि

१. अज्ञानं तावदेव यावद् भगवतः सान्निध्यं न भवति.

२. अत्र भक्तिमार्गस्यायं सिद्धान्तः— ब्रह्मानन्दः स्वेच्छया वस्त्रमिव संकुचितात्मा शतगुणित इव घनीभूतः परिणतदधिवदन्यूनः आनन्दघनो भवति तदा भगवद्भक्तानां कायवाङ्मनोभिः दृढं गृहीतः रसात्मकत्वाद् भक्तानामानन्दरूपं स्रवति स भक्तिरस इत्युच्यते. सोऽपि शब्दब्रह्मणि भागवतादावुद्धृतः घटोद्धृतजलमिव महतां श्रवणस्मरणकीर्तनादिभिः इन्द्रियाघातैः तच्छिद्रद्वारा स्वरसो हृद्हृदे विनिविशति. स तु भक्तिरसापेक्षयापि पुनः भक्तेन्द्रियैः पावितत्वात् निर्गलितस्ततोऽप्यधिकरसः.

३. अन्तःकरणजयाभावे उत्पादिता अपि गुणास्तामसैर्भावैर्तिरोहिता भवन्ति.

४. अविनीतस्य विद्या निर्वीर्येति.

५. अशिवसम्भावनायां कुशलप्रश्नः संगच्छते, अन्यथा निःसन्दिग्धे प्रश्नो व्यर्थः स्यात्. यद्यपि संसारित्वेनाकुशलं सम्भवति तथापि सर्वाकुशलनिवर्तकसाधनस्य निरन्तरमनुष्ठानात् कुतः अशिवम्?

६. अशुभं धर्मादेव निवर्तते, ततो ज्ञानं, ततः सवासना अविद्यानिवृत्तिः, ततः केवलात्मा भगवन्निष्ठो भवति. तत आनन्दघनो भगवान् प्रकटो

भवति. तत्र भक्त्या भक्तिरसः सर्वदोषनिवर्तकः नित्यं संसारविस्मरणहेतुः प्रादुर्भवति.

७. असहायैव भक्तिर्मोक्षं दातुं समर्था, नतु ज्ञानमिव कर्मापेक्षते अन्तःकरणशुद्धिं वा.

८. आत्मीयास्त एव भवन्ति ये स्वस्योपकुर्वन्ति. ते सन्त एव. कलत्रादयस्त्वपकुर्वन्ति.

९. इतिहासश्रवणेन नीतिज्ञानं भवति. तदभावे केवलधर्मेऽप्यनर्थः स्याद् गजेन्द्रवत्. पुराणाध्ययनात् साभिप्रायधर्मज्ञानम्. धर्मशास्त्रैः देशकालकुलादिधर्माः आधुनिका अपि सर्व एव ज्ञाता भवन्ति.

१०. उपधर्मास्ते तद्धर्मनिवृत्तीच्छायामपि न निवर्तन्ते.

११. तीर्थमपि गृहं चेत् तदा न फलति इति.

१२. 'तीर्थ'शब्देन यच्छोधकं स्वच्छं तदुच्यते. तज्जलमपि भवति महान्तोऽपि भवन्ति. अतो जलमयानि किं तीर्थानि न भवन्ति? भवन्त्येव, अपां शोधकत्वात्. परं या शुद्धिः ज्ञानरूपा महद्भिर्भवति सा न भवत्येव.

१३. देहो वर्तते इति देहभागिनः गृहे योजयिष्यन्ति. ततो गृहासक्त्या पूर्ववदेव प्राकृतत्वं भविष्यति. अयमेव कूपे पातः. कदाचित् त्वत्कृपया देहसम्बन्धो न भवेत् तदा न काचित् चिन्ता.

१४. धनेनावश्यं मदो भवेत् , मदेन च विस्मृतात्मा मां सुतरामेव न स्मरेत्. ततः स्मरणाभावे सर्वनाशः.

१५. नरनारायणयोरेतावदन्तरं— शक्तिद्वयमेकस्य पूर्णमपरस्यैका कथञ्चित्.

१६. पञ्चधा हि फलं जगति प्रसिद्धं— लोकत्रयसुखं मोक्षः अणिमादिसिद्धयश्च. तेषामेकमेव हरेः पादसेवनं कारणम्.

१७. प्राणिनो देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि चतुर्विधानि भवन्ति. तत्र हृदयस्य सम्बन्धः सौहार्देन भवति. सौहार्देनैव स्मरणम्. सख्यं प्राणस्य. स हि सर्वत्र जीवमुपयाति सखायमेवानुगच्छति. भगवांश्चेन्मत्प्राणानां सखा भवेत् तदा तमेवानुगच्छेयुरिति तात्पर्यम्. इन्द्रियाणां मैत्री तानि मित्रानुगुणमेव कुर्वन्ति. दास्यं देहस्य.

१८. ब्रह्मानन्द एव मार्गान्तरेण समानीतः देहाद्यभिमानवतामपि देहादिविस्मारकत्वेन 'आसव'शब्दवाच्यो भवति. स स्वभावत एव परमानन्दरूपो दोषान्तरनिवर्तकश्च. तत्रापि यदि ततोऽप्युत्कृष्टरसेन सम्मिलितो भवेत् तदा किं वक्तव्यं रसान्तरेण पुष्टः सन् परमानन्दं प्रयच्छतीति!

१९. महता पापेनैव कन्यापितृत्वम्. अतएव दुःखायैवेति शास्त्रम्.

२०. मार्गन्तरानुसारेणैव गुणोत्कीर्तनपर्यन्तमधिकारे सिद्धे पश्चात् कीर्तनं

भगवदीयानां प्रथमं साधनम्. ततः सेवारुच्या सेवा. ततो ज्ञानोदये सर्वत्र भगवदनुसन्धानम्. तादृशस्य बहिर्व्यापारे तत्साधकपुण्यकथाश्रवणम्. ततः सर्वत्र भगवत्साक्षात्कारस्ततो नमनमिति.

२१. मूला प्रकृतिर्लक्ष्मीः, ततोऽष्टप्रकृतयः रुक्मिण्याद्याः, ततः षोडशविकाराणां सहस्रशः कार्यप्रकृतयः. सर्वासु भगवतो या लीला यथा वा तासां परिग्रहः तदनुसन्धानेन कृतार्थता.

२२. मृण्मयाद्यपेक्षया साधवः पूज्याः. तीर्थगमनापेक्षया साधव एवाभिगन्तव्याः.

२३. यथा परमहंसानां सर्वातिक्रमसहनं युक्तमेवं राज्ञोऽपि चेत् तदा सर्वनाशः स्यात्.

२४. यदेकं चरित्रं श्रुतं तदा यावान् रसः तदपेक्षया द्वितीयचरित्रश्रवणे शतगुणः. ततस्तृतीयेऽपि ततः शतगुणाधिक्यम्. एवमुत्तरोत्तरं श्रोतॄणां रसाधिक्यमनुभवसिद्धं, पूर्वचरित्रेणान्तःकरणमालिन्ये निवृत्ते उत्तरोत्तरमधिकचरित्रस्वरूपज्ञानात्.

२५. ये संसारादात्मनः पृथग्भावं जानन्ति कर्तुं च शक्नुवन्ति ते हंसाः. ततोऽपि ये जीवानां गतिं भगवद्गतिं च विवेचितुं जानन्ति ते परमहंसाः.

२६. यो हि स्वतन्त्रो भवेत् स कामयेत.

२७. विद्या बुद्ध्या गृहीता सती स्वकार्यं करोति ; तदभिमानात् तस्याग्रहणमेव. यस्तु पाठव्यतिरेकेणापि मन्यते पण्डितोऽहमिति स प्रयोजनाभावात् स्वार्थं विद्यां न ग्रहीष्यत्येव. परप्रदर्शनार्थं यो विद्यां गृह्णाति तस्य न विद्यातः फलं, यथा नटस्य.

२८. विद्या हि अन्तर्मुखं कर्तुमिच्छति. तदिन्द्रियाणां प्रतिबन्धे न भवति इति इन्द्रियजयो मृग्यते. किञ्च विद्याग्रहणे विद्याबाधकधर्माभावो हेतुः.

२९. स एव सख्यं प्राप्नोति यस्य जन्मप्रभृति जन्मान्तरेषु वा भगवत्येव चित्तं भवति.

३०. साक्षान्निषिद्धाचरणमधर्मः, तस्योत्कर्षो महापातकं, तेभ्योऽपि धर्मध्वजिनोऽधिकाः.

३१. स्नेहस्य मत्प्रापणे आवरणनिराकरणमेव साध्यं, नतु प्रयासान्तरमस्ति.

३२. स्वयं विषयासक्तः न ह्यन्येभ्यो वैतृष्ण्यं बोधयितुं शक्नोति.

  